प्रकाशक :
ओम्प्रकाश बेरी
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
वाराणसी

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
सन्मति मुद्रणालय,
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

प्रथम संस्करण : अक्तूबर १९५८ ई०
मूल्य : १२.५०

भारत-सरकार द्वारा प्रदत्त शोध छात्रवृत्ति (स्कालर्शिप इन ह्यूमैनिटीज़—१९५४–५६) के अन्तर्गत निर्मित और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की १९५७ ई० की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबंध

पूज्य पिता जी को

सूरपूर्व ब्रजभाषा के उन अज्ञात लेखकों की स्मृति
में, जिनकी रचनाएँ सूर-साहित्य के विशाल भवन
के निर्माण के लिए नींव में दब गईं।

भूमिका

सूरदास के मनोहर काव्य से हिंदी का प्रत्येक विद्यार्थी परिचित है। सूरदास और उनके समकालीन भक्तों ने बहुत ही परिमार्जित और व्यवस्थित ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। निस्संदेह उन्होंने ऐसी काव्य-भाषा का एकाएक आविष्कार नहीं किया होगा। उसमें साहित्य लिखने की परंपरा बहुत पुराने काल से चली आती रही होगी। केवल काव्य-भाषा के रूप में ही वह पुरानी परंपरा का वाहक नहीं रही होगी, उसमें छंद, अलंकार और रस-विषयक ग्रंथ भी बन चुके होंगे। जिन लोगों ने हिंदी भाषा के स्वरूप पर विचार किया है वे मानते हैं कि साहित्य के उत्तम वाहन के रूप में ब्रजभाषा सूरदास से बहुत पहले ही चल निकली होगी। परन्तु उस पुरानी भाषा का क्या स्वरूप था, उसमें कैसे काव्यरूप प्रचलित थे, अपभ्रंश की प्राप्त रचनाओं से उस पुरानी भाषा का क्या संबंध था इत्यादि बातों पर अभी तक व्यवस्थित और प्रामाणिक रूप से विचार नहीं हुआ। एक तो ब्रजभाषा के क्षेत्र में लिखी गई किसी प्राचीन रचना का पता नहीं चलता, दूसरे जो कुछ सामग्री मिलती है उसकी प्रामाणिकता संदेह से परे नहीं है। इस विषय में इसीलिए कोई महत्त्वपूर्ण विवेचन नहीं हो सका।

इधर जब से विश्वविद्यालयों में व्यवस्थित रूप से शोधकार्य होने लगा है तब से नवीन सामग्रियों की खोज भी प्रगति कर रही है। काशी नागरी प्रचारणी सभा लगभग ६० वर्षों से अप्रकाशित हिन्दी पुस्तकोंकी खोज का महत्त्वपूर्ण कार्य करती आ रही है। इधर उत्तर प्रदेश के सिवा राजस्थान, बिहार आदि राज्यों में भी खोज का कार्य आरंभ हुआ है। अपभ्रंश और पुरानी हिंदी के अनेक दुर्लभ ग्रंथों के सुसंपादित संस्करण भी प्रकाशित होते जा रहे हैं। इस समय देश के विभिन्न केन्द्रों से उत्साह-वर्धक समाचार मिल रहे हैं। जो लोग पुरानी हिन्दी के विविध पक्षों का अध्ययन कर रहे हैं वे अब उतने असहाय नहीं हैं जितने आज से कुछ वर्ष पूर्व के विद्वान् थे। परन्तु नवोपलब्ध सामग्रियों का विधिवत् अध्ययन करके उनकी सहायता से साहित्य के प्रामाणिक इतिहास और भाषा स्वरूप के विकास के वैज्ञानिक और वस्तुनिष्ठ विवेचन का काम अभी भी आरंभ नहीं किया गया है। इस दृष्टि से मेरे प्रिय शिष्य और सहकर्मी डा० शिवप्रसाद सिंह की यह पुस्तक बहुत महत्त्वपूर्ण है। सूर-पूर्व ब्रजभाषा की ऐसी व्यवस्थित विवेचना इसके पहले नहीं हुई है। सूरदास के पूर्व ब्रजभाषा का विशाल साहित्य विद्यमान

था, यह तो सभी मानते आए हैं पर उसका प्रामाणिक और व्यवस्थित विवेचन नहीं हुआ था। जिस समय मैंने शिवप्रसादजी को यह काम करने को दिया था उस समय कई मित्रों ने आशका प्रकट की थी कि इस सबध में सामग्री बहुत कम मिलेगी। परन्तु मैंने उन्हें साहस पूर्वक काम में लग जाने की सलाह दी। शिवप्रसादजी लगन और उत्साह के साथ काम में जुट गए। शुरू शुरू में ऐसा लगा कि मित्रों की आशकाएँ ही सही सिद्ध होंगी, परन्तु जैसे-जैसे काम बढता गया, वैसे-वैसे यह स्पष्ट होता गया कि आशकाएँ निराधार थीं। मुझे प्रसन्नता है कि शिवप्रसादजी का यह कार्य विद्वज्जन को सन्तोष देने योग्य सिद्ध हुआ है। इस कार्य को पूरा करने में कई कठिनाइयाँ थीं। विभिन्न ज्ञात-अज्ञात भाडारों से सूर-पूर्व ब्रजभाषा की सामग्री ढूँढना और फिर उसका भाषा और साहित्य शास्त्र की दृष्टि से परीक्षण करना एक अत्यन्त श्रम-साध्य कार्य था। शिवप्रसादजी ने केवल नई सामग्री ही नहीं ढूँढ निकाली है, पुराने हिंदी साहित्य और भाषा-विषयक अध्ययन को नया दृष्टिकोण भी दिया है। उन्होंने युक्ति और प्रमाण के साथ यह सिद्ध किया है कि १००० ईस्वी के आसपास शौरसेनी अपभ्रश की अपनी जन्म-भूमि में जिस ब्रजभाषा का उदय हुआ, आरभ में, उसके सिर पर साहित्यिक अपभ्रंश की छाया थी और रक्त में शौरसेनी भाषाओं की परपरा तथा अन्य सामाजिक तत्त्वों का ओज और बल था। यह भाषा चौदहवीं शताब्दी तक अपभ्रश-बहुल सज्ञा शब्दों और प्राचीन काव्य प्रयोगों के आवरण से ढँकी रहने के कारण परवर्ती ब्रजभाषा से भिन्न प्रतीत होती है पर भाषा वैज्ञानिक कसौटी पर वह निस्सदेह उसी का पूर्वरूप सिद्ध होती है। कभी-कभी इन तद्भव शब्दों और प्राचीन प्रयोगों के कारण भ्रम से इस भाषा को 'डिंगल' मान लिया जाता है। इस प्रसग में डिंगल और पिंगल भाषाओं के अन्तर को स्पष्ट करने में श्री शिवप्रसादजी ने बहुत सन्तुलित दृष्टिकोण का परिचय दिया है। उन्होंने प्राकृत पैंगलम्, पृथ्वीराज रासो और औक्तिक ग्रथों में प्रयुक्त होनेवाली ब्रजभाषा के विभिन्न स्वरूपों का बहुत अच्छा विवेचन किया है। औक्तिक ग्रथों की भाषा का विश्लेषण करने के बाद वे इस नतीजे पर पहुँचे है कि इन ग्रथोंकी भाषा लोकभाषा की आरभिक अवस्था का अत्यन्त स्पष्ट सकेत करती है। इस भाषा में वे सभी नये तत्त्व तत्सम प्रयोग, देशी क्रियाएँ, नये क्रिया विश्लेषण, संयुक्तकालादि के क्रिया रूप अपने सहज ढंग से विकसित होते दिखाई पडते हैं। यह भाषा १४वीं शती के आस-पास मुसलमानों के आक्रमण और ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के दोहरे कारणों से नई शक्ति, और सघर्ष से उत्पन्न प्राणवत्ता लेकर बडी तेजी से विकसित हो रही थी, १४वीं के आस-पास इसका रूप स्थिर हो चुका था।

मैंने 'हिंदी साहित्य का आदि काल' में लिखा था कि 'सही बात यह है कि चौदहवीं शताब्दी तक देशी भाषा के साहित्य पर अपभ्रश भाषा के उस रूप का प्राधान्य रहा है जिनमें

तद्भव शब्दों का एकमात्र राज्य था। इस बीच धीरे-धीरे तत्सम-बहुल रूप प्रकट होने लगा था। नवीं-दसवीं शताब्दी से ही बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों के प्रवेश का प्रमाण मिलने लगता है और १४वीं शताब्दी के प्रारम्भ से तो तत्सम शब्द निश्चित रूप से अधिक मात्रा में व्यवहृत होने लगे। क्रियाएँ और विभक्तियाँ तो ईषद् विकसित और परिवर्तित रूप में बनी रहीं पर तत्सम शब्दों का प्रचार बढ़ जाने से भाषा भी बदली-सी जान पड़ने लगी। भक्ति के नवीन आन्दोलन ने अनेक लौकिक जन-आन्दोलनोंको शास्त्र का पल्ला पकड़ा दिया और भागवत पुराण का प्रभाव बहुत व्यापक रूप से पड़ा। शांकर मत की दृढ़ प्रतिष्ठा ने भी बोलचाल की भाषा में, और साहित्य की भाषा में भी, तत्सम शब्दों के प्रवेश को सहारा दिया। तत्सम शब्दों के प्रवेश से पुरानी भाषा एकाएक नवीन रूप में प्रकट हुई, यद्यपि वह उतनी नवीन थी नहीं। मुझे प्रसन्नता है कि शिवप्रसादजी ने तत्कालीन साहित्य की भाषा का जो मथन किया है उससे यह वक्तव्य और भी पुष्ट और समर्थित हुआ है। शिवप्रसादजी १२वीं से चौदहवीं शताब्दी तक के उपलब्ध ग्रंथों की भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण करके अनेक महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों पर पहुँचे हैं। सूरदास के पूर्व के कई अज्ञात और अल्पज्ञात व्रजभाषा कवियों की रचनाओं के आधार पर उन्होंने इस काल की भाषा, साहित्य और काव्य रूपों का बहुत ही उद्बोधक परिचय दिया है। इस निबंध में १४वीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी के बीच लिखे गये व्रजभाषा-साहित्य का जो अब तक अज्ञात या अल्पज्ञात था, समुचित आकलन होने के कारण, सूरदास की पहले की व्रजभाषा की त्रुटित शृंखला का उचित निर्धारण हो जाता है।

विद्वानों की धारणा रही है कि व्रजभाषा में सगुण भक्ति का काव्य व्रजप्रदेश में वल्लभाचार्य के आगमन के बाद लिखा जाने लगा। शिवप्रसाद जी के इस निबंध से इस मान्यता का उचित निरास हो जाता है। सगुण भक्ति का व्रजभाषा काव्य सूरदास के पूर्व आरंभ हो चुका था जिसका संकेत प्राकृतपैंगलम् तथा अन्य अपभ्रंश रचनाओं में चित्रित कृष्ण और राधा के प्रेम-परक प्रसंगों तथा स्तुतिमूलक रचनाओं से मिलता है। जैन-काव्य के विषय में हिन्दी विद्वानों के मन में अभी उतना आकर्षण नहीं हुआ है जितना होना चाहिए। मैंने हिन्दी साहित्य के आदिकाल में लिखा था कि इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाई पड़ने लगी है कि धार्मिक रचनाएँ साहित्य में विवेच्य नहीं हैं। मुझे यह बात उचित नहीं मालूम होती। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश का होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए। शिवप्रसादजी ने सम्पूर्ण व्रजभाषा के जैन काव्य का बहुत सुन्दर और सन्तुलित विवेचन किया है तथा पूर्ववर्ती अपभ्रंश और परवर्ती व्रजभाषा काव्य के अध्ययन में उनका उचित महत्त्व भी दिखाया है।

ब्रजभाषा के साहित्य-रूप ग्रहण करने और विभिन्न भौगोलिक और साहित्यक क्षेत्रों में उसके प्रतिष्ठित होने का इतिहास भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। शिवप्रसादजी ने अनेक प्रकार के काव्यरूपों के उद्भव और विकास की बात युक्ति और प्रमाणों के बल पर समझाई है। चरित, कथा, वार्ता, रासक, बावनी, लीला, विवाहलो, वेलि आदि अत्यन्त प्रसिद्ध काव्यरूपों का विस्तृत अध्ययन करके उन्होंने मध्यकालीन काव्यरूपों के अध्ययन को नई दिशा प्रदान की है। अब हम सूरदास के पूर्व की ब्रजभाषा के निश्चित रूप को अधिक स्पष्टता के साथ समझ सकते हैं। परिशिष्टमें इस साहित्य की जो बानगी दी गई है वह स्पष्ट रूप से सूर-पूर्व ब्रजभाषा-साहित्य की समृद्ध परपरा की ओर इगित करती है।

इस प्रकार डॉ० शिवप्रसाद सिंह द्वारा प्रस्तुत यह प्रबन्ध सूरदास के पूर्व की ब्रजभाषा और उसके साहित्य का बहुत सुन्दर विवेचन उपस्थित करता है। मेरे विचार से यह निबंध हिन्दी के पुराने साहित्य और भाषा रूप के अध्ययन का अत्यन्त मौलिक और नूतन प्रयास है। इससे लेखक की सूक्ष्मदृष्टि, प्रौढ़ विचारशक्ति और मौलिक अन्वेषण प्रतिभा का परिचय मिलता है।

मुझे इस निबंध को प्रकाशित देखकर अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। मेरा विश्वास है कि सहृदय विद्वान् इसे देखकर अवश्य प्रसन्न होंगे। मेरी हार्दिक शुभकामना है कि आयुष्मान् श्री शिवप्रसाद अधिकाधिक उत्साह और लगन के साथ नवीन अध्ययनों द्वारा साहित्य को समृद्ध करते रहें।

काशी
दीपावली, स २०१५

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

आभार

सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसके साहित्य का इतिहास अत्यंत अस्पष्ट और कुहाच्छन्नप्राय रहा है। सूरदास को ब्रजभाषा का आदि कवि मानने में ब्रजभाषा के प्रेमी चित्त को उल्लास और गर्व का अनुभव भले ही होता हो, जो स्वाभाविक है, क्योंकि आरम्भिक अवस्था में इतनी महती काव्योपलब्धि किसी भी भाषा के लिए गौरव की वस्तु हो सकती है, किन्तु सत्याभिनिवेशी और भाषा-विकास के अनुसंधित्सु निरंतर उस टूटी हुई शृंखला के संधान की आशा से परिचालित होते रहे हैं जिसने अपनी पृष्ठभूमि पर सूर जैसे अप्रतिम प्रतिभाशाली महाकवि को प्रतिष्ठापित किया। किन्तु अनुसंधायकों की यह आशा आधारभूत प्रामाणिक सामग्री के अभाव में कभी भी फलवती नहीं हुई क्योंकि दसवीं शताब्दी से सोलहवीं तक के ब्रज-साहित्य का संधान पुस्तकों में नहीं उन ज्ञात-अविज्ञात भांडारों में हो सकता था जो अद्यावधि अव्यवस्थित हैं और अपनी उदरस्थ सामग्री के विषय में अकल्पनीय मौन धारण किए हुए हैं।

सन् १९५३ में गुरुवर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जब सूर-पूर्व ब्रजभाषा साहित्य के संधान का यह कार्य मुझे सौंपा तो मैं उस अज्ञात सामग्री की प्राप्ति के विषय में किंचित् आशान्वित जरूर था; किन्तु अपनी सीमित शक्ति और भांडारों में दबी सामग्री की पुष्कल राशि का भी मुझे पूरा ध्यान था। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी और न जाने अन्य कितनी भाषाओं में लिखे हस्तलेखों, गुटकों में से सूर-पूर्व ब्रजभाषा की सामग्री खोज निकालना तथा भिन्न-भिन्न लिपियों में लिखे इन अवाच्य लेखों के विचित्र अक्षरों को उकीलने के बाद भी जो सामग्री मिलती, उसकी प्रामाणिकता के विषय में संदेह-हीन हो पाना एक कठिन कार्य था। जयपुर पुरातत्त्व मंदिर के सम्मान्य संचालक मुनिजिन विजय जी, आमेर भांडार के कार्यकर्ता श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल, अभय जैन पुस्तकालय बीकानेर के संचालक श्री अगरचन्द नाहटा, श्रीकुंज मथुरा के श्री व्रजवल्लभ शरण, काशी नागरीप्रचारिणी सभा के अधिकारी जन, अनूप संस्कृत लाइब्रेरी बीकानेर के पुस्तकालयाध्यक्ष तथा अन्य कई अल्पज्ञात भांडारों के उत्साही जनों ने यदि मेरी सहायता न की होती, तो ब्रजभाषा की इस त्रुटित कड़ी को जोड़ने का यह यत्किंचित् प्रयत्न भी संभव न हो पाता।

हस्तलेखों में प्राप्त सामग्री के अलावा सूर-पूर्व ब्रजभाषा से सम्बद्ध प्रकाशित सामग्री का भी उक्त दृष्टि से अध्ययन आवश्यक प्रतीत हुआ। किसी भी भाषा की मध्यान्तरित अवस्था का अध्ययन उसकी पूर्ववर्ती और परवर्ती अवस्था के सम्यक् आकलन के बिना सम्भव नहीं है। सूर-पूर्व ब्रजभाषा के स्वरूप-निर्धारण के समय परवर्ती ब्रजभाषा से उसके सम्बंधों का निरूपण करते समय डा० धीरेंद्र वर्मा की पुस्तक 'ब्रजभाषा' से बहुत सहायता मिली। लेखक उनके प्रति अपना विनम्र आभार व्यक्त करता है।

इस प्रबंध के लिए उपयोगी सामग्री एकत्र करने में अन्य भी कई सज्जनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया है। गुवाहाटी विश्वविद्यालय के असमिया विभाग के अध्यक्ष डा०

विरंचिकुमार वरुआ ने शंकरदेव के 'वरगीतों' के विषय मे बहुत सी ज्ञातव्य बातें बताई। कलकत्ता नेशनल लाइब्रेरी के अधिकारियों ने डा० जे० आर० वैलन्टाइन के अप्राप्य व्रजभाषा व्याकरण की प्रतिलिपि करने की आज्ञा प्रदान की। मुनिजिन विजय जी ने कई ज्ञात-अज्ञात कर्तृक-औक्तिक रचनाओं के हस्तलेख और छपे हुए मूल-रूप (जो तब तक प्रकाशित नहीं थे) भेजकर लेखक को प्रोत्साहित किया है इन सभी सज्जनों के प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हू।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इस ग्रथ प्रणयन के समवाय कारण रहे हैं। उनके स्नेह-सौजन्य के लिए धन्यवाद देना मात्र औपचारिक अथच अक्षम्य धृष्टता होगी।

दो शब्द प्रबंध के विषय में भी कहना अप्रासंगिक न होगा। नाम से लगता है कि यह प्रबध दो भागों में विभाजित होगा, भाषा और साहित्य। किन्तु ऐसा नहीं है। प्रबध भाषा और साहित्य के दो अलग-अलग खडों में विभाजित नहीं है। सूर-पूर्व व्रजभाषा और इसके साहित्य का क्रमबद्ध धारावाहिक विवरण और विवेचन इस प्रबध का उद्देश्य रहा है, इसलिए विषय के पूर्व और साग अवगमन के लिए दसवीं से सोलहवीं शताब्दी के व्रजभाषा साहित्य को तीन भागों में बाट दिया गया है। उदय काल, सक्रान्ति काल और निर्माण काल। दसवीं शताब्दी से पहले की मध्यदेशीय भाषाओं का अध्ययन व्रजभाषा के रिक्थ-क्रम के रूप में उपस्थित किया गया है। कालानुसारी क्रम से कवियों और उनकी रचनाओं का परिचय यथास्थान दिया गया है, तथा वहीं उनके काल-निर्णय और जीवन-वृत्तादि के विषय में विचार किया गया है। आवश्यकतानुसार स्फुट रूप से उनकी भाषा के बारे में भी यत्किंचित सकेत दिया गया है। इन तीन स्तरों में विभक्त सूर-पूर्व व्रजभाषा और उसके साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का कालक्रम से विश्लेषण देने के साथ ही उनके परस्पर सम्बन्धों और तन्निहित एकसूत्रता को दर्शानेका प्रयत्न किया गया है। अध्याय तीन और चार में व्रजभाषा के उदय और सक्रान्तिकालीन अवस्था का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। अध्याय छह में १४वीं से १६वीं शताब्दी के बीच लिखित हस्तलेखों के आधार पर आरभिक व्रजभाषा के व्याकरिण रूप का विवेचन है। अन्त के दो अध्यायों में सूर-पूर्व व्रजभाषा की प्रमुख काव्य-धाराओ और काव्य रूपों का आकलन और मूल्याङ्कन उपस्थित किया गया है।

इस प्रबध के प्रकाशन में श्री कृष्णचन्द्रबेरी ने जो तत्परता दिखाई है उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं। भारतीय ज्ञानपीठ के व्यवस्थापक श्रीबाबूलाल जी जैन फागुल्ल ने मुद्रण में असाधारण धैर्य और उत्साह का परिचय दिया है इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। प्रूफ सम्बन्धी त्रुटियाँ, काफी सावधानी के बावजूद, रह गई हैं, आशा है उन्हें विज्ञ पाठक सुधार लेंगे।

हिन्दी विभाग
का० वि० वि० वाराणसी
२६ अक्टूबर १९५८

शिवप्रसाद सिंह

विषय-सूची

(अंक परिच्छेदसंख्या के सूचक हैं)

ने इसे गुर्जर अपभ्रश क्यों कहा, ४३—हेम व्याकरण के अन्तःसाक्ष्य से उन दोहों की भाषा के मध्यदेशीय सम्बन्ध की पुष्टि, ४५—मध्यदेश और गुजरात : राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध, ४६—वासुदेव धर्म का उदय, जैन धर्म आदि का दोनों प्रान्तों को एक सूत्र में बाधने का प्रयत्न, ४७—हेम व्याकरण में संकलित दोहों के रचयिता और रचनाकाल, ४८—मुज और भोज ४६—५०—हेम व्याकरण के दोहों की भाषा का शास्त्रीय विश्लेषण। ध्वनि और रूप तत्त्व की प्रत्येक प्रवृत्ति से व्रजभाषा का घनिष्ठ सम्बन्ध—सूरदास की भाषा से इस भाषा का पूर्वापर सम्बन्ध—निरूपण ५२—७१।

४ संक्रान्तिकालीन व्रजभाषा (विक्रमी १२००—१४००)

हेमचन्द्र के काल में परिनिष्ठित अपभ्रश जन-सामान्य की भाषा नहीं था। ग्राम्य अपभ्रंश, ७२—७५ अवहट्ठ : शौरसेनी अपभ्रश का कनिष्ठ रूप, ७६—पिंगल और व्रजभाषा, ७७—७८—पिंगल नामकरण के कारण : डिंगल और पिंगल—संगीत और छन्द का पिंगल-नामकरण में प्रभाव, ७६—८२—'जवन और 'नाग' भाषाएं, व्रजभाषा से उनका सम्बन्ध, नागों का देश, पिंगल से उनका सम्बन्ध, ८३,१२—१४ वीं में मध्यदेश की भाषा-स्थिति : पिंगल, अवहट्ठ और औक्तिक व्रज ८४ अवहट्ठ : सन्देशरासक, परिचय इसकी भाषा से व्रजभाषा का तुलनात्मक अध्ययन, ८५—१०५—पूर्वी प्रान्तों में अवहट्ट, चारण शैली का विद्यापति पर प्रभाव, फुटकल अवहट्ठ रचनाओं तथा कीर्तिलता की भाषा में पिंगल का प्रभाव, १०६—१०७—प्राकृत पैंगलम्, परिचय, संकलित रचनाओं के रचयिता का अनुमान, १०८—जज्जल सबधी रचनायें १०६—प्राकृतपैंगलम् के कुछ पद्यों का जयदेव के गीतगोविन्द के श्लोकों से अक्षरशः साम्य, ११० वब्बर की रचनायें, १११—प्राकृतपैंगलम् की भाषा में प्राचीन व्रज के तत्व, १११—१२१—जिनपद्मसूरि का थूलिभद्दुफाग—परिचय, ऐतिहासिक विवेचन, भाषा और साहित्य १२२—विनयचन्द सूरि की नेमिनाथ चौपई परिचय, रचनाकाल, भाषादि, १२३—पिंगल या व्रजभाषा की चारण शैली : पृथ्वीराज रासो, प्रामाणिकता सम्बन्धी विवादों के निष्कर्ष, १२४—रासोकी भाषा . पिंगल, १२५—१२६—पुरातन प्रबन्ध संग्रह में उद्धृत चारों छप्पयों की भाषा और उनके रूपान्तरों की भाषा में तारतम्य, १२७—१३२—पृथ्वीराज रासो की भाषा को मुख्य विशेषताएं, १३३—१४८—नल्लसिंह का विजयपाल रासो, १४६—श्रीधरव्यास का रणमल्ल छन्द, १५०—औक्तिक व्रजभाषा का अनुमानित रूप। उक्तिव्यक्ति प्रकरण, उक्तिरत्नाकर, मुग्धावबोध, बालशिक्षा आदि औक्तिक व्याकरणों के आधार पर १२ वीं १४ वीं के व्रज-औक्तिक की कल्पना, १५१—१५६।

५ व्रजभाषा का निर्माण औक्तिक से परिनिष्ठित तक (विक्रमी १४००—१६००)

काव्य भाषा और तथाकथित 'सधुक्कडी' का तात्पर्य, १५७—मध्यदेश की भाषा-स्थिति। सधुक्कडी, पूरबी, काव्यभाषा अर्थात् व्रज और चारणभाषा, १५८—१५६—हेम-व्याकरण के दोहों में दो प्रकार की भाषा शैली, आकारान्त और ओकारान्त का विवाद, १६०—१६१—खडी बोली का उदय और १६ वीं शताब्दी तक उसकी स्थिति, १६२—गोरखनाथ की भाषा, १६३—१६४—मत्स्येन्द्रनाथ, ऐतिहासिक परिचय, रचनायें और भाषा, १६५—व्रजभाषा में

"इन पदों के सम्बन्ध में सबसे पहली बात ध्यान देने की यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक रचना होने पर भी ये इतने सुडौल और परिमार्जित हैं यह रचना इतनी प्रगल्भ और काव्यांग पूर्ण है कि आगे होने वाले कवियों की उक्तियाँ सूर का जूठी सी जान पडती हैं अतः सूरसागर किसी चली आती हुई गीत-काव्य परम्परा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

प्रास्ताविक

§ १. विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में व्रजभाषा में अत्यन्त उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण हुआ। ऐसा समझा जाता है कि केवल पचास वर्षों में इस भाषा ने अपने साहित्य की उत्कृष्टता, मधुरता और प्रगल्भता के बल पर उत्तर भारत की सर्वश्रेष्ठ भाषा का स्थान ग्रहण कर लिया। भक्ति-आन्दोलन की प्रमुख भाषा के रूप में उसका प्रभाव समूचे देश में स्थापित हो गया और गुजरात से बंगाल तक के विभिन्न भाषा-भाषियों ने इसे 'पुरुषोत्तम-भाषा' के रूप में अपनाया तथा इसमें काव्य-प्रणयन का प्रयत्न भी किया। एक ओर महाप्रभु वल्लभाचार्य ने इसे पुरुषोत्तम भाषा की आदरास्पद संज्ञा दी क्योंकि यह उनके आराध्य देव कृष्ण की जन्म-भूमि की भाषा थी, दूसरी ओर काव्य और साहित्य के प्रेमी सहृदयों ने इसे 'भाषामणि' की प्रतिष्ठा प्रदान की। डा० ग्रियर्सन ने हिन्दी के अभिजात साहित्य के माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित इस भाषा को प्रधानतम बोली (Dialectos Praecipua) कहा है। इसे वे मध्यदेश की आदर्श भाषा मानते हैं।[1] अष्टछाप के कवियों की रचनाओं का सौष्ठव और सौन्दर्य अप्रतिम था। उनके संगीतमय पदों से आकृष्ट होकर सम्राट् अकबर इस भाषा के भक्त हो गए। डा० चाटुर्ज्या ने इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि 'बाबर के सदृश एक विदेशी विजेता के लिये जो भाषा केवल मनोरंजन और साहित्यिक औत्सुक्य का प्रयोग-मात्र थी वही उसके भारतीयकृत पौत्र सम्राट् अकबर के काल तक पूर्णतया प्रचलित स्वाभाविक

---

1 It is a form of Hindi used in literature of the classical period and is hence considered to be the dialectos praecipua and may well be considered as typical of Midland Language — On the Modern Indo Aryan Vernaculars, PP 10

प्रयोग की भाषा बन गई । यदि हम उत्तर भारत के उस काल की किसी भाषा को 'बादशाही बोली' कहना चाहें तो वह निश्चय ही ब्रजभाषा होगी।'[1] इस प्रकार ब्रजभाषा भक्त कवियों की वाणी के रूप में जन-सामान्य के लिए आदर और श्रद्धा की वस्तु बनी तो साथ ही अपनी मधुरिमा और सगीतमयता के कारण वह अकबर जैसे राजपुरुषों को आकृष्ट करके उच्च वर्ग के लोगों से भी सम्मान पा सकी। यह ब्रजभाषा का अपूर्व प्रभाव था कि पजाब, महाराष्ट्र, गुजरात, मध्यदेश और बगाल के कवियों ने समान रूप से इसमें रचनाएँ कीं। इसका एक मिश्रित रूप ब्रजबुलि के नाम से पूर्वी प्रदेशों में साहित्यिक भाषा के रूप में बहुत दिनों तक प्रचलित रहा। बगाल के गोविन्ददास और ज्ञानदास जैसे मध्यकालीन कवियों ने तो इस भाषा में कविताएँ लिखीं ही, परवर्ती काल में रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी इसके माधुर्य से आकृष्ट हुए बिना न रहे, उन्होंने 'भानुसिंह ठाकुरेर पदावली' नाम से ब्रजबुलि के पदों का एक सग्रह प्रस्तुत किया। डा० चाटुर्ज्या इस ब्रजबुलि के बारे में लिखते हैं कि 'ये कविताएँ इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि एक कृत्रिम भाषा को समूचे लोग काव्य-लेखन का माध्यम बना सकते हैं। बगाल में इस भाषा की स्थिति की तुलना मध्यदेश के बाहर प्रचलित शौरसेनी अपभ्रश और पिंगल से की जा सकती है।'[2] यह था ब्रजभाषा का प्रभाव १७ वीं शताब्दी में जिसने सम्पूर्ण उत्तर भारत को कृष्ण काव्य की एक नई चेतना से परिस्फूर्त कर दिया था।

§ २. १७ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विकसित होने वाली ब्रजभाषा का आरम्भ सूरदास के प्रादुर्भाव के साथ ही माना जाता है। सामान्यतः सूरदास को ब्रजभाषा का आदि कवि कहा जाता है। इस प्रकार विक्रमी १५८० के आसपास से हम ब्रजभाषा का आरम्भ मानते रहे हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में सूरसागर की भाषा के प्रसग मे इस मान्यता पर कुछ सकोच और द्विविधा व्यक्त की है। उन्होंने लिखा कि 'इन पदों के सम्बन्ध में सबसे पहली बात ध्यान देने की यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक रचना होने पर भी ये इतने सुडौल और परिमार्जित हैं। यह रचना इतनी प्रगल्भ और काव्यागपूर्ण है कि आगे होने वाले कवियो की उक्तियाँ सूर की जूठी-सी जान पडती हैं। अत सूरसागर किसी चली आती हुई गीत काव्य परम्परा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है।'[3] शुक्लजी के मन में सन्देह स्पष्ट है। वे प्रमाणों के अभाव में सूरसागर को ब्रजभाषा की पहली रचना मानने के लिए विवश थे किन्तु इतनी पारिमार्जित भाषा की इतनी उत्कृष्ट रचना का आकस्मिक उदय स्वीकार करना उन्हें उचित न लगा। परिणामतः उन्हें एक गीत-काव्य-परम्परा—भले ही वह मौखिक रही हो—की कल्पना करनी पडी। यह उनकी विवशता थी, किन्तु इसके पीछे उनका प्रबल सत्याभिनिवेश तो प्रकट होता ही है। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने आदिकाल की यत्किंचित् प्राप्त सामग्री का विश्लेषण किया और ब्रजभाषा के अध्ययन की दृष्टि से इस सामग्री का परीक्षण करके वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हिन्दी साहित्य के आदिकाल से हमें कोई ऐसी विश्वस्त सामग्री नहीं मिलती जो

---

१. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, १९५४ पृ०, २०

2 Origin and Development of Bengali language, Calcutta, 1926 PP 103-4

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, छठा सस्करण, २००७ पृ० १६५

ब्रजभाषा के प्राचीन इतिहास पर विशेष प्रकाश डाल सके।[1] वर्माजी ने स्पष्ट कहा कि पृथ्वीराजरासो की भाषा मध्यकालीन ब्रजभाषा है, राजस्थानी नहीं, जैसा कि साधारणतया समझा जाता है किन्तु इस रचना के 'सन्देहात्मक और विवादग्रस्त' होने के कारण इसे वे ब्रजभाषा के अध्ययन में सम्मिलित न कर सके। इसीलिए डा० वर्मा ने भी ब्रजभाषा का वास्तविक आरम्भ सूरदास के साथ ही स्वीकार किया। उन्होंने लिखा कि 'ब्रजभाषा और उसके साहित्य का वास्तविक आरम्भ उस तिथि से होता है जब गोवर्धन में श्रीनाथ जी के मंदिर का निर्माण पूर्ण हुआ और महाप्रभु वल्लभाचार्य ने भगवान् के स्वरूप के सम्मुख नियमित रूप से कीर्त्तन की व्यवस्था करने का संकल्प किया। सूरदास ब्रजभाषा के सर्वप्रथम तथा सर्वप्रधान कवि हैं।'[2] डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने स्पष्ट रूप से सूरदास को ब्रजभाषा का आरम्भिक कवि तो नहीं कहा किन्तु ब्रजभाषा का जो उदयकाल बताया, उससे यही निष्कर्ष निकलता है। उनके मतानुसार 'ब्रजभाषा १६वीं शताब्दी में प्रकाश में आई,'[3] हालांकि उसी पुस्तक में एक दूसरे स्थान पर डा० चाटुर्ज्या लिखते हैं कि 'ब्रजभाषा १२०० से १८५० ईस्वी तक के सुदीर्घकाल के अधिकांश मात्रा में सारे उत्तरी भारत, मध्यभारत तथा राजपूताना और कुछ हदतक पंजाब की सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक भाषा बनी रही।'[4] डा० ग्रियर्सन ने सूरदास को ब्रजभाषा का प्रथम कवि नहीं स्वीकार किया। उनके मत से १२५० के चन्दबरदाई ब्रजभाषा के प्रथम कवि हैं। १६वीं शताब्दी में सूरदास इस भाषा के दूसरे कवि दिखाई पड़ते हैं। बीच के ३०० वर्षों का साहित्य बिल्कुल अन्धकार में पड़ा हुआ है।[5]

§ ३. उपर्युक्त विद्वानों के मतों का विश्लेषण करने पर स्पष्ट मालूम होता है कि ये सभी विद्वान् किसी न किसी रूप में सूरदास के पूर्व ब्रजभाषा की स्थिति स्वीकार करते हैं, किन्तु प्रामाणिक सामग्री के अभाव में सूरदास के पहले की ब्रजभाषा और उसके साहित्य का कोई समुचित विश्लेषण प्रस्तुत न कर सकने की विवशता भी व्यक्त करते हैं।

§ ४ आरम्भिक ब्रजभाषा का परिचय-संकेत देनेवाली जो कुछ सामग्री इन विद्वानों को प्राप्त थी वह इतनी अल्प, विकीर्ण और अव्यवस्थित थी कि उस पर कोई विस्तृत विचार सम्भव न था। जो कुछ सामग्री प्रकाशित हो चुकी थी, उसकी प्रामाणिकता संदिग्ध थी, इसलिए उसके परीक्षण का प्रश्न ही नहीं उठा। सन्तों की रचनाओं का भाषागत विवेचन नहीं हुआ, और उसे 'मिश्रित,' 'सधुक्कड़ी' या 'खिचड़ी' भाषा नाम देकर काम चलता किया गया। इस प्रकार प्राप्त सामग्री का भी सही उपयोग न होने के कारण सूरदास के पहले की ब्रजभाषा का इतिहास पूर्णतः अलिखित ही रह गया। मध्यदेश की भाषा-परम्परा छान्दस् या वैदिक भाषा से आरम्भ होकर शौरसेनी अपभ्रंश तक प्रायः अविच्छिन्न रूप में ही प्राप्त होती है। ब्रजभाषा का उदय यदि १६वीं शताब्दी के अन्त में मान लिया जाता है तो इस लम्बी परम्परा का कुछ सौ वर्षों का इतिहास छूट जाता है और ऐसा जान पड़ता है कि इस

---

१ ब्रजभाषा, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, १९५४, पृ० ३०

२ वही पृ० २१–२२

३. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, १९५४, पृ० १९५

४. वही पृ० १८९

5 Linguistic Survey of India Vol IX Part I P 71-73

गौरवमयी परम्परा की श्रृंखला बीच में खंडित और त्रुटित रूप में प्राप्त होती है। मेरा विचार है कि ऐसी बात नहीं है। परिश्रम किया जाय तो इस भूले हुए इतिहास का पुनर्गठन सम्भव है। इस निबन्ध में इसी त्रुटित श्रृखला को जोडने का प्रयत्न किया गया है। सूर-पूर्व ब्रजभाषा का अर्थ १०००–१६०० विक्रमी की आरम्भिक ब्रजभाषा से है। वैसे सूरदास का आविर्भाव १६वीं शती के उत्तरार्ध में हुआ। किन्तु जैसा डा० दीनदयाल गुप्त ने ऐतिहासिक विश्लेषण के आधार पर सिद्ध किया है कि अष्टछाप के कवियों की स्थिति श्रीनाथजी के मन्दिर में १६०६ से १६३५ तक थी[1] इसलिए सूर-पूर्व का अर्थ साधारणतः १६०० के पहले ही समझना चाहिए।

§ ५ उत्तर भारत की प्रायः सभी साहित्य-भाषायें मध्यदेश (देखिये § १८) की ही बोलियों का परिष्कृत रूप थीं : वैदिक भाषा खास तौर से ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा तथा संस्कृत, प्राकृत काल की मुख्य भाषा पाली जो मगध की नहीं बल्कि मध्यदेशीय शौरसेनी का ही एक रूप थी (देखिये §§ २६–२७) पश्चात् शौरसेनी प्राकृत जो अपने परवर्ती विकसित रूप महाराष्ट्री प्राकृत के रूप में (देखिये § २८) समूचे देश की साहित्य भाषा हो गई थी। बाद में इसी प्रदेश की शौरसेनी अपभ्रंश ने गुजरात से बंगाल तक की शिष्ट भाषा का स्थान प्राप्त किया। शौरसेनी अपभ्रंश का कनिष्ठ रूप अवहट्ठ तथा पिङ्गल नाम से सम्पूर्ण उत्तर भारत में प्रचलित था। इन तमाम भाषाओं की उत्तराधिकारिणी हुई ब्रजभाषा।

§ ६. नव्य भारतीय आर्यभाषाओं के विकास का काल १० वीं से १४ वीं शताब्दी के बीच माना जाता है। चार सौ वर्षों का यह समय सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में अत्यन्त उथल-पुथल और संक्रमण का रहा है। यद्यपि भारत में विदेशी जातियों का आक्रमण बहुत पहले शुरू हो गया था किन्तु ईस्वी सन् की सातवीं शताब्दी से जो आक्रमण शुरू हुए उनका कुछ भिन्न रूप रहा। १४ वीं तक ये आक्रमण किसी-न-किसी रूप में अनवरत होते रहे। कुछ विद्वान मुसलमानी आक्रमण को नव्य आर्यभाषाओं के क्षिप्रगामी विकास में सहायक बताते हैं। डा० चाटुर्ज्या के मतानुसार 'यदि भारतीय जीवन की धारा पूर्व-निर्मित दिशा में ही बहती रहती और उस पर बाहर का कोई भीषण आक्रमण न हुआ होता तो संभवतः नव्य भारतीय आर्यभाषाओं का श्रीगणेश तथा विकास दो एक शताब्दी पश्चात् ही होता।'[2] हालांकि भाषाशास्त्रियों का एक संप्रदाय (साम्यवादी) इस प्रकार की धारणा का विरोध करता है क्यों कि उनके मत से राज्य-क्रान्तियाँ, आक्रमण या विप्लव सामाजिक ढाचा बदलने में तो सहायक होते हैं किन्तु वे भाषा के ढाचे में परिवर्तन नहीं ला सकते क्योंकि भाषा समाज के ढाचे का अंश नहीं आच्छादन (Super structure) है।[3] फिर भी मुसलमानी आक्रमण से समाज के निचले स्तर पर अलक्ष्य रूप से विकसमान भाषा-तत्व जो अपनी सहजगति से नया रूप ग्रहण करते, वे उथल–पुथल और उद्वेलन के कारण ऊपरी सतह पर आ गए और भाषा-परिवर्तन कुछ तीव्रता से हुआ। मुसलमानी आक्रमण से इन नव्य भारतीय भाषाओं के साहित्य को नुकसान भी हुआ। अर्धविकसित या अविकसित भाषाओं में लिखे गए साहित्य की सुरक्षा के एक सबल आधार तत्कालीन रजवाड़े ही थे जो इस आक्रमण के बाद नष्ट हो

---

१. अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय, प्रयाग, संवत् २००४ पृष्ठ १६

२ भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० १०६

3 J V Stalin, Concerning Marxism in Linguistics pp 24–26

गए। मुसलमानों के आक्रमण, मिश्रण और मेलजोल से उत्पन्न परिस्थितियों के कारण १३ वीं शताब्दी के आसपास दिल्ली मेरठ की भाषा को ज्यादा तरजीह मिली और पंजाबी तथा खड़ी-बोली के मिश्रण से उत्पन्न यह नई भाषा फारसी शब्दों के साथ रेखता या 'हिन्दवी' के नाम से चल पड़ी। किन्तु इस नई भाषा को परम्पराप्रिय जनता की ओर से कोई बड़ा प्रोत्साहन न मिला। हिन्दुओं की सांस्कृतिक परम्परा का निर्वाह मुसलमानी प्रभाव से अस्पष्ट अन्य बोलियों द्वारा ही होता रहा। ब्रजभाषा इनमें मुख्य थी जिसका साहित्य राजपूत दरबारों और धार्मिक संस्थानों द्वारा सुरक्षित हो सकता था किन्तु मुसलमानों के आक्रमण का सबसे बड़ा प्रभाव इन सांस्कृतिक केन्द्रों पर ही हुआ, और यत्किंचित् साहित्य सामग्री भी जिसके प्राप्त होने की आशा हो सकती थी, नष्ट हो गई। ईस्वी सन् की दसवीं और १४ वीं शताब्दी के बीच मध्यदेश में देशी भाषा में लिखा हुआ साहित्य बहुत कम मिलता है। इसका प्रमुख कारण इस आक्रमण को माना जा सकता है। किन्तु जो साहित्य प्राप्त है, वह नितान्त उपेक्षणीय नहीं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही लिखा है कि 'इस अंधकार युग को प्रकाशित करने वाली जो भी सामग्री मिल जाये उसे सावधानी से जिला रखना कर्त्तव्य है। क्योंकि वह बहुत बड़े आलोक की संभावना लेकर आई है, उसके पेट में केवल उस युग के रसिक हृदय की धड़कन ही नहीं, केवल सुशिक्षित चित्त के संयत और सुचिन्तित वाक्पाटव का ही नहीं, बल्कि उस युग के सम्पूर्ण मनुष्य को उद्भासित करने की क्षमता छिपी होती है।'[1]

अपभ्रंश भाषा का जो साहित्य प्राप्त होता है उसमें अधिकांश पश्चिमी अपभ्रंश का है। १३ वीं शताब्दी के आसपास के साहित्य में प्रान्तीय प्रभाव मिलने लगते हैं। गुजरात देश की रचनाओंमें प्राचीन राजस्थानी के तत्त्व तथा सिद्धों के गानों (दोहों में नहीं) की भाषा में पूर्वी प्रदेश की भाषा या भाषाओं का प्रभाव दिखाई पड़ता है। फिर भी ६०० से १२०० तक का अपभ्रंश साहित्य अधिकांशतः शौरसेनी अपभ्रंश का ही साहित्य है। परिनिष्ठित अपभ्रंश की रचनाओं में हम ब्रजभाषा के विकास-बिन्दु पा सकते हैं। बहुत से विद्वान् इन रचनाओं की भाषा को केवल शौरसेनी अपभ्रंश नाम के आधार पर ही ब्रजभाषा (शौरसेनी भाषा) से सम्बद्ध नहीं मानना चाहते, किन्तु यदि ध्वनि और रूपतत्त्वों की दृष्टि से इसे प्रमाणित किया जाये तो अवश्य ही यह सम्बन्ध साधार कहा जायेगा। आगे इस पर विस्तार से विचार किया गया है।

ग्यारहवीं शताब्दी के ठीक बाद की जो सामग्री प्राप्त होती है, उसमें सबसे महत्वपूर्ण हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के अपभ्रंश दोहे हैं। गुलेरी जी ने बहुत पहले नागरीप्रचारिणी पत्रिका के भाग २ अंक ५ में हेमचन्द्र के दोहों तथा इसी तरह के कुछ अन्य फुटकर दोहों का संकलन 'पुरानी हिन्दी' के नाम से प्रकाशित कराया। गुलेरी जी ने जब इस संग्रह को प्रस्तुत किया था तब इनके आधार ग्रन्थों का न तो व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक सम्पादन हुआ था और न तो इनके भाषा तथा साहित्य सम्बन्धी मूल्यों का कोई विवेचन ही किया गया था। गुलेरी जी ने बड़ी विद्वत्ता के साथ इन दोहों में पुरानी हिन्दी के भाषा-तत्त्वों को ढूँढ़ने का प्रयत्न किया। अपभ्रंश की जो भी सामग्री उस समय उपलब्ध थी उसका गंभीर अध्ययन उन्होंने किया था और यही कारण है कि उन्होंने इन दोहों की भाषा को अपभ्रंश से भिन्न

1. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पटना, १९५२, पृ० २५

बताने तथा हिन्दी की ओर इनकी उन्मुखता प्रमाणित करने का साधार प्रयत्न किया।[1] डा० धीरेन्द्र वर्मा 'पुरानी हिन्दी' में सकलित दोहों की भाषा को हिन्दी की अपेक्षा राजस्थानी से अधिक सम्बद्ध मानते हैं। वर्मा जी ने लिखा है कि 'इनकी (दोहों की) भाषा प्रधानतया प्राकृत के अन्तिम रूपोंसे मिलती-जुलती है तथा उसमें आधुनिकता बहुत कम मिलती है, जहाँ-तहाँ प्राप्त आधुनिकता का पुट (जैसे स भविष्य, मूर्धन्यध्वनियों का विशेष प्रयोग) हमें आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओंके मध्यवर्ग की अपेक्षा पश्चिम वर्ग का अधिक स्मरण दिलाता है।'[2] वर्माजी इन अपभ्रश दोहों से मध्यदेश की भाषाओं का भी सम्बन्ध मानते हैं किन्तु कम। प्राकृत का प्रभाव इन दोहों पर स्पष्टतः ही दिखाई पडता है। हेमचन्द्र ने प्राकृत की अन्तिम अवस्था के उदाहरणों के रूप में ही इनका संकलन भी किया था, परन्तु इनमें सुवन्त और तिङन्त दोनों ही रूपों में नई पीठिका के बीजाकुर वर्तमान है। ध्वनि तत्त्व, रूपतत्त्व के (संज्ञा, सर्वनाम, परसर्ग, क्रियापद और वाक्य-विन्यास के) आधार पर इन दोहों की भाषा का ब्रजभाषा से पूर्ण सम्बन्ध दिखाई पडता है (देखिये §§ ५१–८१) हेमचन्द्र के व्याकरण के दोहों की भाषा शौरसेनी अपभ्रश का प्रतिनिधि रूप मानी जाती है। शौरसेनी अपभ्रंश का उद्गम स्थान ब्रजभाषा प्रदेश ही था। हेमचन्द्र ने किन किन प्राचीन ग्रन्थों से ये दोहे चुने इनका कोई सधान नहीं मिलता, कुछेक का सधान मिलता भी है (देखिये §§ ४८–४९) तो वहाँ भी मूल रचनाकार का पता नहीं चल पाता, इसलिए इन रचनाओं के बारे में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इनका निर्माण कहाँ हुआ। इस प्रश्न पर विस्तृत विचार 'ब्रजभाषा का उद्गम : शौरसेनी अपभ्रश' शीर्षक अध्याय में किया गया है। हेमचन्द्र के दोहों को डा०चाटुर्ज्या ब्रजभाषा की अधिकतम समीपस्थ पीठिका बताते हैं। डा० चाटुर्ज्या ने कई दोहों का हिन्दी रूपान्तर भी प्रस्तुत किया है और उनके मत से पश्चिमी अपभ्रश (हेमचन्द्र-प्रणीत व्याकरण में उदाहृत दोहे) को एक तरह से ब्रजभाषा और हिन्दुस्थानी की उनके विल्कुल पहले की ही पूर्वज कहा जा सकता है।[3] पश्चिमी अपभ्रश के साथ ब्रजभाषा का इतना अधिक लगाव देखकर ही तो डा० ग्रियर्सन ने इसे मध्यदेशीय भाषावर्ग की प्रतिनिधि भाषा कहा था। शौरसेनी अपभ्रश की तो बात ही क्या है, हेमव्याकरण के प्राकृत भाग में भी बहुत से ऐसे तत्त्व हैं जो ब्रजभाषा के विकास को समझने में सहायक हो सकते हैं। नवीन शोध के आधार पर यह प्रमाणित हो चुका है कि महाराष्ट्री प्राकृत या प्रधान प्राकृत शौरसेनी का ही अग्रसरीभूत रूपान्तर थी (देखिये §§ २८–२९)। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में जिस प्राकृत का विवरण है वह शौरसेनी अपभ्रश की पूर्वज थी, इसलिए उस में ब्रजभाषा के तत्वों की उपलब्धि असभव नहीं है।

§ ७ मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा का अन्तिम स्तरीय विकास अपभ्रश तक पहुँचता है जिसके बाद नव्य भाषाओं का उदय होता है। १२ वीं से १४ वीं शताब्दी का काल मध्यकालीन भाषाओं से नव्य भाषाओं के रूप ग्रहण करने का समय है। इसे सक्रान्तिकाल कहा जा सकता है क्योंकि इस काल की जो भाषा उपलब्ध होती है उसमें न तो पुरानी भाषा के सब लक्षण लोप

१. पुरानी हिन्दी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सवत् २००५ पृ० ८

२. ब्रजभाषा,प्रयाग, १९५४ पृ० १६

३. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० १७८

ही हुए दीखते हैं न नव्य भाषाओं के सभी लक्षण स्पष्ट रूप से उद्भिन्न ही हो पाए हैं। उत्तर भारत में इन दिनों संस्कृत, प्राकृत और साहित्यिक अपभ्रंश के अतिरिक्त तीन और प्रबल भाषाएँ दिखाई पड़ती हैं। राजस्थान-गुजरात के क्षेत्र में गुर्जर अपभ्रंश से विकसित तथा साहित्यिक शौरसेनी अपभ्रंश से प्रभावित देशी भाषा जिसे डा० तेसीतोरी ने प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी नाम दिया है, शौरसेनी अपभ्रंश के मूलक्षेत्र मध्यदेश में अवहट्ट और पिंगल नाम से साहित्यिक अपभ्रंश का ही एक कनिष्ठ रूप प्रचलित था जिनकी आत्मा मूलतः नव्य भाषाओं से अनुप्राणित थी किन्तु जिसपर शौरसेनी अपभ्रंश का भी पर्याप्त प्रभाव था। पूर्वी क्षेत्रों में कोई महत्त्वपूर्ण सामग्री नहीं मिलती किन्तु ज्योतिरीश्वर ठाकुर के वर्णरत्नाकर, कीर्तिलता के कुछ प्रयोगों और बौद्ध सिद्धों के कतिपय गीतों की भाषा के आधार पर एक व्यापक पूर्वी भाषा के स्वरूप की कल्पना की जा सकती है। अवहट्ठ और पिंगल ब्रजभाषा के पुराने रूप हैं। इनके नाम, रूप तथा ऐतिहासिक विकास का विस्तृत विवरण तीसरे अध्याय 'संक्रान्ति-कालीन ब्रजभाषा' में प्रस्तुत किया गया है। संक्रान्तिकालीन ब्रजभाषा की दोनों शैलियों, अवहट्ठ शैली तथा पिंगल या चारण शैली का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन उक्त अध्याय का विषय है। अवहट्ठ चूँकि प्राचीन परम्परा का अनुगामी था इसलिए इसमें मध्यदेशीय नव्य भाषा के तत्व उतनी मात्रा में नहीं मिलते जैसा कि पिङ्गल रचनाओं की भाषा में, फिर भी अवहट्ट ब्रजभाषा से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध कहा जा सकता है। अवहट्ट की रचनाओं में प्राकृत पैंगलम्, सन्देशरासक, कीर्त्तिलता, नेमिनाथ चौपई, थूलिभद्दफागु आदि अत्यन्त महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं, जिनकी भाषा में ब्रजभाषा के बीजांकुर वर्तमान हैं। पिङ्गल की प्रामाणिक रचनाओं में श्रीधर व्यास का रणमल्लछन्द, प्राकृतपैंगलम् के हम्मीर-सम्बन्धी तथा अन्य चारण शैली के पद गृहीत होते हैं। पृथ्वीराजरासो के प्रामाणिक छप्पयों की भाषा तथा परवर्ती संस्करणों की भाषा की मुख्य विशेषताएँ तथा इनमें समुपलब्ध ब्रजभाषा के तत्वों का विश्लेषण भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

§ ८ संक्रान्तिकाल (१२वीं–१४वीं) में उपर्युक्त अवहट्ट और पिङ्गल अथवा चारण शैली के अतिरिक्त ब्रजभाषा के बोलचाल के रूप की भी कल्पना की जा सकती है। पिङ्गल या अवहट्ट जन सामान्य की भाषायें नहीं थीं। पिङ्गल और अवहट्ट उस काल की साहित्यिक भाषाएँ थीं अर्थात् कृत्रिम भाषाएँ। ब्रजभाषा का एक क्षेत्रीय रूप भी रहा होगा। मध्यदेश में बोली जानेवाली ब्रजभाषा के तत्कालीन रूप के अनुमान का कोई आधार नहीं है। १२वीं १६वीं के बीच के कुछ औक्तिक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। औक्तिक का अर्थ है उक्ति या बोली। इस प्रकार के ग्रन्थों में तत्कालीन बोलियों के व्याकरण दिये हुए हैं। इनमें से कोई भी मध्यदेशीय उक्ति या बोली का ग्रन्थ नहीं है। उक्तिव्यक्तिप्रकरण, उक्ति रत्नाकर (जिनमें तीन उक्ति-ग्रन्थ संकलित हैं) तथा मुग्धावबोध औक्तिक आदि रचनायें संक्रान्तिकालीन देश्य भाषा-रूपों के अध्ययन में बहुत सहायक हो सकती हैं। इनमें से उक्तिव्यक्ति प्रकरण की रचना काशी में हुई है, मुग्धावबोध की गुजरात में तथा उक्ति रत्नाकर की रचनाएँ गुजरात-राजस्थान में लिखी हुई हैं। इनकी भाषा के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर हम औक्तिक ब्रजभाषा अर्थात् बोलचाल की ब्रजभाषा का एक अनुमानित (Hypothetical) रूप निर्धारित कर सकते हैं। परवर्ती ब्रजभाषा में भी प्रायः दो रूप मिलते हैं औक्तिक शैली और चारण

शैली। कुम्भनदास आदि भक्त कवियों की भाषा पिङ्गल या अवहट्ठ शैली से विकसित नहीं हुई, बल्कि उसका विकास औक्तिक ब्रज से हुआ। नरहरि भट्ट, गङ्ग, भूषण आदि की शैली में चारण या पिङ्गल शैली का विकास दिखाई पडता है। प्राप्त औक्तिक ग्रन्थों के आधार पर मैंने ब्रजभाषा के अनुमानित औक्तिक रूप की कल्पना की है (देखिये §§ १५१–१५२)।

§ ९. विक्रमाब्द १४०० तक ब्रजभाषा का एक स्पष्ट और व्यवस्थित रूप निर्मित हो चुका था। विक्रमी १४०० से १६०० (अर्थात् सूरदास के रचनाकाल तक) के बीच लिखी हुई विपुल सामग्री भाडारों में दबी पडी है। राजस्थान के जैन भाडारों में इस प्रकार की सामग्री सुरक्षित हैं, किन्तु हस्तलेखों की न तो वैज्ञानिक सूची बनी है और न तो इस सामग्री को ऐतिहासिक कालानुक्रम में अलग ही किया गया है। एक-एक गुटके (सग्रह ग्रथ) में कई कवियों की रचनायें संकलित हैं, जिनका अलग-अलग न तो विवरण दिया गया है न तो रचनाओं का परिचय ही। भाषा पर विचार करके विभाजन करना तो एक भारी काम है ही। इसी तरह के अव्यवस्थित भाडारों में मुझे प्राचीन ब्रजभाषा की कोई बीस रचनाओं का पता चला है जिनका रचनाकाल निश्चित है। १६ वीं १७ वीं के लिपिकाल वाले गुटको में ऐसे कवियों की संख्या भी बहुत लम्बी है जिनका रचनाकाल मालूम नहीं, किन्तु लिपिकाल के आधार पर उनके पुराने होने का अनुमान किया जा सकता है। इस निबन्ध में ऐसी रचनाओं का विवरण नहीं दिया गया है क्योंकि इनकी सख्या बहुत लम्बी है और इनका परिचय-परीक्षण तथा तिथि-निर्धारण एक स्वतन्त्र प्रबन्ध का विषय हो सकता है। ब्रजभाषा की सबसे पुरानी ज्ञात कृति 'प्रद्युम्न-चरित' है जो आगरा में सवत् १४११ (१३५४ ईस्वी) में लिखा गया। सवत् १४५३ (१३९६ ईस्वी) में जाखू मनियार ने हरिचन्द पुराण लिखा। प्राचीन ब्रजभाषा के सबसे प्रसिद्ध कवि विष्णुदास थे जिन्होंने १४९२ सवत् यानी १४३५ ईस्वी में 'स्वर्गारोहण' की रचना की। इनकी लिखी हुई रचनाओं में 'रुक्मिणी मगल, 'महाभारत' तथा 'सनेह लीला' अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। सनेह लीला हिन्दी का सभवतः सबसे प्राचीन भ्रमरगीत परम्परा का काव्य है। विक्रमी १५१६ (१४५९ ईस्वी) में कवि दामो ने लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा की रचना की। डूंगर कवि की बावनी (१५३८ विक्रमी) मानिक कवि (१५४६ विक्रमी) की वैतालपचीसी, कवि ठक्कुरसी (१५५० विक्रमी) की पञ्चेन्द्रिय वेलि, नारायणदास (१५५० विक्रमी) की छिताईवार्ता, कवि थेघनाथ (१५५७ विक्रमी) की गीता भाषा, चतरुमल (१५७० विक्रमी) का नेमीश्वरगीत, १६वीं शताब्दी में रचित 'विरहसत', धर्मदास (विक्रमी १५७८) का 'धर्मोपदेश' तथा कवि छीहल (१५७८ विक्रमी) की पञ्चसहेली, बावनी आदि तथा वाचक सहजसुन्दर (सवत् १५८१) का रतनकुमार रास इस काल की महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

§ १० इस काल की अप्रकाशित रचनायें भाषा और साहित्य दोनों ही के अध्ययन तथा उनके परवर्ती विकास को समझने में सहायक हैं। १४वीं–१६वीं शताब्दी की सबसे प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति निर्गुण सन्त-काव्य की रही है। अभाग्यवश सन्तों की रचनाओं को लेकर सैद्धान्तिक ऊहापोह तो बहुत हुई है किन्तु इनकी भाषा और साहित्य के वास्तविक रूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न बहुत कम हुआ है। सतों की भाषा को ही लिया जाये। प्रायः इनकी भाषा को खिचडी, सधुक्कडी, पञ्चमेल आदि विशेषण देकर भाषाविषयक अध्ययन की

इयत्ता मान ली जाती है। आचार्य शुक्ल ने सन्तों की भाषा के सिलसिले में इस 'सधुक्कडी' शब्द को बार-बार प्रयुक्त किया है। डा० रामकुमार वर्मा अपने आलोचनात्मक इतिहास में निर्गुणसन्त-काव्य की भाषा पर विचार करते हुए लिखते हैं 'सन्त काव्य की भाषा बहुत अपरिष्कृत है। सन्त काव्य हमें तीन भाषाओं से प्रभावित मिलता है, पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी और पञ्जाबी।'[1] मुख्य भाषा क्या थी, इसकी चर्चा नहीं की गई, प्रभाव अवश्य बताया गया। वस्तुतः सन्तों की भाषा को समझने के लिए हमें सम्पूर्ण उत्तर भारत की तात्कालिक भाषा-स्थिति को समझना होगा। सन्तों के पहले एक सुनिश्चित काव्य भाषा थी अर्थात् शौरसेनी अपभ्रंश जो बाद में विकसित होकर ब्रजभाषा के प्राचीन रूप 'पिंगल' के नाम से प्रसिद्ध हुई पिंगल उस काल की सर्वव्यापक साहित्य भाषा थी। डा० चाटुर्ज्या ने ठीक ही लिखा है कि 'शौरसेनी अपभ्रंश का एक नवीनतर या अर्वाचीन रूप पिंगल नाम से राजस्थान और मालवा के कवियों द्वारा गृहीत हुआ। पिंगल शौरसेनी अपभ्रंश साहित्यिक भाषा और मध्यकालीन ब्रजभाषा के बीच की भाषा कहा जा सकता है।'[2] वस्तुतः यह पिंगल सम्पूर्ण उत्तर भारत में साहित्यिक भाषा के रूप में व्याप्त हो गया था। पिंगल को ही तानी हिन्दुई कहते हैं। पिंगल या प्राचीन ब्रजभाषा के साथ-साथ दिल्ली, मेरठ की पश्चिमी हिन्दी, पञ्जाबी के प्रभाव के साथ फारसी शब्दों के सम्मिश्रण से 'रेखता' भाषा का रूप ग्रहण कर रही थी जो बाद में काफी प्रचलित और व्यापक भाषा हो गई। सन्तों का साहित्य इन दोनों भाषाओं में लिखा गया है। मिश्रण, खिचड़ी, या सधुक्कड़ी विशेषण 'रेखता' में लिखे साहित्य की भाषा को ही दिया जा सकता है, क्योंकि उसी में खड़ी, पञ्जाबी, राजस्थानी और फारसी का मिश्रण हुआ था। रेखता का अर्थ ही मिश्रण होता है। काव्यभाषा पिंगल अथवा पुरानी ब्रजभाषा का साहित्य अत्यन्त परिष्कृत और शुद्ध भाषा में है, क्योंकि इनके पीछे एक लम्बी परम्परा थी, यह भाषा काफी सशक्त रूप ग्रहण कर चुकी थी।

§ ११. ब्रजभाषा के आरम्भिक विकास को समझने के लिए सन्त साहित्य की भाषा पर विचार होना चाहिए। संतों की रचनाओं का सबसे पुराना लिखित रूप गुरुग्रन्थ (१६६१ विक्रमी) में उपलब्ध होता है। गुरुग्रन्थ की रचनाओं में दोनों शैलियों की हिन्दी-कविताएँ सङ्कलित हैं। ब्रजभाषा कविताओं की संख्या भी काफी है करीब ५० प्रतिशत। गुरुग्रन्थ साहब की रचनाओं में ब्रजभाषा का काफी प्राचीन रूप सुरक्षित है। नामदेव की ब्रजभाषा सूरदास की ब्रजभाषा से स्पष्टत: पुरानी मालूम होती है। बहुत से विद्वान् संतों की रचनाओं की प्रामाणिकता पर सन्देह व्यक्त करते हैं। डा० दीनदयाल गुप्त नामदेव की भाषा को सूरदास की भाषा की पूर्वपीठिका तो मानते हैं किन्तु उनके मत से 'इस भाषा के नामदेव-कृत होने में सन्देह है, कदाचित् ब्रजभाषा की मौखिक परम्परा ने उसे इस प्रकार की भाषा का रूप दे दिया।'[3] नामदेव की भाषा को सूरदास और कुम्भनदास की भाषा की पृष्ठभूमि मानते हुए भी डा० गुप्त एक मौखिक परम्परा की कल्पना करते हैं। यह समझ में नहीं आता कि वे नामदेव को इस प्रकार की भाषा का लेखक मानने में कौन-सा दोष देखते हैं। कदाचित्

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, द्वि० सं० १९५४, पृ २८७

२. राजस्थानी भाषा, उदयपुर, १९४९ ईस्वी पृ० ६५

३. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ ११

डा० गुप्त ने ब्रजभाषा की वास्तविक स्थिति को भुला दिया है। नामदेव या किसी सन्त कवि का पिंगल या ब्रजभाषा में काव्य करना ज्यादा स्वाभाविक और कम आश्चर्यजनक है, क्योंकि ब्रजभाषा की एक सुनिश्चित और विकसित काव्य-परम्परा थी, जो गुजरात से बङ्गाल तक के कवियों द्वारा समान रूप से गृहीत हुई थी। फिर इस भाषा के नामदेव कृत न होने का प्रमाण भी क्या है? इसके विपरीत नामदेव के पदों की प्राचीनता सिद्ध है क्योंकि १६६१ में लिपिबद्ध गुरुग्रन्थ में ये सकलित है। मौखिक परम्परा से भ्रष्टता या रूपान्तर कहाँ उत्पन्न नहीं हुआ है। यदि सन्तों की भाषा में परिवर्तन होने की आशका है तो सूरदास की भाषा में भी वह आशका रह ही जाती है। सूरसागर की कौन-सी प्रति गुरुग्रन्थ से पुरानी है। सन्तों के ब्रजभाषा के सम्यक् अध्ययन के बिना सूरदास तथा अन्य कवियों के भाषा-साहित्य का पूरा परीक्षण नहीं किया जा सकता।

§ १२. सन्तों ने एक ओर जहाँ ब्रजभाषा को सहज प्रेम, अहेतुक आत्मनिवेदन, निष्कपट रागबोध की पवित्र भावनाओं से सुसस्कृत किया वहीं तत्कालीन सगीतज्ञ गायक कवियों ने इस भाषा में गेयता, मधुरता और सगीत की दिव्यता उत्पन्न की। खुसरो, गोपाल नायक, बैजूबावरा, हरिदास और तानसेन जैसे गायकोंने उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण भी किया। इनकी रचनायें नवीन आह्लादकारी लयमयता से परिप्लुत हो उठीं। इस प्रकार १४ वीं से १६ वीं के ब्रजभाषा-साहित्य को जैन कवियों, प्राचीन कथा-वार्ता के लेखकों, प्रेमाख्यानक-रचयिताओं, सन्तों तथा गायक कवियों ने अपनी साधना से नई भास्वरता प्रदान की। सूरदास इसी साधना के उत्तराधिकारी हुए, उनके काव्यको विक्रमाब्द १००० से १६०० तक की ब्रजभाषा की सारी उपलब्धियाँ सहज रूप में प्राप्त हुई। न केवल मध्यदेश में रचित साहित्य की परम्परा ही उनको विरासत में मिली बल्कि गुजरात के भालण (१५ वीं शती), महाराष्ट्र के नामदेव, त्रिलोचन, पजाब के गुरु नानक तथा सुदूर पूरब में असम के शकरदेव की ब्रज कविताएँ भी ज्ञात-अज्ञात रूप से उनकी भाषा को शक्तिमत्ता प्रदान करने में सहायक हुई।

ब्रजभाषा सम्बन्धी कार्य

§ १३. ब्रजभाषा के शास्त्रीय अध्ययन का यत्किंचित् प्रयत्न बहुत पहले से होता रहा है। अब तक के उपलब्ध व्याकरण-ग्रन्थों में सबसे पुराना व्याकरण मिर्जा खाँ का है जो उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तुहफत-उल-हिन्द' का एक अश है। वैसे नव्य भारतीय आर्य भाषाओं का स्वरूप बोध कराने वाले कुछ औक्तिक ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं, किन्तु इनमें किसी निश्चित भाषा का पता नहीं चलता। औक्तिक ग्रन्थकार भी अपनी भाषा को उक्त अपभ्रश या देशी अपभ्रंश ही कहते हैं।[1] इस तरह एक निश्चित भाषा पर लिखा हुआ सबसे प्राचीन व्याकरण मिर्जा खाँ का ही कहा जा सकता है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने इस ग्रन्थ की भूमिका में ठीक ही लिखा है 'कि अब तक प्राप्त साहित्य में मिर्जा खाँ का 'तुहफत' नव्य भारतीय आर्य भाषाओं का सबसे प्राचीन व्याकरण कहा जा सकता है।[2] मिर्जा खाँ का 'तुहफत-उल-हिन्द' १६७५ ईस्वी के कुछ पहले का लिखा हुआ ग्रन्थ है जिसमें ब्रजभाषा के छन्दशास्त्र, अलकार,

---

1 उक्तिव्यक्ति प्रकरण में भाषा को अपभ्रश ही कहा गया है

2 A Grammar of the Brajbhakha, shantiniketan, 1934, Foreword PP xi

नायक-नायिका भेद, साथ ही भारतीय संगीत, जिसमें भारतीय राग-रागिनियों के साथ फारसी संगीत का भी विवरण है, तथा कामशास्त्र, सामुद्रिक और अन्त में हिन्दी-फारसी के तीन हजार शब्दों का कोश प्रस्तुत किया गया है। ब्रजभाषा की कविताओं को समझने के लिए ब्रजभाषा के व्याकरणिक रूप से परिचित होना आवश्यक था, इसीलिए मिर्जा खाँ ने ब्रजभाषा का संक्षिप्त व्याकरण इस ग्रन्थ की भूमिका के रूप में उपस्थित किया। फारसी उच्चारण के अभ्यस्त मुसलमानों की दृष्टि में रखकर मिर्जा खाँ ने ब्रजभाषा के उच्चारण और अनुलेखन पद्धति (Orthography) पर अत्यन्त नवीन ढंग से विचार किया है। ध्वनियों के अध्ययन में मिर्जा खाँ का श्रम प्रशंसनीय है, किन्तु जैसा डा० चाटुर्ज्या ने लिखा है कि वे एक सावधान निरीक्षक तो प्रतीत होते हैं, परन्तु उनके निष्कर्ष और निर्णय कई स्थानों पर अवैज्ञानिक प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए मिर्जा खाँ 'द' को दाल-इ-खफीफ अर्थात् ह्रस्व 'द' कहते हैं जब कि 'ध' को दाल-इ-सकील यानी दीर्घ (Heavy sound) मानते हैं। इसी तरह 'ड' को 'डाल-इ-मुश्किला' यानी दीर्घ और महाप्राणध्वनिक 'ढ' को डाल-इ-अस्कल अर्थात् दीर्घतम ध्वनि कहा गया है। यहाँ पर ह्रस्व (Light) दीर्घ (Heavy) तथा दीर्घतम (Heaviest) आदि भेद बहुत अनियमित और अनिश्चित मात्रा बोध कराते हैं। फिर भी मिर्जा खाँ का ध्वनि-विश्लेषण नव्य आर्यभाषाओं के ध्वनि-तत्व के अध्ययन में बहुत बड़ा योग दान है। मिर्जा खाँ ने व्याकरणिक शब्दों (Grammatical terms) के जो प्रयोग किये हैं वे हिन्दी व्याकरण के नये शब्द हैं जो उस समय प्रयोग में आते रहे होंगे। उदाहरण के लिए करतब (Verb) के भूत (Past) वर्तमान (Present) भविष्य (Future) क्रिया (Perfect Participle) और कृत् (Object) भेद बताए गए हैं।

ब्रजभाषा का दूसरा व्याकरण बाबू गोपालचन्द्र 'गिरधरदास' ने लिखा जो छन्दोबद्ध है और जिसे श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी ने पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित कराया है। यह व्याकरण अत्यन्त संक्षिप्त रीति से ब्रजभाषा की मूल व्याकरणिक विशेषताओं का उल्लेख करता है। उदाहरण के लिए परसर्ग और विभक्तियों पर लिखा यह छन्द देखें :

देव जो सो सुखी देव जे हैं मे पूजनीय
देव को नमत पूजैं देवन के मति मित
देव सों मिलाप मेरो देवन सों रमैं मन
देव को सुदीनो चित्त देवन को गृह चित
देव तें न दूजो भार्यो देवन सों यदो हू न
देव को रसिक दास देवन कौन गुन हित
देव में विरति नति देवन में सतगति
करो कृपा हे देव हे देवन ह्यो निन

व्याकरणिक नियमों का निरीक्षण स्पष्ट है किन्तु इसमें व्याकरण की बारीकी नहीं है। फिर भी १९ वीं शताब्दी में लिखे होने के कारण इस व्याकरण का महत्त्व निःसंदिग्ध है।

§ १४ ब्रजभाषा का वैज्ञानिक अध्ययन अन्य भारतीय भाषाओं के साथ ही योरोपीय विद्वानों के प्रयत्न से आरम्भ हुआ। १८११ ईस्वी में लल्लू जी लाल ने ब्रजभाषा के कारक-चिह्नों और क्रियाओं पर एक निबन्ध प्रस्तुत किया। उस निबन्ध में ब्रजभाषा-क्षेत्र की भी चर्चा हुई। लल्लू जी लाल के मत से ब्रजभाषा ब्रजमंडल, ग्वालियर, भरतपुर, [illegible]

अन्तर्वेद, बुन्देलखण्ड आदि स्थानों में बोली जानेवाली भाषा का नाम है। लल्लू जी लाल कृत ब्रजभाषा व्याकरण का हिन्दी अनुवाद हाल ही में आगरा हिन्दी विद्यापीठ से प्रकाशित हुआ है। इस व्याकरण को देखने से इतना स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ने बहुत सरसरी तरीके से विदेशी लोगों के लिए इस व्याकरण का निर्माण किया है। १८४७ में गार्सा द तासी ने 'हिन्दुई भाषा के कुछ उदाहरण' (Rudiments de la langue Hindui) नाम से पुस्तक लिखी जिसमें ब्रजभाषा पर किञ्चित् विचार किया गया। तासी की एक और रचना 'हिन्दी, हिन्दुई मुन्तखवात' १८४६ में पेरिस से निकली जिसमें हिन्दुई यानी ब्रजभाषा का कुछ विवरण प्रस्तुत किया गया है। १८२७ में कलकत्ता से श्री डब्ल्यू० प्राइस ने हिन्दी और हिन्दुस्तानी का एक सकलन प्रकाशित कराया जिसकी भूमिका में हिन्दी और ब्रजभाषा के व्याकरण पर कुछ विचार मिलता है। जे० आर० वैलन्टाइन ने १८३९ में 'हिन्दी और ब्रजभाषा व्याकरण (Hindi and Brajbhakha Grammar) का प्रकाशन कराया। यह पुस्तक हेलिवरी (Haillybury) के ईस्ट इडिया कालेज के लिए प्रस्तुत की गई जिसका मुख्य उद्देश्य भारत में कार्य करने के इच्छुक लोगों के लिए हिन्दी भाषा का परिचय देना था। ब्रजभाषा का परिचय देने की जरूरत इसलिए हुई 'क्योंकि इस भाषा के प्रयोग प्रेमसागर में बहुतायत से मिलते हैं।'[1] इस प्रकार इस पुस्तक में ब्रजभाषा का गौण रूप से ही विचार किया गया। सज्ञा, विभक्ति, सर्वनाम, क्रिया आदि के विवरण में अलग-अलग खानों में हिन्दी और ब्रजभाषा के रूपों को एकत्र किया गया है। कहीं-कहीं लेखक ने ब्रजभाषा के बारे में कुछ विशेष विचार पाद टिप्पणियों में दिये हैं। ऐसे विचार काफी महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए आदरार्थक आज्ञा के अर्थ में लेखक ने ब्रज और खडीबोली दोनों ही खानों में 'चलिये' लिखा है। ब्रज में 'चलियौ' भी दिया है जिसको पाद टिप्पणी में स्पष्ट करते हुए लिखा गया है 'ब्रजभाषा रूप चलियौ (ye shall go or may ye go) केवल मध्यमपुरुष बहुवचन में ही चलता है'[2]। वैलन्टाइन ने एक और पुस्तक लिखी है 'हिन्दुस्तानी भाषा का व्याकरण, ब्रजभाषा और दक्खिनी बोली के संक्षिप्त विवरण के साथ'[3]। यह पुस्तक लंदन से १८४२ ईस्वी में प्रकाशित हुई। इसमें ब्रजभाषा-अश प्रायः वैसा ही है जैसा पहली पुस्तक में।

ब्रजभाषा सम्बन्धी सक्षिप्त किन्तु व्यवस्थित अध्ययन जार्ज ग्रियर्सन ने लिंग्विस्टिक सर्वे आव् इडिया के ९ वें जिल्द में प्रस्तुत किया। ग्रियर्सन ने ब्रजभाषा के विविध रूपों का विवरण दिया। उन्होंने बताया कि अन्तर्वेदी, कन्नौजी, जादोवाटी, सिकरवारी, कैथोरिया, डागी, डाभभाग, कालीमल और डुगपारा आदि बोलिया ब्रजभाषा की ही स्थानीय रूपान्तर हैं। उन्होंने ब्रजभाषा के साथ साथ कन्नौजी और बुन्देली के भी व्याकरण की खास-खास बातें (Skelton Grammar) अलग करके प्रस्तुत कीं। इस प्रकार ग्रियर्सन ने ब्रजभाषा के अध्ययन की ठोस भूमिका स्थापित की, जो उनके व्यापक सर्वेक्षण से उपलब्ध आकडों पर

---

1 Hindi and Brajbhakha Grammar, London, 1839 Advt p 1

२. वही, पृ० २८

3 J R Ballentyne A Grammar of the Hindustani language with brief notes of the Braj and Dakhini Dialects

आधारित थी। ग्रियर्सन ने अपनी पुस्तक 'आन माडर्न इण्डोआर्यन वर्नाक्यूलर्स' में भी व्रजभाषा पर प्रसंगवश कहीं-कहीं विचार किया है।

ग्रियर्सन के अलावा अन्य कई योरोपीय भाषावैज्ञानिकों ने अवान्तर रूपसे, भारतीय भाषाओं के अध्ययन के सिलसिले में व्रजभाषा पर विचार किया। बीम्स ने अलग से पृथ्वी-राजरासो की भाषा पर एक लम्बा निबन्ध लिखा जो १८७३ ई० में छपा।[1] जिसमें व्रजभाषा के प्राचीन रूपपर अच्छा विचार किया गया।

इसी प्रकार हार्नले, तेसीतोरी आदि ने भी व्रजभाषा पर यत्किंचित् विचार किया। डा० केलाग ने हिन्दी व्याकरण में व्रजभाषा पर काफी विस्तार से विचार किया है। केलाग के व्रजभाषा-अध्ययन का मुख्य आधार लल्लू जी लाल की 'प्रेमसागर' और 'राजनीति' पुस्तकें रही हैं। व्रजभाषा की विशेषताओं का निर्धारण केलाग ने इन्हीं पुस्तकों की भाषा के आधार पर किया। केलाग ने परसर्गों, क्रियाओं, सर्वनामों और विभक्तियों की व्युत्पत्ति ढूँढने का प्रयत्न किया है, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। १८७५ ईस्वी में केलाग का यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुआ तो आजतक हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ व्याकरण माना जाता है।

हिन्दी भाषा में व्रजभाषा पर बहुत कार्य नहीं हुए। विकीर्ण रूप से विचार तो कई जगह मिलता है किन्तु व्रजभाषा के सन्तुलित और व्यवस्थित व्याकरण बहुत कम हैं। वैसे तो 'बुद्ध चरित' की भूमिका में रामचन्द्र शुक्ल ने, तथा 'बिहारीरत्नाकर' में कविवर रत्नाकर ने व्रजभाषाकी कुछ व्याकरणिक विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। किन्तु इनमें न तो पूर्णता है न वैज्ञानिकता। श्री किशोरीदास वाजपेयी का 'व्रजभाषा व्याकरण' पुरानी पद्धति पर लिखा गया है, परन्तु यह महत्त्वपूर्ण और काम की चीज है। व्रजभाषा पर हिन्दी में प्रथम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य डा० धीरेन्द्रवर्मा ने किया है। उन्होंने १९३५ ई० में पेरिस विश्वविद्यालय की डी० लिट् उपाधि के लिए व्रजभाषा पर 'ला लांग व्रज' नाम से प्रबन्ध प्रस्तुत किया। इसी पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर १९५४ में प्रयाग से प्रकाशित हुआ। व्याकरण और भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन में अन्तर होता है। व्रजभाषा के उपर्युक्त कार्यों में कुछेक को छोड़कर बाकी सभी व्याकरण की सीमा में ही बंधे हुए थे। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने सर्व प्रथम इस महत्वपूर्ण भाषा का भाषाशास्त्रीय अध्ययन उपस्थित किया। इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें मध्यकालीन व्रजभाषा (१६वीं–१८वीं) तथा आधुनिक बोलिक व्रजभाषा का तुलनात्मक व्यवस्थित अध्ययन किया गया है। लेखक ने बड़े परिश्रम से व्रजप्रदेश के हिस्सों से भिन्न बोलियों के रूप वहाँ के लोगों के मुख से सुनकर एकत्र किया। इस प्रकार इस पुस्तक में साहित्यिक व्रज और बोलचाल की व्रज का तारतम्य और सम्बन्ध स्पष्टतया व्यक्त हो सका है। किसी भी भाषा-अनुसन्धित्सु के लिए परिशिष्ट में सकलित बोलियों के उद्धरणों और अन्त में सम्पन्न विस्तृत शब्द-सूचो का महत्व निर्विवाद है।

व्रजभाषा सम्बन्धी इन कार्यों का विवरण देखकर इतना स्पष्ट हो जाता है कि सूरदास से पहले व्रजभाषा का यदि शास्त्रीय और प्रामाणिक विवेचन उपस्थित हो सके तो यह निश्चय ही टूटी हुई कड़ी जोड़ने में सहायक होगा और १६ वीं शताब्दी से बाद की व्रजभाषा के अध्ययन का पूरक हो सकेगा।

---

1 Notes on the grammar of Chand Bardai J. R. A. S. B. 1873.

साहित्य

§ १५. बारहवीं शताब्दी से १६ वीं शताब्दी के बीच प्राप्त होने वाले ब्रजभाषा-साहित्य का सम्यक् परीक्षण नहीं हो सका है। इस काल के कुछेक ज्ञात कवियों के बारे में छिट-फुट सूचनाएँ छपती रहीं हैं, खास तौर से रासो ग्रन्थों के बारे में, किन्तु वहाँ भी साहित्यिक सौष्ठव या काव्योपलब्धि दर्शाने का प्रयत्न कम किया गया है, इनकी प्रामाणिकता अथवा ऐतिहासिकता की ऊहापोह ज्यादा। आचार्य शुक्ल ने अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में अपभ्रंश और वीरगाथा काल--दोनों ही युगों के साहित्य पर अन्यमनस्क भाव से विचार किया है। फिर हिन्दी-साहित्य के उक्त इतिहास ग्रन्थ में इस युग के प्राप्त साहित्य की पूरी परम्परा को दृष्टि में रखकर विचार करने का अवसर भी न मिला। रासो ही ले-देकर आलोच्य ग्रन्थ बना रहा इसलिए छोटी बडी अनेक रचनाओं के काव्य-रूपों (Poetic forms) के अध्ययन का कोई प्रयत्न नहीं हुआ, जो आवश्यक और महत्त्वपूर्ण था। डा० रामकुमार वर्मा ने अपने आलोचनात्मक इतिहास में हिन्दी के आरम्भिक काल पर विस्तार से लिखा और साहित्यिक प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। वर्मा जी के ग्रन्थ में सिद्ध साहित्य, डिगल साहित्य, सत साहित्य आदि विभागों पर अद्यावधि प्राप्त सामग्री का सकलन किया गया, जो प्रशसनीय है, किन्तु अपभ्रश, पिंगल और ब्रज-हिन्दी के साहित्य की अन्तर्वर्ती धारा के विकास की एकसूत्रताको पूर्णतया स्पष्ट नहीं किया गया है अर्थात् सिद्धों और सन्तों के तथा वैष्णव भक्तों के साहित्य की सम-विषम प्रवृत्तियों का तारतम्य और लगाव नहीं दिखाया गया, उसी प्रकार प्राचीन-साहित्य के रास, विलास, चरित, पुराण, पवाडा, फागु, बारहमासा, षट्ऋतु, वेलि, विवाहलो आदि काव्य रूपों के उद्गम और विकास की दिशायें भी अविवेचित ही रह गईं। इसका मुख्य कारण इन इतिहास-ग्रन्थों की सीमित परिधि ही है, इसमें सन्देह नहीं।

ईस्वी सन् की दसवीं से १४वीं शती के साहित्य का अत्यन्त वैज्ञानिक विवेचन डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'आदिकाल' में दिखाई पडता है। द्विवेदी जी ने आदिकाल की अल्प प्राप्त सामग्री का परीक्षण किया, उसकी मुख्य प्रवृत्तियों को सोचा-विचारा और उन्हें वृहत्तर हिन्दी साहित्य की सही पृष्ठभूमि के रूप में स्थापित भी किया। उन्होंने रासो आदि ग्रन्थों का वास्तविक मूल्याकन उपस्थित किया। काव्यसौष्ठव की दृष्टि से और उनके वस्तु-सौन्दर्य, कथानक रूढियों, तथा तत्कालीन सास्कृतिक चेतना के प्रतिफलन के प्रयत्न को दृष्टि में रखकर। अन्त में उन्होंने रास, आख्यायिका, कहानी, सबदी, दोहरा, फागु, वसन्त आदि काव्य रूपों का परिचय भी दिया जो हिन्दी में इस प्रकार का पहला प्रयास था। इसलिए यहाँ भी काव्यरूपों के विकास का दिशा-सकेत मात्र ही हो पाया है, पूर्ण विवेचन नहीं। ब्रजभाषा साहित्य की सबसे बडी विशेषता उसके पदों और गानों की सगीतमयता है। सूरपूर्व ब्रजभाषा साहित्य को समृद्ध बनानेवाले सगीतज्ञ कवियों की रचनाओं का अब-तक सम्यक् अध्ययन नहीं हो सका है—सूर और अन्य ब्रज कवियों ने संगीत को साहित्य का एक अविच्छेद्य अङ्ग बना दिया था। इस तत्त्व को समझने के लिए गोपाल नायक, बैजू बावरा, आदि गीतकारों की रचनाओं का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है (देखिये §§ २३८-४४)। इसी सिलसिले में मीर अब्दुल वाहिद के 'हकायके हिन्दी' का भी उल्लेख होना चाहिए। इस ग्रंथ में लेखक ने हिन्दी के

ध्रुपद और विष्णुपद गानों में लौकिक शृंगार के वर्ण्य विषयों को आध्यात्मिक ढंग से समझने की कुञ्जी दी है। लेखक ने अपने मत की पुष्टि के लिए स्थान-स्थान पर ब्रजभाषा की रचनाओं के कतिपय अंश उद्धृत किये हैं (देखिये §२४५) जिनसे सूरदास के पहले की ब्रजभाषा की समृद्धि का पता चलता है।[1]

§ १६. १४वीं से १६वीं तक के साहित्य का विवेचन सैद्धान्तिक ऊहापोह के रूप में तो बहुत हुआ है, खासतौर से सिद्ध सन्तों के साहित्य को समझने के लिए पूरा तंत्र-साहित्य, हठयोग-परम्परा, योगशास्त्र आदि का सर्वांग विवेचन, भूमिका के रूप में सम्मिलित कर दिया जाता है। किन्तु इस साहित्य का सम्यक् रूप निर्धारण आज तक भी नहीं हो सका। एक तो इसलिए कि १४ से १६ सौ तक के साहित्य को हम सन्त साहित्य तक सीमित कर देते हैं। सन्त भी एक सम्प्रदाय के यानी निर्गुण सन्त। जैन साहित्य, जिसका अभूत पूर्व विकास शौरसेनी अपभ्रंश में दिखाई पड़ता है तथा जिसका परवर्ती विकास बनारसीदास जैसे सिद्ध लेखक की रचनाओं में मिलता है, इस काल में अन्धकार में पड़ा रह जाता है। कबीर या अन्य संतों की विचारधारा के मूल में नाथ सिद्धों के प्रभाव को ढूँढने का प्रयत्न तो होता है किन्तु जैन संतों के प्रभाव को विस्मरण कर दिया जाता है। दूसरी ओर हिन्दी में प्रेमाख्यानक काव्यों की परम्परा का मतलब ही अवधी काव्य लगाया जाने लगा है। अवधी में भी प्रेमाख्यानक का क्षेत्र सूफी साहित्य तक सीमित रह जाता है। मध्यकालीन भारतीय साहित्य में प्रेमाख्यानक काव्यों का अद्वितीय महत्त्व है। शौर्य और वीरता के उस वातावरण में शृंगार को रसराज की प्रतिष्ठा मिली। इसीलिए रोमानी प्रेमाख्यानकों की एक अत्यन्त विकसित परम्परा दिखाई पड़ती है। इस प्रेमाख्यानक-परम्परा का आरम्भ मुसलमान सूफी संतों ने नहीं किया। यह मूलतः भारतीय परम्परा थी, इसको उन्होंने ग्रहण किया और इनके रूप में कुछ परिवर्तन भी। जायसी के पहले के कई प्रेमाख्यानक काव्य ब्रजभाषा में मिलते हैं जिनमें कवि दामो का लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा (१५१६ विक्रमी) और नारायणदास की छिताई वार्ता (१५५० विक्रमी) प्रमुख हैं। ये दोनों हिन्दू पद्धति के प्रेमाख्यानक काव्य हैं।

§ १७. ब्रजभाषा के प्राचीन साहित्य (१०००–१६००) का सबसे बड़ा महत्त्व इस बात में है कि इसमें मध्यकाल में प्रचलित बहुत से काव्य-रूप सुरक्षित हैं जो परवर्ती साहित्य के शैली-शिल्प को समझने के लिए अनिवार्यतः आवश्यक हैं। तुलसीदास के रामचरितमानस की विभिन्न कथानक रूढ़ियों और तत्रगृहीत लोक उपादानों को समझने के लिए न केवल रासो काव्यों का अध्ययन आवश्यक है बल्कि जैन चरित काव्यों की भी समीक्षा होनी चाहिए। १४११ विक्रमी संवत् का लिखा हुआ प्रसिद्ध ब्रजभाषा काव्य 'प्रद्युम्नचरित' एक ऐसा ही काव्य है जिसके अन्तर्वर्ती वस्तु-तत्त्व और शिल्प का अध्ययन आवश्यक है। इसी प्रकार मङ्गल विवाहलो, बेलि, विलास आदि काव्य रूपों का अध्ययन भी प्राचीन ब्रजभाषा के इन काव्य रूपों के विवेचन के बिना सम्भव नहीं।

प्राचीन ब्रजभाषा साहित्य की इस टूटी हुई कड़ी के न होने से कई प्रकार की गुत्थियाँ सामने आती हैं। उदाहरण के लिए अष्टछाप के कवियों की लौकिक प्रेमव्यञ्जना और दोहे

---

1. हकायके हिन्दी, अनुवाद : सैयद अतहर अब्बास रिज़वी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत २०१४

चौपाई वाली शैली की पृष्ठ-भूमि तलाश करने में कठिनाई होती है। डा० दीनदयाल गुप्त ने सूफी प्रेमाख्यानकों की वस्तु और शैली दोनों को दृष्टि में रखकर लिखा है कि 'अष्टछाप काव्य पर उस भारतीय प्रेम-भक्ति परम्परा का प्रभाव है जो भारतवर्ष में सूफियों के धर्म-प्रचार के पहले से ही चली आती थी, जिसको अष्टछाप ने अपने गुरुओं से पाया हाँ इन प्रेम-गाथाओं, दोहा-चौपाई की छन्द शैली का नमूना अष्ट भक्तों के सम्मुख अवश्य था जिसका प्रभाव नन्ददास की दशमस्कन्ध की भाषा, रूपमञ्जरी आदि की शैली पर माना जा सकता है।'[1] राधाकृष्ण के लोकरञ्जक प्रेम का स्वरूप निश्चय ही भारतीय परम्परा से प्राप्त हुआ, और वह गुरुओं से ही नहीं मिला बल्कि ब्रजभाषा प्रेमाख्यानकों से भी मिला। उसी प्रकार यदि हमारे सामने थेघनाथ की गीता भाषा (१५५७ विक्रमी) अथवा विष्णुदास का स्वर्गारोहण और महाभारत कथा (१४९२ विक्रमी) तथा मानिक की बैतालपचीसी जैसे दोहे चौपाई में लिखे ब्रजभाषा ग्रन्थ रहते तो नन्ददास को इस शैली के लिए सूफियों का मुखापेक्षी न बनना पड़ता। इस तरह की कई समस्यायें साहित्य के अन्वेषियों और विद्वानों के सम्मुख उपस्थित होती हैं, जिनका सही समाधान प्रस्तुत करने में हम विवशता का अनुभव करते हैं।

भाषा और साहित्य की ये समस्यायें वस्तुतः इस मध्यान्तरित कड़ी के टूट जाने से ही उत्पन्न हुई हैं। ब्रजभाषा की एक सुष्ठु, उन्नत और सर्वतोमुखी प्रगति की अविच्छिन्न साहित्य परम्परा रही है। इस परम्परा की विस्मृत कड़ियो का सधान और उनका यथास्थान निर्धारण इस प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य है।

१ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० २०

व्रजभाषा का रिक्थ :

मध्यदेशीय इन्दो-आर्यन

§ १८. मध्यप्रदेश[1] व्रजभाषा की उद्गम-भूमि है। गंगा-यमुना के काठे में अवस्थित यह प्रदेश अपनी महान् सांस्कृतिक परम्परा के लिए सदैव आदर के साथ स्मरण किया गया है। भारतीय वाङ्मय में इस प्रदेश के महत्व और वैभव का एकाधिक बार उल्लेख मिलता है।[2] भारत (आर्यभाषा-भाषी) के केन्द्र में स्थित होने के कारण इस प्रदेश की भाषा को

---

१. मध्यदेश मूलतः गंगा-यमुना के बीच का प्रदेश—

(क) हिमवद् विन्ध्ययोर्मध्य यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥ [मनुस्मृति २।२१]

(ख) विनय पिटक, महावग्ग ५।१३।१२ में मध्यदेश की सीमा के अन्दर कजंगल अर्थात् वर्तमान बिहार का भागलपुर तक का इलाका सम्मिलित किया गया है।

(ग) गरुण पुराण (११५५) में मध्यदेश के अन्तर्गत मत्स्य, अश्वकूट, कुल्य, कुंतल, काशी, कोशल, अथर्व, अर्कलिंग, मलय और वृक सम्मिलित किये गए हैं।

(घ) सूत्र-साहित्य के उल्लेखों के विषय में द्रष्टव्य डा० कीथ का वैदिक इंडेक्स।

(ङ) कामसूत्र की जयमंगला टीका में टीकाकार ने मध्यदेश के विषय में वशिष्ट का यह मत उद्धृत किया है। [गंगायमुनयोरित्येके, टीका २।५।२१]

(च) फाह्यान, अलबेरुनी तथा अन्य इतिहासकारों के मतों के लिए देखिये डा० धीरेन्द्र वर्मा का लेख 'मध्यदेश का विकास', ना० प्र० पत्रिका भाग ३, संख्या १ और उनकी पुस्तक 'मध्यदेश' राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना से प्रकाशित।

२. (१) एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ [मनु० २।२०]

सदा प्रमुख स्थान प्राप्त होता रहा। ईसा पूर्व १००० के आसपास सम्पूर्ण उत्तर भारत में आर्य-जनों के आबाद होने के समय से आजतक मध्यदेश की भाषा सम्पूर्ण देश के शिष्ट जनों के विचार-विनिमय का स्वीकृत माध्यम रही है। समय और परिस्थिति के अनुसार तथा भाषा के आन्तरिक नियमों के कारण मध्यदेशीय भाषा ने कई रूप ग्रहण किये, वैदिक या छान्दस के बाद सस्कृत, पालि, शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश आदि इस प्रदेश की भाषायें हुई, किन्तु यह रूप-परिवर्तन भाषा-भेद नहीं, बल्कि भारतीय आर्य-भाषा के विकास की अटूट शृङ्खला व्यक्त करता है। ग्यारहवीं शती के आसपास इस प्रदेश की जन-भाषा के रूप में व्रजभाषा का विकास हुआ, अपनी कैशोरावस्था में, मुसलमानी आक्रमण के काल में, यह उत्तर की सास्कृतिक और राजकीय भाषा के रूप में सामन्ती दरबारो में मान्य हुई, फलतः एक ओर जहाँ वीरता और शौर्य के भावों से परिपुष्ट होकर इस भाषा में नई शक्ति का सचार हुआ, वहीं दूसरी ओर मध्य-युग के भक्ति-आन्दोलन के प्रमुख माध्यम के रूप में इसे पवित्र और मधुर भाषा की प्रतिष्ठा भी मिली, किन्तु इसके वैभव और समृद्धि का सबसे बडा कारण वह विरासत थी जो इसे अपनी पूर्वज भाषाओं से रिक्थ-क्रम में प्राप्त हुई। वैदिक भाषा से शौरसेनी अपभ्रंश तक की सारी शक्ति और गरिमा इसे स्वभावतः अपनी परम्परा के दायरूप में मिली। अतः व्रजभाषा के उद्भव और विकास का सही अध्ययन बिना इस परम्परा और विरासत के समुचित आकलन के अधूरा ही रहेगा।

§ १६. भारतीय आर्यभाषा का इतिहास आर्यों के भारत प्रदेश के साथ ही आरम्भ होता है। आर्यों के आदिम निवास-स्थान के बारे में मतभेद हो सकता है, बहुत से विद्वान् उन्हें कहीं बाहर से आया हुआ स्वीकार नहीं करते, किन्तु यहाँ इस विवाद से हमारा कोई सीधा प्रयोजन नहीं है। ईस्वी पूर्व १५०० के आस पास बोली जाने वाली आर्यभाषा का रूप हमें ऋग्वैदिक मन्त्रो में उपलब्ध होता है। ऋग्वैदिक भाषा आश्चर्यजनक रूप से पूर्वी ईरान और अफगानिस्तान में बसे हुए तत्कालीन कबीलों की बोली से साम्य रखती है। ईस्वी सन् १६०६ में प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् ह्यूगो विंकलर ने एशिया माइनर के बोगाजकुई स्थान में बहुत से पुरालेखों का पता लगाया जिनमें आर्य देवताओं इन्द्र (इ-न्द्-अ-र) सूर्य्य (शु-रि-य-स) मरुत (मरु-तश) वरुण (उ-रु-ब-न) आदि के नाम मिलते हैं। बोगाज़कुई ईसा पूर्व तेरहवीं शताब्दी में हत्ती साम्राज्य की राजधानी था, ये लेख इसी साम्राज्य के पुराने रेकर्ड्स् हैं जिन्हें मिट्टी की पटरियों पर कीलाक्षरों में लिखा गया है। हत्ती के इन पुरालेखों में शालिहोत्र सम्बन्धी एक ग्रन्थ प्राप्त हुआ है जिसमें उपर्युक्त आर्य देवताओ के नामों का प्रयोग हुआ है। इन आधारो पर आर्य जाति के प्राचीन कबीलों का सम्बन्ध एशिया माइनर की प्राचीन

---

(२) मध्यदेश्या आर्यप्राया' शुच्युपचारा [कामसूत्र २।५।२१]
(३) बाल रामायण, १०।८
(४) काव्यमीमासा, अ० ७
(५) यो मध्ये मध्यदेश निवसति स कवि' सर्वभाषानिषण्ण' [का० मी० १०]
(६) प्रबन्ध चिन्तामणि, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का अनुवाद पृ० ४५ तथा ८७
(७) देसनि को मणि यहि मध्यदेस मानिये—केशव, कविप्रिया

मितानी जातियों और उनके जनों के साथ स्थापित किया जाता है।[1] हत्ती भाषा वस्तुतः मूल आर्य भाषा की एक शाखा है, जो योरोपीय भाषा के समानान्तर विकसित होती रही। इंदो-आर्यन से इसका सम्बन्ध सीधा नहीं कहा जा सकता। भारतीय आर्य भाषा का सीधा सम्बन्ध हिन्द ईरानी आर्य भाषा से है जो अफगानिस्तान और ईरान के पूर्वी हिस्सों मे विकसित हुई थी। अवेस्ता इस भाषा में लिखा सबसे प्राचीन ग्रन्थ है जिसमें जरठोष्ट्र धर्म के प्राचीन मंत्र सकलित किये गये हैं। पूर्वी ईरान और अफगानिस्तान के कुछ हिस्सों में बसनेवाली आर्य जाति की एक विकसित भाषा थी, जिसे हम इन्दोईरानी कह सकते हैं, जो भारतीय आर्य भाषा के प्राचीनतम रूप यानी वैदिक भाषा या छान्दस के मूल में प्रतिष्ठित है।[2] ऋग्वैदिक काल में आर्यों के कबीले सप्तसिन्धु में पूर्ण रूप से फैल चुके थे और उनका दबाव पूर्व की ओर निरन्तर बढ़ने लगा था। ऋग्वैदिक भाषा उस आर्य प्रदेश की भाषा है जिसकी सीमा सुदूर पश्चिमोत्तर की कुभा और स्वात नदियों से लेकर पूरब में गगा तक फैली हुई थी। ऋग्वैदिक मंत्रों का बहुत बड़ा हिस्सा सप्तसिन्धु या पंचनद के प्रदेश में निर्मित हुआ। यह भी सहज अनुमेय है कि इस विशाल मंत्र-राशि का कुछ अंश यायावरीय आर्य-जन अपने पुराने ईरानी आवास से भारत में ले आये हों।[3] किन्तु ऋग्वेद के अन्तिम मण्डलों के मंत्र निःसन्देह गगा-यमुना के काठे में बसे हुए आर्यों द्वारा निर्मित हुए हैं जिन्होंने वैदिक धर्म की स्थापना की, इसके साहित्य को क्रमबद्ध किया और उत्सव पर्वों के अनुसार मंत्रों को विभक्त किया। 'मध्यदेश के इन आर्य-जनों ने भारत के सर्वाधिक वैभवपूर्ण प्रदेश में बसे होने के कारण अपनी स्थिति, सस्कृति और सभ्यता के बल पर सम्पूर्ण उत्तर भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस प्रदेश के बुद्धिवादी ब्राह्मणों और आभिजात्य राजन्यों ने अपनी श्रेष्ठतर मनोवृत्ति के कारण आस-पास के लोगों को प्रभावित किया और मध्यदेश की तहजीब और सभ्यता को पूरब मे काशी और मिथिला तथा सुदूर दक्षिण और पश्चिम के भागों में भी प्रसारित किया।'[4] मध्यदेशीय आर्यों की भाषा की शुद्धता का कई स्थानों पर उल्लेख मिलता है[5] किन्तु यह बाद के युग में मध्यदेशीय प्रभाव की वृद्धि का सकेत है। वस्तुतः वैदिक युग में उदीच्य या पश्चिम की भाषा को ही आदर्श और शुद्ध भाषा माना जाता था, ब्राह्मण ग्रन्थों में कई स्थलों पर उदीच्य भाषा के गौरव का उल्लेख हुआ है।[6] यह मान्यता साधार भी कही

---

1 H R Hall Ancient History of Near East, 1913 pp 201, and Cambridge History of India vol 1, chapter III

२. अवेस्ता और ऋग्वैदिक मन्त्रों की भाषा के साम्य के लिए विशेष द्रष्टव्य : इन्दो आर्यन ऐंड हिन्दी, पृ० ४८,५६ तारापोरवाला एलिमेंट्स आव दि साइन्स आव लैंग्वेज पृ० ३०१–२४, ए० वी० डब्ल्यू जैक्सन कृत अवेस्ता ग्रेमर'

३ अवेस्ता के ईरानी आर्य-मन्त्रों और ऋतुओ या उत्सवों पर गाये जाने वाले वैदिक सूत्रों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए मार्टिन हाग का 'ऐसे आन दी सेक्रड लैंग्वेज, राइटिंग्स ऐंड रिलीजन्स आव पारसीज़ ऐंड ऐतरेय ब्राह्मण' १८६३, द्रष्टव्य

4 Origin and Development of Bengali Language, 1926 P 39

५. यजुः सहिता २।२०

६. तस्मात् उदीच्याम् प्रज्ञाततरा वाग् उद्यते उदञ्च एव यन्ति वाचम् शिक्षितम् यो वा तत् आगच्छति, तस्य वा शुश्रूषन्त इति (साख्यायन या कौषीतकि ब्राह्मण ७।६)।

जा सकती है। मध्यदेशीय आर्यों को इस प्रदेश में बसने के लिए अनार्य जातियों से विकट संघर्ष लेना पडा था। कोल, द्राविड और अन्य जातियों ने पद-पद पर उन आक्रमणकारी आर्यों का सामना किया। पराजय इनकी अवश्य हुई, किन्तु विजेता की संस्कृति और भाषा इनकी गौरवमयी सस्कृति और भाषा से प्रभावित हुए बिना न रह सकी। आर्य भाषा के अन्दर स्थानीय जातियों की भाषा के बहुत से तत्व सम्मिलित हो गए।[1] विजित अनार्य जातियों के लोग न केवल आर्य परिवारों में दास-दासियों के रूप में घुल मिल गए बल्कि साथ साथ उनकी बोलियों के भी बहुत से शब्द आर्यों की भाषा में मिश्रित हो गए।

§ २०. हार्नले ने आर्यों के भारत-आगमन की अवस्थाओं के अध्ययन के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि आर्यों के विभिन्न जन भारत में दो समूहों में प्रविष्ट हुए। प्रथम समूह के आर्य गगा के काठे में आबाद हुए जिसे हम मध्यदेश कहते हैं। आर्यों के दूसरे समूह ने पहले से मध्यदेश में बसे हुए इन आर्यों को इधर-उधर बिखरने के लिए बाध्य किया। प्रथम समूह के ये आर्य अपने स्थान को छोडकर पूरब, पश्चिम और दक्षिण की ओर फैल गए, बिहार, बंगाल, गुजरात आदि प्रदेश इनके निवास-स्थान बने। दूसरे समूह के आर्य मध्यदेश में आबाद हुए, इन्हीं भीतरी या अन्तर्वर्ती आर्यों ने अर्थात् दूसरे समूह के आर्यों ने वैदिक सस्कृति और ब्राह्मण-धर्म का विकास और प्रचार किया।[2] हार्नले के इस मत को जार्ज ग्रियर्सन ने और अधिक पल्लवित किया और उन्होंने इसी के आधार पर आर्य भाषा को अन्तर्वर्ती और बहिर्वर्ती इन दो श्रेणियों में विभक्त किया। पश्चिमी हिन्दी या ब्रजभाषा अन्तर्वर्ती आर्य भाषा की वर्तमान प्रतिनिधि कही जाती है। जबकि पूर्वी हिन्दी, बगाली, गुजराती आदि भाषायें बहिर्वर्ती श्रेणी में रखी जाती हैं।[3] ग्रियर्सन की इस मान्यता के पीछे भाषा सम्बन्धी कुछ खास विशिष्टतायें कारण रूप में वर्त्तमान थीं। उन्होंने पश्चिमी हिन्दी और उपर्युक्त अन्य भाषाओं के भाषा-रूपों में ऐसी विषमतायें देखीं जो एक समूह की भाषाओं में नहीं होतीं। ग्रियर्सन ने यह भी बताया कि पश्चिमोत्तर भारत की दर्दी भाषा बहिर्वर्ती भाषाओं से कई बातों में साम्य रखती है। इस प्रकार ग्रियर्सन के मत से आर्यभाषा की दो श्रेणियाँ हुई। मध्यदेशीय या शौरसेनी प्रकार जिसके अन्तर्गत संस्कृत भी परिगणित की गई और दूसरी श्रेणी में अ-सस्कृत भाषायें, मागधी आदि अहिन्दी अन्य नव्य आर्य भाषायें तथा सिंहली आदि गिनी गईं। डा० ग्रियर्सन ने अन्तर्वर्ती और बहिर्वर्ती भाषा-शाखाओं के विभाजन के लिए मात्रा सम्बन्धी जो तर्क उपस्थित किये, वे विचारणीय हैं। इन तथ्यों से मध्यदेशीय (ब्रजभाषा) भाषा की कुछ विशिष्टतायें भी स्पष्ट होती हैं। डा० चाटुर्ज्या ने ग्रियर्सन की इस मान्यता का विरोध किया,[4] किन्तु ग्रियर्सन की स्थापनाएँ एकदम अविचारणीय नहीं हैं।

---

१. पी० टी० श्रीनिवास आइअगार, लाइफ इन एन्सिएन्ट इण्डिया इन दी एज़ आव मन्त्राज़, मद्रास, १९१२, पृ० १५

2 A R, Hoernle and H A Stark History of India, Calcutta, 1904 pp 12-13

3 Grierson B S O S Vol 1 NO 3 P 32

४. ग्रियर्सन और चाटुर्ज्या के इस मतभेद का पूरा विवरण 'ओरीजिन एंड डेवलप्मेन्ट आव बॅगाली लैंग्वेज, कलकत्ता १९२६, के पृ० १५०–१६६ पर देखा जा सकता है। इसका संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद डा० उदयनारायण तिवारी के 'हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास' पृ० १६२–१७६ पर उपलब्ध है।

१ बहिर्वर्ती उपशाखा की उत्तर-पश्चिमी तथा पूरब की बोलियों में अन्तिम स्वर इ, ए तथा उ वर्तमान है किन्तु भीतरी उपशाखा की पश्चिमी हिन्दी में ये स्वर लुप्त हो गए हैं। जैसे काश्मीरी अछि, सिंधी अखि, बिहारी आँखि किन्तु हिन्दी आख। २–बहिर्वर्ती भाषाओं विशेषतर पूर्वी भाषाओं में अपिनिहिति (Epenthesis) वर्तमान है, मध्यदेशीय में नहीं। ३–अइ>ऐ तथा अउ>ऐ बाहरी शाखा की पूर्वी भाषाओं में विकृत 'ए' तथा 'ओ' के रूप में दिखाई पडते है। ४–संस्कृत के च् ज् पूर्वी भाषाओं में त्स–स् तथा द्ज़–ज़ में बदल जाते हैं। ५–र् त्स्, तथा ड, ड के उच्चारण की भिन्नता अन्तः और बहिः शाखाओं में स्पष्ट मालूम हो जाती है। ६–पूरब तथा पश्चिम की बहि: भाषाओं में द् ड् परस्पर विनिमेय हैं किन्तु मध्यदेशीय में नहीं। ७–बाहरी भाषाओं में म्व>म तथा भीतरी में म्व>वँ में बदलता है। ८–र् का बाहरी शाखाओं में लोप हो गया है, पश्चिमी हिन्दी में यह वर्तमान है। ९–स्वर मध्यग स्>ह् में परिवर्तन बाहरी में ही दिखाई पडता है। १०–श्, ष्, स्>श् के रूप मागधी में दिखाई पडता है। ११–महाप्राण वर्णों के अल्पप्राण मे परिवर्तन के आधार पर भी यह भिन्नता स्पष्ट होती है। १२–द्वित्व वर्णों के सरलीकरण में पूर्व स्वर के क्षतिपूरक दीर्घीकरण के आधार पर भी यह भेद दिखाई पडता है। रूप तत्व सम्बन्धी भिन्नता को स्पष्ट करने के लिए डा० ग्रियर्सन ने निम्नलिखित मुख्य तर्क उपस्थित किये।

१ बाहरी भाषायें पुनः सश्लिष्ट हो रही है जब कि भीतरी भाषाओं में सश्लिष्टता दिखाई पडती है। उदाहरणार्थ हिन्दी में विभक्तियाँ और परसर्ग के, का, ने, में आदि संज्ञा शब्दों से पृथक् लिखे जाते हैं। बगाली में सम्बन्ध के 'रामेर' आदि रूप सश्लिष्टता व्यक्त करते हैं। क्रिया रूपों को देखने से यह अन्तर और भी स्पष्ट होता है।[1] क्रियारूपों पर विचार करते हुए डा० ग्रियर्सन ने लिखा कि बाहरी भाषायें प्राचीन आर्य भाषा की किसी ऐसी बोली से निकली हैं जिसमें कर्म वाच्य के कृदन्तज रूपों के साथ सर्वनामों के लघुरूपों का सभवतः प्रयोग होता था किन्तु भीतरी भाषायें संस्कृत की उस शाखा से प्रभावित है, जिनमें ऐसे क्रियारूपों के साथ सार्वनामिक लघु रूपों का प्रयोग नहीं होता था इसीलिए हिंदी में कर्मवाच्य की 'मारा' क्रिया में सर्वनामों के वचन, पुरुष के अनुसार कोई अन्तर नहीं होता। मैंने-हमने मारा, तूने-तुमने मारा, उसने-उन्होंने मारा, किन्तु बाहरी शाखा की भाषाओं के साथ ऐसी बात नहीं है। इसीलिए अन्तवर्ती भाषाओंके व्याकरण बाहरी भाषाओं के व्याकरण की अपेक्षा अधिक सरल और सक्षिप्त होते हैं। डा० चाटुर्ज्या और ग्रियर्सन के मतभेद और विवाद की बात हम ऊपर कह चुके हैं, यहाँ उसके विस्तार में जाने का कोई प्रयोजन नहीं है। चाटुर्ज्या ने बहुत विस्तार के साथ ग्रियर्सन के तर्कों को प्रमाणहीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया है—जो भी हो डा० ग्रियर्सन की इस स्थापना से मध्यदेशीय भाषा की महत्त्वपूर्ण स्थिति और विशेषता का सकेत मिलता है। ग्रियर्सन ने समुद्र-तट पर बसे गुजरात प्रान्त की भाषा को अन्तर्वती कहा है। उन्होंने इस भाषाको मूलतः शौरसेनी श्रेणी की भाषा स्वीकार किया है। यह मान्यता ब्रजभाषा के अध्येता के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भाषा की दृष्टि से कर्मवाच्य के कृदन्तज रूपों और विश्लिष्टता सम्बन्धी प्रवृत्ति के सकेत भी मध्यदेशी

१ क्रियारूपों का विवरण ग्रियर्सन के लिंग्विस्टिक सर्वे आव इण्डिया भाग १ खंड १ में देखा जा सकता है।

भाषा के अध्ययन में सहायक हो सकते हैं। डा० चाटुर्ज्या ने भी कृदन्तज प्रयोगों को पश्चिमी भाषाओं की अपनी विशेषताएँ कहा है।[1]

§ २१. वैदिक या छान्दस के बारे में हम विचार कर रहे थे। यहाँ संक्षिप्त रूप से वैदिक भाषा के स्वरूप और उसकी कुछ विशिष्टताओं का उल्लेख किया जाता है जो किसी न किसी रूप में ब्रजभाषा या मध्यदेशीय नव्य आर्य भाषा के विकास में सहायक हुई हैं। प्राचीन आर्य भाषा में कुल तेरह स्वर ध्वनियों का प्रयोग होता था। अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ और औ। प्रातिशाख्यों में आरंभिक नौ ध्वनियों को समानाक्षर और अवशिष्ट चार स्वरों को सध्यक्षर कहा गया है। मध्यकालीन भारतीय भाषा में ऐ, औ इन दो सध्यक्षरों (Diphthongs) का एकदम अभाव हो गया था, ब्रजभाषा में औ और ऐ दोनों ध्वनियाँ प्रचुरमात्रा में प्राप्त होती हैं। प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में स्वर-परिवर्तन की प्रक्रिया को संस्कृत वैयाकरणों ने लक्ष्य किया था। इस काल की भाषा में स्वर-विकार के मुख्य पाँच प्रकार दिखाई पडते हैं। (१) स्वरयुक्त प्रकृत स्वर ए, ओ, आर्, आल्, का स्वर-रहित ह्रस्वीभूत इ, उ, ऋ, लृ में परिवर्तन। इसी प्रकार प्रकृत वृद्ध स्वरों ऐ, औ, आर्, आल्, का ह्रस्वीभूत स्वरों में परिवर्तन यथा दिद्देश (उसने बताया) दिष्टे (बताया हुआ) आप्नोमि (मैं प्राप्त करता हूँ) आप्नुमः (हम प्राप्त करते है) वर्धाय (वृद्धि) और 'वृधाय' आदि इसके उदाहरण हैं। (२) स्वरयुक्त (Accented) प्रकृत संप्रसारण-स्वरों य, व, र का स्वर हीन ह्रस्वीभूत स्वरों इ, उ, ऋ में परिवर्तन इयज (मैंने यज्ञ किया) का इष्ट, वष्टि (वह इच्छा करता है) उश्मसि (हम इच्छा करते हैं) जग्रह (मैंने पकडा) जगृहुः (उन्होंने पकडा) (३) ह्रस्वीभूत क्रम में अ का लोप हो जाता है: घ्नन्ति (मारते हैं) घन+अन्ति। वृद्ध स्वर आ का ह्रस्वीभूत क्रम में या तो लोप हो जाता है या अ रह जाता है जैसे पाद का 'पदा' रूप (तृतीया में) दधाति (रखता है) दधमसि (हम रखते हैं) (४) ह्रस्वीभूत क्रम में ऐ (जो स्वरों के पूर्व 'आय' एवं व्यञ्जनों के पूर्व आ हो जाता है) का रूप ई हो जाता है यथा गायन्ति (गाता है) गाथ (गान) और गीत (गाया हुआ)। इसी प्रकार औ का ह्रस्वीभूत क्रम में ऊ हो जाता है धौतरौ (कथित) धूति (कम्पित करने वाला) एव धूम (धूवाँ)। (५) पदों में स्वर परिवर्तन होने पर समास में द्वित्व (Reduplication) की अवस्था में तथा सम्बोधन में ई, ऊ, ईर्, ऊर् का परिवर्तन इ, उ, ऋ में होता है यथा हूति (पुकार) का आहुति, दीपय (जलाओ) का दीदिव, कीर्त्ति का चक्रपे। देवी (कर्ता कारक) देवि (सम्बोधन)।[2] स्वर विकार की यह अवस्था अनार्य जातियों की भाषाओं के सम्पर्क के कारण और तीव्रतर होती गई और इस भाषा में कुछ बहुत ही महत्त्वपूर्ण ध्वनि परिवर्तन हुए जो बाद की भाषाओं में भी उपलब्ध होते हैं। इसमें स्वर भक्ति वाले परिवर्तन विशेष सलक्ष्य हैं। छन्दों के कारण शब्दों में इस तरह की स्वरभक्ति दिखाई पडती है। ऋक् संहिता में इन्द्र का उच्चारण इन्द्अर होता था। स्वरभक्ति के कुछ महत्त्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं। दर्शत>दरशत, इन्द्र>इन्दर, सहस्रियः>सहस्रियः स्वर्ग>सुवर्ग (तैत्तिरीय संहिता ४। २। ३) तन्वः>तनुवः, स्वः>सुवः (तैत्तिरीय आरण्यक

1 Origin and Development of Bengali Language P 165

२ डा० उदयनारायण तिवारी, हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० ३५-३६

६। १२। १; ६। २। ७) यह अवस्था बाद की भाषाओं अर्थात् मध्य और नव्य आर्य[1] भाषाओं में दिखाई पडती है। हिन्दी में आदि मध्य और अन्त स्वरागम के प्रयोगों के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। स्वरागम (Intrusive Vowels) के उदाहरण नई हिन्दी में विरल हैं किन्तु पुरानी हिन्दी (व्रज, अवधी) में इनकी सख्या काफी है। वैदिक भाषा में मध्यग र् का विकल्प लोप दिखाई पडता है जैसे प्रगल्भ>पगल्भ (तैत्तिरीय सहिता २। २। १४) हेमचन्द्र ने अपभ्रंश में इस प्रवृत्ति को लक्षित किया था जैसे प्रिय>पिय, चन्द्र>चन्द आदि रूप।[2] व्रजभाषा में प्रहर>पहर; प्रमाण>पमान, प्रिय>पिय आदि बहुत से प्रयोग मिलते हैं। वैदिक भाषा की र् ध्वनि उच्चारण की दृष्टि से भारोपीय 'ल्' ध्वनि की विकल्प रूप में स्थानापन्न प्रतीत होती है। विद्वानों की धारणा है कि र् और ल् का यह साम्य आकस्मिक नहीं है। 'प्राचीन काल में आर्य भाषा की तीन शाखाओं मे क्रमशः र्, र और ल् और केवल ल् ध्वनियाँ रही होंगी। शाखाओं के एकीकरण के बाद इस प्रकार की शिथिलता अपने आप उत्पन्न हो जाती है। श्रीर, श्रील, श्लील एक ही शब्द के तीन रूप हैं जिनसे ऊपर के कथन की सत्यता प्रमाणित होती है।[3] र और ल व्रजभाषा मे परस्पर विनिमेय ध्वनियाँ हैं। इन्हें अभेद ध्वनियाँ कहा गया है। हिन्दी में र् और ल के परस्पर विनिमेयता के उदाहरण द्रष्टव्य हैं। भद्रक>भल्ला>भला। चत्वारिंशत>चालीस, पर्यंक>पलंग; घूर्ण>घोल आदि तथा व्याकुल>वाउल>बाउर, में यह विनिमेयता परिलक्षित होती है।

§ २२. वैदिक भाषा के शब्द-रूपों का विचार करते समय हमारा ध्यान वाक्य-विन्यास की ओर आकृष्ट होता है। ब्राह्मणों में प्रयुक्त गद्य की भाषा इस काल की स्वाभाविक भाषा है जिसके वाक्य-विन्यास के बारे में डा० मैकडानल लिखते है : 'वाक्य के आरम्भ में कर्ता का और अन्त में क्रिया का प्रयोग होता था। यह प्रवृत्ति सामान्य है, इसमें अपवाद भी मिलते हैं।'[4] वैदिक भाषा में क्रिया पदों में उपसर्गों को जोड़कर अर्थ-परिवर्तन की चेष्टा दिखाई पडती है, यह प्रवृत्ति संस्कृत में भी प्रचलित थी, किन्तु वैदिक भाषा मे प्र, परा, अनु आदि उपसर्ग क्रियाओं के साथ न रह कर उनसे अलग भी प्रयुक्त होते थे। सस्कृत मे क्रिया विशेषण और असमापिका क्रियाओं का उतना प्रयोग नहीं है जितना वैदिक भाषा में मिलता है। वैदिक भाषा की ये प्रवृत्तियाँ सस्कृत की अपेक्षा मध्यदेशीय नव्य भारतीय भाषाओं के निकट मालूम होती हैं। सविभक्तिक प्रयोग सस्कृत के मेरुदण्ड हैं वैदिक भाषा में इनमें कुछ शिथिलता दिखाई पडती है। गुलेरी जी ने निर्विभक्तिक पदों के ऐसे प्रयोगों को ही लक्ष्य करके कहा था कि पुरानी हिन्दी को 'वैदिक भाषा की अविभक्तिक निर्देश की विरासत भी मिली'[5] वस्तुतः वैदिक भाषा परिनिष्ठित सस्कृत की अपेक्षा ज्यादा सरल, सहज और सामाजिक-धारा से सपृक्त थी।

---

१ हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० १४८, हिन्दी का उद्गम और विकास पृ० ३५३ पर हिन्दी उदाहरण दिये हुए हैं।

२ वाधो रो लुक् , प्राकृत व्याकरण ८।४।३९८

३ रलयोरभेद · पाणिनीय

4 Vedic Grammar, IV Edition, 1955, London p 284

५ पुरानी हिन्दी, प्रथम सस्करण संवत् २००५, पृ० ६

§ २३. ईसापूर्व १००० के आसपास वैदिक भाषा सारे उत्तर भारत में फैल गई। अनार्य और स्थानीय जातियों के संघर्ष और भाषा के स्वाभाविक और अनियमित प्रवाह के कारण इसमें निरन्तर मिश्रण और विकास होता गया। आर्यों के पवित्र मंत्रों की यह भाषा सर्वत्र मिश्रित और अशुद्ध भाषा का रूप धारण करने लगी, मध्यदेश के रक्त-शुद्धता के अभिमानी ब्राह्मण और राजन्य भी अपनी भाषा को एकदम शुद्ध न रख सके। अपनी भाषा की शुद्धि के चिन्तित आर्यों ने मध्यदेशीय भाषा का ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा के निकटतम रूप को आदर्श मानकर संस्कार किया। इस संस्कार की हुई संस्कृत भाषा को प्राचीन भारत की धार्मिक तथा साहित्यिक भाषा के रूप में प्रचारित किया गया, 'लौकिक संस्कृत का अभ्युदय लगभग उसी प्रदेश में हुआ जिसमें कालान्तर में हिन्दुस्थानी का जन्म हुआ, अर्थात् पंजाब तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश। हिन्दू शब्द का अर्थ प्राचीन भारतीय लेते हुए जिसमें ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैनों के सभी मत-मतान्तर सम्मिलित हैं, हम कह सकते हैं कि हिन्दू संस्कृति के प्रसार के साथ ही संस्कृत का भी प्रसार हुआ। प्राचीन भारत की संस्कृति एवं विचार-सरणि के वाहक या माध्यम के रूप में *संस्कृत को यदि हम एक प्रकार की ऐसी तत्कालीन हिन्दुस्थानी कहें जो कि* स्तुतिपाठ तथा धार्मिक कर्म-काण्ड की भाषा थी तो कुछ अनुचित न होगा।'[1] हम यह प्रश्न उठाना आवश्यक नहीं समझते कि संस्कृत प्राचीन काल में कभी सामान्यजन की भाषा के रूप में स्वीकृत रही है या नहीं। बहुत से लोग यह मानते हैं कि संस्कृत केवल एक कृत्रिम वर्ग-भाषा (Classjargon) थी जिसका निर्माण तत्कालीन बोलियों के पारस्परिक मिश्रण से एक साहित्यिक भाषा के रूप में हुआ।[2] जिसे हम साहित्य-कलादि की भाषा (Kunsts-Prache) कह सकते है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में स्वीकार किया है कि संस्कृत शिष्टजन की भाषा है। एडाल्फ केजो जैसे विद्वान् संस्कृत को ऋग्वैदिक भाषा की तुलना में अत्यन्त कृत्रिम और बनावटी भाषा मानते हैं। ऋग्वैदिक भाषा निःसन्देह एक अत्यन्त प्राचीन बोली है जो व्याकरण की दृष्टि से परवर्ती कृत्रिम संस्कृत भाषा से पूर्णतया भिन्न है, उच्चारण, ध्वनिरूप, शब्द-निर्माण, कारकों, सन्धियों, और पद-विन्यास में कोई मेल नहीं है। पुराण, महाकाव्यों, स्मृतियों और नाटकों की संस्कृत और वैदिक भाषा में कहीं अधिक भिन्नता है जितनी कि होमर की भाषा और अत्तिक (Attic) में है।[3] किन्तु संस्कृत भाषा का यह रूप आरम्भ में ऐसा नहीं था। संस्कृत एक जमाने में निःसन्देह काफी बड़े जनसमुदाय की भाषा थी। कीथ ने संस्कृत को बोलचाल की शिष्ट भाषा कहा है। डा० प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती ने तो इससे भी आगे बढ़कर कहा कि 'संस्कृत न केवल पाणिनि और यास्क के समय में ही बोलचाल की भाषा थी बल्कि प्रमाणों के आधार पर हम यह भी कह सकते हैं कि वह बाद तक कात्यायन और पतंजलि के समय में भी बोलचाल की भाषा थी।[4] शिष्ट समुदाय की भाषा के रूप में स्वीकृत होने पर, यह बोलचाल की भाषा धीरे-धीरे जनसमुदाय से दूर हो गई और कालान्तर में वैयाकरणों के अति कठोर नियम-शृंखला में आबद्ध हो जाने के कारण इस भाषा का स्वाभाविक विकास

---

१ भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० १७२
2 S S Narula-Scientific History of Hindi Language 1955, pP 25
3 Studies in Rig-Vedic India
4 The Linguistic speculation of Hindus Calcutta,

रुक गया जो प्रवहमान जीवन्त भाषा के लिए आवश्यक है। इस प्रकार मध्यदेश की यह सांस्कृतिक भाषा साहित्य दर्शन और अन्य ज्ञान-विज्ञान के विषयों के अध्ययन-अध्यापन का माध्यम बनकर रह गई।

§ २८. संस्कृत का प्रभाव परवर्ती, खास तौर से नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के साहित्य पर पूरा-पूरा दिखाई पड़ता है, किन्तु भाषिक विकास में इसका योग प्रकारान्तर से ही माना जा सकता है। सन्कृत भाषा के साथ ही साथ जन साधारण के बोलचाल की स्वाभाविक यानी प्राकृत भाषायें विकसित हो रहीं थीं, संस्कृत अपने को इनके प्रभाव से मुक्त न रख सकी। बौद्धों की संस्कृत में यह संकरता स्पष्टतया परिलक्षित होती है। बौद्धकाल की प्रचलित भाषाओं पर विचार करते हुए श्री टी० डब्ल्यू० रायडेविस ने जो तालिका प्रस्तुत की है उसमें मध्यकालीन आर्य-भाषा[1] के प्रथम स्तर ६०० ई० पू० से २०० ईस्वी तक की स्थिति का बहुत अच्छा विवेचन हुआ है।[2] 'बौद्ध भारत में गान्धार से बंगाल और हिमालय से दक्षिण समुद्र तक के भू-भाग में बोली जाने वाली भाषाओं के मुख्य पांच क्षेत्र दिखाई पड़ते हैं।

१—उत्तरपश्चिमी, गान्धार, पंजाब और सम्भवतः सिन्ध मे प्रचलित भाषा का क्षेत्र।

२—दक्षिण पश्चिमी, गुजरात, पश्चिमी राजस्थान।

३—मध्यदेश और मालवा का क्षेत्र जो (२) और (३) का सन्धिस्थल कहा जा सकता है।

४—पूर्वी में [क] प्राचीन अर्धमागधी और [ख] प्राचीन मागधी शामिल की जा सकती हैं।

५—दक्षिणी जिसमें विदर्भ और महाराष्ट्र की भाषायें आती हैं।

उत्तरभारत मे प्रचलित इन भाषाओं को इस प्रकार रखा जा सकता है :—

१—आर्य आक्रमणकारियों की भाषा, द्राविड़ और कोल भाषाये

२—प्राचीन वैदिक भाषा

३—उन आर्यों की भाषा जो शादी-आदि सम्बन्धों के कारण द्रविड़ो से मिश्रित हो गए थे, ये चाहे कश्मीर से नेपाल तक हिमालय की तराई मे हों, या सिन्धु की घाटी में या गंगा यमुना के द्वावे मे।

---

१. भारतीय आर्यभाषा के मुख्यतया तीन काल-विभाजन होते है

(१) प्राचीन आर्यभाषा-१५०० ई० पू० से ६०० ई० पू०। वैदिक भाषा आदर्श

(२) मध्यकालीन-६०० ई० पू० से १००० ईस्वी सन्

(क) प्रथम स्तर ६०० ई० पू० से २०० ई० सन्। अशोक की प्राकृतें, पाली आदर्श

(ख) द्वितीय स्तर-३०० ई० से ६०० ई० संस्कृत नाटको की प्राकृतें शौरसेनी, महाराष्ट्री, अर्धमागधी आदि आदर्श

(ग) तृतीय स्तर-६०० ई० से १००० ई० शौरसेनी अपभ्रंश आदर्श

(३) नव्यआर्यभाषा-१००० ई० से वर्त्तमानयुग-हिन्दी, मराठी, बंगला आदि आदर्श

2 Budhist India, 1903, London, pp 53 54

४—द्वितीय स्तर की वैदिक भाषा जो ब्राह्मणों और उपनिषदो की साहित्यिक भाषा कही जा सकती है।

५—बौद्ध धर्म के उदय के समय गाधार से लेकर मगध तक की बोलियाँ जो परस्पर भिन्न होते हुए भी एक दूसरे से बहुत अलग नहीं थीं।

६—बातचीत की प्रचलित भाषा जो श्रावस्ती की भाषा पर आधारित थी। जो कोशल के राज्य कर्मचारियों, व्यापारियों, और शिष्टजनों की भाषा थी, जिसका प्रयोग कोशल-प्रदेश तथा उसके अधिकृत स्थानों में पटना से श्रावस्ती और अवन्ती तक होता था।

७—मध्यदेशीय भाषा पाली सभवत. न० ६ के अवन्ती में बोले जाने वाले रूप पर आधारित।

८—अशोक की प्राकृते नं० ६ पर आधारित किन्तु नं० ७ और ११ से पूर्ण रूप से प्रभावित।

९—अर्धमागधी, जैन अगों की भाषा।

१०—गुफाओं के शिलालेखों की भाषा, जो ईसापूर्व दूसरी शताब्दी के बाद के शिलालेखों में प्राप्त होती है जो मूलतः नं० ८ पर आधारित थी।

११—परिनिष्ठित सस्कृत भाषा जो रूप और शब्दकोष की दृष्टि से न० ४ पर आधारित थी किन्तु जिसमें न० ५, ६ और ७ की भाषाओं के शब्द भी शामिल किये गए जिन्हें न० ४ के व्याकरणिक ढाँचे में ढाल लिया गया, शिक्षा के कार्यों में प्रयुक्त होनेवाली यह साहित्यिक भाषा दूसरी शती ईस्वी सन् के आसपास राजमुद्राओं और शिलालेखों की भाषा के रूप में स्वीकृत हुई और इसके बाद में चौथी-पाँचवी शती के आस-पास भारत की देश-भाषा का स्थान ग्रहण कर लिया।

१२—पाँचवीं शती की देशी भाषाएँ।

१३—साहित्यिक प्राकृतें नं० १३ की बोलियों का साहित्यिक रूप थीं जिनमें महाराष्ट्री प्रमुख थी। इसका विकास न० ११ (सस्कृत) के आधार पर नहीं नं० १२ के आधार पर था जो न० ६ की अनुजा कही जा सकती हैं अर्थात् अवन्ती की शौरशेनी की अनुजा।

प्रो० राय डेविस के इस विवेचन से ईसा पूर्व दूसरी-तीसरी शताब्दी से पाँचवीं ईस्वी शती तक की भाषिक-स्थिति का रेखा-चित्र उपस्थित हो जाता है। पालि, मिश्रित सस्कृत, साहित्यिक प्राकृतों के पारस्परिक सम्बधो के पूर्ण आकलन में उपर्युक्त विवेचन का महत्त्व निर्विवाद है।

§ २५ बौद्धयुगीन भाषाओं के इस पर्यवेक्षण से एक नया तथ्य सामने आता है। बहुत काल के बाद मध्यदेश की भाषा के स्थान पर पूरब की प्राच्य भाषा को सास्कृतिक भाषा के रूप मे सारे उत्तर भारत में मान्यता प्राप्त हुई। बुद्ध और महावीर जैसे प्रबल धर्मप्रचारकों की मातृभाषा होने के कारण पूर्वी भाषा को एक नया ओज और विश्वास मिला। अशोक के शिलालेखो में यद्यपि स्थान विशेष की बोलियों और जनपदीय भाषाओं को प्रमुखता देने का प्रयत्न हुआ है, किन्तु वहाँ भी प्राच्य भाषा (भावी मागधी प्राकृत) का प्रभाव स्पष्ट है।

अशोक के शिलालेखों की प्राकृत भाषा संस्कृत से बहुत दूर नहीं दिखाई पडती, उसके वाक्य-विन्यास और गठन के भीतर संस्कृत का प्रभाव मिलेगा, किन्तु अशोक कालीन प्राकृतों में जो सहजता और जनभाषाओं की प्रवहमान प्रवृत्ति का दर्शन होता है, वह आर्य भाषाओं के विकास के एक नये युग की सूचना देता है। अशोककालीन प्राकृतों का मध्यदेशीय भाषा से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है किन्तु इनके विकास की दिशाओं में हम तत्कालीन मध्यदेशीय भाषा के विकास के सूत्रों को ढूढ सकते हैं। अशोक के शिलालेखों की भाषा की कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषताएं यहा प्रस्तुत की जाती हैं। ध्वनि विकास की दृष्टि से ऋ का परिवर्तन द्रष्टव्य है। ऋ > अ, उ, इ, ए रूपों में परिवर्तित होती है।

कृत > कत (गिरिनार) कट (कालसी) किट (शाहवाजगढी)
मृग > मग (गिर०) मिग (कालसी) म्रुग (शाहवाजगढी)
व्यापृत > घ्यापत (गिर०) वियापट (कालसी) वपट (शाहवाजगढी)
एतादृश > एतारिस (गिर०) हेडिस (कालसी) एदिश (शाहवाजगढी)
भातृ > भ्रातु (शाह०मानसेरा) माति (कालसी)
पितृ > पितु, पीति (शा० मा०) पितु-पिति (काल० धौली)
वृक्ष > व्रछ (गिर०) रुछ (शाह० मा०) लुख (कालसी)
वृद्धि > वढि (गिर०) वढि (शाह०) वढ (कालसी)

सस्कृत धातु √दृश् के दक्ख और दिक्ख परिवर्तन कई लेखों में दिखलाई पडते हैं। दिसेया को श्री केर्न (Kern) और श्रीहल्तश (Hultzsch) संस्कृत के दृश्यते से निष्पन्न मानते हैं। पृथ्वी > पुठवी (धौली) में ऋ का उ रूपान्तर हुआ है। ऋ का यह परिवर्तन बाद में एक सर्वमान्य प्रवृत्ति के रूप में दिखाई पडता है। ब्रजभाषा का हिया < हृदय, पूछनो < पृच्छ, पुहुमी < पृथ्वी, कियौ < कृत आदि रूप इसी तरह की प्रवृत्तियों के परिणाम हैं। इन शिलालेखों की भाषा में संस्कृत सध्यक्षर ऐ का ए के रूप में परिवर्तन महत्त्वपूर्ण है। कैवर्त > केवट। औ का प्रायः सर्वत्र ओ रूप दिखाई पड़ता है। पौत्र > पोत्र (गि० मान०) पोता (शा० गिर० कालसी) संस्कृत पौराण > पोराण (मैसूर)। कुछ शब्दों में आरम्भिक अ का लोप भी विचारणीय है। जैसे अपि > पि, अध्यक्ष > धियछ। अहकम् > हकम्, हम या हौं (ब्रज) अस्मि > सुमि। अन्त्य विसर्ग का प्रायः लोप होता है और अन्त्य अ का ओ रूप दिखाई पडता है। यशः > यशो, यशो या यसो भी। वयःव > यो। जनः > जने, प्रियः > पिये, रूपों में विसर्ग रहित अ का ए रूप हो गया है। व्यञ्जन परिवर्तन के उदाहरण भी काफी महत्त्वपूर्ण हैं। आरम्भिक ह का लोप जैसे हस्तिन् > अस्ति। सघोष व्यञ्जनों में स्पर्श ध्वनि का लोप जैसे करण कारक की विभक्ति भिः का सर्वत्र हि। (Palatalization) तालव्यीकरण के उदाहरण भी दिखाई पडते है। क्ष > छ, क्षण > छण, मोक्ष > मोछ। त्य > च, आत्ययिक > आचयिक। द्य > ज, अद्य > आज। न्य का ण में परिवर्तन विचारणीय है। यह प्रयोग कोई जैन अपभ्रंश की ही विशेषता नहीं है। अन्य > अण। मन्य > मण। आज्ञप् > आ + णय भी होता है।

रूप-विचार की दृष्टि से हम प्राचीन आर्य भाषा की व्याकरणिक उलझनों का बहुत अभाव पाते हैं। कारक विभक्तियों में सरलीकरण की प्रवृत्ति का विकास हुआ है। पदान्त व्यञ्जनों के लोप से प्रायः अन्त्य स्वरान्त प्रातिपदिक ही रह गये हैं। [illegible]

जो भी हो पालिभाषा मध्यदेश की भाषा के रूप में ब्रजभाषा के अध्येता के लिए अत्यन्त अमूल्य कडी है, जिसके महत्व और गौरव के साथ ही भाषागत सौष्ठव और शक्ति की भी ब्रजभाषा उत्तराधिकारिणी हुई। यहाँ पालि भाषा के कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण व्याकरणिक तत्वों का उल्लेख ही सभव है।[1]

§ २७. पालि और सस्कृत भाषा के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकालीन भाषा एक दूसरे स्तर पर विकसित होने लगी थी। ध्वनिविकास की दृष्टि से पालि की सर्वमान्य विशेषता है व्यञ्जनों का समीकरण (Assimilation of the consonents) उप्पन्न < उत्पन्न, पुत्त < पुत्र। भत्त < भक्त, धम्म < धर्म, आदि उदाहरणों में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। य और ज तथा ब् और व् के परस्पर परिवर्तन के उदाहरण भी मिलते हैं। अक्षर-सकोच की प्रवृत्तियाँ ब्रजभाषा या हिन्दी में मिलती हैं, किन्तु इनका आरम्भ पालि से ही दिखाई पडता है। कात्यायन > कच्चान। यवागु > यागु, स्थविर > थेर, मयूर > मोर, कुसीनगर > कुसीनर, मोद्गल्यायन > मोग्गलान आदि में सकोच का प्रभाव स्पष्ट है। उसी प्रकार स्वरभक्ति या विप्रकर्ष के उदाहरण भी मिलते हैं। तीक्ष्ण > तिखिण, तृष्ण > तषिण, राज्ञा > राजिञो, वर्यते > वरियते आदि। पालि भाषा में र और ल दोनों ही ध्वनियाँ वर्तमान हैं किन्तु र और ल के परस्पर परिवर्तन के उदाहरण भी विरल नहीं हैं। एरंड > एलदु, परिखनति > पलिखनति, त्रयोदस > तेरस > तेलस, दर्दुर > दद्दल, तरुण > तलुण। यह प्रवृत्ति ब्रजभाषा को परम्परा से प्राप्त हुई है। पीछे घूर्ण > घोल, पर्यङ्क > पलग, भद्रक > भला आदि के उदाहरण दिये गए हैं। उष्म व्यञ्जनों का प्राणध्वनि ह में परिवर्तन भी द्रष्टव्य है। प्रश्न > पण्ह (metathesis) अश्मना > अम्हना, कृष्ण > कण्ह, सुस्नात > सुण्हात। इन उदाहरणों में व्यजन-व्यत्यय भी दिखाई पडता है। इस तरह के उदाहरण ब्रज में बहुत मिलते हैं।

सस्कृत भाषा के व्याकरणिक नियमों की कडाई को पालि ने शिथिल कर दिया। संज्ञा और क्रिया दोनों के (dutes) रूपों की असार्थकता सस्कृत में भी अनुभव की जाती थी, किन्तु पालि ने इस व्यर्थ प्रयोग को समाप्त ही कर दिया किन्तु सरलीकरण का यह कार्य बहुत कुछ मिथ्या या निराधार समानताओं की दृष्टि से किया गया।[2] सस्कृत के नपुसक लिंग के रूपों के साथ इ या उ अन्त वाले संज्ञा रूपों के न् विभक्ति की नकल पर पुलिंग रूपों में भी मच्चुनो (मृत्यो. के लिए) जैसे प्रयोग किये गए। सप्रदान-सम्बन्ध कारक के रूप भी अकारान्त प्रातिपदिकों की तरह बनाये गए जैसे अग्गिस्स, वाउस्स आदि उसी प्रकार अग्गिनो भिक्खुनो, रूप नपुसक लिंग प्रातिपदिकों के मिथ्या सादृश्य के आधार पर बने। पालि व्याकरण की उन स्वच्छन्द प्रवृत्तियों के आधार पर कुछ भाषाविदों ने यह निष्कर्ष निकाला कि मध्यदेश की यह भाषा उस वैदिक बोली के नियमों से ज्यादा साम्य रखती है, जिसके बहुत से भाषिक विधान

---

१. पालि भाषा के शास्त्रीय अध्ययन के लिए विशेष द्रष्टव्य—

Bhandarkar s Wilson philological Lectures pali and other Dialcets p 31—70

भिक्षु जगदीश काश्यप का पालि महा व्याकरण।

2, Wilson philological lectuers, pp 48

परिनिष्ठित संस्कृत मे नहीं स्वीकार किये गए थे।[1] उदाहरण के लिए इदम् का एकवचन पुलिंग रूप 'इमस्स', 'फल' का प्रथमा बहुवचन 'फला', 'अस्थि' और 'मधु' के कर्ता और कर्म के वहुवचन के 'अट्ठी' और 'मधू' रूप। डा० भाडारकर इन रूपों को मात्र वैदिक रूपों के सादृश्य पर ही निष्पन्न बताने की प्रवृत्ति को ठीक नहीं मानते। इन रूपों में वे पुलिंग और नपुंसक लिंग के अन्तर को मिटाने की उस प्रवृत्ति का सूत्रपात मानते हैं जो आगे चलकर हिन्दी आदि भाषाओं में विकसित हुई।[2] सस्कृत क्रिया के दस काल और क्रियार्थभेद के रूपों में पालि में केवल आठ ही रह गए। भविष्य और वर्त्तमान कालों के रूपों में तो बहुत कुछ सुरक्षित भी रहे किन्तु दूसरे काल में केवल दो तीन ही अवशिष्ट रहे। कुछ नये क्रिया रूप भी दिखाई पडते हैं। उदाहरण के लिए 'म्हे' वर्त्तमान काल के आत्मनेपद उत्तम पुरुष का रूप, या 'मध्यम पुरुष एकवचन का रूप 'त्यो'। इस प्रकार के कई कालो के रूप मिलते हैं। वे वस्तुतः 'अस्' धातु के विभिन्न कालों के रूप है जिनका निर्माण आरंभिक मौलिक रूपों के विस्मृत हो जाने के बाद किया गया, इनमें से कई सस्कृत 'अस्' के रूपों से निष्पन्न माने जा सकते हैं। इन्हीं प्रयोगों को दृष्टि में रखकर डा० भाण्डारकर ने कहा कि 'जब सस्कृत के कई मूल रूप विस्मृत हो गये, उनके स्थान पर पालि में नये रूपों का निर्माण हुआ, केवल मिथ्या सादृश्य के आधार पर ही नहीं, बल्कि क्रिया की अभिव्यक्ति को दृष्टि में रखकर क्रियार्थक भेदों के अनुसार इनका गठन हुआ। अस् धातु के विभिन्न रूपों का प्रयोग विशेष महत्व रखता है। यहाँ पर हम देखते है कि नव्य आर्यभाषाओं के कुछ नये क्रियार्थ भेद और काल (Mood and tense) के रूप तथा अस् के विभिन्न रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति जिसे हम वर्तमान भाषाओं के विकास में सक्रिय देखते हैं, बहुत पहले प्राचीन काल मे ही वर्त्तमान रही है।[3] व्रजभाषा या हिन्दी में कृदन्त + सहायक क्रिया की प्रवृत्ति को एकदम नवीन मानने वालों के लिए यह विचारणीय होना चाहिए।

§ २८. पालि काल ही में प्राकृतों का प्रयोग आरम्भ हो चुका था। भारतीय आर्यभाषा के मध्यस्तरीय विकास में (२०० ई० से ६००) प्राकृतों का अपना विशेष महत्व है। इन प्राकृतो को हम वहुत हद तक जनता की भाषा नहीं कह सकते। सस्कृत नाटककारों ने इस भाषा का प्रयोग पामर या ग्राम्य जनों की बातचीत की भाषा के रूप में ही किया है, बहुत कुछ शिष्ट श्रोता-मण्डल के लिए हास्य का एक सस्ता आधार उपस्थित करना ही जैसे इनका उद्देश्य रहा हो। बाद की प्राकृत रचनायें इतनी कृत्रिम और नियमबद्ध आर्ष शैली में लिखी गई है कि उन्हें साहित्यिक कृत्रिम भाषा ही कह सकते हैं। यह सत्य है कि इन साहित्यिक प्राकृतों के पीछे उन बोलियों का आधार रहा है जिनसे वे विकसित हुई थीं, किन्तु हमारे पास उन बोलियों को शुद्ध सहज रूप में प्राप्त करने का कोई साधन नहीं है। संस्कृत वैयाकरणों के प्रमाण पर हम प्रमुख प्राकृतों में शौरसेनी, महाराष्ट्री और मागधी का नाम लेते है। मागधी प्राकृत निःसन्देह मगध की भाषा थी अतः इसे हम प्राच्य प्राकृत भी कह सकते हैं, शौरसेनी शूरसेन प्रदेश वर्त्तमान मथुरा के आस पास की भाषा थी, इसे मध्यदेशीय प्राकृत कहा जा सकता है।

१. वही, पृ० ५७
२. वही, पृ० ५७
३ वही, पृ० ६३

मागधी और शौरसेनी प्राकृतों के नाम के पीछे जनपदीय सम्बन्धों को देखते हुए लोगों ने महाराष्ट्री प्राकृत को महाराष्ट्र की भाषा और आज की मराठी की पूर्वज बोली स्वीकार किया। किन्तु नवीन शोध के आधार पर यह धारणा बहुत अंशों में निराधार प्रमाणित हो चुकी है। ईस्वी सन् १९३३ में डा० मनमोहन घोष ने अपने 'महाराष्ट्रीः शौरसेनी का परवर्ती रूप' शीर्षक निबन्ध[1] मे कई प्रकार के प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया कि महाराष्ट्री प्राकृत वस्तुत जनपदीय प्राकृत नहीं है, जिसका सबंध महाराष्ट्र देश से जोड़ा जा सकता है, बल्कि यह मध्यदेश की प्रसिद्ध शौरसेनी प्राकृत का परवर्ती रूप है जो सम्पूर्ण उत्तर भारत में प्रचलित होने के कारण महाराष्ट्री (आज के शब्द में राष्ट्रभाषा) कहलाई। दण्डी ने काव्यादर्श में प्राकृतों में महाराष्ट्री को 'महाराष्ट्राश्रित' तथा श्रेष्ठ प्राकृत कहा था।

महाराष्ट्राश्रयां भाषा प्रकृष्ट प्राकृत विदु।
सागरसूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम्॥

इसी के आधार पर डा० भाडारकर भी महाराष्ट्री को महाराष्ट्र देश से सबधित मानते हैं। उन्होंने सेतुबन्ध, गाथासप्तशती, गौडवध काव्य, आदि पर आश्रित महाराष्ट्री को शौरसेनी से भिन्न माना है।[2] श्री पिशेल और जूल ब्लाक भी महाराष्ट्री प्राकृत को मराठी भाषा की सुदूर पूर्वज मानते है। किन्तु श्री मनमोहन घोष इन ग्रन्थों की भाषा को शौरसेनी का परवर्ती रूप कहना ही उचित मानते हैं। श्री घोष के मत से वररुचि के प्राकृत-प्रकाश के वे अश निश्चित ही प्रक्षिप्त है, जिनमें महाराष्ट्री को प्रधान प्राकृत बतलाया गया है। वररुचि के बाद उन्ही के पदचिह्नों पर चलने वाले कुछ अन्य वैयाकरणों ने भी महाराष्ट्री को प्रधान प्राकृत बताया किन्तु दशरूपककार धनञ्जय, तथा रुद्रट के वर्गीकरणों में महाराष्ट्री का नाम भी नहीं है और प्रधान प्राकृत शौरसेनी समझी गई है। वे शौरसेनी, मागधी, पैशाची ओर अपभ्रश की ही चर्चा करते हैं। उसी प्रकार प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचन्द्र ने भी प्राकृत, शौरसेनी, मागधी और पैशाची तथा अपभ्रश का वर्णन किया है, वे भी महाराष्ट्री नाम से किसी खास भाषा को अभिहित नहीं करते। कई प्रमाणों के आधार पर श्री घोष इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'प्राकृत चाहे उसे दण्डी के उद्धरण के आधार पर महाराष्ट्री नाम दिया जाये किन्तु महाराष्ट्री का उस बोली से कोई सम्बन्ध न था जो महाराष्ट्र प्रान्त में उदित हुई। और यदि भौगोलिक क्षेत्र से उसका सम्बन्ध ढूढना हो तो उसे हम मध्यदेश से सबद्ध कह सकते हैं। वस्तुत. यह शौरसेन प्रदेश की भाषा है।[3] मनमोहन घोष के इस मत से मिलती हुई धारणा और भी भाषाविदों ने स्थापित की थी। जान बीम्स ने स्पष्ट लिखा था कि सभवत. यह मान लेना जल्दीबाजी होगी कि मराठी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत की वशानुगत उत्तरा-

---

1 Journal of the Deptt ot Letters Calcutta University Vol XXIII, 1933

2 Wilson' Philological Lectures, pp 72 73

3 Thus we may conclude that Prakrit, though it may be called Mahārāstrī for the sake of Dandi, was not the dialect which has its origin in Mahārāstra and the geographical area with which it has any possible vital connexion is the Indian Midland and it is the language of S'aursena Region

Maharastri, a later phase of S aurasen J D L C XXIII p 1-24

धिकारिणी है।[1] मध्य आर्यभाषा के प्रथम स्तर में स्वर मध्यग अघोष व्यञ्जनों का सघोष रूप दिखाई पडता है, कालान्तर में सघोष ध्वनियाँ उष्मीभूत ध्वनि की तरह उच्चरित होने लगीं और बाद मे उच्चारण की कठिनाई के कारण ये लुप्त हो गई। विद्वानों की धारणा है कि शुक 7 सुअ, शोक 7 सोअ, नदी 7 नई की विकास-स्थिति मे एक अन्तर्वर्ती अवस्था भी रही होगी। अर्थात् 'शुक' के सुअ होने के पहले शुग और सुग ये दो अवस्थायें भी रही होंगी। चाटुर्ज्या ने लिखा है कि इसमें एक विवृति या ढिलाई से उच्चरित अर्थात् उष्मीभूत उच्चारण 'घ, ध्' सामने आया। इस तरह उपर्युक्त शब्द शोक, रोग, नदी आदि एक अवस्था में 'सोघ,' रोघ्' और 'नधी' हो गए थे। साहित्यिक प्राकृतों में शौरसेनी तथा मागधी में क, ख, त, थ की जगह एकावस्थित स्वर मध्यस्थ रूप में प्राप्त ग, घ (या ह) द, ध के प्रयोगों का वैयाकरणों द्वारा उल्लेख मिलता है। परन्तु महाराष्ट्री प्राकृत में सभी एकक-स्थिति स्वरान्तर्हित स्पर्श (Inter vocal single stop) पहले से ही लुप्त या अभिनिहित पाये जाते हैं यह महाराष्ट्री के विकास की पश्चकालीन अवस्था का द्योतक है। इसी तरह के और भी समता सूचक और परवर्ती विकास-व्यञ्जक आँकडों के आधार पर मनमोहन घोष ने महाराष्ट्री को शौरसेनी का परवर्ती रूप सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है। शूरसेन से यह भाषा दक्षिण ले जाई गई और वहाँ उसे स्थानीय प्राकृत के अति न्यून प्रभाव में उपस्थित करके एक साहित्यिक भाषा का रूप दिया गया। इस प्रसग मे डा० चाटुर्ज्या ने हिन्दुस्थानी को दक्षिण ले जाने और 'दकिनी' बनाने की घटनाका मजेदार उल्लेख किया है। इस प्रकार समूचे भारतवर्ष मे पूरब के कुछ हिस्सों में प्रचलित मागधी को छोडकर एक बार फिर सम्पूर्ण देश की भाषा का स्थान मध्य-देशीय शौरसेनी प्राकृत को प्राप्त हुआ। पूरब में भी इसका प्रभाव कम न था। खारवेल के हाथी गुफा के लेखों तक की भाषा में शौरसेनी के प्रभाव को विद्वानो ने स्वीकार किया है। संस्कृत वैयाकरणो में कुछेक ने महराष्ट्री के महत्त्व को स्वीकार किया है। किन्तु उनका निरीक्षण अवैज्ञानिक था जैसा ऊपर कहा गया। शौरसेनी का परवर्ती रूप या महाराष्ट्री प्राकृत बहुत कुछ कविता की भाषा कही जा सकती है। इसमे गद्य बहुत कम मिलता है या उसका एकदम अभाव है। शौरसेनी प्राकृत सस्कृत न जाननेवाले लोगो विशेषतः स्त्रीवर्ग और असस्कृत परिवारो की बोलचाल की भाषा थी। इसमें प्रायः गद्य लिखा जाता था।[2] जब कि इसी का परवर्ती रूप महाराष्ट्री केवल पद्य (Lyrics) की भाषा थी। महाराष्ट्री प्राकृत गीतो की भाषा थी जैसा की १५ वीं शती के बाद ब्रजभाषा केवल काव्य की ही भाषा मानी जाती थी।[3] प्राकृतो में मथुरा में मुख्य केन्द्रवाली शौरसेनी प्राकृत सबसे अधिक सौष्ठव एव लालित्यपूर्ण प्राकृत या पश्चमध्ययुगीन भारतीत आर्य भाषा सिद्ध हुई। वैसे देखा जाय तो शौरसेनी आधुनिक मथुरा की भाषा, हिन्दुस्थानी की बहन एव विगतकाल की प्रतिस्पर्धिनी ब्रजभाषा का ही एक प्राचीन रूप थी।[4]

---

1 It is rather hasty to assume that Marathi is the final decendent of the Maharastri prakrit
Comparative Grammar of Modern Aryan Languges 1872 p 34

२. डा० हरिवल्लभ भायाणी—वाग्व्यापार पृ० १२०–१३४, विभिन्न प्राकृतो के सम्बन्धों के लिए द्रष्टव्य निबन्ध 'प्राकृत व्याकरणकारो'

3 Like Brajbhasa in Northern India from the 15 th century downwards, Maharastri became the recognised dialect of lyrics in the Second MIA period
Origin and development of Bengali Language p 86

४. डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, आर्यभाषा और हिन्दी पृ० १७७

§ २९. ऊपर के कथन के पीछे मात्र स्थानीय सम्बन्धजनित युक्ति ही नहीं बल्कि ठोस भाषा शास्त्रीय धरातल भी है। हम व्रजभाषा के उदय और विकास के अनेक उलझे हुए तत्त्वोंको शौरसेनी के ध्वनि और रूप विकास के अध्ययन के आधार पर सुलझा सकते हैं। ध्वनि विकास के क्षेत्र में प्राकृत भाषा के अन्तर्गत एक आश्चर्यजनक स्थिति दिखाई पडती है। सस्कृत के तत्सम शब्दो के तद्भव रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति तेजी से बढने लगी। ध्वनियों के इस क्षयकाल में स्वरों के ह्रस्व और दीर्घ व्यवहार में प्राचीन आर्य भाषा की नियमितता का अभाव दिखाई पडता है। स्वरान्त व्यञ्जनों के प्रयोगों के बढ जाने के कारण सम्भवत· स्वरों की दीर्घता में कमी आ गई। ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ और दीर्घ के स्थान पर ह्रस्व स्वरों के प्रयोग की अनियमित प्रवृत्ति जोर पकडने लगी। पिशेल ने इस प्रकार के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।[२] पाअड<प्रकट, रिद्धामय<अरिष्टमय, पासिद्धि<प्रसिद्धि, णाहीकमल<नाभिकमल, गिरीवर<गिरिवर, धिईमओ<धृतिमतः। नव्यभारतीय आर्य भाषाओं में भी स्वरा के ह्रस्व दीर्घ के विपर्यय के उदाहरण मिलते हैं। पानी>पनिहार, नारायण>नरायण, राजा>रजायस आदि। मध्यग व्यञ्जनों के लोप के कारण प्राकृत शब्दों के प्रयोगों में अराजकता उत्पन्न हो गई। परिणामतः नव्य आर्य भाषाओं में इसे दूर करनेके लिए पुनः तत्सम शब्दों का प्रयोग बढा। किन्तु सरलीकरण की जिस प्रवृत्ति के कारण व्यञ्जन और स्वरों में क्षयिष्णुता उत्पन्न हुई, उसने शब्दों की एक नई जाति ही खडी कर दी, यही नहीं प्राकृत भाषा में स्वराघात के पुराने नियम एकदम लुप्त-से हो गए। रूपतत्त्व की दृष्टि से इस भाषा के परिवर्तन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। सज्ञा के प्राचीन द्विवचन वाले रूपो का शनै· शनै अभाव सा होने लगा। कारकों की सख्या में भी न्यूनता दिखाई पडती है। सम्प्रदान और सम्बन्ध कारक के रूप प्राय एक जैसे हो गए। प्रथमा और द्वितीया के बहुवचनो में प्रयुक्त रूपो में समानता दिखाई पडती है। विभक्तियों की शिथिलता के कारण परसर्गों के आरम्भिक रूप दिखाई पडने लगे। 'रामाय दत्तम्' के स्थान पर 'रामाय कए दत्तम्' तथा 'रामस्य गृहम्' के स्थान पर 'रामस्य केरक घरम्' के प्रयोगो में हम नव्य भाषा के षष्ठी के 'को', 'का' 'को' आदि परसर्गों के बीज विन्दु पा सकते हैं। भाषा की यह प्रवृत्ति इसे अश्लिष्टता की ओर प्रेरित करने लगी। क्रिया रूपो में आश्चर्यजनक परिवर्तन उपस्थित हो गए। प्राचीन आर्यभाषा के भावरूप प्रायः नष्ट हो गए। इस प्रकार प्राकृत मे कर्तरि वर्तमान, कर्मणि वर्तमान, एक भविष्यकालिक निर्देश का रूप और एक आज्ञार्थक तथा एक विधिलिंग के रूप ही प्रचलित रहे। भूतकाल मे सामान्य भूत में कृदन्त रूपो का प्रयोग बढने लगा, जो आगे चलकर अपभ्रशों मे और भी अधिक प्रचलित हुआ जिनसे नव्य आर्य भाषाओं में भूतकाल के कृदन्तज रूप तथा सयुक्त रूपों का निर्माण हुआ।[3]

---

२ पिशेल ग्रेमेटिक डर प्राकृत स्प्राखे §§ ७०, ७२ आदि। डा० चाटुर्ज्या द्वारा भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी पृ० ९० पर उद्धृत

३ प्राकृत भाषा के शास्त्रीय विवेचन के लिए द्रष्टव्य
  (क) प्राकृत व्याकरणों के अतिरिक्त
  (ख) भाडारकर फिलालॉजिकल लेक्चर्स-प्राकृत ऐंड अदर डाइलेक्ट्स
  (ग) चाटुर्ज्या, भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी पृ० ९०।९१

§ ३० शौरसेनी प्राकृत के वैज्ञानिक और साधार व्याकरण तथा उसकी
विशेषताओं का समुचित मूल्यांकन नहीं हो सका है। प्राकृत व्याकरणकारों ने मह
विवेचन के बाद केवल उन्हीं बातों का उल्लेख शौरसेनी के प्रसंग में किया है, जो
से भिन्न पड़ती थीं। इस प्रकार ये विशिष्टतायें शौरसेनी के मूल स्वरूप को नहीं, बल्कि
प्राकृत से उसकी असमानताओं की ओर संकेत करती हैं। हेमचन्द्र ने अपने व्या
चतुर्थ पाद के २६०-२८६ सूत्रों में शौरसेनी की विशिष्टतायें बताई हैं।[1]

(क) संस्कृत शब्दों के त का द में तथा थ का ध में परिवर्तन (सूत्र २६
२७३-२७६)।

(ख) र्य का य्य में परिवर्तन, आर्यपुत्र > अय्यपुत्त।

(ग) भू धातु के रूपों में भ की सुरक्षा (२६६-२६६) भोदि, भवति, भुवि

(घ) व्यञ्जनान्तस्वरों के कुछ विचित्र कारक रूप (२६३-२६५) कचुइया <
सुहिया < सुखिन्, राय < राजन, विययवम्मं < विनयवर्मन्।

(ङ) पूर्वकालिक क्रिया में संस्कृत 'क्त्वा' प्रत्यय के स्थान पर इय, दूण
प्रत्यय लगते हैं (२७१-२७२) जैसे पढिय, पढिदूण, (√पठ्)
कडुअ < √कृ और गडुअ < √गम्।

(च) भविष्यत्काल में 'स्सि' विभक्ति, हि, स्स, या ह नहीं (२७५)

(छ) दाणि, ता य्येव, णं, हीमाण हे, ह, जे, अम्महे, ही ही आदि क्रिया
का प्रयोग (२७७-८५)

शौरसेनी की उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर हम उस भाषा के रूप
नहीं कर सकते। शौरसेनी का रूप वही था जो महाराष्ट्री प्राकृत का था, जैसा
गया, इसीलिए शौरसेनी की ये विभिन्नताएँ आपवादिक प्रयोगों पर आधारित
शौरसेनी प्राकृत का व्याकरणिक स्वरूप प्रधान प्राकृत के भीतर ढूंढा जा सकता है।
ने संस्कृत नाटककारों की विकृत और अतिकृत्रिम शौरसेनी को दृष्टि में रखकर ही ये
निर्धारित कीं। आजकल की तरह उस समय बोलियों के अध्ययन की न सुविधा
तो स्थानीय जनता की बोली का क्षेत्र-कार्य (Field work) के द्वारा निरीक्षण
था। इसलिये प्राकृत के इन अपवाद-नियमों को मूल विशेषतायें समझने का भ्रम
चाहिए। वस्तुतः साहित्यिक शौरसेनी की यत्र-तत्र प्राप्त रचनाओं को भाषा पर
घोर प्रभाव दिखाई पड़ता है। यह एक कृत्रिम भाषा थी।

§ ३१. ईस्वी सन् की छठवीं शताब्दी के बाद, मध्यकालीन भाषा-विकास
स्तर में अपभ्रंशों का उदय हुआ। छान्दस से शौरसेनी प्राकृत तक के विकास
विवरण में भारत की अनार्य जातियों की भाषा के तत्त्वों का विवेचन नहीं किया
भारत में विभिन्न भाषाओं की मिश्रण-प्रक्रिया का समुचित अध्ययन नहीं हो सका है
में हम भाषाओं के जो आदर्श देखते हैं वे ऊपरी स्तर के तथा अत्यन्त कृत्रिम हैं
में भाषाओं का विकास इतने सीधे ढंग से नहीं होता। प्राकृत भाषाओं में कितना
भाषाओं का है, यह अध्ययन और शोध का विषय है। अपभ्रंशों के विकास में

भाषाओं का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। अपभ्रंश भाषायें अपने व्याकरणिक ढाचे में क्रान्तिकारी परिवर्तन की सूचना देती है। याकोबी ने कहा था कि 'अपभ्रंश मुख्यतः प्राकृत के शब्दकोश और देशी भाषाओं के व्याकरणिक ढाचे को लेकर खडा हुआ। देश भाषाएँ जो मुख्यतः पामरजन की भाषायें मानी जाती थीं, शुद्ध रूप में साहित्य के माध्यम के लिए स्वीकृत नहीं हुई, इसीलिए वे साहित्यिक प्राकृत में सूत्र रूप में गूथ दी गई, इसी का परिणाम अपभ्रंश है।'[1] याकोबी द्वारा सकेतित देश भाषायें क्या थीं। उनके व्याकरणिक ढाचे को क्यों स्वीकार किया गया, यह व्याकरणिक ढाचा प्राकृतों से इतना भिन्न क्यों हो गया? इन प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए हमें जन भाषाओं के विकास और अनार्य भाषाओं के मिश्रण और प्रभाव का पूरा इतिहास ढूँढना पड़ेगा। इसी इतिहास के अन्वेषण के सिलसिले में सस्कृत वैयाकरणों ने अपने शुद्धता-अभिमान के जोश में इस भाषा को 'च्युत भाषा' कहा, आभीरादि असभ्य लोगों की बोली से जोडने का प्रयत्न किया और तरह-तरह के मिथ्या अनुमानों को सिद्धान्त के रूप में प्रसारित किया। अपभ्रंश भाषायें ईस्वीसन् की छठीं शताब्दी के आसपास जनता में बोली जाने वाली आर्य और अनार्य भाषाओं के मिश्रण से बनी जातीय भाषा का रूप ले रही थीं, आभीरादि लोग जो सस्कृत नहीं जानते थे, और बहुत से राजपूत राजे जो सस्कृत से अनभिज्ञ थे, इस अपभ्रंश को जनभाषा के रूप में महत्त्व देने लगे और देखते ही देखते यह भाषा सम्पूर्ण भारत को साहित्यिक भाषा के रूप में स्वीकृत हो गई। इन विविध अपभ्रंशों में शौरसेनी प्राकृत की उत्तराधिकारिणी के रूप में शौरसेनी अपभ्रंश को सारे देश के शिष्टजन की भाषा होने का गौरव प्राप्त हुआ। यह शौरसेनी अपभ्रंश ब्रजभाषा की निकटतम पूर्ववर्ती भाषा थी। ६०० शताब्दी से १००० ईस्वी तक इस शौरसेनी का प्रभाव रहा। बाद में यह अपभ्रंश भाषा ब्रजभाषा के विकास के साथ ही जनभाषा के पद से अलग हो गई, इसमें बाद में भी रचनायें होती रहीं, किन्तु इसका प्रभाव कुछ साहित्यिक और शिष्टजनों की गोष्ठी तक ही सीमित हो गया।

§ ३२. पिछले पचास वर्षों के भीतर अपभ्रंश भाषा की पुष्कल सामग्री प्रकाश में आ चुकी है। अपभ्रंश की विविध रचनाओं के आधार पर इसके भेदोपभेदों के बारे में कोई ठीक निर्णय नहीं हो सका है फिर भी इस विशाल सामग्री का अधिकाश पछाही अपभ्रंश में लिखा हुआ है। इस पश्चिमी परिनिष्ठित अपभ्रंश के व्याकरणिक स्वरूप और विकास की मुख्य प्रवृत्तियों का नीचे सक्षिप्त उल्लेख किया जाता है, यहाँ मैंने जानकर शौरसेनी अपभ्रंश शब्द का प्रयोग नहीं किया। क्योंकि शौरसेनी पश्चिमी अपभ्रंश के मूल में प्रतिष्ठित है, किन्तु वह एक जनपदीय अपभ्रंश के रूप में भी अपना अलग महत्त्व रखती है। इस अन्तर के बारे में आगे विचार किया जायेगा।

§ ३३. अपभ्रंश के ध्वनि और रूप तत्त्व की कुछ विशिष्टताएँ—[2]

१. उपान्त स्वर प्रायः सुरक्षित रहते हैं।

---

१. हरमन याकोबी, भविसयत्तकहा, पृ० ६८

2 G. V, Tagare-Historical Grammar of Apabhramsa Poona, 1948, Upadhye A, N, Parmatma prakash and Yogasara of Joindu S, J, S, 1937, Gune, P, D, Bhavisatta kaha of Dhanpal, Introduction,

२. प्राकृत-शब्दों में प्रायः आदि अक्षर और स्वर की मात्रा सुरक्षित रहती है, इस नियम में कुछ अपवाद भी दिखाई पडते है।
३. प्राकृत शब्दों में प्रयुक्त संयुक्त व्यजनों को सरलीकृत करके एक व्यजन और पहले में क्षतिपूर्ति करके पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है। यह प्रवृत्ति बाद की भाषाओं में विशेषतः ब्रजभाषा में अत्यन्त प्रबल दिखाई पडती है। शब्द मार्दव पर इतना ध्यान दिया जाने लगा कि ब्रज में प्राय सरलीकृत व्यञ्जनों का ही प्रयोग हुआ है।
४. प्राकृत की ही भाँति उद्वृत्तस्वरों के विच्छेद को सुरक्षित रखा गया है। बाद में यह प्रवृत्ति नष्ट हो गई। उद्वृत्त स्वरों के विच्छेद के स्थान पर संध्यक्षरों और संयुक्त स्वरों का प्रयोग होने लगा।
५. शब्दों के बीच में य, व, ब, ह और कभी-कभी र् के आगम द्वारा उद्वृत्त स्वरों का पृथक् अस्तित्व सुरक्षित किया जाने लगा।
६. लोक अपभ्रंशों और परवर्ती अपभ्रंशों में उद्वृत्त स्वरों को एकीकरण द्वारा संयुक्त कर दिया गया, किन्तु परिनिष्ठित अपभ्रंश में इसका अभाव ही रहा।
७. आदि और अनादि स्पर्श व्यञ्जनों का प्रायः महाप्राण रूप दिखाई पडता है। जैसे√ज्वल् > झल, कीलकाः > खिल्लियइ आदि।
८. ऋ अथवा र के समीवर्ती दन्त्य व्यञ्जन प्रायः मूर्धन्य हो जाते हैं।
९. मध्यग व्यञ्जनों का अपभ्रंश में प्रायः लोप हो जाता है। यद्यपि प्राकृत वैयाकरणों में मध्यग क, त, प तथा ख, थ, फ जैसी अघोष ध्वनियों के घोप हो जाने की व्यवस्था दी है, परन्तु अपभ्रशों में इस नियम का पालन नहीं होता। अपभ्रश में प्राकृत की ही तरह क, ग, च, ज, त, द (और प भी) लुप्त हो जाते हैं। इसी तरह ख, घ, थ, ध, फ, य प्रायः ह हो जाते हैं।
१०. स्वरमध्यग म् अपभ्रश में प्राय. सुरक्षित रखा गया है किन्तु म् > वँ के विकास के वैकल्पिक उदाहरण भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। कमल् > कवँल आदि।
११ सयुक्त र् के प्रायः समीकरण की प्रवृत्ति ही लक्षित होती है, वैसे वैयाकरणों ने प्रगण, प्रयावदी, प्राउ, प्राद्व, प्रिय आदि प्रयोगों में इसकी सुरक्षा को लक्ष्य किया था। र के आगम को वैयाकरणों ने अपभ्रश की एक विशेषता कहा है किन्तु र का आगम बहुत कम दिखाई पडता है।

§ ३४. रूप-तत्त्व की प्रमुख-विशेषताएँ—

रूप तत्त्वों के विकास की दृष्टि से अपभ्रंश भाषा प्राकृतों से काफी दूर हटी मालूम होती है। राहुल जी के मत से इसने नये सुबन्तों और तिङन्तो की सृष्टि की। आरम्भिक अवस्था में प्राकृत का प्रभाव अत्यन्त तीव्र दिखाई पडता है, किन्तु धीरे-धीरे अपभ्रंश अपने को उस प्रभाव से मुक्त करने लगा और इस विकासक्रम में उसने नव्यभारतीय आर्य

भाषाओं के विकास की पूर्वपीठिका स्थापित कर दी। रूप तत्त्व सम्बन्धी अपभ्रंश की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१. पालिकाल से ही व्यञ्जनान्त प्रातिपदिकों का लोप होने लगा था। अपभ्रंश ने इस प्रकार अधिकाश प्रातिपदिकों को स्वरान्त कर दिया। स्वरान्त प्रातिपदिकों के रूप भी अकारान्त पुलिंग शब्द के रूपों से अत्यन्त ही प्रभावित होते थे। अपभ्रंश में अ, इ, उ-कारान्त प्रातिपदिक ही रह गए और इस तरह इस भाषा में शब्द रूपों की जटिलता समाप्त हो गई।

२. व्याकरणिक लिंग भेद प्रायः लुप्त हो गया और अ, इ, उ-कारान्त प्रातिपदिकों के रूपोंमें बहुत कुछ समानता होने के कारण शब्दों का लिंग निर्णय करना और भी कठिन हो गया। कुम्भइ (पु) रहइ <रेखा (स्त्री) अम्हइ < अस्मे (उभयलिंग)।

३. अपभ्रंश की कारक विभक्तियों को तीन समूहों में रखा जा सकता है। प्रथमा, द्वितीया और सम्बोधन का एक समूह, दूसरा तृतीया और सप्तमी और तीसरा समूह चतुर्थी, पञ्चमी और षष्ठी का। पिछले दोनों समूहों में विपर्यय और मिश्रण इस मात्रा में होने लगा कि सामान्य कारक (Direct case) और विकारी रूप (Oblique) से ही काम चल जाता था। इस प्रकार सस्कृत के एक शब्द के २१ रूपों के स्थान पर प्राकृत में १२ और अपभ्रंश में केवल ६ रूप रह गए।

४. लुप्त विभक्तिक पदों के प्रयोग के कारण वाक्य-विन्यास में काफी कठिनाई उत्पन्न होने लगी। निर्विभक्तिक प्रयोग परवर्ती भाषाओं में भी मिलते हैं किन्तु अपभ्रंश काल में ही इस कठिनाई को दूर करने के लिए परसर्गों का प्रयोग होने लगा। अपभ्रंश में करण कारक में सहु, तण (जिससे ब्रजभाषा का सों, तण और तैं रूप बना) सम्प्रदान में रेसि और केहिं (केहि कह, आदि) षष्ठी में केरअ, केर, केरा (जिनसे ब्रज का कैरो, कौ, करी आदि परसर्ग बने) अधिकरण में मज्झि, मझि (जिससे मह, माहि, मझारी आदि परसर्गों का विकास हुआ) आदि परसर्गों का प्रयोग होता था।

५. सर्वनामों के बहुविध प्रयोग दिखाई पडते हैं। पुरुष वाचक के हउँ, महु, मुज्झु, तुहुँ, सो, तसु तासु, तथा अन्य, ओइ (वह) इहो (यह) कवण, केवि आदि रूपों में हम नव्य भाषाओं के सर्वनामों की स्पष्ट छाया देख सकते हैं। अपणा (निजवाचक) जित्तिउ, तित्तिउ (परिमाण वाचक) जइसो तइसो (गुणवाचक) तुम्हारिस, हम्हारिस (सम्बन्धवाचक) आदि प्रयोग महत्त्वपूर्ण हैं।

६. काल रचना की दृष्टि से अपभ्रंश के क्रिया रूपों में लट्, लोट् और लृट् के रूप तिङन्त होते थे, शेष कालों के रूप प्रायः कृदन्तज होने लगे। कृदन्ती रूपों के साथ क्रियार्थभेद और काल सूचित करने के लिए सयुक्त रूपों का निर्माण हुआ जिसमें अच्छइ,अच्छ जैसी सहायक क्रियाओं का प्रयोग भी होने

लगा। सामान्य वर्तमान के करउं, करहु, करहि, करह, करइ, करइ आदि रूपों से करौं, करै, आदि व्रज में सीधे विकसित होकर पहुँचे। लोट् (आज्ञार्थक) में अ, इ, उ-कारान्त रूप होते थे—करि, कर, करु आदि। व्रज में करौ, करहु आदि 'करु' से बने रूप है। भविष्यत् में अपभ्रंश में-स-और-ह-दोनों प्रकार के रूप चलते थे किंतु परिनिष्ठित अपभ्रंश में-ह-प्रकार की अधिकता थी करिहइ, करिहउ आदि। व्रज में करिहै, करिहौं, ह्वैहै आदि रूप चलते हैं। विधिलिंग के रूपों में इज्ज प्रत्यय लगता है। करिज्जइ>करीजे (व्रज) भूतकाल के रूप कृदन्तज थे, किय, भणिय, हुअ, गय आदि। उकार बहुला भाषा में ये कियउ, हुयउ, गयउ हो जाते थे। व्रज में कियौ, गयौ, भयौ आदि इसके रूपान्तर हैं। संयुक्त क्रिया बनाने की प्रवृत्ति बढ रही थी, यह अपभ्रंश युग की क्रिया का एकदम नवीन विकास था। रडन्तउ जाइ, भग्गा एन्तु, भज्जिउ जन्ति आदि प्रयोग इस प्रवृत्ति की सूचना देते है। व्रज के 'चलत भयौ, आवतो भयो, आनि परयो' आदि में इसी प्रवृत्ति का विकास हुआ। पूर्वकालिक क्रियाओं में आठ प्रत्यय लगते थे इ, इवि, एवि, एविणु, एप्पिणु, आदि के प्रयोग होते थे किन्तु प्रधानता 'इ' की ही रही। व्रज में यही प्रचलित हुआ। प्रेरणार्थक 'अव' प्रत्यय बोल्लावइ, पणवइ मे दिखाई पडता है, यही व्रजभाषा में भी प्रयुक्त होता है।

७. अपभ्रंश ने देशज शब्दो और धातुओं के प्रचुर प्रयोग से भाषा को एक नई शक्ति प्रदान की। इन देसी प्रयोगों के कारण अपभ्रंश के भीतर एक ऐसी विशिष्टता आ गई जो प्राकृत में बिल्कुल नहीं थी। इसी देसी प्रयोग ने इस भाषा को नव्य भाषाओ की ओर उन्मुख किया।

इस प्रकार हम देखते है कि व्रजभाषा के विकास के पीछे सैकडों वर्षों तक की परम्परा छिपी है। इस परम्परा के विकास में आर्य, अनार्य, कोल, द्राविड और न जाने कितने प्रकार के प्रभाव घुले मिले हैं। आर्य भाषा को प्राचीन से नवीन तक विकसित होने में जितने सोपान पार करने पड़े हैं, जितने मोड लेने पड़े है, उन सबकी कुछ न कुछ विशेषता है, इन सबका संतुलित और आवश्यक दाय व्रजभाषा को प्राप्त हुआ, उनके निरन्तर विकासशील तत्त्व इस भाषा के ढाँचे में प्रतिष्ठापित हुए। १००० ईस्वी के आस-पास शौरसेनी अपभ्रंश की अपनी जन्मभूमि में व्रजभाषा का उदय हुआ—उस समय उसके शिर पर साहित्यिक अपभ्रंश की छाया थी और रक्त में शौरसेनी भाषाओं की परम्परा और अन्य सामाजिक तथा सांस्कृतिक तत्त्वों का ओज और बल।

ब्रजभाषा का उद्‌गम

शौरसेनी अपभ्रंश (वि० १०००-१२००)

§ ३५ ईस्वी सन् की पहली सहस्राब्दी के अन्तिम भाग में, जब परिनिष्ठित अपभ्रंश समूचे उत्तर भारत की प्रमुख भाषा के रूप में स्वीकृति पाकर साहित्य का लोकप्रिय माध्यम हो गया था, उन्हीं दिनों उसका मूल और शुद्ध शौरसेनी रूप अपनी जन्मभूमि में विकसित होकर ब्रजभाषा की पूर्वपीठिका प्रस्तुत कर रहा था। १००० ईस्वी के आसपास नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के उदय का काल निर्धारित किया जाता है। यह काल-निर्धारण पूर्णतः अनुमानाश्रित है, इस काल को सौ वर्ष आगे-पीछे भी खींचा जा सकता है, किन्तु ईस्वी सन् की १३ वीं शताब्दी के अन्त तक मैथिली, राजस्थानी, अवधी और गुजराती आदि भाषाओं के समारभ को सूचित करने वाले साहित्य की उपलब्धि को देखते हुए उनके उदय का काल तीन चार सौ साल और पीछे ले जाना ही पडता है। मध्ययुग में अपभ्रंश के प्रचार और उसकी व्यापक मान्यता के पीछे राजपूत सामन्तों के प्रति जन सामान्य की श्रद्धा और अभ्यर्थना को भी एक कारण माना जाता है। चूँकि इन सामन्तों ने अपभ्रंश को अपने दरबारों की भाषा का स्थान दिया, उनके यश और शौर्य की गाथायें और स्तुतियाँ इसी भाषा में छन्दोबद्ध की गयीं इसलिए मुसलमानी आक्रमण से सन्त्रस्त और सघटन तथा त्राण की इच्छुक जनता ने इस भाषा को सास्कृतिक महत्त्व प्रदान किया। 'नवीं से बारहवीं शताब्दी के काल में परिनिष्ठित अपभ्रंश, राजपूत राजाओं की प्रतिष्ठा और प्रभाव के कारण, जिनके दरबारों में इसी शौरसेनी की परवर्ती या उसी पर आधृत भाषायें व्यवहृत होती थीं, और जिसे चारणों ने समृद्ध और शक्ति-सम्पन्न बनाया था, पश्चिम में पंजाब और गुजरातसे लेकर पूरब में बगाल तक समूचे आर्य भारत में प्रचलित हो गया। सभवत. यह उस काल की राष्ट्रभाषा माना जाता था।'[1] श्री चाटुर्ज्या के

1 Origin and Development of Bengali Language pp 113

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि राजपूत दरबारों में परिनिष्ठित अपभ्रंश को उसी रूप में मान्यता प्राप्त नहीं थी, बल्कि शौरसेनी के परवर्ती विकसित रूप का वे राजभाषा के रूप में व्यवहार करते थे। यह भाषा निश्चित ही ब्रजभाषा की आरम्भिक अवस्था की सूचना देती है। शौरसेनी अपभ्रंश के आधार पर निर्मित परिनिष्ठित अपभ्रंश और इस परवर्ती विकसित भाषा में बहुत अधिक अन्तर नहीं था, क्योंकि दोनों की मूल प्रवृत्तियाँ, शौरसेनी या मध्य-देशी थीं।

§ ३६ इसलिए विकास सूचक इस यत्किंचित् अन्तर को भी समझने का प्रयत्न नहीं किया गया। श्री चाटुर्ज्या ने अपभ्रंश के अन्त का समय तो लगभग दसवीं शताब्दी का अन्त ही माना, किन्तु ब्रजभाषा का उदयकाल उन्होंने १५ वीं शती का उत्तरार्ध बताया। इस मान्यता के लिए हम उन्हें दोषी भी नहीं ठहरा सकते क्योंकि तब तक ब्रजभाषा के उदयकाल को और पीछे लाने के पक्ष मे कोई ठोस आधार प्राप्त न था। ब्रजभाषा सूर के साथ शुरू होती थी। पृथ्वीराज रासो संवत् १२५० की कृति कहा जाता था, किन्तु उसे जाली ग्रन्थ बतानेवालों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही थी। यत्र-तत्र फुटकल प्राप्त सामग्री को कोई अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता था।

§ ३७. नव्य भाषाओं के उदय का जो काल निर्धारित किया जाता है, वही ब्रजभाषा के लिए भी लागू होता है। मध्यदेश की भाषा होने में जहाँ एक ओर गौरव और प्रतिष्ठा मिलती है वहीं दूसरी ओर हर नई उदीयमान भाषा के लिए भयंकर परीक्षा भी देनी होती है। परिनिष्ठित भाषा के मूल प्रदेश के लोग राष्ट्रभाषा का गौरव सम्भालने में घरेलू बोली को भूल जाते हों तो कोई आश्चर्य नहीं। क्योंकि उनके लिए परिनिष्ठित और देशभाषा या जनपदीय में कोई खास अन्तर नहीं होता। ब्रजभाषा या हिन्दी के आरम्भ की ऐतिहासिक सूचना हमें निजामुद्दीन के तबकात-ए-अकबरी तथा दो अन्य लेखकों की कृतियों में मिलती है। कालिंजर के हिन्दू नरेश ने बिना हौदे और महावत के हाथियों को सरलता से पकड़ने और उनपर सवारी करनेवाले तुर्कों की प्रशंसा में कुछ पद्य हिन्दी भाषा में लिखे थे जिसे महमूद गजनवी ने अपने दरबार के हिन्दू विद्वानों को दिखाया। केम्ब्रिज हिस्ट्री के लेखक के मुताबिक महोबा के कवि नन्द की कविता ने महमूदको प्रभावित किया था।[1] खुसरो ने मसऊद इब्न-साद के हिन्दी दीवान का उल्लेख किया है। यह लेखक महमूद के पौत्र इब्राहिम के दरबार में था। जिसने ११२५–११३० ईस्वी के बीच शासन किया।[2] इन प्रमाणों में संकलित भाषा को डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या शौरसेनी अपभ्रंश ही अनुमानित करते हैं—किन्तु हिन्दी से अप-भ्रंश का अर्थ खींचना उचित नहीं जान पड़ता। शौरसेनी अपभ्रंश से भिन्न भाषा बोलनेवाले जनपदों की नव्य भाषाओं के उदय और विकास के अध्ययन के लिए तो तब तक कठिनाई बनी रहती है, जब तक उस जनपदीय अपभ्रंश में लिखी कोई रचना उपलब्ध न हो। परि-निष्ठित अपभ्रंश में लिखनेवाले जनपदीय या प्रादेशिक लेखक भी अपनी बोली का कुछ न कुछ प्रभाव तो लाते ही थे, इन प्रभावों के आधार पर भी, उस बोली के स्वरूप का कुछ

---

१. केम्ब्रिज हिस्ट्री आव इंडिया, भाग ३ पृ० २

२. प्रो० हेमचन्द्रराय ८ वीं ओरियन्टल कान्फरेन्स का विवरण—मैसूर १९३५ 'भारत में हिन्दुस्तानी कविता का आरम्भ'

निर्णय हो सकता है, किन्तु यह कठिनाई ब्रजभाषा के लिए तो बिल्कुल ही नहीं है, क्योंकि उसकी पूर्वपीठिका के रूप में शौरसेनी अपभ्रंश की सामग्री उपलब्ध है, हम उस सामग्री के आधार पर संक्रान्तिकालीन ब्रजभाषा के स्वरूप का अनुमान कर सकते हैं। याकोबी ने कहा था कि अपभ्रंशों का ढाँचा नव्य भाषाओं का था और रूप सभार आदि प्राकृत का। याकोबी के इस कथन की यथातथ्यता भी प्रमाणित हो सकती है यदि हम शौरसेनी अपभ्रंश के मूल ढाँचे को ब्रजभाषा के व्याकरणिक रूप से संबद्ध करने में सफल हो सकें।

§ ३८. प्रश्न होता है कि यह शौरसेनी अपभ्रंश क्या है? दसवीं शताब्दी के आस-पास उसका कौन-सा रूप कहाँ उपलब्ध होता है। वैयाकरणों ने अपभ्रंशों के प्रसग में शौरसेनी को एक प्रकार माना है। किन्तु शौरसेनी का निश्चित रूप क्या है, इसमें मतैक्य नहीं है। १९०२ ईस्वी में प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् पिशेल ने अपभ्रंश की यत्र-तत्र प्राप्त रचनाओं का सकलन करके 'मेतीरियलिन डर कैन्तिस स्प्राखे' नामक ग्रन्थ का प्रकाशन कराया। उक्त ग्रन्थ की भूमिका में उन्होंने इस सुन्दर और पुष्ट भाषा की पुष्कल सामग्री के विनाश के लिए शोक व्यक्त किया, किन्तु कौन जानता था कि उनके इस शोक के पीछे छिपी अपभ्रंश के उद्धार की महती सदिच्छा इतनी शीघ्र पूर्ण होगी। आज अपभ्रंश की काफी सामग्री प्रकाश में आ चुकी है। जो कुछ प्रकाश में आई है उसका कई गुना अधिक अब भी विभिन्न ज्ञाताज्ञात भाण्डारों में दबी पड़ी है। प्रो० हरि दामोदर वेलणकर ने १९५४ में अपभ्रंश ग्रन्थों की एक सूची प्रकाशित कराई थी जिनमें ढाई सौ से ऊपर महत्त्वपूर्ण रचनाओं का विवरण उपलब्ध है।[1] अलग-अलग भाडारों की सूचियाँ प्रकाशित होती जा रही हैं। इस सामग्री के समुचित विवेचन और पूर्ण विश्लेषण के बाद ही बहुत से उलझे हुए प्रश्नों का समाधान सम्भव है।

§ ३९ इनमें से प्रकाशित ग्रन्थों की सख्या भी कम नहीं है। स्वयभू, पुष्पदन्त, धनपाल, योगीन्दु और रामसिंह जैसे कवियों की कृतियाँ किसी भी भाषा को गौरव दे सकती हैं। इन लेखकों की भाषा प्रायः परिनिष्ठित अपभ्रंश कही जाती है। किन्तु ९वीं शताब्दी से पहले की कृतियों की भाषा प्राकृत से इतनी आक्रान्त और रञ्जित है कि इसमें भाषा का सहज प्रवाह नहीं दिखाई पडता, वैसे इनके भीतर भी हम प्रयत्न करके ब्रजभाषा के विकास के कुछ तत्त्व पा सकते हैं। वस्तुतः नवीं तक की यह अपभ्रंश भाषा अत्यन्त कृत्रिम तथा रूढ प्रयोगों से दबी हुई है। यह आज की पडिताऊ हिन्दी की तरह अत्यन्त पुस्तकीय और प्राकृत का अनावश्यक सहारा लेने के कारण पगु मालूम होती है। अपभ्रंश का लोकमान्य तथा सहज रूप नवीं दसवीं शताब्दी के बाद की रचनाओं में मिलता है। गुलेरी जी ने ठीक ही कहा था कि 'पुरानी अपभ्रंश सस्कृत और प्राकृत से मिलती है और पिछली पुरानी हिन्दी से। विक्रम की ७वीं से ११वीं तक अपभ्रंशों की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिन्दी में परिणत हो गई।'[2] हम गुलेरी जी की तरह बाद की अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी न भी कहें तो भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि पुरानी हिन्दी या ब्रजभाषा के स्वरूप में सहायक भाषिक

---

१. जिन रत्न कोश, खण्ड १, १९५४ ई०

२ पुरानी हिन्दी, नागरी प्रचारिणी सभा, २००५ संवत् पृ० २९-३०

तत्त्वों के अन्वेषण के लिए यही बाद की अपभ्रंश ही महत्त्वपूर्ण है। इस बाद की अपभ्रंश मे भी सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण कृतियाँ वे हो सकती हैं, जो शौरसेनी अपभ्रंश के निजी क्षेत्र में लिखी गई हों। अभाग्यवश इस तरह की और इस काल की कोई प्रामाणिक कृति, जो मध्यदेश में लिखी गई हो, प्राप्त नहीं होती। मुसलमानों के निरन्तर आक्रमण से ध्वस्त मध्यदेश में हस्तलेखों की सुरक्षा का कोई प्रयत्न नहीं हुआ। मध्यदेश की अपभ्रंश भाषा सारे भारत की भाषा बनी, किन्तु मध्यदेश में क्या लिखा गया, इसका कुछ भी पता नहीं चलता।

§ ४० संस्कृत तथा प्राकृत वैयाकरणों ने प्राकृत के साथ-साथ अपभ्रंश का उल्लेख किया है रामशर्मन्, मार्कण्डेय, त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर आदि वैयाकरणों ने प्राकृत का काफी अच्छा विवरण प्रस्तुत किया है, किन्तु अपभ्रंश का जैसा सुन्दर और विशद् विवरण हेमचन्द्र ने उपस्थित किया, वैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। हेम व्याकरण के अपभ्रंश-भाग की सबसे बडी विशेषता नियमों के उदाहरण रूप में उद्धृत अपभ्रंश के दोहे हैं जिनके चयन और संकलन में हेमचन्द्र की अद्वितीय काव्य मर्मज्ञता और तत्त्वग्राहिणी प्रतिभा का पता चलता है 'सीला बीनने वालों की तरह वह (हेमचन्द्र) सीला बीनने वाला न था। हेमचन्द्र का पहला महत्त्व है कि और वैयाकरणों की तरह केवल पाणिनि के व्याकरण के लोक-उपयोगी अंश को अपने ढचर में बदलकर ही वह सन्तुष्ट न रहा, पाणिनि के समान पीछा नहीं तो 'आगा' देखकर अपने समय तक की भाषा का व्याकरण बना गया—उसने एक बड़े भारी साहित्य के नमूने जीवित रखे, जो उसके ऐसा न करने से नष्ट हो जाते, वह अपने व्याकरण का पाणिनि और भट्टोजी दीक्षित होने के साथ साथ उसका भट्टि भी है।' हेम व्याकरण में संकलित अपभ्रंश के ये नमूने इस भाषा की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और प्रमाणभूत सामग्री समझे जाते हैं।

§ ४१. हेमचन्द्र के इस अपभ्रंश को विद्वानों ने शौरसेनी अपभ्रंश कहा है। डा० एल० पी० तेस्सीतोरी ने स्पष्ट लिखा है कि शौरसेनी अपभ्रंश के बारे में अब तक हमारी जानकारी मुख्यतः हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण ४।३२९-४४६ सूत्रों के उदाहरणों और नियमों पर आधारित है। हेमचन्द्र १२ वीं शताब्दी (संवत् ११४४-१२२८) मे हुए थे और स्पष्ट है कि उन्होंने जिस अपभ्रंश का परिचय दिया है, वह उनसे पहले की है इसलिए इस प्रमाण के आधार पर हम हेमचन्द्रवर्णित शौरसेनी अपभ्रंश की पूर्ववर्ती सीमा १० वीं शताब्दी ईस्वी रख सकते हैं।[1] तेस्सीतोरी ने हेमचन्द्र के व्याकरण के दोहों को शौरसेन अपभ्रंश क्यों मान लिया, इसके बारे मे कोई स्पष्ट पता नहीं चलता। सम्भवतः उन्होंने यह नाम जार्ज ग्रियर्सन के भाषा सर्वे में व्यक्त मत के आधार पर ही स्वीकार किया था। डा० ग्रियर्सन ने मध्यदेशीय अपभ्रंश को नागर अपभ्रंश बताया जिसका एक रूप शौरसेनी कहा उन्होंने यह भी कहा कि इस नागर अपभ्रंश का गौर्जर से घनिष्ट सम्बन्ध है। आगे डा० ग्रियर्सन ने बताया कि हेमचन्द्र के व्याकरणका अपभ्रंश 'नागर' था। इस प्रकार मार्कण्डेय के नागर उपनागर और ब्राचड वाले विभाजन को आधार मानकर ग्रियर्सन ने भारतीय नव्य भाषाओं को जो समूहीकरण किया वह बहुत कुछ Hypothetical है। यहाँ उनके इसी कथन से मतलब है कि

---

१. पुरानी राजस्थानी, नागरी प्रचारिणी सभा, पृ० ५

हेमचन्द्र की अपभ्रश नागर थी जो मध्यदेश की भाषा थी।[1] डा० भाडारकर अपभ्रश भाषा का उद्गम और विकास का क्षेत्र मथुरा के आस-पास मानते है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि 'छठीं-७वीं शताब्दी के आस-पास अपभ्रश का जन्म उस प्रदेश में हुआ, जहाँ आजकल ब्रजभाषा बोली जाती है।[2] हेमचन्द्र के काल में मध्यदेशीय शौरसेनी अपभ्रश का सारे उत्तर भारत में आधिपत्य था। मुशी ने लिखा है कि 'एक जमाना था जब शौरसेनी अपभ्र श गुजरात में भी प्रचलित थी।'[3] प्रसिद्ध जर्मन भाषाविद् पिशेल हेमचन्द्र के व्याकरण के अपभ्र श दोहों की भाषा को शौरसेनी मानते हैं।[4] इसी प्रकार डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या हेमचन्द्र के दोहों को पश्चिमी अपभ्रश (जिसे मूलतः वे शौरसेनी मानते हैं) की रचनायें स्वीकार करते हैं। 'पश्चिमी अपभ्रश को एक तरह से ब्रजभाषा और हिन्दुस्तानी की उनके पहले की ही पूर्वज कहा जा सकता है। गुजरात के जैन आचार्य हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) द्वारा प्रणीत व्याकरण में उदाहृत पश्चिमी अपभ्रश के प्रचलित साहित्य के कुछ उदाहरणों से हमें इस बात का पता चलता है कि उस काल की भाषा हिन्दी के कितनी निकट थी।'[5] एक दूसरे स्थान पर डा० चाटुर्ज्या लिखते हैं: 'मध्ययुग के उत्तर भारत के सत और साधु लोगों की परम्परा जिन्होंने स्थापित की थी, ऐसे राजपूताना, पजाब और गुजरात के जैन आचार्य लोग तथा पूर्व भारत के बौद्ध सिद्धाचार्य लोग, और बाद में समग्र उत्तर भारत में फैले हुए शैव योगी या नाथ पथ के आचार्य लोग, बगाल के सहजिया पथ के साधक—इन सबों के लिए शौरसेनी अपभ्रश जनता के समक्ष अपने मत और अपनी शिक्षा के प्रसार के वास्ते एक अच्छा साधन बना।'[6] इस कथन में 'जैन आचार्य' पद से हेमचन्द्र की ओर सकेत स्पष्ट है।

§ ४२. एक ओर उपर्युक्त और अन्य भी बहुतेरे विद्वान् हेमचन्द्र की अपभ्रश को शौरसेनी मानते हैं, दूसरी ओर गुजरात के कुछके विद्वान् इसे 'गुर्जर अपभ्रश' मानने का आग्रह करते हैं। सर्वप्रथम श्री के० ह० ध्रुव ने दसवीं—ग्यारहवीं शती में गुजरात में लिखे अपभ्रंश के साहित्य की भाषा को प्राचीन गुजराती विकल्प से अपभ्रश नाम देने का सुझाव रखा। इसी मत को और पल्लवित करते हुए श्री केशवराम काशीराम शास्त्री ने हेमचन्द्र के व्याकरण के अपभ्रश को शुद्ध गौर्जर अपभ्र श सिद्ध करने का प्रयास किया।[7] आपणा कवियो के उपोद्घात में उन्होंने सकल्प किया कि इस पुस्तक में हेमचन्द्र के अपभ्रश

---

1 We may therefore assume that Nagara Ap was either the same as or was closely related to Saurasena Apabhramsa
George Grierson, on the Modern Indo Aryan Vernaculars § 63

2 About the sixth or seventh century the Apabhramsa was developed in the country in which the Brijbhasa prevails in modern time
Wilson's philological lectures, pp, 301

3 K M Munshi, Gujarat and Its Literature pp 20

४. डा० भायार्णी की पुस्तक 'वाग्व्यापार' का पृष्ठ १४६ द्रष्टव्य

५. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी पृ० १७८-१७९

६ राजस्थानी भाषा पृ० ६२-६३

७ आपणा कवियो खंड १, नरसिंह युगनी पहेलां, उपोद्घात, पृ० ३६-४०

को गौर्जर सिद्ध करके रहेंगे। उनके तर्क इस प्रकार हैं। मार्कण्डेय ने २७ अपभ्रंशों के नाम गिनाये हैं। उसमें एक का सम्बन्ध गुजरात से है। भोज के सरस्वती कंठाभरण में 'अपभ्रंशेन तुष्यति स्वेन नान्येन गौर्जराः' की जो हुंकार सुनाई पड़ती है, वह किसी न किसी हेतु से ही, इसमें किसे शंका हो सकती है। महाराष्ट्री और शौरसेन आदि नाम कोई खास महत्त्व नहीं रखते। साहित्यिक या (standard) अपभ्रंश में बहुत सी बातें प्रान्तीय हैं, कुछ विशेषतायें व्यापक भी हैं। किन्तु प्रान्तीय विशेषताओं पर ध्यान देने पर शास्त्री जी के मत से 'एटले आ० हेमचन्द्रना अपभ्रंश ने तेनी प्रान्तीय लाक्षणिकताये गौर्जर अपभ्रंश कहेवा माँ मने बाध जणातो न थी। ब्रजभाषा और गुजरात में बहुत निकट का सम्बन्ध स्थापित कराने में आभीर और गुर्जर लोगों का 'फैलाव' (बिखराव के अर्थ में शायद) भी कारण रहा है। शास्त्री जी के मत से वस्तुतः यदि ब्रजभाषा के विकास के लिए किसी क्षेत्रीय अपभ्रंश का नाम लेना हो, तो उसे 'आभीरी अपभ्रंश' कहना चाहिए। यह आभीर-अपभ्रंश मध्यदेश का था ऐसा 'जूना वैयाकरणों का कहना है। हेमचन्द्र की अपभ्रंश को शौरसेनी कहने वालों पर रोष प्रकट करते हुए शास्त्री जी लिखते हैं: 'श्री उपाध्ये शौरसेनी नी छाट आ० हेमचंद्र ना अपभ्रंश मा जोई छे। डा० जेकोबी, पीशल, सर ग्रियर्सन, डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, डा० गुणे वगेरे विद्वानों पण जोई आ० हेमचन्द्रना अपभ्रंश ने शौरसेनी अपभ्रंश कहेवा ललचाय छे। इसके बाद हेमचन्द्र की बताई शौरसेनी प्राकृत की आपवादिक विशिष्टिताओं का प्रभाव अपभ्रंश में न देखकर शास्त्री जी इसकी शौरसेनी से भिन्नता का निर्णय दे देते है।

§ ४३. मुझे शास्त्री जी के तर्कों पर विस्तार से कुछ नहीं कहना है क्योंकि ये तर्क स्वतोव्याघात दोष से पीडित हैं। मैं स्वयं शौरसेनी से भिन्न एक अलग गुर्जर अपभ्रंश मानने के पक्ष में हूँ। किन्तु उस गुर्जर अपभ्रंश का विकास ईस्वी सन् की दसवीं शताब्दी तक दिखाई नहीं पडता। गुजरात के लेखकों की लिखी अपभ्रंश रचनाओं में निश्चित ही पुरानी गुजराती की छाप मिल सकती है, यदि यह रंग गाढ़ा हो, यदि उसमें गुजराती के तत्त्व प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हों, तो उसे निश्चित ही गुजराती का पूर्व रूप मानना चाहिए किन्तु यह विशिष्टता १२वीं शताब्दी के बाद की रचनाओं में ही दिखाई पड़ सकती है। पहले की रचनायें चाहे गुजरात में लिखी हों चाहे बंगाल में यदि उनमें शौरसेनी की प्राधानता है तो उसे शौरसेनी ही कहा जायेगा, किन्तु कोई भी भाषा का विद्यार्थी 'भरतेश्वर बाहुबलिरास' (सं० १२४१) को गौर्जर अपभ्रंश कहे जाने पर आपत्ति न करेगा क्योंकि उसमें गुजराती के पूर्वरूप का घोर प्रभाव दिखाई पडता है।

§ ४४. अपभ्रंश भाषा में लिखे समूचे अपभ्रंश साहित्य को जो लोग शौरसेनी या उसपर आधृत परिनिष्ठित अपभ्रंश का बताते हैं वे भी एक प्रकार के अतिवाद के शिकार हैं। परमात्म प्रकाश की भूमिका में डा० उपाध्ये ने 'भाषिक तत्त्वों' के आधार पर कहा कि स्वर और विभक्ति सम्बन्धी छोटे-मोटे भेदों को भुलाकर भी हेमचन्द्र की अपभ्रंश का आधार शौरसेनी का परमात्मप्रकाश में पता भी नहीं चलता। इसके सिवा हेमचन्द्र की अपभ्रंश की और भी बहुत सी बातें परमात्म प्रकाश में नहीं पाई जातीं।[1] सोमप्रभ के

---

१. परमात्मप्रकाश, एस० जे० एस० १६, प्रस्तावना पृ० १०८

कुमारपाल प्रतिबोध की अपभ्रश तथा नेमिनाथ चरित के लेखक हरिचन्द्र सूरि की भाषा हेमचन्द्र के दोहों की भाषा से बहुत भिन्न मालूम होती है। यह अन्तर खास तौर से तृतीया एकवचन, षष्ठी विभक्ति (सम्बन्ध के) तथा भूत कृदन्त के रूपों में दिखाई पड़ता है। उसी प्रकार पुष्पदंत की भाषा भी हेमचन्द्र से भिन्न मालूम होती है।[1] गुजरात के जैन लेखकों की बहुत सी रचनाओं की भाषा, जिन्हें श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने जैन गुर्जर कवियो भाग १ और २ में सकलित किया है, जिनमें कई ग्यारहवीं शताब्दी की भी हैं, हेमचन्द्र की अपभ्रंश से भिन्न मालूम होती हैं। इसमें पश्चिमी अपभ्रश का रूप तो है किन्तु रग पुरानी गुजराती का जरूर है। जबू स्वामी चरित्र (स० १२१०) रेवतगिरि रास (१२३०) आदि रचनाओं में गुजराती के भाषिक तत्त्व ढूँढे जा सकते हैं। किन्तु हेमचन्द्र के व्याकरण का अपभ्रश तो निश्चित ही गौर्जर अपभ्रश नहीं कहा जा सकता। इस प्रसंग में डा० हरिवल्लभ भायाणी का निष्कर्ष अत्यन्त निष्पक्ष मालूम होता है, 'हेमचन्द्र गुजरात के जरूर थे किन्तु उनके रचे हुए अपभ्रश व्याकरण से गुर्जर अपभ्रश का कुछ प्रत्यक्ष 'लेना देना' नहीं है। क्योंकि उन्होंने प्राचीन प्रणाली और पूर्वाचार्यों के अनुसरण पर बहुमान्य साहित्य-प्रयुक्त अपभ्र श का व्याकरण लिखा था। बोलचाल की भाषाओं (क्षेत्रीय) का सूक्ष्म अध्ययन करके व्याकरण लिखने का चलन बिल्कुल आधुनिक है।'[2]

§ ४५. हेम व्याकरण के अन्तःसाक्ष्य से भी मालूम होता है कि अपभ्रश का यहाँ अर्थ शौरसेनी से ही है। ३२६ वें सूत्र की वृत्ति में हेमचन्द्र ने लिखा है–

'यस्यापभ्रशे विशेषो वक्ष्यते तस्यापि क्वचित्प्राकृतवत् शौरसेनी वच्च कार्यं भवति'

अर्थात् अपभ्र श में कहीं प्राकृत कहीं शौरसेनी के समान कार्य होता है। एक दूसरे सूत्र की वृत्ति में वे लिखते हैं,–

'अपभ्रशे प्राय' शौरसेनीवत् कार्यं भवति।–८।४।४४६

यहाँ अर्थ और भी स्पष्ट है। पहले सूत्र में प्राकृत का अर्थ लोग महाराष्ट्री प्राकृत लगाते हैं क्योंकि इसे मूल प्राकृत कहा गया है, किन्तु जैसा पिछले अध्याय में निवेदन किया गया कि महाराष्ट्री अलग प्राकृत नहीं बल्कि शौरसेनी का ही एक विकसित रूप है, और शौरसेनी की अपेक्षा उसके विकसित रूप की हैसियत से यह अपभ्रश से कहीं ज्यादा निकट है। इसलिए यदि अपभ्रश में प्राकृत (यानी महाराष्ट्री = विकसित शौरसेनी) के नियम अधिक लागू होते हैं तो इसमें आश्चर्य और अनौचित्य क्या है। 'ईस्वी सन् ४००–५०० के आसपास प्राकृत वैयाकरण वररुचि ने केवल प्राकृत (शाब्दिक अर्थ प्रकर्षेण आकृत = अत्युत्तम बोली) का उल्लेख किया है जो उसकी शौरसेनी रही होगी, वररुचि के समय में ही यह भाषा (महाराष्ट्री =

१ आपणा कवियो का मूल्याकन, वाग्व्यापार पृ० ३७७

२ हेमचन्द्र गुजरातना हता पण तेमणे रचेला अपभ्रश व्याकरण ने गुर्जर अपभ्रश साथे प्रत्यक्ष पणे कशी लेवा देवा न थी। केम के पूर्वाचार्यों अने पूर्वप्रणाली ने अनुसरी ने तेमणे बहुमान्य साहित्य प्रयुक्त धोरणसरना अपभ्रश नु व्याकरण रचेलु छे। बोलचाल नी भाषानां सूक्ष्म भेदो नु अनुकरण करी तेनूं व्याकरण रचवानु चलण आधुनिक छे।–वाग्व्यापार, भारतीय विद्याभवन १९५४, पृ० १७०

शौरसेनी प्राकृत) अभ्यन्तर व्यंजनों के लोप के साथ अपनी द्वितीय म० भा० आ० अवस्था तक पहुँच चुकी थी।[1] इस प्रकार शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश के बीच की कड़ी हेमचन्द्र के 'प्राकृत' में दिखाई पड़ती है। अतः अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर भी हेमचन्द्र की अपभ्रंश शौरसेनी ही साबित होती है।

§ ४६. इस प्रसंग में गुजरात और मध्यदेश की सांस्कृतिक एकता तथा सम्पर्कता पर भी विचार होना चाहिए। केवल हेमचन्द्र के अपभ्रंश को शौरसेनी समझने के लिए ही इस 'एकता' पर विचार अनिवार्य नहीं बल्कि ब्रजभाषा के परवर्ती विकास में सहायक और भी बहुत सी सामग्री गुजरात में मिलती है, जिस पर भी इस तरह का स्थान सम्बन्धी विवाद हो सकता है। इस प्रकार की सामग्री के संरक्षण और सृजन का श्रेय निःसंकोच भाव से गुजरात को देना चाहिए, साथ ही इस समता और एकता-सूचक सामग्री के मूल में स्थित सांस्कृतिक सम्पर्कों का सर्वेक्षण भी हमारा कर्त्तव्य हो जाता है। जार्ज ग्रियर्सन ने गुजराती को मध्यदेशी अथवा अन्तर्वर्ती समूह की भाषा कहा था। इतना ही नहीं इस समता के पीछे ग्रियर्सन ने कुछ ऐतिहासिक कारण भी ढूंढ़े थे जिनके आधार पर उन्होंने गुजरात को मध्यदेश का उपनिवेश कहा।[2] डा० धीरेन्द्र वर्मा राजस्थान और गुजरात पर गंगा की घाटी की संस्कृति के प्रभाव को दृष्टि में रखकर लिखते हैं 'भौगोलिक दृष्टि से विन्ध्य के पार पहुँचने के लिए गुजरात का प्रदेश सबसे अधिक सुगम है, इसलिए बहुत प्राचीन काल से यह मध्यदेश का उपनिवेश रहा है।'[3] इन वक्तव्यों में प्रयुक्त उपनिवेश शब्द का अर्थ वर्त्तमान-प्रचलित उपनिवेश से भिन्न समझना चाहिए। सुदूर अतीत मे मध्यदेश के लोगों के अपने निवास-स्थान छोड़कर गुजरात में जाकर बसने का संकेत मिलता है। महाभारत में कृष्ण के यादव कुल के साथ मथुरा छोड़कर द्वारावती (वर्त्तमान द्वारिका) बस जाने का उल्लेख हुआ है।[4] महाभारत के रचनाकाल को बहुत पीछे न भी मानें तो भी यह प्रमाण ईस्वी सन् के आरम्भ का तो कहा ही जा सकता है। ऊपर श्री के० का० शास्त्री द्वारा आभीरों और गुर्जरों के फैलाव को भी निकटता-सूचक एक कारण मानने की बात कही जा चुकी है। वस्तुतः आभीरों का दल उत्तर पश्चिम से आकर पहले मध्यदेश में आबाद हुआ, वहाँ से पश्चिम और पूरब की ओर बिखरने लगा। गुजरात में आभीरों का प्रभाव इन मध्यदेशीय आभीरों ने ही स्थापित किया। अपभ्रंश का सम्बन्ध आभीरों से बहुत निकट का था, संभवत ये अनार्य जाति के लोग थे जो संस्कृत नहीं जानते थे, इसलिए इन्होंने मध्यदेश की जनभाषा को सीखा और उसे अपनी भाषा से भी प्रभावित किया। शासन पर अधिकार करने के बाद इनके द्वारा स्वीकृत और मिश्रित यह भाषा अपभ्रंश के नाम से प्रचलित हुई। आभीरों के पहले एक दूसरी विदेशी जाति अर्थात् शकों ने उत्तर-भारत के एक बहुत बड़े हिस्से पर अधिकार किया था। ये बाद में हिन्दू हो गए थे। महाप्रतापी शकों का शासन भारत के एक बहुत बड़े भाग पर स्थापित था और इतिहासकारों का मत है कि ये दो तीन शाखाओं में विभक्त

---

१. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी पृ० १७७

२. आनन्द माडर्न इन्डो आर्यन वर्नाक्यूलर्स, § १२

३. ब्रजभाषा, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १९५४ पृ० ३

४ मथुरां सपरित्यज्य गता द्वारवतीपुरीम् (महाभारत २। १३। ६५)

थे, जो गुजरात से मध्यदेश तक फैली हुई थी। मथुरा इन्हीं शाखाओं में एक की राजधानी थी। ईसा पूर्व पहली शताब्दी में मथुरा के प्रसिद्ध क्षत्रप शोडास के राज्यकाल का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है जिसमें एक वासुदेव भक्त अपने स्वामी क्षत्रप शोडास के कल्याण के लिए वासुदेव से प्रार्थना करता है।[1] १८८२ ईस्वी में श्री कनिंघम को मोरा नामक स्थान में एक लेख मिला था जो दूसरे क्षत्रप राजूलस के काल का बताया जाता है, जिसमें पञ्चवीरों (कृष्ण, सकर्षण, वलराम, सोम और अनिरुद्ध) की प्रतिमाओं की चर्चा है।[2] क्षत्रप रुद्रदामन् गुजरात का प्रसिद्ध शासक था जो सस्कृत का बहुत बडा हिमायती और विद्वान था। इस प्रकार शकों के शासनकाल में मध्यदेश और गुजरात का सम्बन्ध बहुत नजदीकी हो गया था।

§ ४७. वासुदेव धर्म के ह्रास के दिनों में मथुरा में जैन धर्म का प्रभाव बढ़ रहा था। सन् १८८६-९१ ईस्वी में श्री फ्यूहर ने मथुरा के पास कंकाली टीले की खुदाई कराई फलस्वरूप जैन संस्कृति और मध्यकालीन भारत के इतिहास पर प्रकाश डालने वाली अत्यन्त महत्त्व की सामग्री का पता चला। इस ककाली टीले के पास की खुदाई[3] में प्राप्त प्रमाणों के आधार पर विदित होता है कि कुषाण काल से ईस्वी सन् की दसवीं शताब्दी तक मथुरा जैन धर्म का प्रबल केन्द्र रहा। जैन तीर्थंकर सुपार्श्व की जन्मभूमि होने के कारण उत्तर भारत के जैनियों के लिए इसका आकर्षण अक्षुण्ण था। यह परम्परा-प्रसिद्धि है कि जैनियों की दूसरी धर्म-सभा स्कन्दिलाचार्य के नेतृत्व में मथुरा में हुई थी जिसमें धार्मिक ग्रन्थो को सुव्यवस्थित किया गया। अतः स्पष्ट है कि मथुरा मध्ययुग में जैन धर्म का सर्वश्रेष्ठ पीठ-स्थल मानी जाती थी, इस प्रकार गुजरात के जैनियों का यहाँ से सबध एक दम अनुमान की ही चीज़ नहीं है। मथुरा की भाषा और जैन सस्कृति से सुदूर पूरब के जैन नरेश खारवेल भी प्रभावित थे। खारवेल के हाथी गुफा वाले लेखों की भाषा में मध्यदेशीय प्रभाव देखकर लोगों ने निष्कर्ष निकाला था कि ये लेख खारवेल के जैन गुरुओं की शौरसेनी भाषा में थे, जो मथुरा से आये थे।[4] उसी तरह मथुरा की जैन सस्कृति का प्रभाव पश्चिम गुजरात तक भी अवश्य ही पहुँचा था। यही नहीं जैन आगमों और परवर्ती रचनाओं में कृष्ण-काव्य का अत्यन्त प्राचुर्य दिखाई पडता है, जिसे मथुरा का भी प्रभाव मानना अनुचित न होगा।[5] जैन परम्परा के अनुसार गुजरात के प्रभय चालुक्य राजा कन्नौज से आये।[6]

इस प्रकार ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि गुजरात और मध्यदेश का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। परवर्ती मध्यकाल में वैष्णव धर्म के उदय के बाद तो यह सम्बन्ध और भी

---

१ श्री रायप्रसाद चन्दा ' आर्कियोलॉजिकल सर्वे आव् इण्डिया, सख्या ५ आर्कियोलॉजी आव् वैष्णवट्रेडीशन

2 Morawell Inscription, Epigraphica Indica pp 127

3 Report of the Orchæological Survey of India, for Kankali teela excavation 1889 91

४ राजस्थानी भाषा पृ० ४५

५ जैन साहित्य में कृष्ण का स्थान के लिए द्रष्टव्य श्री अगरचन्द नाहटा का लेख 'जैनागमों में श्री कृष्ण' विश्वभारती, खंड २, अक ४, १९४४ पृ० २२६।

6 V Smith, J R S 1908, PP 769

दृढतर हो गया। इसी कारण गुजरात की प्रारंभिक रचनाओं और शौरसेनी अपभ्रंश में बहुत साम्य है। व्रजभाषा का प्रभाव भी गुजरात पर कम न पड़ा। वल्लभाचार्य के ज्येष्ठ पुत्र श्री गोपीनाथ का प्रभाव-क्षेत्र गुजरात ही रहा। श्री विट्ठल नाथ ने भी एकाधिक बार गुजरात की यात्रा की और वैष्णव भक्ति का प्रचार किया। भालण, नरसी, केशव दास आदि कवियों की भाषा पर न केवल व्रज का प्रभाव है बल्कि उन्होंने ने तो व्रजभाषा के कुछ फुटकल पद्य भी लिखे।[1]

§ ४८ हेमचन्द्र के शौरसेनी अपभ्रंश के उदाहरणों की भाषा को हम व्रजभाषा की पूर्वपीठिका मानते हैं। हेमचन्द्र के द्वारा सकलित अपभ्रंश रचनाओं में १४१ पूर्ण दोहे, ४ दोहों के अर्धपाद और बाकी भिन्न भिन्न १७ छंदों में २४ पूर्ण और १० अपूर्ण श्लोक (पद्य) मिलते हैं। ये रचनायें कहाँ कहाँ से ली गई इसका पूरा पता नहीं चलता। हेमव्याकरण के अपभ्रंश-दोहे कहा से संकलित किये गए, इनके मूल स्रोत क्या हैं, आदि प्रश्न उठते हैं। अब तक इन दोहो में से सभी का उद्गम-स्रोत ज्ञात नहीं हो सका है। इनमें से कुछ दोहे कुमारपाल प्रतिबोध में सकलित मिलते हैं। कुमारपाल प्रतिबोध एक कथा-प्रबन्ध ग्रन्थ है जिसमें भिन्न भिन्न काल की ऐतिहासिक लौकिक और निजधरी कथायें संकलित की गई हैं। कुमारपाल प्रतिबोध[2] की रचना 'शशिजलधिसूर्यवर्षे' अर्थात् सम्वत् १२४१ के आषाढ़ सुदी अष्टमी रविवार को अनहिलवाड़े में श्री सोमप्रभ सूरि ने की, यह ग्रन्थ हेमचन्द्र के बाद ही का है और इसमें हेमचन्द्र सम्बन्धी विवरण ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत कुछ यथातथ्य मालूम होते हैं, इसमें सोमप्रभ के कुछ अपभ्रंश दोहे भी हैं जो परवर्ती अपभ्रंश को समझने में सहायक हो सकते हैं। हेमचन्द्र के व्याकरण का एक दोहा कवि अद्दहमाण के सन्देशरासक के एक दोहे से एकदम मिलता है—

जउ पवसन्ते सहु न गय न मुअ विओएँ तस्सु
लज्जिजउ सदेसढा दिंतेहिँ सुहय स जणस्स
[हेम० व्या० ८।४।४१६]

जसु पवसत ण पवसिया मुअए विओइ ण जासु
लज्जिज्जउं संदेसडउ दिन्तीं पहिअ पियासु
[स० रा० ७२]

सदेस रासक का यह दोहा न केवल रचनाकाल की दृष्टि से भी बल्कि भाषा की दृष्टि से भी स्पष्टतया परवर्ती प्रतीत होता है, यही नहीं किंचित् परिवर्तनों को देखते हुए प्रतीत होता है कि यह दोहा अद्दहमाण ने हेमचन्द्र से नहीं किसी दूसरे स्रोत से प्राप्त किया था। सभव है कि यह अद्दहमाण का निर्मित भी हो, किन्तु हेमचन्द्र के व्याकरण के रचनाकाल को देखते हुए, ऐसी सभावना बहुत उचित नहीं मालूम होती क्योंकि अद्दहमाण का समय अधिक पीछे ले जाने पर भी १२वीं १३वीं शती के पहले नहीं पहुँचता, यदि हेमचन्द्र का समसामयिक भी

---

१. श्री के० का० शास्त्री कृत भालण, कवि चरित भाग १

२. कुमारपाल प्रतिबोध, गायकवाड़ सीरीज नं० १४ मुनि जिनविजय द्वारा सम्पादित

माने तो भी हेमचन्द्र ने अद्दहमाण से यह दोहा लिया ऐसा प्रतीत नहीं होता। लगता है कि दोनों ही लेखकों ने यह दोहा लोक प्रचलित किसी बहुमान्य कवि की कृति से या किसी लोक गीति (Folk song) से प्राप्त किया था। इस दोहे पर लोकगीति के स्वर और स्वच्छन्द वर्णन की विशिष्ट छाप आज भी सुरक्षित है। हेम व्याकरण के अन्य दोहों में से एक परमात्म प्रकाश में उपलब्ध होता है और कुछेक की समता सरस्वती कंठाभरण, प्रबन्ध चिन्तामणि, चतुर्विंशति-प्रबन्ध आदि में सकलित दोहों से स्थापित की जा सकती है।[1] हेमचन्द्र के कई दोहे अपनी मूल परम्परा में विकसित होते होते कुछ और ही रूप ले चुके हैं, गुलेरी 'जी ने 'वायसउडा-वन्तिए' वाले तथा और कुछेक दोहों के बारे में सन्तुलनात्मक विवेचन पुरानी हिन्दी में उपस्थित किया है।[2]

इन दोहों में एक दोहा मुज-भणिता से युक्त भी मिलता है जो प्रबन्ध चिन्तामणि वाले मुजभणिता-युक्त दोहों की परम्परा में प्रतीत होता है।

बाहु बिछोडवि जाहि तुहुँ हउँ तेवइं को दोस।
हियड्डिय जइ नीसरइ जाणउँ मुज सरोस॥

ब्रजकवि सूरदास के जीवन से सबद्ध ऐसा ही एक दूसरा दोहा भी है, इन दोनों का विचित्र और मनोरजक साम्य देखते ही बनता है। सूर सबन्धी दोहा यह है–

बांह छुड़ाये जात हो निबल जानिके मोंहि।
हिरदै से जब जाहुगे तो हों जानों तोहि॥

क्या यह साम्य आकस्मिक है? क्या इस दोहे को सूरदास के काल में या किसी ने या सूरदास ने स्वयं हेम व्याकरण के दोहे के आधार पर रूपान्तरित किया था। यह पूर्णतः असभव है, और सभव यही है कि जिस मध्यदेश में यह दोहा निर्मित हुआ, उसी का एक पूर्ववर्ती रूप हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में सकलित किया शौरसेनी अपभ्रश के उदाहरण के लिए, वही अपनी स्वाभाविक परम्परा और जन-मानस में निरन्तर विकसित होकर सूर के पास पहुँचा, लौकिक शृगार के स्थान पर भक्ति का पीताम्बर डालकर, किञ्चित् भिन्न अर्थ में।

§ ४२ मालव नरेश मुज का चरित्र मध्यकाल के शौर्य और शृंगार से रगे सामन्ती वातावरण में अपनी विचित्र प्रेम-भगी और आतिकारुणिक-परिणति के कारण अद्वितीय आकर्षण की वस्तु हो गया था। मुज (वाक्पतिराज द्वितीय, उत्पलराज, अमोघवर्ष, पृथ्वी वल्लभ) १०२५ वि० स० से १०५५ विक्रमी के बीच मालवा का राजा था।[3] १०५५–५६ विक्रमी के बीच कभी उसने कल्याण के सोलकी राजा तैलप पर चढ़ाई की, पराजित हुआ और कैद होकर शत्रु के हाथों मारा गया। मुज अप्रतिम विद्यानुरागी, मर्मज्ञ, काव्यरसिक, श्रेष्ठ कवि, उत्कट वीर तथा उद्दाम शृगारिक था। उसके आकर्षक व्यक्तित्व और उन्नत स्वाभिमान

---

१ मधुसूदन मोदी का लेख 'जूना गुजराती दूहा' बुद्धिप्रकाश (गुजराती) अप्रिल-जून, १९३३ अक २ में प्रकाशित

२. पुरानी हिन्दी, पृ० १५-१६

३ मुज और भोज का काल निर्णय, डा० गौरीशकर हीराचन्द ओझा का लेख, ओझा निबन्ध सग्रह, प्रथम भाग, उदयपुर, पृ० १७४-७८

की गाथायें उसकी विचित्र मृत्यु के बाद सारे देश में छा गई होंगी। शत्रु-भगिनी मृणालवती के प्रेम में उसने प्राण गवायें, पर पृथ्वीवल्लभ की आन में फरक नहीं आने दिया। इस प्रकार के जीवन्त प्रेमी और वीर की मृत्यु के बाद न जाने कितने कवियों और लेखकों ने उसकी प्रेम गाथा को भाषा बद्ध किया होगा, ये दोहे निःसन्देह उस भाववेगाकुल काव्य-सृजन के अवशिष्ट अंश है जो मुंजराज की मृत्यु के बाद जनमानस से स्वतः फूट पड़े थे। मध्यदेश में रचित ये ही दोहे प्रबन्धचिन्तामणि और प्राकृतव्याकरण में संकलित किये गए—इन्हीं दोहों में से एक भाषा-प्रवाह में बहता हुआ सूरदास के पास पहुँचा। मेरा तो अनुमान है कि हेम व्याकरण के ६० प्रतिशत दोहे मध्यदेश के अत्यन्त लोकप्रिय काव्यों, लोकगीतों आदि से ही सकलित किये गए। इनके प्रभाव से अद्दहमाण भी मुक्त न रह सका।

मुज और मृणालवती के प्रेम के दोहे मध्यदेशीय अपभ्रंश के जीते जागते नमूने हैं। कुछ लोग इन्हें मुंज की रचना कहते हैं, यह भी असभव नहीं है।[1] मुंज के दोहे प्रबन्ध चिन्तामणि[2] और पुरातन प्रबन्ध-सग्रह[3] के मुजराज प्रबन्ध में आते हैं। प्रबन्धचिन्तामणि में मृणालवती को तैलप की भगिनी 'काराया तद्भगिन्या सह' और पुरातन प्रबन्ध सग्रह में राजा की चेटी कहा गया है (मृणालवती चेटी परिचर्या कृते युक्ता)। इसी के आधार पर एक नया दोहा भी वहाँ दिया हुआ है।

> वेसा छंडि वड्डाइतो जे दासिहिं रचन्ति
> ते नर मुज नरिंद जिम परिभव घणा सहन्ति

वार्धक्य चिन्तित मृणालवती को सान्त्वना देते हुए मुज ने यहाँ एक और भी दोहा कहा है—

> मुंज भणइ मुणालवइ केसां काइ चुयन्ति
> लद्धउ साउ पयोहरह बधण भणीय रचन्ति

इस प्रकार पुरातन प्रबन्ध सग्रह और प्रबन्ध चिन्तामणि के आधार पर मुज का एक विचित्र प्रकार का व्यक्तित्व सामने आता है जो कवि, प्रेमी, कामुक, वीर, शृंगारिक और इन सबसे ऊपर मस्त और स्वच्छन्द आदमी प्रतीत होता है। उसकी मृत्यु पर कहा हुआ यह श्लोक अत्यन्त उपयुक्त है :

> लक्ष्मीर्यास्यति गोविन्दे वीरश्रीर्वीरवेश्मनि।
> गते मुञ्जे यशःपुञ्जे निरालम्बा सरस्वती॥
>
> —प्रबन्ध चिन्तामणि

§ ५०. मुज का भतीजा भोजराज भी अपभ्रंश का प्रेमी और सस्कृत का उत्कट विद्वान् राजा था। अपने पिता सिन्धुराज की मृत्यु के बाद वि० सं० १०६७ के आस-पास गद्दी पर बैठा। भोज भी विक्रमादित्य की तरह निजधरी कथाओं का नायक हो चुका है, उसकी प्रशंसा

---

१ गुलेरी जी का 'राजा मुज-हिन्दी का कवि' पुरानी हिन्दी पृ० ४२-४४

२. दोनों पुस्तकें सिंघी जैन ग्रन्थमाला में मुनिजिनविजय द्वारा प्रकाशित

३. पुरातन प्रबन्धसग्रह पृ० १४

के श्लोक में लिखा हुआ है कि इस पृथ्वीतल पर कवियों, कामियों, भोगियों, दाताओं, शत्रुविजेताओं, साधुओं, धनियों, धनुर्धरों, धर्मधनिकों, में कोई भी नृप भोज के समान नहीं है।[1] भोजराज का सरस्वतीकंठाभरण साहित्य का महत्वपूर्ण शास्त्रग्रन्थ माना जाता है। इसमें कुछ अपभ्रंश की कवितायें संकलित हैं जो हमारे लिए महत्वपूर्ण है। हालांकि ये कवितायें प्राकृत के प्रभाव से अत्यन्त जकड़ी हुई हैं फिर भी इनमें परवर्ती भाषा का ढाचा देखा जा सकता है। सरस्वतीकंठाभरण के एक श्लोक का मैं जिक्र करना चाहता हूँ जिसमें ब्रजभाषा की दो पंक्तियां मिलती हैं—

'हां तो जो जलदेउ' नैव मदनः साक्षादय भूतले
तत्कि 'दीसइ सच्चमा' हत वपुः कामः किलः श्रूयते।
'ऐ दूए किअलेउ' भूपतिना गौरीविवाहोत्सवे
'ऐसें सच्चु जि वोल्लु' हस्तकटकः किं दर्पणे नेक्ष्यते॥

—सं० कं० भरण १। १५८

इस श्लोक में 'हा तो जो जलदेउ' 'दीसइ सच्चभा,' 'ऐ दूए किअलेउ, ऐसें सच्चु जि वोल्लु' आदि वाक्य या वाक्यार्ध तत्कलीन भाषा की सूचना देते हैं। निचले पद का रूप तो आज की भाषा के समान दिखाई पड़ता है। 'ऐसे साचु जु वोलु' यह सूर की कोई पंक्ति नहीं प्रतीत होती क्या? भोज का यह श्लोक तत्कालीन ब्रजभाषा की आरंभिक स्थिति की सूचना का प्रबल आधार है। जजलदेउ < उज्ज्वलदेव का तथा किअलेउ < कृतलेप का रूप हो सकते हैं। 'ऐसे साचु जु वोलो' तो सीधा ब्रज प्रयोग प्रतीत होता है।

§ ५१. नीचे हेमव्याकरण के अपभ्रंश दोहों की भाषा में प्रारम्भिक ब्रजभाषा के उद्‌गम और विकास चिह्नों का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

ध्वनिविचार—

§ ५२. हेम अपभ्रंश की प्रायः सभी स्वर–ध्वनियां ब्रजभाषा में सुरक्षित हैं। पश्चिमी अपभ्रंश से सम्बद्ध होने पर भी खड़ी बोली में ह्रस्व ऍ और ऑ का प्रयोग समाप्त हो चुका है। किन्तु ब्रजभाषा में खास तौर से प्राचीन ब्रजभाषा में ये ध्वनियां पूर्णत. विद्यमान हैं। अपभ्रंश में कन्तहॅ, जुज्झन्तहॅ, देन्हतॅ (४। ३७५) तहॅ (८।४।४२५) आदि में ह्रस्व ऍ और ऑ के प्रयोग हुए हैं। इसी प्रकार ब्रजभाषा में प्राय· छन्दानुरोध, के कारण ह्रस्व ऍ और ऑ के प्रयोग दिखाई पड़ते हैं। मेरिऑ पीर (घनानन्द) अवधेस के द्वारॅ सकारॅ गई (तुलसी)। अपभ्रंश ऋ के अ, आ, ए, ई और ओ रूपान्तर होते थे, जो ब्रजभाषा में भी दिखाई पड़ते हैं। तृणु, सकृदु (हेम० ८। ४। ३२९) आदि शब्दों में जिस तरह अपभ्रंश ने इसके मूल रूप को सुरक्षित रखा है, उसी प्रकार ब्रजभाषा में भी बहुत से शब्दों में ऋ के प्रयोग मिलते है जो प्राय· भक्ति-आन्दोलन और ब्राह्मण-धर्म के पुनरुत्थान के जमाने में संस्कृत शब्दों की प्रयोग-बहुलता के कारण सुरक्षित रहे, किन्तु ब्रजभाषा में इनका उच्चारण 'रि' या 'इर्' की

---

१. कविषु कामिषु भोगिषु योगिषु द्रविदेषु जितारिषु साधुषु
धनिषु धन्विषु धर्मधनेषु च क्षितितले नहि भोजसमो नृप।

पु० प्र० स० पृ० १२२।

तरह होता था (व्रजभाषा § ८८)। अपभ्रंश में प्राकृत परम्परा से स्वरों की विवृत्ति की सुरक्षा हुई है, किन्तु व्रजभाषा में अउ या अइ का 'ओ' 'औ' या 'ए' 'ऐ, हो जाता है। यह प्रवृत्ति कुछ अंशों में हेम व्याकरण के प्राकृतांश में भी दिखाई पडती है, यद्यपि अत्यन्त न्यूनांश में। 'ए (८। १। १६६<अयि) आओ (आयो=व्रज ८। २६८<आगतः) किन्तु हेम व्याकरण के अपभ्रंश भाग में यह प्रवृत्ति नहीं दिखाई पडती। फिर भी लोण (४। ४४८<लउण< लवण) तथा सोएवा (८। ४। ४३८ सउ<स्वय) तो (४। ३७६<तउ<ततः)। आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि प्राकृत वाले हिस्से में जिन शब्दों में स्वर-विवृत्ति को हटाने का प्रयत्न हुआ है, उन्हीं को बाद में सुरक्षित दिखाया गया है, इसे लिपिकार की प्रवीणता कहें या नियम की प्रतिकूलता। चौद्दह (८। १। १७१<चतुर्दश) चौद्दसी (८। १। १७१<चतुर्दशी) चोव्वारो (८। १। १७७<चतुर्वारः) यही चतुर्दश शब्द मुंज के दोहे में 'चउदहसइ' दिखाई पडता है। जो भी हो अपभ्रंश की यह यह अइ-अउ वाली प्रवृत्ति ही व्रज में ऐ और औ के रूप में दिखाई पडती है।

§ ५३. व्यंजन की दृष्टि से व्रजभाषा में लुठित सघोष 'ल्ह' सघोष अनुनासिक म्ह, न्ह आदि ध्वनिया मौलिक और महत्वपूर्ण कही जा सकती हैं। इनका भी आरम्भ अपभ्रंश के इन दोहों में दिखाई पडता है। उण्हउ (४। ३४२ <उष्ण) तुम्हेहिं (४। ३७१<*तुष्मे) अम्हेहिं (४। ३७१<*अष्मे) ण्हाणु (४। ३९९<स्नान=न्हानो, व्रज)। उल्हवइ (४। ४१६<उल्लसति) इसी तरह मेल्हइ<मेल्हइ (४। ४३०) का परवर्ती विकास हो सकता है 'ल्ल' का उच्चारण संभवतः मौलिक रूप में उतना सुकर न था इसलिए उल्लास उल्हास, आदि परिवर्तन अवश्यभावी हो गए। मैथिली के प्राचीन प्रयोगों से तुलनीय। (वर्णरत्नाकर § २२)।

§ ५४. व्रजभाषा में व्यजन-द्वित्व को उच्चारण सौकर्य के लिए सरल करके (simplification) उसके स्थान में एक व्यजन और परवर्ती स्वर को दीर्घ कर देने की प्रवृत्ति काफी प्रबल है। उदाहरण के लिए व्रज में जूठो (जुट्ट<*जुष्ट या उच्छिष्ट) ठाकुर (<ठक्कुर अप०) डाढो (डड्ढा अप०<दग्ध) तीखो (तिक्खेइ अप०<तीक्ष्ण) आदि शब्दों में यह क्षतिपूरक सरलीकरण की प्रवृत्ति दिखाई पडती है। अपभ्रंश के इन दोहों में भी यह व्यवस्था शुरू हो गई थी यद्यपि उसका विकास परवर्ती अपभ्रंश में ज्यादा हुआ।

ऊसासेंहि (४। ४३१<उच्छ्वासे), ओहट्टइ (४। ४१९<अं उं<अपभ्रश्यते) दूसासणु (४। ३९१<दुस्सासणु<दु.शासन) नीसरहि (४। ४३९<निस्सरहि<निःसरसि) नीसासु (४। ४३०<निस्सास<निःश्वास) सीह (४। ४१८<सिंह) तासु (४। ३५८<तस्स<तस्य) जासु (<जस्स<यस्य) कासु (किस्स<कस्य)। जैसा कि ऊपर निवेदन किया गया अपभ्रंश में ऐसे नियम बहुप्रचलित नहीं हुए थे इनका वास्तविक विकास १२वीं शताब्दी के बाद की आरम्भिक व्रजभाषा में दिखाई पडता है, वैसे यह भाषा विकास की एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति मानी जाती है, किन्तु ऐसे रूप प्राकृत में भी कम नहीं मिलते। प्राकृत वाले भाग में भी यह प्रवृत्ति मिलती है ऊसव (८। २। २२<उत्सव), ऊससिरो (२। १४५<उच्छ्वसनशील) ऊसारियो (२। २१<उत्सारित) कासिवो (१। ४३<कश्यप) दूहियो (१। १३<दुःखित.)।

§ ५५. हेमचन्द्र ने अपभ्रंश में अन्त्य स्वर के लोप या ह्रस्वीकरण का जिक्र किया है जैसे रेखा > रेह, धन्या > धण आदि। यह प्रवृत्ति बाद में ब्रजभाषा में और भी विकसित हुई। बाम < वामा (बिहारी) बात < वार्ता, प्रिय < प्रिया, बाल < बालिका आदि।

§ ५६. स्वर संकोच (Vowel contraction) अन्त्याक्षरों में व्यंजन ध्वनि के ह्रास या लोप के बाद उपधा स्वर (Penultimate) और अन्त्य स्वर का संकोच दिखाई पडता है। उदाहरणार्थ अधारइ (४।४३६ < अधकारे) रन्नु (४।३४१ < अरण्य) पराई (४।३५०, ३६७ < सं० परकीया) नीसावन्नु (४।३४१ < नि.सामान्यैः) चत्ताङ्कुस (४।३४५ < त्यक्ताङ्कुशः) सलोणी (४।४२० < सलावण्या) तइज्जी (४।४११ < तृतीयाः) दूरुड्डाणें (४। ३३७ < दूरोड्डाणेन)। हालांकि इस प्रकार के प्रयोग अभी शुरू ही हुए थे क्योंकि इनके अधिक उदाहरण नहीं मिलते। संदेशरासक की भाषा में ऐसे बहुत से उदाहरण प्राप्त होते हैं। ब्रजभाषा में यह प्रवृत्ति काफी प्रचलित रही है। हिन्दी ब्रज के उदाहरणों के लिए द्रष्टव्य, (हिन्दी भाषा उद्गम और विकास § ९८-१००)

§ ५७ म् और वँ के परिवर्तन—मध्यमम् का रूपान्तर प्रायः वँ होता है। जैसे कॅवलु (४। ३९७ < कमलम्) कवँलि (४।३९५ < कमलिनी) भॅवइ (४।४०१ < ममइ < भ्रमति) जेवँ ४। ४०१ < जेम = यथा) तिवँ (४ ३७५ < तिम = तथा) नीसॅवन्नु (४।३४१ < निःसामान्य) ब्रजभाषा में इसके उदाहरण साँवरो < श्यामल, कुवाँरे या कुवर < कुमार, आँवलो < आमलक आदि देखे जा सकते हैं। तुलनीय (ब्रजभाषा § १०६, में बोली के कुछ उदाहरण दिये गए हैं।)

§ ५८ मध्यग व चाहे वह मूल तत्सम शब्द से आया हो या स्वरों की विवृति से उत्पन्न असुविधा को दूर करने के लिए 'व' श्रुति के प्रयोग से आया हो अपभ्रंश के इन दोहों में 'उ' के रूप में परिवर्तित हो जाता है। उदाहरण के लिए घाउ (४।३४६ < घाव < घातः) झुणि (४।४३२ < ध्वनि) ठाउ (४।३५८ ठाव < स्थान) पसाउ (४।४३० < प्रसाव < प्रसाद) सुरउ (४।३३२ < *सुरव < सुरत) मउलिअहिं (४।३६५ मुवुलअहि < मुकुलन्ति) पिउ (४।४४२ विव < प्रियः) हेम० प्राकृत में इस प्रकार के रूप मिलते हैं। पाउओ (१। १३१ < प्रावृतम्) पाउरण (१। १७५ < प्रावरणम्) पाउसो (१। ५७ < प्रावृट्) राउल (१। २६६ < रावल < राजकुल) विउहो (१। १७७ < विवुहो < विवुध)। मध्यग व के ह्रास की यह प्रवृत्ति ब्रजभाषा में भी पाई जाती है (सन्देसरासक स्टडी § ३३)।

§ ५९ अघोष क का सघोष ग में भी परिवर्तन होता है। विगुत्ताइ (४।४२१ < वियुक्ताइ) खयगालि (< ४।४०१ < क्षयकाले) नायगु (४।४४७ > नायक) ब्रजभाषा में शकुन > सगुन, शुक > सुग्गा, लोक > लोग, भक्त > भगत, सकल > सिगरे या सगरो, रोग-शाक > रोग-सोग आदि रूप मिलते हैं। उसी प्रकार अघोष ट ध्वनि का कई स्थान पर सघोष ड में परिवर्तन होता है। घडावइ। (३।३४० < √घट्) चवेड (४।४०६ देशी < चपेट) देसुच्चाडण (४।३३८ < देशोच्चाटन) रडन्तउ (४।४४५ < रट दे०) उसी प्रकार ब्रजभाषा का घोडा < घोटक, अखाडा < अक्षवाट, कडाही < कटाह आदि रूप भी निष्पन्न होते हैं।

रूप विचार—

§ ६०. **कारक विभक्तियाँ**—कारक विभक्तियों की दृष्टि से इन दोहों की भाषा का

अध्ययन काफी महत्त्वपूर्ण और परवर्ती भाषा-विकास की कतिपय उलझी हुई गुत्थियों को खोलने में सहायक है। अपभ्रंश की सबसे महत्त्वपूर्ण विभक्ति 'हि' है जिसका प्रयोग अधिकरण और करण इन दोनों कारकों में होता था।

(क) अग्गहि अंगण मिलिउ (४। ३३२)करण
(ख) अद्धा वलया महिहिं गउ (४। ४२२)अधिकरण
(ग) नवि उज्जाण वणेंहि (४। ४२२)अधिकरण

ब्रजभाषा में 'हिं' विभक्ति का प्रयोग न केवल करण-अधिकरण में बल्कि कर्म और सम्प्रदान में भी बहुतायत से होता है। परसर्गों के प्रचुर प्रयोग के कारण जहाँ खड़ी बोली में प्राचीन विभक्तियों के अवशिष्ट चिह्नों का एकदम अभाव दिखाई पड़ता है, वहाँ ब्रजभाषा में परसर्गों के प्रयोग के साथ प्राचीन विभक्तियों के विकसित रूपों का प्रयोग भी सुरक्षित रहा। खड़ी बोली में कर्म—सम्प्रदान में 'को' 'के लिए' आदि के साथ 'हिं' का कोई प्राचीन रूप नहीं मिलता।

ब्रजभाषा में 'हि' के कुछ उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं।

(क) रावेंहिं सखी बतावत री (सूर[1]० ३५५८)—कर्म
(ख) सूर हमहिं पहुँचाइ मधुपुरी (सूर० ३४७१)—कर्म
(ग) राज दीन्हो उग्रसेनहिं (सूर० ३४८५)—कर्म सम्प्रदान
(घ) ले मधुपुरिहिं सिधारे (सूर० ३५६४)—अधिकरण
(ङ) धरयो गिरिवर बाम कर जिहिं (सूर० ३०२७)—करण

न केवल ब्रजभाषा मे ये पुरानी विभक्तियाँ सुरक्षित हैं बल्कि इनके प्रयोग की बहुलता दिखाई पड़ती है, साथ ही एकाधिक कारकों में इसका स्वच्छन्द प्रयोग दिखाई पड़ता है, परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ट में तो इसका प्रयोग अत्यन्त स्वच्छन्द हो ही गया था, जिसे डा० चाटुर्ज्या के शब्दों में काम चलाऊ सर्वनिष्ठ विभक्ति (A sort of made up of all work) कह सकते है, इन अपभ्रंश दोहों की भाषा में भी इस के प्रयोगों में दिखाई पड़ती है। ऊपर अधिकरण और करण के उदाहरण दिये गए हैं। चतुर्थी और द्वितीया में इसके प्रयोग के उदाहरण नहीं मिलते, किन्तु हेमचन्द्र ने चतुर्थी के परसर्गों 'केहि और रेसि' के उदाहरण में चतुर्थी-अर्थ मे 'हि' का प्रयोग किया है।

तुट्टे पुणु अन्नहिं रेसि ४। ४२५ (अन्य के लिए)

इस प्रकार के प्रयोग बाद में कुछ परसर्गों के साथ और कुछ बिना परसर्ग के भी 'हि' विभक्ति द्वारा चतुर्थी का अर्थ व्यक्त करने लगे होंगे।

§ ६१. हेम व्याकरण के अपभ्रंश दोहों की भाषा में एक विशिष्टता यह भी दिखाई पड़ती है कि परसर्गों का प्रयोग मूल शब्दों के साथ नहीं बल्कि सविभक्तिक पदों के साथ सहायक शब्द के रूप में होता है। अर्थात् 'रेसि' परसर्ग चतुर्थी मे 'अन्नहि' यानी सविभक्तिक पद के साथ प्रयुक्त हुआ है। वैसे ही अन्य परसर्ग भी।

१—पदों की संख्या, काशी नागरी प्रचारिणी सभा के सूरसागर प्रथम संस्करण २००७ वि० के आधार पर दी गई है।

(क) जसु केरउ हुकारडए (४।४२२) षष्ठी
(ख) जीवहिं मज्झे एहि (४।४०६) सप्तमी
(ग) अह भग्गा अम्हहं तणा (४।३६१) षष्ठी

यहाँ परसर्गों के पहले तसु, जीवहिं, अम्हह, तेहिं आदि पूर्ववर्ती पद सविभक्तिक हैं। ब्रजभाषा में निर्विभक्तिक या मूल शब्दों के साथ परसर्गों के प्रयोग बहुत मिलते हैं, किन्तु सविभक्तिक पदों के साथ भी इनके प्रयोग कम नहीं हैं।

(क) तब हम अब **इनहीं की** दासी (सूर ३५०१)
(ख) हिरदै माझ बतायौ (सूर ३५१२)
(ग) धिक **मो कौं** धिग मेरी करनी (सूर ३०१३)

इस प्रकार सविभक्तिक रूपों के अलावा ब्रजभाषा में विकारी रूपों के साथ परसर्गों के विविध प्रयोग दिखाई पडते हैं। इनमें प्रथमा, द्वितीया के 'इनि' प्रत्यय वाले नैननि कौं, कुञ्जनि तैं आदि बहुवचन के रूपों का बाहुल्य दिखाई पडता है। यह प्रवृत्ति बाद के अपभ्रंश-पिंगल से विकसित होकर ब्रज में पहुँची।

§ ६२. **परसर्ग**—नव्य आर्य-भाषाओं की विश्लिष्टता-प्रधान प्रवृत्ति के विकास में परसर्गों का महत्त्वपूर्ण योग माना जाता है। वैसे परसर्गों का प्रयोग अपभ्रश काल में ही पुष्ट हो गया था किन्तु मध्य आर्यभाषा के अन्त तक इनका प्रयोग कारकों के सहायक शब्द के रूप में ही होता था। बाद में ध्वनि-विकार और बलाघात के कारण इनके रूपों में शीघ्रगामी परिवर्तन उपस्थि हुए और ये टूट-फूट कर द्योतक शब्द मात्र रह गए और आज तो इनकी अवस्था इतनी बदल गई है कि इनके मूल का पता लगना भी केवल अनुमान का विषय रह गया है। हेम-व्याकरण के अपभ्रश दोहों में प्रयुक्त परसर्गों में से अधिकाश किसी न किसी रूप में ब्रजभाषा में सुरक्षित हैं, यह अवश्य है कि इस विकासक्रम में इनके रूपों में अद्भुत विकास या विकार दिखाई पडता है। नीचे दोनों के तुलनात्मक उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं—

(१) जसु केरउ हुकारडए (४।४२२)
(२) तुम्हह केरउ धण (४।३७३)
(३) जटे केरउ, तहे केरउ (४।३५९)

यह केरउ, जिसकी उत्पत्ति सस्कृत कार्य>कज्ज>कौ, केरउ आदि मानी जाती है, को का, कै, की के रूप में ब्रजभाषा में वर्तमान है।

(१) वह सुख कहीं **काकै** साथ (सूर ३४१९)
(२) हंस काग **कौ** सग भयौ (सूर ३४१८)
(३) मधुकर राखि जोग **की** बात (सूर ३८९३)

अधिकरण के परसर्गों में हेमचन्द्र ने मज्झे के प्रयोग बताये हैं। मज्झे के ही रूपान्तर माँहि, मह या माझ होते हैं। यह मज्झे मध्य का विकसित रूप है। इन दोहों में मज्झ के तीन प्रयोग मज्झहे (४।१५०) मज्झे (४।४०६) और मज्झे (४।४४०) हुए हैं। ब्रजभाषा के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

(१) हिरदै **माँझ** (सूर० ३५१२)
(२) हिरदै **माँझ** बतायौ (सूर० ३५१२)
(३) ज्यों जल **मांहि** तेल की गागर (सूर० ३३३५)

इसी का परवर्ती विकास 'में' के रूप मे भी दिखाई पडता है। अधिकरण में एक दूसरे परसर्ग 'उप्परि' का भी प्रयोग हुआ है।

सायरि उप्परि तृण धरेइ ४।३३४

इस उप्परि के ऊपर, पर, पै आदि रूप विकसित हुए जिनके प्रयोग ब्रजभाषा में प्राप्त होते हैं।

१—मदन ललित वदन **उपर** वारि डारे (सूर० ८२३)

२—पुनि जहाज **पै** आवै (सूर० १६८)

३—आपुनि पौढ़ अधर सेज्या **पर** (सूर० १२७३)

सम्प्रदान के परसर्ग केहि' का 'कहै', 'कों' आदि रूप भी ब्रजभाषा में प्रयुक्त हुआ है किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण विकास तणा या तणेण परसर्ग का है जो ब्रजभाषा में तैं या त्यो के रूप में दिखाई पडता है। हेम व्याकरण मे ये कुल आठ बार प्रयुक्त हुए हैं।

१—तेहि तणेण (४। ४२५) करण

२—अह भग्गा अम्हह तणा (४। ३७६) सम्बन्ध

३—वड्डुतणहो तणेण (४। ४३७) सम्प्रदान

अपभ्रंश मे यह परसर्ग करण, सम्प्रदान और सम्बन्ध इन तीन कारकों में प्रयुक्त होता था, इसी का परवर्ता विकास तणेण>तने, तैं के रूप मे हुआ। ब्रजभाषा में तै और त्यों का प्रयोग होता है। ब्रज में इसका अपादान में भी प्रयोग होता है।

१—लच्छा गृह **तें** काढि कै (अपादान)

२—तुव सराप **तै** मरिहैं (करण)

३—भीर के परे **तैं** धीर सबहिन तजी (करण)

तण का 'तन' प्रयोग ओर के अर्थ में भी चलता है। हम तन नहीं पेखत (२४८४) हमारी ओर नहीं देखते।

अपभ्रंश के कारण का सहुँ परसर्ग बाद मे सउँ>सौ के रूप मे ब्रज मे प्रयुक्त हुआ।

१—मइ सहुँ नवि तिल तार (४। ३५६ हेम०)

२—जइ पवसन्तें सहुँ न गय (४। ३१६ हेम०)

यहाँ सहुँ का अर्थ मूलतः सह या साथ ही है, उसका तृतीया का 'से' अर्थ बोध तबतक प्रस्फुटित नहीं हुआ था, बाद में इसने साथ सूचक से कर्तृत्व सूचक रूप ले लिया।

(१) कासौ कहैं पुकारी (सूर ३६८७)

(२) हरि सौं मेरो मन अट्क्यो (सूर ३५८५)

(३) अब हरि कौने सौ रति जोरी (सूर ३३६१)

सर्वनाम—

§ ६३ हेम-व्याकरण-अपभ्रश के सर्वनामों में न केवल ऐसे रूप है जो ब्रजभाषा के सर्वनामों के निर्माण में सहायक हुए बल्कि कई ऐसे प्रयोग है जिन्होंने ब्रजभाषा में विचित्र प्रकार के साधित सर्वनाम रूपों को जन्म दिया। ब्रजमे सर्वनाम जिस, तिस, किस प्रकार के नहीं बल्कि जा, ता, का प्रकार के साधित रूपो से बनते है। नीचे अपभ्रंश और ब्रजभाषा मे सर्वनामिक रूपों के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते है। पुरुषवाचक सर्वनाम के उत्तम पुरुष के हउ और मइ के दो रूप हेम व्याकरण मे प्राप्त होते है। हउ के १३ प्रयोग और मइ के १५

प्रयोग हुए हैं। यानी दोनों प्रकार के रूप बराबर-बराबर के, अनुपात में मिलते हैं, यही परिस्थिति लगभग ब्रजभाषा में भी है।

(१) हउ झिज्जउ तउ केंहि पिय (४।४२०)
(२) ढोला मइ तुह वारियो (४।२३०)
(३) हौ प्रभु जनम जनम की चेरी (सूर० ४१७२)
(४) हौं बलि जाउ छबीले लाल की (सूर० ७२३)
(५) मैं जानति हौं ढीठ कन्हाई (सूर० २०४२)

हेम व्याकरण की भाषा के अम्हे (४।३७६) अम्हेंहि (४।३७१) आदि रूपों से ब्रज का 'हम' रूप विकसित हो सकता है। अम्हेहि की तरह ब्रज का विभक्ति सयुक्त रूप हमहिं दिखाई पडता है।

ब्रजभाषा के मो और मोहि रूप इन दोहों में प्राप्त नही होते किन्तु प्राकृताश में अस्मद् के मो रूपान्तर का वर्णन मिलता है। 'अस्मदो जसा सह एते षडादेशा भवन्ति। अम्ह, अम्हे, अम्हो, मो, वयं, भो, भणामो (हेम ३।१०६) ब्रज में मो और मोहि दोनों के उदाहरण मिलते हैं। मो विकारी साधित रूप कहा जा सकता है जिसमें परसर्गों का, मोकौ, मोसौ, मोपै आदि प्रयोग हुआ है।

(१) मो सौ कहा दुरावति प्यारी (३२८७ सूर०)
(२) मो पर ग्वालिनि कहा रिसाति (१६५१)
(३) मो अनाथ के नाथ हरी (२४६)
(४) मो तैं यह अपराध परयो (२७१६)
(५) मोंहि कहत जुवती सब चोर (१०२६)

मध्यपुरुष के तुहुं < *तुष्म (४।३३०) तइ (४।३७०), तुम (४।३८८), तउ (४।३५८), तुज्झ (४।३६७) आदि रूप मिलते हैं। इसमें तुहुं तइ तैं, तुम, तू, तो, तउ, तुझ आदि का ब्रजभाषा में ज्यों का त्यों प्रयोग होता है।

(१) तब तैं गोविन्द क्यों न सभारे (३३४)
(२) तव तू मारबोई करत (३७५६)
(३) तुम अब हरि को दोष लगावति (१६१२)
(४) तो सौं कहा धुताई करिहौ (११५५)
(५) तोहि किन रूठन सिखई प्यारी (३३७०)

मध्यपुरुष के इन सर्वनामों के प्रयोग आश्चर्यजनक रूप से अपभ्रश दोहों के प्रयुक्त सर्वनामों से मिलते-जुलते हैं। अन्यपुरुष के सर्वनामो के सस्कृत स वाले 'तद्' के रूपों में त (४।३२०) तेण (४।३६५) तासु (४।४०१) सो (४।३८४) सोइ (४।४०१) तसु (४।३३८) ताह (४।३५०) तें अग्गिं (४।३८३) आदि के प्रयोग हुये हैं। खडी बोली मे अन्यपुरुष में वे, वह, उसने आदि रूप चलने लगे हैं। ब्रज में भी इनके प्रयोग हुए है। किन्तु ब्रजमें अपभ्रश के इन प्राचीन रुपो की भी सुरक्षा हुई है।

(१) सोइ भलो जो रामहि गावै (२३३)
(२) सो को जिहि नाहीं सचुपायौ (४१५४)

(३) धाइ चक्र लै ताहि उबारयो (सूर)
(४) अर्जुन गये गृह ताहिं (सूर० सारा०)
(५) तासौं नेह लगायो (सूर)

वे,उन आदि रूपों के लिए भी हम अपभ्रश का 'ओइ' सर्वनाम देख सकते हैं—

(१) तो वड्डा घर ओइ (४।३६४)
(२) वे देखो आवत दोऊ जन (३६५४ सूर० सा०)
(३) वह तो मेरी गाइ न होइ (२६३३ सूर० सा०)

सर्वनामों की दृष्टि से व्रजभाषा की सबसे बडी विशिष्टता उसके साधित रूप हैं। जिनमें परसर्गों के प्रयोग से कारकों का निर्माण होता है, ताकौ, वाकौ, जाकौ, ताने, वाने, आदि रूप। इस प्रकार के रूपों का भी आरम्भ अपभ्रंश के इन दोहों की भाषा में दिखाई पडता है।

जा वप्पी की भुइहडी (४।३९५)

इसी जा में को, सौं, तै आदि के प्रयोग से जाकौ, जातै, जासौं आदि रूप बनते हैं। जा के अलावा सबन्धवाचक 'यद्' के अन्य भी रूप अपभ्रश से व्रज में आये। जिनमें जो (४।३३०) जेण (४।४१४) जास (४।३५८) जसु (४।३७०) जाहं (४।३५३) आदि रूप महत्वपूर्ण है। इनके व्रज में प्रयोग निम्नप्रकार होते है।

(१) घर की नारि बहुत हित जासौं (सूर)
(२) जासु नाम गुन गनत हृदय तें (सूर)
(३) जा दिन तें गोपाल चले (४२६२)

प्रश्नवाचक सर्वनाम कवण (४।३५०) कवणु (४।३९५) कवणेए (४।३६७) क्रमशः कौन, कोनो और कवनें का रूप लेते हैं। ये सर्वनाम व्रजभाषा में बहुतायत से प्रयुक्त हुये हैं।

(१) कौन परी मेरे लालहिं बानि (१८२६)
(२) कौने बाध्यो डोरी (सूर)
(३) कहौ कौन पै कढ़त कनूकी (सूर)
(४) किन नभ बाध्यो झोरी (सूर)

सर्वनामिक विशेषण—

§ ६४. पुरुषवाचक और निजवाचक इन दो प्रकार के सर्वनामोंको छोड़कर बाकी सभी प्रकार के सर्वनाम विशेषणवत् प्रयुक्त हो सकते हैं। फिर भी बाद वाले दो मुख्य सर्वनाम विशेषण जाने माते हैं।

अइसो (४।४०३ <ईदृशः) यह प्रकार-सूचक सर्वनामिक विशेषण है। दूसरे परिमाण सूचक एवड्ड (४।४०८ <इयत्) तथा एत्तुलो (४।४०८ <इयान्) हैं। अइस के ऐसा, ऐसे, ऐसो रूप बनते हैं जबकि एत्तुलो से एतौ, इती, इतनी, आदि।

(१) एतौ हठि अब छाडि मानि री (सूर०३२११)
(२) तुम बिनु एती को करै (व्रज कवि)
(३) ऊधौ इतनी कहियो जाइ (सूर० ४०५६)
(१) ऐसो एक कोट कौ हेत (सूर० ४५३७)

(२) ऐसेई जन धूत कहावत (सूर० ४१४२)
(३) ऐसी कृपा करी नहि काहू (सूर० ११८७)

पूर्ण सख्या वाचक लक्खु (४।३३२ लाखो-ब्रज) सएण (४।३३२, से, ब्रज) दुहुँ (४।४४० दूनो) दोण्णी (४।३४० दूनी) एक्कहिं (४।३५७ एकहिं) पचहिं (४।४२२ पाँचहिं) चउद्दह (१।१७१ चौदह) चउत्तीस (३।१२७ चौतीस) आदि कुछ महत्त्वपूर्ण प्रयोग हैं जो ब्रज में ज्यों के त्यों अपनाये गए।

२—क्रम सख्या वाचक पढयो (१।१२५ प्रथम) तइज्जी (४।३३६ तीजी) चउत्थी (१।१७१ चौथी)।

३—अपूर्ण सख्यावाचक—अद्धा (४।३५३ आधो)

४—आवृत्ति संख्याका उदाहरण चउगुणो (१।१७६ चौगुनो) प्राकृताश में प्राप्त होता है।

§ ६५ क्रियापद

(क) ब्रजभाषा क्रिया का सबसे महत्त्वपूर्ण रूप भूतकाल निष्ठा रूप है जो अपनी ओकारान्त विशिष्टता के कारण हिन्दी की सभी बोलियों से अलग प्रतीत होता है। चल्यो, गयौ, कह्यौ आदि रूपों में यह विशिष्टता परिलक्षित होती है। अपभ्रंश के इन दोहों की भाषा में भी भूतकाल के यही रूप प्रयुक्त हुए हैं।

(१) ढोला मइ तुहुँ **वारियो**[1] (४।३३०।१)
मानत नाहिन **वरज्यो** (सूर २३१७)
मिल्यो धाइ **वरज्यो** नहिं मान्यो (सूर २२८३)
(२) अगहि अग न **मिलिउ** (मिल्यो ४।३३२।२)
(३) असइहिं **हसिउं** निसक (हस्यो ४।३६६।१,)
(४) हियडा पइ एहु **बोल्लिओ** (४।४२२।११)
(५) मइ **जाणिउं** (४।४२३।१)
(६) मैं **जान्यौ** री आये हैं हरि (३८८०)
(७) हउ झिज्झउ तव केंहि पिय (४।४२५।१)
(८) अञ्जलि के जल ज्यों तन **छीज्यो** (सूर)

स्त्रीलिंग भूत कृदन्तज निष्ठा रूपों के प्रयोग में भी काफी समानता है। नीचे कुछ विशिष्ट रूप ही दिये जा रहे हैं।

(१) सुवन्न देह कसवट्टहिं **दिण्णी** (४।३३०)
(२) प्रीति कर **दीन्ही** गले छुरी (सूर ३१२५)
(३) हउ रुट्टी (४।४१४।४) (रूठी)

(ख) अपभ्रश में सामान्य वर्तमान के तिडन्त रूपों का ब्रजभाषा में सीधा विकास दिखाई पडता है। वर्तमान खडी बोली में सामान्य वर्तमान में कृदन्त और सहायक क्रिया के सयोग से सयुक्त क्रिया का निर्माण और प्रयोग होता है, यहाँ खडी बोली ने अपभ्रश की पुरानी

---

१. तीन प्रतियों के आधार पर सम्पादित व्याकरण की दो प्रतियो में वारियो पाठ है एक में वारिया, प्राकृत व्याकरण पृ० ५६५

परम्परा को छोड दिया है। किन्तु व्रज में वह पूर्ववत् सुरक्षित है। केवल अन्तिम संप्रयुक्त स्वरों को सयुक्त करके अइ>ऐ या अउ>औ कर दिया जाता है।

(१) निच्छइ रूसइ जासु (४।३५८)
निहिचै रूसै जासु
(२) तलि घल्लइ रयणाइ (४।३३४)
मातु पितु सकट घालै (सूर० ११३१)
(३) उच्छगि धरेइ (वरै) (४।३३६)
(४) जो गुण गोवइ अप्पणा
लाजनि अखियनि गोवै (सूर ६६५)
(५) हउ बलि किज्जउं (४।३३८)
(६) हौं वलि जाउं (सूर० ७२३)

बहुवचन में प्रायः हि विभक्ति चलती है जो व्रजभाषा में भी प्राप्त होती है।

मल्ल जुज्झ ससि राहु करहिं (४।३८२)

पूरी पक्ति जैसे व्रजभाषा की ही है। व्रज में यही अहिं>अइं होकर एँ हो जाता है जो चलैं करैं आदि में मिलता है।

(ग) भविष्यत् काल में व्रजभाषा में ग-वाले रूपों की अधिकता दिखाई पडती है किन्तु 'ह' प्रकार के रूप भी कम नहीं हैं जो ष्यति>स्सइ>हइ>है के रूप में आए। अपभ्रंश में हइ वाले रूप प्राप्त होते है।

'निहए गमिही रत्तडी' का गमिही गमिहै होकर व्रज में प्रयुक्त होता है किन्तु अधिकांशत:, जाइहै (गमिहै का रूपान्तर जाइहै) का प्रयोग होता है। आगे कुछ समता सूचक रूप दिये जाते है—होहिइ (४।३३८ होइहै) हेमचन्द्र ने प्राकृतांश मे स्पष्टतः भविष्य के लिए इहि का प्रयोग किया है।

'भविष्यति डज्झिहिइ, डहिहिइ' (२।४।२४६)

इस डहिहिइ का रूप डहिहै व्रज में अत्यन्त प्रचलित है। उसी तरह पठिहिइ (अ० १७७ पढिहै)।

(घ) नव्य आर्य भाषाओं में सयुक्त क्रिया का अपना अलग ढग का विकास हुआ है। भूत कृदन्त असामयिका क्रिया तथा क्रियार्थक क्रियापदों तथा अन्य क्रिया के तिङन्त रूपों की मदद से ये रूप निष्पन्न होते हैं।

पहिय रडन्तउ जाइ (४।४४५)
कुछ कह्यो न जाइ (सूर)
तुम अलि कासो कहत बनाइ (सूर ३६१७)

भूतकालिक से—

भग्गा घर एन्तु (४।३५१)
नैना कह्यो न मानत (सूर)
बहे जात माँगन उतराई (सूर)

पूर्वकालिक से—

(१) बाहूँ विछोडवि जाहि तुंह (४।३३५)
(२) बाह छुडाये जात हौ (ब्रज)
(३) तिमिर डिम्भ खेलन्ति मिलिय (४।३८२)
(४) चितै चलि ठिठुकि रहत (सूर० २५८५)

क्रियार्थक संज्ञा सें—

(१) तिंवुवाणु करन्त (४३११।१)
(२) खेलन चली स्यामा (सूर० ३६०७)
(३) इन द्यौसनि रुसनो करति (२८२६)

(ङ) संयुक्तकाल के रूप अपभ्रंश के इन दोहों में प्राप्त होते हैं जो आगे चलकर हिन्दी (खडी ब्रजादि) में बहुत प्रचलित हुए—

भूत कृदन्त के साथ भू या अस् के बने रूपों के प्रयोग—

(१) करत म अच्छि (हेम० ४।३८२) मत करता हो
(२) बाल सघाती जानत है (सूर० २३२७)
(३) स्यामसग सुख लूटति हौ (सूर० २२१२)

§ ६६ **क्रिया विशेषण** आश्चर्यजनक रूप से एक-जैसे प्रतीत होते हैं। किञ्चित् ध्वनि-परिवर्तन अवश्य दिखाई पडता है।

कालवाचक—

अज्ज (४।४१४ < अद्य = आज) एवहि (४।३८६ < इदानीम् = अवहि) जाँव (४।३६५ यावत् = जाम, ब्रज) तो (४।४३६ < तत' = ब्रज तौ) पच्छि (४।३८८ पश्चात् = पाछे) ताव (४।४४२ तावत् तौ)।

स्थानवाचक—

कहिं (४।४२२ कुत्र = ब्रज कहीं) कहिं वि (४।४२२ कहीं भी) जहिं (४।४२२ यत्र = जहिं ब्रज) तहिं (४।३५७ तत्र = तहिं, तहाँ)।

रीतिवाचक—

अइसो (४।४०३ ईदृश. = ब्र० ऐसो) एउ (४।४३८ एतत् = ब्र० यों) जेव (४।३६७-यथा = ज्यों ब्रज) जिवं (४।४३० ब्र० जिम) जिव-जिवं (४।३४४ जिमि-जिमि ब्र०) जि (४।२३ ब्रज जु) तिवं (४।३७६ = ब्रज० तिमि) तिव-तिवं (४।३४४ तिमि-तिमि-ब्रज०)।

शब्दावली—

§ ६७. अपभ्रंश में प्रायः दो प्रकार के शब्दों की बहुलता है। संस्कृत के तत्सम शब्दों के विकृत यानी तद्भव और दूसरे देशज शब्द। तद्भव शब्दों का प्रयोग प्राकृत की आरम्भिक अवस्था से ही बढ़ने लगा था। तद्भव शब्दों में ध्वनि परिवर्तन तथा अवशिष्ट स्वरों की मात्रा में ह्रासलोपादि के कारण मूलसे काफी अन्तर दिखाई पडता है, ऐसे शब्दों की संख्या काफी बडी है। इनका कुछ परिचय ध्वनि-विचार के सिलसिले में दिया गया है। किन्तु तद्भव शब्दों से देशज शब्दों का कम महत्त्व नहीं है। ये शब्द जनता में प्रयुक्त होते थे और उनके किञ्चित् परिष्कृत रूप भाषा की गठन और व्याकरणिक ढाँचे के अनुसार कुछ परिवर्तित होकर

प्रयोग में आते थे। हेम व्याकरण के दोहों में प्रयुक्त इन शब्दों की संख्या भी कम नहीं है, वैसे हेमचन्द्र ने इन शब्दों के महत्त्व को स्वीकार करके अलग देशीनाममाला[1] में इनका संकलन किया।

§ ६८. नीचे प्राकृत व्याकरण के महत्त्वपूर्ण तद्भव और देशज के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं। इन शब्दों में से कुछेक की संस्कृत व्युत्पत्ति भी ढूँढ़ी जा सकती है।

ओक्खल	१।१७७	ओखरी	(सूर० को०[2] १७६)
कुम्पल	१।२६	कोंपल और कोंप	(सूर० को० ६५)
खाइ	४।४२४	खाई	चहुदिस खाई गहिर गभीर (प्र० चरित)
खोडि	४।४१६	खोरि, त्रुटि	मेरे नयननि ही सब खोरि (सूर)
गड्डो	२।३५	गड्ढा	गडहा, गड्ढ (सूर० को० ३६८)
घुग्घिउ	४।४२३	घुड़की	घुघुआना (सूर० को० ४५६) दियौ तुरत नौवा कौं घुरकी (१०।१८०)
चूडल्लउ	४।३६५	चूड़ी	(सू० को० ५२३)
छइल्ल	४।४१२	छैला	छैलनि को संग यो फिरैं (सूर १।४४)
छुच्छ	२।२०४	छूछा	छूछी छाडि मटकिया दधि की (१०।२६०) प्रश्न तुम्हारे छूछे
झुम्पडा	४।४१६	झोंपड़ा	(सूर० को० ६८)
डाल	४।४४५	डाल, डार	एक डार के से तोरे (३०५६) नवरग दूलह रास रच्यो (कुंभनदास ३८)
तिरिच्छी	४।४१४	तिरछी	तिरछै है जु अरै (सूर)
थू	२।२००	कुत्साया निपातः	थूथू
थूणा	१।१२२	थूनी	बहु प्रयुक्त
नवल्ली	२।१६५	नवेली	नवेली सुनु नवल पिय नव निकुन है री (३०७१)
नवखी	४।४२०	नोखी	कैसी वुद्धि रची है नोखी (सूर २१६०)
पराई	४।३५०	परकीया	नारि पराई देखिकै (सू० सा० २१६५)
वप्पुडा	४।३८०	वापुरो	कहा वापुरो कचन कदली (कुंभन १६८)
लट्ठी	१।२४०	लाठी	लाठीं कबहु न छाडिये (गिरधरदास)
लोहडी	४।४२३	लुगरी	बहु प्रयुक्त लुगरी
विहाण	४।३३०	विहान	विहान, सवेरा
सलोणी	४।४२०	सलोनी	कहाँ तै आई परम सलोनी नारी (सू० सा० २१५६)

---

१. देशी नाममाला, द्वितीय संस्करण, सं० श्री परवस्तु वेंकट रामानुजस्वामी, पूना, १९३८

२. व्रजभाषा सूर कोश, सं० प्रेमनारायण टंडन, लखनऊ, २००७ सम्वत्

§ ६६. हेमचन्द्र ने लोक अपभ्रंश में प्रयुक्त होनेवाले देशी शब्दों का एक संग्रह देशी नाममाला में प्रस्तुत किया है। इस शब्द-संग्रह में बहुत से ऐसे शब्द हैं जो ब्रजभाषा में प्रयुक्त होते हैं। नीचे उन शब्दों की संक्षिप्त सूची दी गई है। साथ ही इन शब्दों के परवर्ती रूपों का ब्रजभाजा में प्रयोग भी दिखाया गया है।

अग्घाण	१।४१६	निद्रा अति न अघानौ (१।४६ सूर० सा०)
अगालियं	१।२८	अगारी, इक्षुखण्ड
अच्छ	१।४६	अत्यर्थम्, सारग पच्छ अक्छ सिर ऊपर (साहित्य ल० १००)
अम्मा	मा	
आइप्पण	१।७८	ऐपन की सी पूतरी सखियन कियो सिंगार (सूर० १०।४०)
उक्खली	१।८८	ऊखल, ओखरी (ब्रज० सूर कोश)
उग्गाहिअ	१।१३१	उगाहना—हाट बाट सब हमहि उगाहत अपणो दान जगात (सूर १०८७)
उज्जड	१।६६	ऊजर, ज्यो ऊजर खेरे के देवन को पूजै कौ मानै (सूर ३३०६)
उद्दिडो	उडद	
उड्डशो	१।६६	ऊडस (मत्कुण)
उव्वरिय	१।३२	उबरना, बचना (अधिकम्) उबरो सो ढरकायो (सूर ११२८)
उव्वाओ	१।१०२	खिन्नः ऊबना (सूर० को)
ओसारो	१।१४६	गोवाट. (सूर कोश १८३)
ओहट्टो	१।१६६	ओहार, परदा (सूर कोश १८३)
कट्टारी	२।४	छुरिका (सूर कोश १९६)
कतवारो	२।११	तृणाद्युत्कर, (सूर कोश २००)
करिल्लं	२।१०	वशांकुर, करील की कुजन ऊपर (रसखानि)
कल्होडी	२।६	वत्सरी, बछिया (सूर कोश २२६)
काहारो	२।२७	कँहार, पानी लाने वाला (सूर० को० २३५)
कुडय	२।६३	कुडा मिट्टी का वर्तन (सूर कोश ३७६)
कुल्लड	२।६३	कुल्हड, मिट्टी का पुरवा (सूर कोश ३७६)
कोइला	२।४६	कोयला, (सूर० को० ३०१) कोयला भई न राख (कबीर)
कोल्हुओ	२।६५	इक्षुनिपीडनयन्त्रम्, कोल्हू (सूर कोश ३०१)
खणुमा	२।६२	खिन्न मनस्, न्याय के नहि खुनुस कीजै (सूर १।१६६)
गगरी	२।३६	जलपात्रम्। ज्यो जल में काची गगरि गरी (सूर० १०।१२०)

गुत्ती	२।११०	शिरोबन्धनम्। पाटाम्बर गाती सब दिये (सूर)
गोच्छा	२।६५	गुच्छा (सूर० को० ४००)
गोहुरं	२।६६	गोहरा (सूर० को० ४३४)
घग्घर	२।१०७	जघनस्य वस्त्रभेद : घघरा मोहन मुसुकि गही दौरत में छूटी तनी छुद रहित घाघरी (२६३६)
घट्टो	२।१११	नदीतीर्थम्। घाट खर्यो तुम यहै जानि के (सूर)
घम्मोह	२।१०६	गुण्डुत्सजतृणम् (सूर० कोश ४४६)
चंग	३।१	चंगा, ठीक,। रही रीझ वह नारि चंगी (सूर)
चाउला	३।८	चावल, ब्रज० चाउर (सूर० कोश० ४६६)
चोट्टी	३।१	चोटी, मैया कब बढ़िहै मेरी चोटी (सूर)
छइल्लो	३।२४	छैला, छैलनि के संग यो फिरै जैसे तनु संग छाई (सूर० १।४४)
छलियो	३।२४	छलिया, जिन चखनि छलियो बलि राजा (१०।१४१)
छासी	३।२४	छाछ, भये छाछ के दानी (३३०२)
छिण्णालो	३।२६	छिनाल, जारः। चोरी रही छिनारौ अब भयो (सूर, ७७३)
झंखो	३।५३	झंख, झखत यशोदा जननी तीर (१०।१६१)
झडी	३।५३	निरन्तरवृष्टिः, (सूर० को० ६४८) ब्रजपर गई नेक न झारि (६७३)
झाड	३।५७	लतागहनम् (सूर को० ६५१)
झिल्लिरिआ	३।६२	झिल्ली (सूर को० ६६१)
झोलिआ	३।५६	झोली, बटुआ झोरी दोऊ अधारा (३२८४)
ढल्लो	४।५	निर्धनः, बेकार, ऐसी को ढाली बैसी है तौ सौ मूड चढ़ावै (३२८७)
डोला	४।११	शिबिका, (सूर को० ७२४)
डोरो	३।५८	सूत्रम्, डोरा। तोरि लयौ कटिहू को डोरो (सूर २।३०)
पप्पीओ	६।१३	बहुत दिन जीओ पपीहा प्यारे (सूर)
फग्गु	६।८२	फाग, हरि संग खेलन फागु चली (सूर० २१८३)
बप्पो	६।८८	बाप, बाबा। बाबा मो को दुहुन सिखायो (सूर १२८५)
बाउल्लो	७।५६	बावरी, बावरी बावरे नैन, बावरी कहाँ धौं अब बौंसुरी सौं तू लरै (सूर १६०८)

§ ७०. इस प्रसंग में हेमचन्द्र के व्याकरण में प्रयुक्त देशी धातुओं का भी विचार होना चाहिए। अपभ्रंश में कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देशी क्रियाओं का इस्तेमाल हुआ है, जो

ब्रजभाषा में भी दिखाई पडती हैं, इनमें से कुछ क्रियायें तो इतनी रूपान्तरित हो चुकी हैं कि उनका ठीक मूल रूप जानना भी कठिन है, कुछ क्रियाओं के हम संस्कृत मूल ढूँढ़ने का प्रयत्न भी करने लगते हैं और प्राचीन भाषा में ठीक कोई शब्द न पाकर किसी सभावित (हाइपोथेटिकल) रूप की कल्पना भी करने लगते हैं। किन्तु ब्रज में प्रयुक्त बहुत-सी देशी क्रियायें शौरसेनी अपभ्रंश की रचनाओं में प्राप्त होती हैं, हम इसके आधारपर इन प्रयोगों की प्राचीनता तो देख ही सकते हैं। नीचे हेम व्याकरण में प्रयुक्त कुछ क्रियाओं के प्रयोग और उनके ब्रज समानान्तर रूप उपस्थित किये जाते हैं।

अग्घाइ	(पूर)	४।१६९	अग्घवइ
अच्छ	(आस्ते)	४।४०६	आछे
घल्लइ	(क्षिपति)	४।३३४	घालनो
चडइ	(आरोहित)	४।४४५	चढ़नो
चुक्कइ	(भ्रश्यते)	४।१७७	चूकनो
छड्डइ	(मुञ्चति)	४।४२२	छाडनो
छङ्खइ	(विलपति)	४।४२२	झखनो
झल्लकियउ	(सततम्)	४।३९६	झार लगना, जलना
तड्डफडइ	(स्पन्दते)	४।३६६	तडफडानो
थक्कइ	(तिष्ठति)	४।३७०	थकनो
पहुचइ	(प्रभवति)	४।३००	पहुँचनो
विरमालइ	(मुच्यते)	४।१९३	विरमानो
विसूरइ	(खिद्यति)	४।४२२	विसूरनो

पदविन्यास—

§ ७१. अपभ्रंश का पदविन्यास प्राचीन और मध्यकालीन दो स्तरों की प्राकृत भाषा से पूर्णतः भिन्न दिखाई पडता है। इस काल तक आते-आते सश्लिष्टता प्रधान भारतीय आर्य भाषा पुनः प्राचीन वैदिक भाषा की तरह और कई दृष्टियों से उससे भी बढ़ कर अश्लिष्ट होने लगी। परसर्गों का प्रयोग, सर्वनामों के अत्यन्त विकसित और परिवर्तित रूप, क्रियापदों में सयुक्तकाल और कृदन्तज रूपो के बाहुल्य ने इस भाषा को एकदम नवीन रूपाकार में प्रस्तुत किया। अपभ्रंश ने नये सुवन्तों, तिङन्तों की भी दृष्टि की ओर ऐसी सृष्टि की है जिससे वह हिन्दी से अभिन्न हो गई है और सस्कृत, प्राकृत, पाली से अत्यन्त भिन्न।[1]

१—अपभ्रंश में कारक विभक्तियों की स्वच्छन्दता का पीछे परिचय दिया जा चुका है, इस काल में निर्विभक्तिक प्रयोग भी होने लगे। हेमचन्द्र ने अपभ्रंश के निर्विभक्तिक प्रयोगों का लक्ष्य नहीं किया क्योंकि परिनिष्ठित या साहित्यिक अपभ्रंश के तात्कालिक ढाचे मे निर्विभक्तिक प्रयोग बहुत नहीं मिलते, बाद की अपभ्रंश मे तो इनका अत्यन्त आधिक्य दिखाई पडता है। ब्रज में निर्विभक्तिक प्रयोग की बहुलता द्रष्टव्य है। हेमव्याकरण के इन दोहो की भाषा में भी निर्विभक्तिक प्रयोग मिलते है किन्तु विरल।

एत्तहे मेह पियन्ति जल, एत्तहे वडवानल आवट्टइ ४।४१९

---

१. राहुल साकृत्यायन, काव्यधारा की अवतरणिका, पृ० ९

इस पंक्ति में मेह और बड़वानल दोनों का प्रथमा में निर्विभक्तिक प्रयोग हुआ है। नीचे कुछ सतुलनात्मक प्रयोग उपस्थित किये जाते है—

प्रथमा—

(१) कायर एम्व भणन्ति (४।३७७)
(२) घण मेल्लइ नीमासु (४।४३०)
(३) मोहन सा दिन वनहि न जात (सूर० ३२०२)
(४) लोचन करमरात हैं मेरे (कुभन० २१८)

द्वितीया—

(१) सन्ता भोग जु परिहरइ (४।३८९)
(२) जइ पुच्छइ घर वड्डाइं (४।३६४)
(३) फल लिहिआ भुजन्ति (४।३३५)
(४) निरखि कोमल चारु मूरति (सूर० ३०३६)
(५) काहे बाधति नाहिन छूटे केस (कुभन ३०४)

अपभ्रंश में करण, अधिकरण और अपादान के निर्विभक्तिक प्रयोगों का एकदम अभाव है। सम्बन्ध में इस तरह के निर्विभक्तिक प्रयोग बहुत मिलते हैं। किन्तु वहाँ समस्तपद की तरह ही प्रयुक्त हुए हैं। अपभ्रश में अधिकरण में इकारान्त प्रयोग मिलते है। जैसे तालि, घडि, घरि आदि ये रूप उच्चारण-सौकर्य के लिए बाद में या तो अकारान्त रह गए या उनमें ए विभक्ति का प्रयोग होने लगा। इस तरह ब्रजभाषा में कुछ रूप निर्विभक्तिक दिखाई पड़ते हैं। कुछ रूपों में ऐ लगाकर घरै, द्वारैं, आदि रूपान्तर बन जाते हैं। ब्रजभाषा में प्रायः प्रत्येक कारक में निर्विभक्तिक प्रयोग प्राप्त होते हैं।

२—विभक्तियों के प्रयोग के नियमों की शिथिलता की बात पहले कही जा चुकी है। इस शिथिलता के कारण कुछ विशिष्ट प्रकार के कारक प्रयोग भी दिखाई पड़ते हैं। अपभ्रश में इस प्रकार के विभक्ति-व्यत्यय के उदाहरण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। हेमचन्द्र ने प्राकृत में इस प्रकार के व्यत्यय को लक्षित किया था। षष्ठी विभक्ति का प्रयोग एकाधिक कारकों का भाव व्यक्त करने के लिए किया जाता था, इस विषय में उन्होंने स्पष्ट संकेत किया है। चतुर्थ्याः स्थाने षष्ठी भवति। मुणिस्स, मुणीण देइ, नमो देवस्स।[1] यही नहीं द्वितीया के लिए भी षष्ठी प्रयोग होता था। द्वितीया और तृतीया और पञ्चमी में सप्तमी (अधिकरण) का प्रयोग भी प्रचलित था। अधिकरण अर्थ में द्वितीया का प्रयोग भी चलता था।[2] प्राकृत (शौरसेनी) की यह प्रवृत्ति शौरसेनी अपभ्रंश को भी प्राप्त हुई। विभक्ति व्यत्यय के उदाहरण हेमव्याकरण के अपभ्रंश दोहों में कम नहीं मिलते। इसी प्रवृत्ति का विकास ब्रजभाषा में भी हुआ। अपभ्रंश में कथ, भण आदि क्रियाओं के साथ कर्म हमेशा द्वितीया में ही होता था, किन्तु अपभ्रंश में

---

१ चतुर्थ्याः षष्ठी हेमव्याकरण ८।३।१३१

२. षष्ठी क्वचिद् द्वितीयादेः ।३।१३४ द्वितीयातृतीययोः सप्तमी ३।१३५
पञ्चम्यास्तृतीया च ३।१३६ सप्तम्या द्वितीया ३।१३७

यह कर्म षष्ठी में दिखाई पड़ता है। सन्देशरासक में इसके कुछ उल्लेखनीय उदाहरण मिलते हैं।[1]

भणइ पहिस्स अइ करुण दुक्खिन्निया (स० रा० ८५)
पियह कहिव हिव इक्क (स० रा० ११०)

कुमारपाल-प्रतिबोध के अपभ्रंश दोहों में भी कई उदाहरण मिलते हैं—

मुणियि नन्दु धुत्तत्र यह सयडालस्स

यह स्स रूप ही सों या से के रूप में विकसित हुआ। ब्रज में कथ या भण के साथ कर्म का प्रयोग तृतीया में होता है।

अलि कासों कहत बनाइ (सूर० ३६१७)

हेम व्याकरण में अपभ्रंश का एक करण कारक का रूप महत्त्वपूर्ण है—

तुह जलि महु पुणु वल्लहइ विहिव न पूरिअ आस (४।३८३)

तेरी जल से मेरी प्रिय से दोनों की आशा पूरी न हुई। यहाँ करण कारक के अर्थ में सप्तमी का प्रयोग द्रष्टव्य है। ब्रजभाषा में अधिकरण का परसर्ग 'पै' तृतीयार्थ में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है।

(१) मो पै कही न जाइ (सूर० १८६८) मोसों, मेरे द्वारा
(२) हम उन पै वन गाइ चराई (सूर० ३१६२)
(३) जा पै सुख चाहत जियो (बिहारी)

यही नहीं, अधिकरण का अपादान के अर्थ में भी प्रयोग होता है।

कौन पै लेंहि उधारे (सूर० ३५०४)

३—क्रिया रूपोंमें कर्मवाच्य के कृदन्तज रूप अपभ्रंश की परवर्ती अवस्था में कर्तृवाच्य की तरह प्रयोग में आने लगे—

'ढोल्ला मइ तुहुँ वारियो' या 'विट्टीए मइँ भणिय तुहुँ' में कर्म वाच्य का रूप स्पष्ट दिखाई पड़ता है किन्तु बहुतसे रूपों में यह अवस्था समाप्त होने लगी थी।

मइँ जाणिउ पिय ४।३७७ मैं जान्यों (मेरे द्वारा जाना गया) साथ ही 'तो हउ जाणउ एहो हरि ४।३८७ हौ जान्यों का विभेद मुश्किल हो जाता है। संज्ञा के प्रथमा रूप के साथ कृदन्तज क्रियाओं के प्रयोग इस भाषा को ब्रज के अत्यन्त नजदीक पहुँचाते हैं।

(१) आवासिउ सिसिरु (४।३५५)
(२) सासानल जाल झलक्कियउ (४।३९५) झलक्यो
(३) बद्दलि लुक्कु मयक ४।४०१ (लुक्यों)
(४) महु खण्डिउ माणु ४।४१८ मेरो मान खण्ड्यो

४—क्रियार्थक रूपो के साथ निषेधात्मक ण या न तथा क्रिया की पूर्णता में असमर्थता सूचक 'जाइ' प्रयोग अपभ्रंश की निजी विशेषता है। इस तरह के प्रयोग हेमचन्द्र के अपभ्रंश

1 सन्देश रासक भूमिका पृ० ४३

दोहों, जोइन्दु के परमात्मप्रकाश और सन्देशरासक में दिखाई पड़ते हैं। यह प्रवृत्ति परवर्ती भाषा में भी दिखाई पड़ती है।[1]

(१) पर भुंजणहिं न जाइ (४।४४१ हेम०)
(२) तं अक्खणह न जाइ (४।३५० हेम०)
(३) न धरणउ जाइ (स० रा० ७१ क)
(४) कहणु न जाइ (स० रा० ८१ क)

इस प्रकार के रूप ब्रजभाषा में किञ्चित् परिवर्तन के साथ प्राप्त होते हैं।

(१) मो पै कही न जाइ (सूर० १८६८)
(२) कछु समुझि न जाइ (सूर० २३२३)
(३) सोभा वरनि न जाइ (कुभन० २३)

५—वाक्य-गठन की दृष्टि से अपभ्रंश के इन दोहों की भाषा ब्रज के और भी नजदीक मालूम होती है। मार्दव, संक्षेप, लोच और शब्दों के अत्यन्त विकसित रूपों के कारण इस भाषा का स्वरूप प्रायः पुरानी ब्रज जैसा ही है। नीचे कुछ चुने हुए वाक्य उद्धृत किये जाते हैं—

अपभ्रंश	ब्रज
(१) अगहि अग न मिलिउ ४।३३२	(१) अगहि अंग न मिल्यो
(२) हउं किन जुत्यउं दुहुं दिसिंहि ४।३४०	(२) हौ किन जुत्यौं दुहुँ दिसहिं
(३) वप्पीहा पिउ-पिउ भणवि कित्तिउ रुवहि हयास ४।३८२	(३) पपीहा पिउ-पिउ भनि कित्ती रुवै हतास
(४) जइ ससणेही तो मुवइ जइ जीवइ निन्नेह ४।३६७	(४) जो ससनेही तो मुवै जो जीवै विनु नेह
(५) वप्पीहा कइ वोल्लिएण निग्घिण वारइ वार सायरि भरिया विमल जल लहइ न एक्कइ धार ४।३८२	(५) पपीहा कै वोलिए निर्घृण वारहि वार सागर भरियो विमल जल लहै न एकौ धार
(६) साव सलोणी गोरडी नवखी कवि विस गण्ठि ४।४२०	(६) साव सलोनी गोरी नोखी विसकै गाठि

इस प्रकार की अनेक अर्द्धालियाँ, पंक्तियाँ, दोहे ब्रजभाषा से मिलते-जुलते हैं। कुछ दोहों में राजस्थानी प्रभाव के कारण ण, उ, ड, आदि के प्रयोग अधिक हैं, भूत क्रिया के

---

1 The use of the infinitive with ण (or and introgative particle) and जाइ to denote impossibility of performing an action because of its extreme nature is peculiarity of Apabhramsa We find this construction in Hemchandra's illstrative stenzas and in the Parmatma Prakasa of Joindu The idom is current in Modern Languages

Sandes a Rasaka, study pp 44-45

यह कर्म षष्ठी में दिखाई पड़ता है। सन्देशरासक में इसके कुछ उल्लेखनीय उदाहरण मिलते हैं।[1]

भणइ पहिस्स अइ करुण दुक्खिन्निया (स० रा० ८५)

पियह कहिव हिव इक्क (स० रा० ११०)

कुमारपाल-प्रतिबोध के अपभ्रंश दोहों में भी कई उदाहरण मिलते हैं—

मुणियि नन्दु वुत्तत्र यह सयडालस्स

यह स्स रूप ही सों या से के रूप में विकसित हुआ। ब्रज में कथ या भण के साथ कर्म का प्रयोग तृतीया में होता है।

अलि कासों कहत बनाइ (सूर० ३६१७)

हेम व्याकरण में अपभ्रंश का एक करण कारक का रूप महत्त्वपूर्ण है—

तुह जलि महु पुणु वल्लहइ विहिव न पूरिअ आस (४।३८३)

तेरी जल से मेरी प्रिय से दोनों की आसा पूरी न हुई। यहाँ करण कारक के अर्थ में सप्तमी का प्रयोग द्रष्टव्य है। ब्रजभाषा में अधिकरण का परसर्ग 'पै' तृतीयार्थ में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है।

(१) मो पै कही न जाइ (सूर० १८६८) मोसों, मेरे द्वारा

(२) हम उन पै वन गाइ चराई (सूर० ३१६२)

(३) जा पै सुख चाहत जियो (बिहारी)

यही नहीं, अधिकरण का अपादान के अर्थ में भी प्रयोग होता है।

कौन पै लैंहि उधारे (सूर० ३५०४)

३—क्रिया रूपोंमें कर्मवाच्य के कृदन्तज रूप अपभ्रंश की परवर्ती अवस्था में कर्तृवाच्य की तरह प्रयोग में आने लगे—

'ढोल्ला मइ तुहुँ वारियो' या 'विट्टीए मइँ भणिय तुहुँ' में कर्म वाच्य का रूप स्पष्ट दिखाई पड़ता है किन्तु बहुतसे रूपों में यह अवस्था समाप्त होने लगी थी।

मइँ जाणिउ पिय ४।३७७ मैं जान्यों (मेरे द्वारा जाना गया) साथ ही 'तो हउ जाणउ एहो हरि ४।३६७ हों जान्यों का विभेद मुश्किल हो जाता है। संज्ञा के प्रथमा रूप के साथ कृदन्तज क्रियाओं के प्रयोग इस भाषा को ब्रज के अत्यन्त नजदीक पहुँचाते हैं।

(१) आवासिउ सिसिरु (४।३५५)

(२) सामानल जाल झलक्कियउ (४।३९५) झलक्यो

(३) वद्दलि लुक्कु मयक ४।४०१ (लुक्यों)

(४) महु खण्डिउ माणु ४।४१८ मेरो मान खण्ड्यो

४—क्रियार्थक रूपों के साथ निषेधात्मक ण या न तथा क्रिया की पूर्णता में असमर्थता सूचक 'जाइ' प्रयोग अपभ्रंश की निजी विशेषता है। इस तरह के प्रयोग हेमचन्द्र के अपभ्रंश

---

१ सन्देश रासक भूमिका पृ० ४३

दोहों, जोइन्दु के परमात्मप्रकाश और सन्देशरासक में दिखाई पडते हैं। यह प्रवृत्ति परवर्ती भाषा में भी दिखाई पडती है।[1]

(१) पर भुजणहिं न जाइ (४।४४१ हेम०)
(२) तं अक्खणह न जाइ (४।३५० हेम०)
(३) न घरणउ जाइ (स० रा० ७१ क)
(४) कहणु न जाइ (सं० रा० ८१ क)

इस प्रकार के रूप ब्रजभाषा में किञ्चित् परिवर्तन के साथ प्राप्त होते हैं।

(१) मो पै कही न जाइ (सूर० १८६८)
(२) कछु समुझि न जाइ (सूर० २३२३)
(३) सोभा वरनि न जाइ (कुंभन० २३)

५—वाक्य-गठन की दृष्टि से अपभ्रंश के इन दोहों की भाषा ब्रज के और भी नजदीक मालूम होती है। मार्दव, संक्षेप, लोच और शब्दों के अत्यन्त विकसित रूपों के कारण इस भाषा का स्वरूप प्रायः पुरानी ब्रज जैसा ही है। नीचे कुछ चुने हुए वाक्य उद्धृत किये जाते हैं—

अपभ्रंश	ब्रज
(१) अंगहि अग न मिलिउ ४।३३२	(१) अगहि अंग न मिल्यो
(२) हंउ किन जुत्यउं दुहुं दिसिहि ४।३४०	(२) हौ किन जुत्यों दुहुँ दिसहिं
(३) वप्पीहा पिउ-पिउ भणवि कित्तिउ रुवहि हयास ४।३८२	(३) पपीहा पिउ-पिउ भनि क्त्तिो रुवै हतास
(४) जइ ससणेही तो मुवइ जइ जीवइ विन्नेह ४।३६७	(४) जो ससनेही तो मुवै जो जीवै विनु नेह
(५) वप्पीहा कइ वोल्लिएण निग्घिण वारइ वार सायरि भरिया विमल जल लहइ न एक्कइ धार ४।३८२	(५) पपीहा कै वोलिए निर्घृण वारहि वार सागर भरियो विमल जल लहै न एकौ धार
(६) साव सलोणी गोरडी नवखी कवि विस गण्ठि ४।४२०	(६) साव सलोनी गोरी नोखी विसकै गांठि

इस प्रकार की अनेक अर्द्धालियाँ, पंक्तियाँ, दोहे ब्रजभाषा से मिलते-जुलते हैं। कुछ दोहों में राजस्थानी प्रभाव के कारण ण, उ, ड, आदि के प्रयोग अधिक हैं, भूत क्रिया के

---

1 The use of the infinitive with ण (or and introgative particle) and जाइ to denote impossibility of performing an action because of its extreme nature is peculiarity of Apabhramsa We find this construction in Hemchandra's illstrative stenzas and in the Parmatma Prakasa of Joindu The idom is current in Modern Languages

Sandes a Rāsaka, study pp 44-45

आकारान्त रूप भी मिलते हैं किन्तु अधिकाश दोहे ब्रजभाषा के निकटतम प्राचीन रूप ही कहे जायेंगे। डा० चाटुर्ज्या के इस कथन के साथ यह अध्याय समाप्त होता है कि ब्रजभाषा पुरानी शौरसेनी भाषा की सबसे महत्त्वपूर्ण और शुद्ध प्रतिनिधि है, हेम व्याकरण के अपभ्रंश दोहों की भाषा इसी की पूर्व पीठिका है।[1]

---

1 The dialect of Braj is most important and in the sense most faithful representative of Saurseni speech The Apabhrams'a verses quoted in the Prakrit Grammar of Hc (1018–1117 AC) are in a Saurseni speech which represents the pre modern stage of Western Hindi

Origin and Development of the Bengali Language § 11

संक्रान्तिकालीन ब्रजभाषा

(विक्रमी संवत् १२०० से १४०० तक)

§ ७२. आचार्य हेमचन्द्र के समय में ही शौरसेनी अपभ्रंश जनता की भाषा के सामान्य आसन से उतर चुका था। प्राचीन परम्परा के पालन करने वाले बहुत से कवि आचार्य अब भी साहित्यिक अपभ्रंश में रचनायें करते थे। रचनाओं का यह क्रम १७ वीं शताब्दी तक चलता रहा। हेमचन्द्र के समय में शौरसेनी अपभ्रंश कुछ थोड़े से विशिष्टजन की भाषा रह गया था, यह मत कई भाषाविदों ने व्यक्त किया है। प्राकृत पैंगलम् की भाषा पर विचार करते हुए डा० एल० पी० तेसीतोरी ने लिखा है : हेमचन्द्र १२ वीं शताब्दी ईस्वी (स० ११४४–१२२८) में हुए थे और स्पष्ट है कि उन्होंने जिस अपभ्रंश का परिचय दिया है वह उनसे पहले का है इसलिए इस प्रमाण पर हम शौरसेन अपभ्रंश की पूर्ववर्ती सीमा कम से कम १० वीं शताब्दी ईस्वी रख सकते हैं।[1] डा० तेसीतोरी की इस मान्यता के पीछे जो तर्क है, वह बहुत पुष्ट नहीं मालूम होता। हेमचन्द्र व्याकरण में जीवित या प्रचलित अपभ्रंश की भी चर्चा कर सकते थे, केवल इस आधार पर कि व्याकरण ग्रन्थ लिखने वाले पूर्ववर्ती भाषा को ही स्वीकार करते हैं, हम ऊपर की मान्यता ठीक नहीं समझते। डा० तेसीतोरी का दूसरा तर्क अवश्य ही विचारणीय है। वे आगे लिखते हैं—"जिस भाषा में पिंगल सूत्र के उदाहरण लिखे गये हैं वह हेमचन्द्र के अपभ्रंश से अधिक विकसित भाषा की अवस्था का पता देती है, इस परवर्ती अवस्था की केवल एक, किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता के उल्लेख तक ही अपने को सीमित रखते हुए मैं वर्तमान कर्मवाच्य का रूप उद्धृत कर सकता

---

१. तेसीतोरी; पुरानी राजस्थानी, हिन्दी अनुवाद, ना० प्र० सभा, १९५६ ई०, पृ० ५

हूँ जिसके अन्त में सामान्यतः ईजे<इजइ[1] आता है। अपभ्रंश की तुलना में आधुनिक भाषाओं की यह मुख्य ध्वन्यात्मक विशेषता है और इसका आरम्भ चौदहवीं शताब्दी से बहुत पहले ही हो चुका था।[2] प्राकृत पैंगलम् की भाषा निश्चित ही परवर्ती है और हेमचन्द्र की अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा की सूचना देती है।

§ ७३. श्री एन० बी० दिवेतिया ने हेमचन्द्र द्वारा स्वीकृत शौरसेनी या परिनिष्ठित अपभ्रंश को लोक-व्यवहार से च्युत भाषा प्रमाणित करने के लिए प्राकृत व्याकरण से कुछ मनोरंजक अन्तर्साक्ष्य ढूँढ़े हैं। श्री दिवेतिया के तीन प्रमाण इस प्रकार हैं[3]—

१—हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के अन्तःसाक्ष्य पर कहा जा सकता है कि अपभ्रंश प्रचलित भाषा नहीं थी, हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण के द्वितीय अध्याय के १७४ वें सूत्र पर जो वार्तिक लिखा है उससे इस बात की पुष्टि होती है।

> भाषा शब्दाश्च। आहित्य, लल्लक्क, विड्डिर, पच्चड्डिअ, उप्पेहड, मडप्फर, पड्डिच्छिर — — — इत्यादयो महाराष्ट्रविदर्भादिदेशप्रसिद्धा लोकतोवन्तव्या·। क्रिया शब्दाश्च। अवयासइ फुम्फुल्लइ, उप्फालेइ इत्यादय। अतएव च कृष्टघृष्टवाक्य-विद्वस्वाचस्पति—विष्टरश्रवस्-प्रचेतस् प्रोक्तप्रोतादीनां क्विबादि-प्रत्ययान्तानां च अग्निचित्सोमसुत्सुग्लसुम्लेत्यादीनां पूर्वै· कविभिरप्रयुक्तानां प्रतीतिवैषम्यपर प्रयोगो न कर्तव्य शब्दान्तरैरेव तु तदर्थोभिधेयः।[4]

भाषा शब्द से यहाँ हेमचन्द्र का तात्पर्य प्राकृत शब्द नहीं बल्कि भिन्न भिन्न प्रांतों में प्रयुक्त होने वाली देश भाषाओं से है। शब्द 'प्रतीतिवैषम्यपरः' इस बात का संकेत करता है कि हेमचन्द्र के काल में प्राकृतें जनभाषा नहीं रह गई थीं।

२—दूसरा प्रमाण हेम व्याकरण के ८।१।२३१ सूत्र के वार्तिक में उपलब्ध होता है। वार्तिक का वह अंश इस प्रकार है—

> प्राय इत्येव। कई। रिऊ॥ एतेन पकारस्य प्राप्तयोर्लोपवकारयोर्यस्मिन् कृते श्रुतिसुखमुत्पद्यते स तत्र कार्य·॥

यदि कहीं सूत्रों में आपस में ही मतान्तर हो और वास्तविकता से उनका साम्य न बैठता हो और कोई उचित मार्ग प्रतीत न हो तो 'श्रुतिसुख' को आधार मानना चाहिए। यह प्रमाण पहले का पूरक ही है क्योंकि श्रुति-सुख की आवश्यकता तो वहीं होगी जहाँ पूर्वकवियों के उदाहरणों से काम न चलेगा। यदि प्राकृतें वास्तव में जनभाषा होतीं तो हेमचन्द्र आसानी से लोक-प्रयोग दे सकते थे।

---

१. प्राकृत पैंगलम्, बिब्लोथिका इण्डिका संस्करण, कलकत्ता १९०२, द्रष्टव्य रूप ठवीजे (२।९३, १०१) दीजे (२।१२०, ११५) भणीजे (२।१०१) इत्यादि

२ पुरानी राजस्थानी, पृ० ५

३ एन० बी० दिवेतिया, गुजराती लैंग्वेज़ एण्ड लिटरेचर, बम्बई, १९२१ भाग २, पृ० ५

४. प्राकृत व्याकरण, पी० यल० वैद्य, सम्पादित, पृ० ४९९

पूर्व-कवि प्रयोग, प्रतीति-वैषम्य और श्रुति-सुख का प्रयोग नि.सदेह प्राकृत भाषाओ के विवरण में आया है अत. इसका सीधा सम्बन्ध अपभ्रश से नहीं माना जा सकता इस आपत्ति का विरोध करते हुए श्री टिवेतिया का कहना है कि हेमचन्द्र के अनुसार प्राकृत के अन्तर्गत आठवें अध्याय की सभी भाषाएँ आती हैं जो एक के बाद एक दूसरे की प्रकृत मानी जाती है इसलिए इस पूरे प्रमाण को प्राकृतो के साथ अपभ्रंश के लिए मान सकते है। दूसरे हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में कहीं भी अपभ्रंश को भाषा नहीं कहा है और न तो उसे वे लोक-भाषा ही कहते हैं। अतः 'भाषा' शब्द और 'लोकतोवगन्तव्याः' आदि का अर्थ दूसरा ही है यह तत्कालीन अपभ्रशेतर देशभाषाओं की ओर संकेत है।

३—तीसरे प्रमाण के लिये श्री टिवेतिया ने प्राकृत या द्वयाश्रयकाव्य (कुमारपाल चरित) के आधार पर यह तर्क दिया है कि इस ग्रन्थ में प्रकारान्तर से प्राकृत व्याकरण के सूत्रों के उदाहरण मिलते हैं, यदि वस्तुतः अपभ्रश लोकभाषा थी तो इसके व्याकरणिक नियमो के उदाहरण इस तरीके से बनाने की कोई जरूरत नहीं थी।

हेमचन्द्र के समय में अपभ्रंश जन-प्रचलित भाषा नहीं थी, इसे सिद्ध करने के लिए ऊपर दिए गए प्रमाणो की पुष्टि पर बहुत जोर नहीं दिया जा सकता। पहले और दूसरे तर्कों से यद्यपि लोक-प्रमाण की ओर संकेत मिलता है, यह भी ज्ञात होता है कि प्राकृतों के समय में भी लोक-भाषाओं की एक स्थिति थी जो साहित्यिक या शिष्टजन की प्राकृतों के कुछ विवादास्पद व्याकरणिक समस्याओं के सुलझाव के लिए महत्त्वपूर्ण समझी जाती थी। यहाँ अपभ्रंश को प्राकृतों के साथ एकत्र करके 'लोकभाषा' की तीसरी स्थिति का अनुमान करना उचित नहीं मालूम होता क्योंकि प्राकृतो के साथ जिसे हेमचन्द्र ने लोकभाषा कहा वे संभवत' अपभ्रश ही थी। टिवेतिया का तीसरा तर्क अवश्य ही जोरदार मालूम होता है। हालाँकि इसका उत्तर गुलेरीजी बहुत पहले दे चुके है। 'जिन श्वेताम्बर जैन साधुओं के लिए या सर्वसाधारण के लिए उसने व्याकरण लिखा वे सस्कृत प्राकृत के नियमों को, उनके सूत्रों की सगति को पदो या वाक्य खण्डो में समझ लेते। उसके दिये उदाहरणों को न समझते तो सस्कृत और किताबी प्राकृत का वाङ्मय उनके सामने था, नये उदाहरण ढूँढ लेते। किन्तु अपभ्रंश के नियम यो समझ में न आते। यदि हेमचन्द्र पूरे उदाहरण न देता तो पढने वाले जिनकी सस्कृत और प्राकृत आकर ग्रथो तक तो पहुँच थी किन्तु जो भाषा साहित्य से स्वभावतः नाक-भौं चढाते थे उनके नियमो को न समझते'[1]। गुलेरी जी के इस स्पष्टीकरण में कुछ तथ्य अवश्य है किन्तु उन्होंने यह निष्कर्ष सभवत' अपने समय मे उपलब्ध अपभ्रंश की सामग्री को देखते हुए निकाला था, अपभ्रश के भी पचीसो आकर ग्रंथ श्वेताम्बर जैन साधुओ की अपनी परम्परा में ही प्राप्त थे। गुलेरी जी के इस निष्कर्ष का एक दूसरा पहलू भी है। गुलेरी जी प्राकृत के अन्तर्गत पूर्ववर्ती रूढ़ अपभ्रश की भी गणना करते हैं, हेमचन्द्र की अपभ्रश को तो वे अपभ्रश नहीं पुरानी हिन्दी मानते है। वे स्पष्टतया कहते हैं: विक्रम की सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिन्दी मे परिणत हो गई[2]। इस प्रकार गुलेरी जी के मत से भी अपभ्रश पुराने अर्थ में हेमचन्द्र के समय तक

---

१. पुरानी हिन्दी, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, प्र० सं० २००५, पृ० २६-३०

२. वही, पृ० ८।

जीवित भाषा नहीं थी। दिवेतिया के तर्क की यहाँ पुष्टि होती है क्योंकि हेमचन्द्र ने उदाहरणों के लिए न केवल कुछ प्राचीन आकर ग्रन्थों या लोकविश्रुत साहित्य से उदाहरण लिए बल्कि कुछ स्वयं भी गढे।

§ ७४. ऊपर के विवेचन से दो प्रकार के निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। तेसीतोरी और अन्य भाषाविद् प्राकृतपैंगलम् की भाषा को हेमचन्द्रकालीन शौरसेनी अपभ्रंश का विकसित रूप मानते हैं। दूसरी ओर परिनिष्ठित अपभ्रंश की तुलना में देशी या लोक भाषाओं के विकास का भी संकेत मिलता है। स्वयं हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में ग्राम्य अपभ्रंश का जिक्र किया है। हेमचन्द्र के इस 'ग्राम्य' शब्द पर ध्यान देना चाहिए। परिनिष्ठित अपभ्रंश को पढे लिखे लोगों की भाषा होने के कारण नागर अपभ्रंश कहा जाता था, इसकी तुलना में हेमचन्द्र ने लोक अपभ्रंश को ग्राम्य या शिष्ट जन की तुलना में अशिष्ट अपभ्रंश कहा। यह लोक अपभ्रंश चूंकि लोकभाषा थी इसलिए इसमें स्थान भेद की सम्भावना भी अधिक थी। १२वीं शती में काशी के दामोदर पंडित ने 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' नामक औक्तिक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रंथ में लेखक ने उक्ति यानी बोली को संस्कृत व्याकरण के तरीके से समझाने या व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। मध्यदेश की उक्ति या बोली की सूचना देने वाला यह पहला ग्रन्थ है। लेखक ने उक्ति व्यक्ति शब्द की व्याख्या करते हुए पहली कारिका की टीका में लिखा है—

> 'उक्तावपभ्रंशभाषिते व्यक्तीकृतं संस्कृत नत्वा तदेव करिष्यामः इत्यर्थः अथवा नानाप्रकारा प्रतिदेश विभिन्ना येयमपभ्रंशवागूरचना पामराणा भाषितभेदास्तद् बहिष्कृत ततोऽन्यादृशम्। तद्धि मूर्खप्रलपित प्रतिदेश नाना।'
>
> (उक्तिव्यक्ति प्रकरण १।१५–२१)।[1]

इस स्पष्टीकरण से तत्कालीन पंडितों की 'उक्ति' के प्रति तिरस्कार की मनोवृत्ति का पता चलता है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि उक्ति यद्यपि पामरजन की भाषा थी किन्तु लोग उसके महत्त्व को भलीभाँति समझने लगे थे। यहाँ भी इस लोकभाषा को कोई विशिष्ट नाम न देकर अपभ्रंश ही कहा गया है। किन्तु हेमचन्द्र की शौरसेनी अपभ्रंश परिनिष्ठित या नागर से इस औक्तिक अपभ्रंश का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। नाम के लिए दोनों अपभ्रंश हैं, किन्तु एक रूढ शौरसेनी अपभ्रंश का साहित्यिक रूप है दूसरा मध्यदेश की जनता की बोली का सहज और अकृत्रिम प्रवाह।

§ ७५ इस प्रकार १२वीं से १४वीं तक के काल में दो प्रकार की भाषायें प्रचलित थीं। मध्यदेश के अपभ्रंश का वह रूप जो सर्वमान्य साहित्यिक अपभ्रंश के रूप में विकसित हुआ था और जो अब प्राकृत पैंगलम् की भाषा की शैली में एक नये प्रकार की कृत्रिम दरबारी भाषा का निर्माण कर रहा था और दूसरा वह रूप जो लोकभाषा से उद्भूत होकर जनता में व्याप्त हो रहा था। जिसका पता उक्ति व्यक्ति प्रकरण से चलता है। १२वीं से १४वीं शती के काल में ब्रजभाषा में ये दोनों रूप प्रचलित थे। पहली शैली में प्राकृत पैंगलम्, रासो काव्यों की विस्तृत परम्परा, रणमल्लछन्द, परवर्ती शौरसेनी अपभ्रंश या अवहट्ट की रचनायें,

---

१. उक्तिव्यक्ति प्रकरण, मुनि जिनविजय, सिंघी जैन ग्रंथमाला, बम्बई

राजस्थानी चारणों की पिंगल कृतियाँ आदि शामिल हैं, दूसरी शैली का पता देनेवाली कोई महत्त्वपूर्ण कृति इस निर्धारित समय में नहीं उपलब्ध होती, किन्तु औक्तिक ग्रंथों, उक्तिव्यक्ति, बालावबोध, उक्तिरत्नाकर और अन्य स्रोतों से इस भाषा के स्वरूप का अनुमान किया जा सकता है। पहली शैली रूढ़ होकर १७वीं तक एकदम समाप्त हो गई जब कि दूसरी शैली १४वीं शताब्दी से आरम्भ होकर व्रजभाषा के भक्ति और रीतिकाल के अद्वितीय वैभवपूर्ण साहित्य के निर्माण का श्रेय पाकर परिनिष्ठित व्रजभाषा के रूप में सम्पूर्ण उत्तर भारत में फैल गई। आगे इन दोनों शैलियों का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

§ ७८. शौरसेनी अपभ्रंश का परवर्ती रूप **अवहट्ट** के नाम से अभिहित होता है। अवहट्ट शब्द में स्वयं कोई ऐसा संकेत नहीं जिसके आधार पर हम इसे शौरसेनी का परवर्ती रूप मानें। क्योंकि संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश के वाङ्मय में जहाँ भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है इसका अर्थ अपभ्रंश ही है। ज्योतिरीश्वर ठाकुर के वर्णरत्नाकर[1] (१३२५ ईस्वी) विद्यापति की कीर्तिलता[2] (१४०६ ईस्वी) के प्रयोगों के और पहले इस शब्द का उल्लेख मिलता है। १२ वीं शती के अद्दहमाण ने अपने सन्देशरासक में भाषात्रयी और उनके लेखकों को अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए कहा है—

अवहट्टय सक्कय पाइयंमि पेसायमि भासाए
लक्खण छन्दाहरेण सुकइत्त भूसियं जेहि
ताण उणु कईण अम्हारिसाण सुइसद्दसत्थ रहियाण
लक्खछन्द पमुक्क कुकवित्त को प संसेइ।

(सं० रा० ६–४७)

अद्दहमाण ने भी संस्कृत प्राकृत के साथ अवहट्ट का नाम लिया है। ज्योतिरीश्वर और विद्यापति ने संस्कृत प्राकृत के बाद ही इस शब्द का उल्लेख किया है। संस्कृत, प्राकृत के बाद अपभ्रंश शब्द का प्रयोग संस्कृत अलंकारियों ने एकाधिक बार किया है। षट्भाषा प्रसंग में संस्कृत प्राकृत के बाद अपभ्रंश की गणना का नियम था। मंख कवि के श्रीकंठ चरित की टीका से पता चलता है कि छः भाषाओं में संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी (अपभ्रंश) मागधी, पैशाची की गणना होती थी।

संस्कृत प्राकृत चैव शूरसेनी तदुद्भवा।
ततोऽपि मागधी प्राग्वत् पैशाची देशजापि च॥

---

१ पुनु कइसन भाट संस्कृत प्राकृत, अवहट्ट पैशाची, शौरसेनी मागधी छहु भाषा क तत्त्वज्ञ, शकारी, आभिरी, चांडाली, सावली, द्राविली, औतकली विजातिया सातहु उपभाषाक कुशलह। व०रत्नाकर ५५ ख
डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या और बबुआ मिश्र द्वारा सम्पादित, कलकत्ता १६४० ई०

२. सक्कय वाणी बुहजन भावइ, पाउअ रस को मम्म न पावइ
देसिल बअना सबजन मिट्ठा, तं तैसन जम्पओ अवहट्टा

(कीर्तिलता १।१६–२२)

कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, प्रयाग, १६५५ ई०

नवीं शती के संस्कृत आचार्य रुद्रट ने काव्यालंकार में छः भाषाओं के प्रसग में अपभ्रंश का नाम लिया है।

प्राकृतं संस्कृतं मागध-पिशाचभाषाश्च शौरसेनी च
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः ॥
(काव्यालंकार २।१)

ऊपरके श्लोक की छः भाषायें वही हैं जो ज्योतिरीश्वर ने वर्णरत्नाकर में गिनाई है। इससे स्पष्ट है कि अपभ्रंश और अवहट्ठ दोनों का सर्वत्र समानार्थी प्रयोग हुआ है। अद्दहमाण और विद्यापति ने भी अवहट्ठ का प्रयोग अपभ्रंश के लिए ही किया है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश की यह भाषात्रयी भी वैयाकरणों और आलंकारिकों द्वारा बहुचर्चित रही है।

इन तीनों प्रयोगों से भिन्न प्राकृत पैंगलम् के टीकाकार वंशीधर ने अवहट्ठ को प्राकृत पैंगलम् की भाषा कहा है। प्राकृत पैंगलम् के प्राकृत शब्द से, इस ग्रन्थ का संकलनकर्ता या लेखक १२ वीं शती के आरम्भ में इस पिंगल शास्त्रग्रन्थ के सम्पादन के समय, सम्भवतः 'अवहट्ठ' का अर्थ-बोध कराना नहीं चाहता था। उसके लिए इस ग्रन्थ की भाषा 'प्राकृत' थी। किन्तु परवर्ती काल में इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का टीकाकार वंशीधर इसकी भाषा को प्राकृत न कहकर अवहट्ठ कहता है। प्राकृत पैंगलम् की पहली गाथा की टीका में टीकाकार लिखता है—

पढम भास तरंडो
णाओ सो पिंगलो जअइ (१ गाहा)

टीका—प्रथमा भाषा. तरंड. प्रथम आद्यभाषा अवहट्ट भाषा यया भाषया अयं ग्रन्थो रचित. सा अवहट्ठ भाषा तस्या इत्यर्थ. त प्प पार प्राप्नोति तथा पिंगलप्रणीत छन्दशास्त्रः प्रायशावहट्ठभाषारचिते तद्ग्रन्थपारं प्राप्नोतीति भाव' सो पिंगल णाओ जअइ, उत्कर्षेण वर्तते।

(प्राकृत पैंगलम्, पृष्ठ ३)

ग्रन्थ का लेखक आरम्भ में भाषा को तरंड (नौका) कहकर उसकी वन्दना करता है और बाद में छन्दशास्त्र के आद्याचार्य नाग पिंगल की जयकार करता है। वंशीधर ने सम्भवतः 'पढम' का अर्थ भाषा के लिए लगा लिया जब कि वह वन्दना के तारतम्य का संकेत है, पहले भाषा की तब आचार्य की। यद्यपि वंशीधर ने प्रथम का अर्थ आद्यभाषा किया फिर भी नि.संकोच इसे अवहट्ठ भाषा ही कहा। अवहट्ठ को आद्यभाषा क्यों कहा जाय इसका कोई स्पष्टीकरण वंशीधर ने नहीं प्रस्तुत किया। सम्भवत' आद्यभाषा से उनका तात्पर्य नव्य आर्य-भाषाओं की आरम्भिक भाषा यानी उद्भावक भाषा से था। अवहट्ठ का कोई संकेत लेखक ने नहीं किया था किन्तु १६वीं शती के टीकाकार ने इस भाषा को अवहट्ठ नाम दिया। यही नहीं एक दूसरे स्थान पर वंशीधर ने इस भाषा के व्याकरणिक ढाँचे की मीमांसा करते हुए लिखा है· इस भाषा यानी अवहट्ठ में पूर्व निपातादि नियमों का अभाव है इसलिए पद-व्याख्या करते समय गड़बड़ी को दूर करने के लिए अन्वयादि की यथोचित योजना कर लेनी चाहिए—

अवहट्टभाषाया पूर्वनिपातादिनियमाभावात् यथोचितयोजना
कार्या सर्वत्रेति बोध्यम् (प्राकृत पैंगलम् पृ० ४१८)

वशीधरने इस वाक्य द्वारा अवहट्ट भाषा में निर्विभक्तिक प्रयोगों की बहुलता देखकर यह चेतावनी दी है। निर्विभक्तिक पदों का प्रयोग शौरसेनी अपभ्रंश यहाँ तक कि हेमचन्द्र के दोहों में भी कम से कम हुआ है, किन्तु नव्य आर्य भाषाओं में इस प्रकार की प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल दिखाई पड़ती है, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश के वाक्यविन्यास की सविभक्तिक प्रयोग वाली विशिष्टता नई भाषाओं में समाप्त हो गई, इस अनियमितता के कारण परसर्गों की सृष्टि करनी पड़ी और वाक्य गठन में स्थानवैशिष्ट्य (कर्ता, कर्म, क्रिया की निश्चित तरतीब) को स्वीकार करना पड़ा। यह प्रवृत्ति जैसा वंशीधर के संकेत से स्पष्ट है, अवहट्ट भाषा में वर्तमान थी, इस प्रकार वशीधर का अवहट्ट भाषाशास्त्रीय विवेचन के आधार पर अपभ्रंश के बाद की स्थिति का संकेत करता है।

इस स्थान पर एक और पहलू से विचार हो सकता है। अवहट्ट, जैसा कि अपभ्रष्ट शब्द का विकसित रूप है, क्यों १२ शती के बाद ही प्रयुक्त हुआ। पहले के लेखक, आचार्य इस भाषा को अपभ्रंश कहते थे। अपभ्रंश में निहित 'च्युति' को लक्ष्य करके इस भाषा के प्रेमी लेखक इसे देशी भाषा, लोक भाषा आदि नामों से अभिहित करते थे। स्वयभू,[1] पुष्पदत,[2] जैसे गौरवास्पद कवि इस भाषा को देसी कहना ही पसन्द करते थे, उन्होंने अपभ्रश नाम का कम से कम प्रयोग किया। संस्कृत आलंकारिकों ने तिरस्कार से यह नाम इस 'पामरजन' की बोली को दिया, उसी का वे प्रयोग भी करते रहे, अपभ्रंश उनका ही दिया नाम था। बाद में यह अपभ्रश-अवहट्ट हो गया, प्रयोग में आते-आते इसके भीतर निहित तिरस्कार की भावना समाप्त हो गई। अपभ्रश विकसित होकर राष्ट्रव्यापी हुई और उसका निरन्तर विकासमान रूप बाद में अवहट्ट कहा जाने लगा। परवर्ती अपभ्रश प्राकृत प्रभाव से विजड़ित एक रूढ भाषा थी, परवर्ती कवियों अद्दहमाण, विद्यापति या प्राकृत पैंगलम् के लेखक ने इसे 'देसिलवयना' के स्तर पर उतार कर लोकप्रवाह से अभिषिक्त करके नया रूप दे दिया, इस नये और विकसित रूप की भाषा को इन कवियों ने अपभ्रश नहीं अवहट्ट यानी एक सीढी और बाद की भाषा कहा।[3]

§ ७७. शौरसेनी अपभ्रंश का अग्रसरीभूत रूप यानी अवहट्ट राजस्थान में पिंगल नाम से प्रसिद्ध था। अवहट्ट ही पिंगल था इस बात का कोई प्रामाणिक संकेत उपलब्ध नहीं होता, किन्तु परवर्ती पश्चिमी अपभ्रंश (अवहट्ट) और पिंगल के भाषा तत्त्वों की एकरूपता देखकर भाषाविदों ने यह स्वीकार किया कि अवहट्ट ही पिंगल है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने लिखा है कि 'शौरसेनी अपभ्रंश का कनिष्ठ रूप, जो भाषिक गठन और साधारण आकार-प्रकार की दृष्टि से परिनिष्ठित अपभ्रश १००० ईस्वी और व्रजभाषा १५०० ई० के बीच की

---

१. दीह समास पवाहा वकिय, सक्कय पायय पुलिणा लकिय
देसी भाषा उभय तडुज्जल कविदुक्कर घण सद्द सिलायल (पउमचरिउ)

२. वायरणु देसि सद्दत्थ गाढ (पासणाहचरिउ)
ण वियाणामि देसी (महापुराण)

३. अवहट्ट संबंधी विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य ' लेखक की पुस्तक कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, साहित्य भवन, प्रयाग, १९५७ ई०

कड़ी था, अवहट्ट के नाम से अभिहित होता था, प्राकृत पैंगलम् में इस भाषा में लिखी कविताओं का सकलन हुआ था। राजपूताना में अवहट्ट पिंगल नाम से ख्यात था और स्थानीय चारण कवि इसे सुगठित और सामान्य साहित्यिक भाषा मानते हुए इसमें भी काव्य-रचना करते थे साथ ही डिंगल और राजस्थानी बोलियों में भी।[1] डा० चाटुर्ज्या ने इस मान्यता के लिए कि अवहट्ट ही राजस्थान में पिंगल कहा जाता था कोई प्रमाण नही दिया। डा० तेसीतोरी हेमचन्द्र के बाद के अग्रसरीभूत अपभ्रंश की दो मुख्य श्रेणियों में बाँटते हैं। गुजरात और राजस्थान के पश्चिमी भाग की भाषा जिसे वे पुरानी पश्चिमी राजस्थानी कहते हैं और दूसरी शूरसेन और राजस्थान के पूर्वी भाग की भाषा जिसे वे पिंगल अपभ्रंश नाम देना चाहते हैं।' 'विकासक्रम से इस भाषा (अपभ्रंश) की वह अवस्था आती है जिसे मैंने प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी कहा है। यह ध्यान देने की बात है कि पिंगल अपभ्रंश उस भाषा समूह की शुद्ध प्रतिनिधि नहीं है जिससे प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी उत्पन्न हुई बल्कि इसमें ऐसे तत्त्व हैं जिनका आदि स्थान पूर्वी राजपूताना मालूम होता है और जो अब मेवाती, जयपुरी, मालवी आदि पूर्वी राजस्थानी बोलियों तथा पश्चिमी हिन्दी (ब्रजभाषा) में विकसित हो गए हैं।'[2] डा० तेसीतोरी के पिंगल अपभ्रंश नाम के पीछे राजस्थान की पिंगल भाषा की परम्परा और प्राकृत पिंगल सूत्र में सयुक्त 'पिंगल' शब्द का आधार प्रतीत होता है। राजस्थानी साहित्य में पिंगल की तुलना में प्राय पिंगल का नाम आता है, एक ओर यह पिगल नाम और दूसरी ओर पिंगल सूत्र की भाषा में प्राचीन पश्चिमी हिन्दी या ब्रजभाषा के तत्त्वों को देखते हुए डा० तेसीतोरी ने इस भाषा का नाम पिंगल अपभ्रंश रखना उचित समझा।

§ ७८. **पिंगल** को प्रायः सभी विद्वान् ब्रजभाषा से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध मानते हैं। हालाकि डिंगल सम्बन्धी वाद-विवाद के कारण इस शब्द की भी काफी विवेचना हुई और कई प्रकार के मोह और न्यस्त अभिप्रायों के कारण जिस प्रकार डिंगल शब्द के अर्थ, इतिहास और परम्परा को वितण्डावाद के चक्र में पडना पडा, वैसे ही पिंगल शब्द को भी। पिंगल के महत्त्व और उसके सांस्कृतिक दाय को समझने के लिए आवश्यक है कि हम स्पष्ट और निष्पक्ष भाव से इस शब्द को इतिहास को ढूढें केवल डिंगल के तुक पर पिंगल और पिंगल के तुक पर डिगल की उत्पत्ति का अनुमान लगा लेना और अपने मत को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बताना न तो तथ्य जानने का सही तरीका कहा जा सकता है और न तो इससे किसी प्रकार विवाद के समाधान का प्रयत्न ही कह सकते हैं।

डा० रामकुमार वर्मा 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में लिखते है। 'डिंगल काव्य पिंगल से अपेक्षाकृत प्राचीन है, जब ब्रजभाषा की उत्पत्ति हुई और उसमें काव्य रचना की जाने लगी तब दोनों में अन्तर बताने के लिए दोनों का नामकरण हुआ। इतना तो निश्चित ही है कि ब्रजभाषा में काव्य रचना के पूर्व ही राजस्थान में काव्य रचना होने लगी थी। अतएव पिंगल के आधार पर डिगल नाम होने की अपेक्षा यही उचित ज्ञात होता है कि डिंगल के आधार पर पिगल शब्द का उपयोग किया गया होगा। इस कथन की सार्थकता इससे भी ज्ञात होती है कि पिंगल का तात्पर्य छन्द शास्त्र से है। ब्रजभाषा न तो छन्द

१ ओरिजिन एण्ड डेवलपमेंट आव द बेंगाली लैंग्वेज़, पृष्ठ, ११२-१४

२ पुरानी राजस्थानी, पृ० ६।

शास्त्र ही है और न तो उसमें रचित काव्य छन्द-शास्त्र के नियमों के निरूपण के लिए ही है अतएव पिंगल शब्द ब्रजभाषा काव्य के लिए एक प्रकार से अनुपयुक्त ही माना जाना चाहिए।'[1] ऊपर का निर्णय कतिपय उन विद्वानों के मतों के विरोध में दिया गया है जो पिंगल को ब्रजभाषा का पुराना रूप कहते हैं और उसे डिंगल से प्राचीन मानते हैं। श्री हरप्रसाद शास्त्री ने डिंगल-पिंगल के नामकरण पर प्रकाश डालते हुए लिखा कि डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति 'डगल' शब्द से सम्भव है। बाद में तुक मिलाने के लिए पिंगल की तरह इसे डिंगल कर दिया गया। डिंगल किसी भाषा का नाम नहीं है, कविता शैली का नाम है।[2] श्री मोतीलाल मेनारिया शास्त्री जी के मत को एकदम निराधार मानते हैं। क्योंकि शास्त्री जी ने अल्लू जी चारण के जिस छन्द से इस शब्द को पकड़ा उसमें भाषा की कोई बात नहीं है।[3] किन्तु शास्त्री जी ने भी भाषा की बात नहीं कि उन्होंने स्पष्ट कहा कि डगल शब्द मरुभूमि का समानार्थी है, सम्भवतः इसी आधार पर मरुभूमि की भाषा डागल कही जाती रही होगी, बाद में पिंगल से तुक मिलाने के लिए इसे डिंगल कर दिया गया। शास्त्री जी के इस 'डगल' शब्द को ही लक्ष्य करते हुए सम्भवतः तेसीतोरी ने कहा कि डिंगल का न तो डगल से कोई सम्बन्ध है न तो राजस्थानी चारणों और लेखकों के गढ़े हुए किसी अद्भुत शब्द रूप से। डिंगल एक ऐसा शब्द है जिसका अर्थ है 'अनियमित' अर्थात् जो छन्द के नियमों का अनुसरण नहीं करता। ब्रजभाषा परिमार्जित थी और छन्दशास्त्र के नियमों का अनुसरण करती थी, इसलिए उसे पिंगल कहा गया और इसे डिंगल।[4] ढोला मारू रा दूहा के सम्पादक गण पिंगल और डिंगल के सम्बन्धों पर विचार करते हुए लिखते हैं: डिंगल नाम बहुत पुराना नहीं है, जब ब्रजभाषा साहित्य-सम्पन्न होने लगी और सूरदासादि ने उसको ऊँचा उठाकर हिन्दी क्षेत्र में सर्वोच्च आसन पर बिठा दिया तो उसकी मोहिनी राजस्थान पर भी पड़ी, इस प्रकार ब्रज या ब्रजमिश्रित भाषा में जो रचना हुई वह पिंगल कहलाई। आगे चलकर उसके नाम साम्य पर पिंगल से भिन्न रचना डिंगल कहलाने लगी।[5] इस प्रकार के और भी अनेक मत उद्धृत किये जा सकते हैं जिसमें डिंगल और पिंगल के तुकसाम्य पर जोर दिया गया है और पिंगल को डिंगल का पूर्ववर्ती बताया गया है।

§ ७९. डा० वर्मा के निष्कर्ष और ऊपर उद्धृत कुछ मतों की परस्पर विरोधी विचार-शृङ्खला में साम्य की कोई गुञ्जाइश नहीं मालूम होती। वर्माजी का मत अति शीघ्रता-जन्य और प्रमाणहीन मालूम होता है। यदि डिंगल काव्य ब्रजभाषा से प्राचीन है और बाद में ब्रजभाषा की उत्पत्ति हुई तो दोनों में एकाएक कौन-सी उलझन पैदा हो गई जिसके लिए डिंगल और पिंगल जैसे नाम चुनने की जरूरत आ गई। 'ब्रजभाषा में काव्य रचना होने के

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, संशोधित सं०, १९५४, पृ० १३९-४०

२. प्रिलीमिनेरी रिपोर्ट आन द आपरेशन इन सर्च आव मैन्युस्क्रिप्ट्स आव बॉर्डिक क्रोनिकिल्स, पेज १५

३. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १७

४. जर्नल आव दि एशियाटिक सोसाइटी अव बंगाल, भाग १०, १९१४, पृ० ३७६

५. ढोला मारू रा दूहा, काशी, संवत् १९९१, पृ० १६०

पूर्व ही राजस्थान में काव्य-रचना होती थी' यह कोई तर्क नहीं है। राजस्थान में काव्य रचना होती थी, इसका अर्थ यह तो नहीं कि डिंगल में ही काव्य-रचना होती थी, राजस्थान में सस्कृत और प्राकृत में भी काव्य-रचना हो सकती है जो भी हो यह तर्क कोई बहुत प्रामाणित नहीं प्रतीत होता। पिंगल छन्दशास्त्र को कहते हैं फिर ब्रजभाषा का पिंगल नाम क्यों पडा ?

§ ८०. पिंगल और डिंगल दोनों शब्दों के प्रयोगों पर भी थोडा विचार होना चाहिए। पिंगल शब्द का सबसे प्राचीन प्रयोग जो अब तक ज्ञात हो सका है, गुरु गोविन्द सिंह के दशम ग्रन्थ में दिखाई पडता है। सिक्ख सप्रदाय के प्रसिद्ध गुरु गोविन्द सिंह ब्रजभाषा के बहुत बड़े कवि भी थे। उन्होंने अपने 'विचित्र नाटक' (१७२३ के आसपास) में पिंगल भाषा का जिक्र किया है।[1] जबकि डिंगल शब्द का सबसे पहला प्रयोग सभवतः जोधपुर के कवि राजा बाकीदास के 'कुकविबत्तीसो' नामक ग्रन्थ में १८७२ सवत् में हुआ।[2]

डींगलिया मिलिया करैं पिंगल तणौ प्रकास
सस्कृत ह्वै कपट सज पिंगल पढ़ियो पास।

बाकीदास के पश्चात् उनके भाई या भतीजे बुधा जी ने अपने 'दुवावेत' में दो तीन स्थानों पर इस शब्द का प्रयोग किया है।

सब ग्रथ समेत गीता कू पिछाणै
डीगल का तो क्या सस्कृत भी जाणै। १५५
और भी आसीऊ कवि बङ्क
डींगल, पींगल सस्कृत फारसी में निसक॥ १५६

स्पष्ट है कि 'डींगल' कवि की मातृभाषा नहीं बल्कि प्रादेशिक भाषा थी इसलिए उसका वह पूर्ण ज्ञाता था किन्तु वह गर्व से कहता है कि डिंगल तो डिंगल सस्कृत भी जानता है। डिंगल एक कृत्रिम राजस्थानी चारण-भाषा थी जैसा कि शौरसेनी अपभ्रश की परवर्ती पिंगल। मातृभाषाएँ तो मारवाडी, मेवाती, जयपुरी आदि बोलियाँ थीं। इसलिए राजस्थानी चारण के लिए भी डिंगल का ज्ञान कुछ महत्त्व की बात थी, उसे सीखना पडता था। डिंगल नामकरण राजस्थानी भाषा के लिए निश्चित ही पिंगल के आधार पर दिया गया। सभव है कि पूर्वी या मध्यदेशीय राज-दरबारों में पिंगल के बढते हुए प्रभाव और यश को देखकर राजस्थानी चारणों ने अपनी बोली मारवाडी का एक दर्बारी या साहित्यिक रूप बनाया जिसे उन्होंने डींगल या डिंगल नाम दिया।

§ ८१ किन्तु हमारे लिए यह प्रश्न इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है कि पिंगल पुरानी है या डिंगल। महत्त्वपूर्ण यह है कि ब्रजभाषा का नाम पिंगल कब और क्यों पडा। पिंगल छन्द-शास्त्र का अभिधान है, इसे भाषा के लिए प्रयुक्त क्यों किया गया। भाषाओं के नामकरण में छन्द का प्रभाव कम नहीं रहा है। वैदिक भाषा का नाम छन्दस् भी था। कभी-कभी कोई भाषा किसी खास छन्द विशेष में ज्यादा शोभित होती है। भाषाओं के अपने-अपने रुचिकर छन्द होते हैं। गाहा छन्द प्राकृत का सर्वप्रिय छन्द था। गाथा छन्द सस्कृत में भी मिलते हैं,

---

१ दशमग्रन्थ, श्री गुरुमत प्रेस अमृतसर, पृ० ११७
२ बाकीदास ग्रन्थावली, भाग २, पृ० ८१

अपभ्रंश में भी। किन्तु प्राकृत से गाहा और गाहा से प्राकृत का अभेद्य सम्बन्ध है, परिणाम यह हुआ कि 'गाहा' का अर्थ ही प्राकृत भाषा हो गया। केवल गाहा कह देने से प्राकृत का बोध होने लगा। अपभ्रंश कालमें उसी प्रकार दूहा या दोहा सर्वश्रेष्ठ छन्द था। परिणाम यह हुआ कि अपभ्रंश में काव्य-रचना का नाम दोहा-विद्या ही पड़ गया। अपभ्रंश का नाम 'दूहा' इसी छन्द के कारण कल्पित हुआ।

'दव्वसहावपयास' यानी 'द्रव्यस्वभाव प्रकाश' के कर्ता माइल्लधवल ने किसी शुभंकर नामक व्यक्ति की आपत्ति पर दोहाबन्ध यानी अपभ्रंश में लिखे हुए पद्य को गाथाबन्ध में किया था—

> दव्वसहायपयासं दोहयबंधेन आसिज दिट्ठं
> तं गाहाबन्धेण च रइयं माइल्लधवलेण।
> सुणियउ दोहरत्थं सिग्घ हसिउण सुहंकरो भणइ
> एत्थ ण सोहइ अत्थो साहावधेण तं भणह॥

प्राकृत को आर्ष या धर्म वाणी समझने वाले शुभङ्कर का दोहाबन्ध या अपभ्रंश पर नाक-भौं चढ़ाना उचित ही था। भला कौन कट्टर धर्म-प्रेमी बर्दाश्त करेगा कि कोई पवित्र धर्म ग्रन्थ गँवारू बोली में लिखा जाय। यहाँ गाथा से प्राकृत और दूहा से अपभ्रंश की ओर सङ्केत स्पष्ट है। प्रबन्धचिन्तामणि के एक प्रसङ्ग में दो भाषा-अपभ्रंश कवि आपस में होड़ा-होडी करते है जिसे लेखक ने 'दोहाविद्यया स्पर्धमानो 'कहा है। उनकी कविताओं में एक-एक दोहा है एक सोरठा किन्तु इसे 'दोहा विद्या' ही कहा गया है।[1] परवर्ती काल में 'रेखता' छन्द में लिखी जाने वाली आरम्भिक हिन्दी को 'रेखता' भाषा कहा गया। 'रेखते के तुम्हीं उस्ताद नहीं हो गालिब' कहने वाले शायर ने पुराने मीर को भी रेखता का पहुँचा हुआ उस्ताद स्वीकार किया है। इस प्रकार एक छन्द के आधार पर भाषाओं के नाम परिवर्तन के उदाहरण मिलते है।

§ ८२. व्रजभाषा सदैव से ही काव्य की भाषा मानी जाती रही है। यह झगडा केवल भारतेन्दु युग में ही नहीं खड़ा हुआ कि गद्य और पद्य की भाषा जुदा-जुदा हो। जुदा-जुदा इस अर्थ में नहीं कि दोनों का कोई साम्य हो ही नहीं—गद्य और पद्य की भाषा के प्राचीन भारतेन्दुकालीन नमूने सहज रूप से यह बताते हैं कि गद्य में व्रज मिश्रित (पंछाहीं) खडी हिन्दी का प्रयोग होता था किन्तु कविता तो खडी बोली मे हो ही नहीं सकती थी, ऐसी मान्यता थी उस काल के लेखकों की। बहुत पहले मध्ययुग में भी व्रजभाषा के घर में यही झगडा हुआ था। उस समय व्रजभाषा की दादी शौरसेनी प्राकृत केवल गद्य (अधिकाशतः) की भाषा थी जब कि उसी का किञ्चित् परवर्ती मजा हुआ रूप परवर्ती शौरसेनी प्राकृत या महाराष्ट्री केवल पद्य की भाषा मानी जाती थी। शौरसेनी और महाराष्ट्री के इस सबध पर हम पीछे विस्तृत विचार कर चुके है। मध्यकाल के अंतिम स्तर पर प्राचीन शौरसेनी अपभ्रंश का विकसित साहित्यिक भाषा के रूप में सारे पश्चिमी उत्तर भारत में छा गया था। बंगाल के सिद्धों के दोहे इस भाषा की प्रतिनिधि रचनायें हैं। इस काल मे यही भाषा छन्द

---

१. प्रबन्धचिन्तामणि, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, पृष्ठ १५७

या कविता के लिए एकमात्र उपयुक्त भापा मानी जाती थी। १४वीं शती की यह कविता भाषा का नाम पिंगल-भापा या छन्दों की भाषा पड गया। जाहिर है कि उस समय गद्य भी लिखा जाता रहा होगा। किन्तु यह गद्य या तो सस्कृत या प्राकृत में लिखा जाता था या तो जनपदीय लोकभाषाओं में जो तब तक अत्यन्त अविकसित अवस्था में पडी हुई थीं। जनपदीय भाषायें पद्य के लिए भी अनुपयुक्त थीं। इस प्रकार शौरसेनी का परवर्ती रूप यानी प्राचीन व्रजभाषा कविता के लिए सर्वश्रेष्ठ भाषा के रूप में मान्य होकर पिंगल कही जाने लगी। पिंगल नामकरण के पीछे एक और प्रमाण भी दिया जा सकता है। मध्यकाल में राजपूत दर्बारों की संगीतप्रियता तथा देशी सगीत और जनभाषा के प्रेम के कारण बहुत से सगीतज्ञ आचार्य कवियों ने सगीत शास्त्रों की रचना की, उन्होंने देशी भाषा यानी व्रज में कवितायें भी कीं। सगीतज्ञ व्रजभाषा कवियों की एक बहुत गौरवपूर्ण परम्परा आदिकालसे रीतिकाल तक फैली हुई दिखाई पडती है। बीकानेर के सगीत आचार्य भावभट्ट जिन्होने 'अनूपसगीत रत्नाकर' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना १७५० सवत् में की, ध्रुपद के आचार्य और प्रशसक थे। इसका लक्षण लिखते हुए उन्होने 'मध्यदेशीय भाषा' का जिक्र किया है जिसमें ध्रुपद सुशोभित होता था—

गीर्वाणमध्यदेशीयभाषासाहित्यराजितम् ।
द्विचतुर्वाक्यसम्पन्न नरनारी कथाश्रयम् ।
शृगाररसभावार्थं रागालापपदात्मकम् ।
पादान्तानुप्रासयुक्त पादान्तयमकं च वा ॥
(अनूप० १६५–६६)

भावभट्ट न केवल मध्यदेशीय भाषा के ध्रुपदों की चर्चा करते हैं साथ ही उसके वस्तुतत्त्व, रस और तुकादि आदि पर भी अपने विचार व्यक्त करते हैं। मध्यकाल में जयदेव से जो सगीत कविता की परम्परा आरम्भ होती है उसका अत्यन्त परिपाक व्रजभाषा में दिखाई पडता है। प्राचीन व्रज कवियों के सरक्षक नरेश, मुज, भोज, चन्देल नरेश परमर्दिदेव, आदि न केवल सगीतमर्मज्ञ थे बल्कि इनके मतों को सगीत प्रतियोगिताओं में प्रमाण माना जाता था। तेरहवीं शताब्दी के सगीताचार्य पार्श्वदेव ने अपने सगीतसमयसार ग्रन्थमें उपर्युक्त नरेशों को कई बार प्रमाणरूप से उद्धृत किया है। इस प्रकार व्रजभाषा की आरम्भिक अवस्था छन्द और सगीत के क्रोड मे व्यतीत हुई। आज भी सगीतज्ञों के लिए, चाहे वे किसी भी भाषा के बोलने वाले हों, व्रजभाषा के बोल ही सबसे ज्यादा मधुर और उपयुक्त मालूम होते हैं। प्राय. सभी प्रधान शास्त्रीय रागोंके बोल व्रजभाषा में ही दिखाई पडते हैं। मुसलमान सगीतज्ञ भी प्रधान रागों में व्रजभाषा का ही प्रयोग करते है। इन तमाम परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर यदि विचार करें तो व्रजभाषा का पिंगल नाम अनुचित नहीं मालूम होगा, पिंगल छन्द शास्त्र का नाम है अवश्य, परन्तु भाषा के लिए उसका प्रयोग हुआ है, इसे कैसे अस्वीकार किया जा सकता है।

§ ८३ पिंगल नाम के साथ एक और पहलू से विचार हो सकता है। पिंगल कौन थे, इस पर कोई निश्चित धारणा नहीं दिखाई पडती। प्राकृत पैंगलम् का लेखक ग्रन्थ के आरम्भ में पिंगलाचार्य की वन्दना करता है और उन्हें 'णाअराए' अर्थात् नागराज कहकर सम्बोधित करता है। नागराज का सम्बन्ध 'नागवानी' से अवश्य ही होगा। नाग कौन थे,

नागवानी क्या थी. पिंगलाचार्य कब हुए और उन्होंने पिंगल शास्त्र का कब प्रणयन किया ? ये सब सवाल अद्यावधि अनुत्तर हैं क्योंकि इनके उत्तर के लिए कोई निश्चित आधार नहीं मिलता। नाग लोग पाताल के रहने वाले कहे जाते हैं, इसलिए नागवानी को पतालवानी भी कहा गया। मध्यकाल के व्याख्यानों में नाग जाति के पुरुषों और विशेषकर नाग-कन्याओं के साथ असंख्य किंवदन्ती कथाएँ लिखी हुई हैं। नाग-जाति के मूल स्थान के बारे में काफी विवाद है। पाताल सम्भवतः कश्मीर के पाददेश का नाम था।[1] वेदों में इस जाति का नाम नहीं आता। मध्यकाल में उत्तर-पश्चिम से मध्यदेश की ओर आने वाली कई जातियों में एक नाग भी थे। महाभारत के निर्माण तक उनका अधिकार और आक्रमण हस्तिनापुर तक होने लगा था। जातक कथाओं में भी नाग जाति के सन्दर्भ भरे पड़े हैं। गौतम बुद्ध के बोधि-सम्प्राप्ति के समय उत्थित तूफान में नागराज मुचिलिन्द ने उनकी रक्षा की। पश्चिमी और दक्षिण भारत के बहुत-से छोटे-छोटे राजे अपने को नागों का वंशज बताते हैं।[2] इस प्रकार लगता है कि नागों की एक अर्ध कबीला-जीवन बिताने वाली घुमन्तू जाति थी, आभीर, गुर्जर आदि की तरह इनका भी बहुत बड़ा सांस्कृतिक महत्त्व है। व्रजभाषा में मिश्रित होने वाले अन्य भाषिक तत्त्वों की चर्चा करते हुए भिखारीदास काव्य-निर्णय में नाग भाषा का भी उल्लेख करते हैं—

> व्रजभाषा भाषा रुचिर कहैं सुमति सब कोइ
> मिलै संस्कृत पारसिहुं पै अति प्रगट जु होइ
> व्रज मागधी मिलै अमर नाग जवन भाखानि
> सहज फारसी हू मिलै षट् विधि कहत बखानि।
>
> काव्यनिर्णय १।१५

यवन भाषाओं के साथ नाग-भाषा को रखकर लेखक ने विदेशी या बाहर से आई हुई जाति की भाषा का संकेत किया है। पर यह नाग-भाषा क्या थी, इसका आगे कोई पता नहीं चलता। मिर्जा खाँ ने ईस्वी सन् १६७६ में व्रजभाषा का एक व्याकरण लिखा। यह अलग ग्रन्थ नहीं है बल्कि उनके मशहूर, तुहफत-उल-हिन्द[3] का एक भाग है। इस ग्रन्थ में विषय की दृष्टि से व्रजभाषा व्याकरण, छन्द, काव्य-शास्त्र, नायक-नायिका-भेद, संगीत, कामशास्त्र, सामुद्रिक तथा फारसी-व्रजभाषा शब्द आदि विभाग हैं। प्राकृत को मिर्जा खाँ ने पाताल या नाग बानी कहा है। यह प्राकृत क्या है ? प्राकृत का यहाँ अर्थ वही नहीं है जो

---

1 Mythological Nagas are the sons of Kadru and Kasyapa born to people Patala or Kashmir valley
Standard Dictionary of Folklore Mythology and Legends, New York, 1950 pp 730

2 Ibid, pp 780

३. यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। इसका सबसे पहला परिचय सर विलियम जोन्स ने अपने लेख 'आन दी म्यूजिकल मोड्स आव दी हिन्दूस' में १७८४ में उपस्थित किया। बाद में इस ग्रन्थ का व्याकरण भाग शान्तिनिकेतन के मौलवी जियाउद्दीन ने १९३५ ईस्वी में 'ए ग्रामर आव दी व्रज' के नाम से प्रकाशित कराया।

हम समझने हैं। संस्कृत, प्राकृत और 'भाखा' के बारे में वे कहते हैं 'पहली यानी सहसकिर्त में विभिन्न विज्ञान कला आदि विषयों पर लिखी हुई पुस्तकें मिलती हैं। हिन्दुओं का विश्वास है कि यह परलोक की भाषा है। इसे वे आकाशवाणी या देववाणी कहते हैं। दूसरी 'पराकिर्त' है। इस भाषा का प्रयोग राजाओं, मन्त्रियों आदि की प्रशसा के लिए होता है और इसे पाताल लोक की भाषा कहते हैं, इसीलिए इसे पातालबानी या नागबानी भी कहा जाता है।'[1] प्राकृत राजस्तुति और वशवन्दना के लिए कभी बदनाम नहीं थी, यह कार्य तो चारण-भाषा या पिंगल का ही माना जाता है। यह प्राकृत सस्कृत और ब्रज के बीच की भाषा है, ऐसा मिर्जा खाँ का विश्वास है। मिर्जा खाँ की नागबानी जो राजस्तुति की भाषा थी और ब्रज में मिश्रित होने वाली नागभाषा, जिसका उल्लेख भिखारीदास ने किया है, सभवतः एक ही हैं और मेरी राय में ये नाम शिथिल ढग से पिंगल भाषा के लिए प्रयुक्त हुए हैं। मध्यकाल में सगीत के उत्थान में नाग जाति का योगदान अत्यन्त महत्त्व का रहा होगा क्योंकि यह पूरा कबीला सगीत और नृत्य प्रेमी माना जाता है, आदि पिगल का नागबानी नाम अवश्य ही कुछ अर्थ रखता है और मध्ययुग के सास्कृतिक समिश्रण को समझने में बहुत कुछ सहायक हो सकता है।

§ ८४. १२वीं से १४वीं तक के काल की भाषाओं के विश्लेषण के आधार पर तत्कालीन उत्तर भारत की भाषा-स्थिति का कुछ अनुमान नीचे की सूची से हो सकता है।

१—सस्कृत-प्राकृत : दोनों साहित्यिक भाषायें जनता से कटी हुई, थोड़े से लोगों की बुद्धि-विलास की वस्तु रह गई थीं, फिर भी इनमें काव्य-प्रणयन हो रहा था, श्री हर्ष का नैषध तत्कालीन संस्कृत और समराइच्च कहा आदि प्राकृत भाषा के आदर्श ग्रन्थ हैं।

२—शौरसेनी अपभ्रश का साहित्यिक रूप : जैन लेखकों की रूढ अपभ्रश आदर्श। शालिभद्र सूरि (११८४ ईस्वी) लक्खण (१२५७ ईस्वी) आदि की रचनाएँ इस श्रेणी में आती हैं।

३—शौरसेनी का परवर्ती अवहट्ट रूप, सिद्धों के दोहे, कीर्तिलता, अद्दहमाण के सन्देश रासक के दोहे इस भाषा के आदर्श।

४—अवहट्ट और राजस्थानी के किञ्चित् मिश्रण से उत्पन्न पिंगल। प्राकृत पैंगलम्, प्राचीन रासो काव्य, रणमल्ल छन्द आदि इस भाषा के आदर्श। चारण शैली की भाषा।

५—पश्चिमी प्राचीन राजस्थानी या गुजराती मिश्रित अपभ्रश जिसमें शौरसेनी का कम प्रभाव न था, यह भी साहित्यिक भाषा हो गई थी, तेसीतोरी ने इसका विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है।

६—देश्य अपभ्रशों से विकसित जन भाषायें—जिनका रूप साहित्य में नहीं दिखाई पडता, मध्यदेशीय या व्रजभाषा के अनुमान के लिए उक्ति-व्यक्ति प्रकरण आदि से अनुमान लगाया जा सकता है। ये भाषायें विभिन्न जनपदों में नव्य भाषाओं की सृष्टि कर रही थीं। जिनमें देशी तत्त्व प्रचुर मात्रा में सामने आ रहे थे।

इस सूची में व्रजभाषा की दृष्टि से नं० (३) न० (४) और न० (६) का विवेचन होना चाहिए।

---

१ ए ग्रामर आव दी ब्रज, शान्तिनिकेतन, १९३५, पृ० ३४

§ ८५. न० ३ : यानी अवहट्ट भाषा का कुछ परिचय पहले दिया जा चुका है। संदेशरासक सभवतः सबसे पहला ग्रन्थ है जिसमें इस शब्द का प्रयोग हुआ। कवि अद्दहमाण रचित इस महत्त्वपूर्ण काव्य ग्रन्थ का प्रकाशन ईस्वी सन् १६४५ में सिंघी जैन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत मुनिजिनविजय और डा० हरिवल्लभ भायाणी के सम्पादकत्व में हुआ। सम्पादक को इस ग्रन्थ की तीन पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई थीं जो पाटण, पूना (भडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट) और हिसार (पजाब) में लिखी गई थीं। तीनों प्रतियों के लिपिकार जैन थे। इनमें से पूना और पंजाब की प्रति में सस्कृत छाया या अवचूरिका भी सलग्न है। किन्तु पूना प्रति के वार्तिककार नयसमुद्र और पंजाब प्रति का टिप्पणकार लक्ष्मीचन्द्र दोनों ही संस्कृत के जानकार नहीं मालूम होते इसलिए ये टीकाएँ व्याकरण की दृष्टि से भ्रष्ट और अर्थ की दृष्टि से महज काम चलाऊ कही जा सकती हैं। पूना प्रति का टीकाकार अर्थ को भी अपनी चीज नहीं मानता और इसका सारा श्रेय किसी गाहड क्षत्रिय को अर्पित करता है, जिससे उसने अर्थ सीखा था। इन दो प्रतियों के अलावा बीकानेर से भी एक खडित प्रति प्राप्त हुई है। जयपुर के आमेर भाडार में भी अद्दहमाण के सन्देशरासक की एक प्रति उपलब्ध है जो सभवत उपर्युक्त प्रतियों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं कही जा सकती। क्योंकि केवल पजाब की प्रति को छोडकर यह अन्य प्रतियों से प्राचीन है जिसे जैन माणिक्यराज ने सलीम के शासनकाल में १६०८ सवत् में लिखी। सस्कृत टीका भी दी हुई है जो काफी स्पष्ट है। दिगम्बर जैन मदिर (तेरह पथियों का) जयपुर के शास्त्रभांडार में उक्त प्रति (वे० नं० १८२८) संरक्षित है। इस प्रति का उपयोग नहीं किया गया।

अद्दहमाण को टीकाकारों की अवचूरिका के आधार पर अब्दल रहमान कहा गया है जो पश्चिम दिशा में स्थित पूर्वकालसे प्रसिद्ध म्लेच्छ देश में उत्पन्न मीरसेन के पुत्र थे।

> पच्चाएसि पहूओ पुव्व पसिद्धो य मिच्छदेसोत्थि
> तह विसए सम्भूओ आरद्दो मीरसेणस्स ॥३॥
> तह तणओ कुलकमलो पाइय कव्वेसु गीयविसयेसु
> अद्दहमाण पसिद्धो सनेह रासयं रइय ॥४॥

उसी मीरसेण के पुत्र कुलकमल अद्दहमाण ने जो प्राकृत काव्य और गीति विपय में प्रसिद्ध था, सन्देशरासक को रचना की।

ऊपर की गाथाओं से अद्दहमाण का अर्थ अब्दलरहमान और मिच्छदेश का म्लेच्छदेश केवल इसीलिए सम्भव है कि संस्कृत अवचूरिका में ऐसा लिखा है। आरद्द का अर्थ जुलाहा दिया है जिसका सन्धान अन्यत्र कठिनाई से प्राप्त होगा। इस अद्दहमाण के रचनाकाल के विषय में भी कोई निश्चित मत नहीं है। ग्रन्थ के सम्पादक श्री मुनिजिनविजय ने अद्दहमाण को सुल्तान महमूद के किञ्चित् पहले का अनुमानित किया है। महमूद के आक्रमण के बाद मुल्तान एक दम विध्वस्त हो गया था, उसकी समृद्धि और सुन्दरता नष्ट हो गई थी। सन्देश-रासक में मुल्तान (मूलस्थान) का अत्यन्त भव्य चित्रण किया गया है अतः यह आक्रमण के पहले के मुल्तान का ही चित्रण हो सकता है, इसलिए मुनि जी के मत से अद्दहमाण सुल्तान महमूद के पहले का प्रमाणित होता है। स्तम्भतीर्थ या खम्भात का भी नाम आता है। सन्देश-वाहक विजयनगर की किसी विरहिणी का भी सन्देश लिए है जिसका पति धनलोभ से खम्भात

में पडा हुआ है। इस प्रकार खम्भात एक मशहूर व्यापारिक केन्द्र मालूम होता है, जहाँ ऊपरी हिस्से पंजाब, सिन्ध आदि के व्यापारी भी आकृष्ट होकर आने लगे थे। खम्भात की ऐसी उन्नति सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल के पहले नहीं थी, इस आधार पर भी हम कह सकते हैं कि अद्दहमाण सिद्धराज का समकालीन मालूम होता है। मुनि जिनविजय जी के ये दोनों ही तर्क पूर्णतः अनुमान मात्र हैं, महमूद के आक्रमण के बाद भी, इन नगरों के प्राचीन गौरव और वैभव को लक्ष्य करके ऐसे चित्रण किये जा सकते हैं, इसके लिए समसामयिक होना बहुत आवश्यक नहीं है। राहुल साकृत्यायन भी मुनि जी की मान्यता को स्वीकार करते हैं और मानते हैं कि कवि की जन्मभूमि मुलतान के महमूद के हाथ में जाने के पहले कवि मौजूद थे। राहुल जी ने कवि के मुसलमान होने के प्रमाण में यह भी कहा है कि अब्दुर्रहमान ने[1] ग्रथारभ में मगलाचरण करते हुए अपने को मुसलमान भक्त बताया है। वे आगे लिखते हैं : तेरहवीं और बाद की भी दो तीन सदियों में हमें यदि खुसरो को छोडकर कोई मुस्लिम कवि दिखाई नहीं पडता तो इसका तो यह मतलब नहीं कि करोडों भारतीय मुसलमान बनते ही कवि हृदय से वचित हो गए। हिन्दुस्तान की खाक से पैदा हुए सभी मुसलमानों के लिए अरबी-फारसी का पडित होना संभव न था, अब्दुर्रहमान जैसे कितने ही कवियों ने अपनी भाषा में मानव समाज की भिन्न-भिन्न अन्तर्वेदनाओं को लेकर कविता की होगी।'[2] राहुल जी के विचारों से एक नई बात मालूम होती है। वे अद्दहमाण को मूलत. भारतीय मानते हैं जिसने धर्म परिवर्तन करके इस्लाम ग्रहण किया। सस्कृत, प्राकृत के इतने बड़े जानकार को विदेशी मानना शायद ठीक होता भी नहीं। अस्तु हम इन तर्क-वितर्कों के बाद अनुमान कर सकते हैं कि अद्दहमाण १२ वीं १३ वीं के बीच कभी वर्तमान थे जो प्राकृत के बहुत बड़े कवि थे और जिन्होंने प्राकृत-अवहट्ठ में सन्देशरासक की रचना की।

§ ८६ ब्रजभाषा की दृष्टि से सदेशरासक के महत्त्व पर विचार करते वक्त हमारा ध्यान पाण्डुलिपियों और उनके लिपिकारों की ओर स्वभावत: आकृष्ट होता है। अब तक की प्राप्त पाँचो प्रतियों के लिपिकार जैन थे। वैसे तो सम्पूर्ण भारतवर्ष में लिपि-शास्त्र या अनुलेखन पद्धति की परम्परा बडी ही रूढिबद्ध रही है। डा० चाटुर्ज्या ने ठीक ही लिखा है कि "लोग प्रादेशिक भाषाओं या उनके साहित्यिक रूप में लिखने का प्रयत्न करते समय भी तात्कालिक प्रचलित भाषा में न लिखकर हमेशा ऐसी शैली में लिखते आए हैं जो ध्वनि तत्त्व तथा व्याकरण दोनों की दृष्टि से थोडा बहुत प्राचीन लक्षण-सम्पन्न या अप्रचलित हो।[3] जैन लिपिकार एक ओर जहाँ अपनी परम्परा-प्रियता और रूढि-निर्वाह-पटुता के कारण प्राचीन साहित्य की सुरक्षा करने में सफल हुए हैं वहीं इसकी अतिवादी परिणति की अवस्था में आलेख्य कृति की भाषा को पुरानी आर्ष या जैनादर्श की भाषा बनाने के मोह से भी वे छूट न सके। न, का, ण, य श्रुति के निर्धारण में अनिश्चितता, सध्यक्षरों की विवृत्ति की सर्वत्र सुरक्षा, आदि पर वे बहुत ध्यान देते थे, इस प्रकार विकासशील भाषातत्त्वों को आदर्श के निकट पहुँचाना वे अपना

---

१. हिन्दी काव्यधारा, प्रयाग १९५४ पृ० ५४

२ वही, ४२, ४३

३ आर्य भाषा और हिन्दी, दिल्ली, १९५४ पृ० ६२

कर्तव्य मानते थे। सन्देशरासक की तरह अन्य भी बहुत से ग्रन्थों में यह प्रवृत्ति संलक्षित होती है।

सन्देशरासक की भाषा, लेखक की अतिसाहित्यिक और पाण्डित्य पूर्ण रुचि के कारण, अत्यन्त परिनिष्ठित, प्राकृत-प्रभावापन्न और रूढ़ है। हालाकि उसने ग्रन्थारम्भ में यह स्वीकार किया है कि इस ग्रन्थ की भाषा न अत्यन्त कठिन है और न तो अत्यन्त सरल, जो न तो बहुत पण्डित है न तो बहुत मूर्ख, उन सामान्यजनों के लिए काव्य करता हूँ।

णहु रहइ बुहा कुकवित्त रेसि
अबुहत्तणि अबुहह णहु पवेसि
जिण मुक्ख ण पंडिय मज्झयार
तिह पुरउ पढिव्वउ सव्ववार
(सं० रा० २१)

किन्तु इस सामान्य जन के लिए लिखी कृति में प्राकृति भाषा का मूल रूप ही ज्यादा प्रधान हो गया है। हाँ एक बात अवश्य बहुत महत्त्व की है। वह है प्राकृत के साथ ही साथ अग्रसरीभूत अपभ्रंश या अवहट्ठ के दोहों का प्रयोग। वैसे तो लेखक की परिनिष्ठित अपभ्रंश वाले छन्दों की भाषा में भी तत्कालीन विकसनशील लोक भाषा के कुछ तत्त्व गृहीत हुए हैं किन्तु दोहों की भाषा तो एकदम ही नवीन और लोक भाषा की ओर अतीव उन्मुख दिखाई पड़ती है। इस ग्रन्थ की भूमिका में डा० हरिवल्लभ मायाणी भाषा का विश्लेषण करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे: जैसा स्थान-स्थान पर संकेत किया गया है सन्देशरासक के दोहों की भाषा कई बातों में ग्रन्थ के मूल हिस्सों की भाषा से भिन्न प्रतीत होती है। यह भाषा एक ओर हेमचन्द्र के दोहों की भाषा अति निकट और समान तथा साथ ही उससे कहीं ज्यादा विकसित और बढ़ी हुई मालूम होती है।[1] दोहों की भाषा ग्रन्थ की मूल भाषा से विकसित और अग्रसरीभूत क्यों है ?

§ ८७. प्रेम या विरह काव्यों में लोक-गीतों के प्रयोग की पद्धति बिल्कुल नई नहीं है। लोकगीतों में प्रेम की एक सहज व्यञ्जना, स्मृतियों की अनलंकृत विवृत्ति और वेदना की जितनी गहरी अभिव्यक्ति सम्भव है, उतनी अभिजात भाषा में नहीं हो सकती, इसीलिए परिनिष्ठित भाषाओं में लिखे काव्यों में भी लोकगीतों के प्रयोग का कम से कम उनके अनुकरण पर उनकी ध्वनि या आत्मा को बाँधने का प्रयत्न किया जाता है। विक्रमोर्वशीय में राजा की कातरता और विरह-पीड़ा की व्यञ्जना को व्यक्त करने के लिए तत्कालीन लोक-भाषा का प्रयोग किया गया था, और वह दोहा अपभ्रंश का सबसे पुराना दोहा माना जाता है। सन्देशरासक में प्राय. लेखक दोहों का प्रयोग अत्यन्त तीव्र भावाकुल संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए ही

---

1 As suggested at relevent places that the language of the dohas of S R differs in several points from that of the main portion of the text and it is closely allied, to, though more advanced than, the language of the dohas of Hemcandra

Sandesa Rasaka, introduction P. 87.

करता है। मिलन-स्मृति और वर्तमान विरह अवस्था की विषम परिस्थितियों में उद्भूत करुणा की अभिव्यक्ति सन्देशरासक के दोहों में देखी जा सकती है :

जसु पवसंत न पवसिआ मुइ्ड विओइ ण जासु।
लज्जिजउ सदेसडउ दिंती पहिय पियासु॥७०॥
लज्जिव पथिय जइ रहउ हियउ न धरणउ जाइ
गाह पठिज्जसु इक्क पिय कर लेविणु मन्नाइ॥७१॥
सदेसडउ सवित्थरउ पर मइ कहणु न जाइ
जो कालगुलि मुंदडउ सो वाहडी समाइ॥८१॥

दोहों की भाषा को दृष्टि में रखते हुए कोई भी आदमी रासक की भाषा (गाथाओं की) को रूढ ही कहेगा। सभवतः इसी तथ्य को लक्ष्य करके डा० भायाणी ने लिखा है कि 'सदेशरासक में प्रयुक्त अवहट्ठ प्राकृत पैंगलम् में गृहीत अवहट्ठ भाषा से भिन्न है क्योंकि सदेशरासक का लेखक पूर्वी वैयाकरणों की तरह भाषा का जो भेद करता है उसमें अवहट्ट का अर्थ अपभ्रश है।'[1] प्राकृत पैंगलम् की भाषा नि.सन्देह परवर्ती है, परन्तु अवहट्ठ शब्द के अर्थ में दोनों प्रयोगों में कोई खास भिन्नता नहीं है। इसके बारे में हम पीछे ही विस्तृत विचार कर चुके हैं।

इस प्रकार ब्रजभाषा के विकास के अध्ययन में सदेशरासक के दोहे काफी सहायक हो सकते हैं। वैसे पूरे ग्रन्थ की भाषा में भी दोहों के अलावा लोक अपभ्रश का प्रभाव दिखाई पडता है, और ये भाषिक तत्त्व भी हमारे लिए कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। नीचे सन्देश-रासक की भाषा की उन प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है, जो प्रारभिक ब्रजभाषा के निर्माण और परवर्ता ब्रज के विकास में सहायक हुईं। ध्वनि विकास और रूपविचार (मारफोलॉजी) दोनों ही दृष्टियों से, जैसा ऊपर निवेदन किया गया, सदेशरासक की भाषा श्वेताम्बर अपभ्रश या जैनियो की रूढ अपभ्रश से भिन्न नहीं है। हेमचन्द्र ने जिस अपभ्रश का आदर्श उपस्थित किया, उससे यह भाषा पूर्णत साम्य रखती है (१) मध्यग म् >व् (व) रूपान्तर यथा (रवन्नउ १८० ग < रमण्यकम्) रवणिज (२०७ < रमणीयक) दवण (६२ ग < दमन) आदि (२) आज्ञार्थक क्रिया के इ, हि, उ, और अ प्रत्यय (३) असमापिका क्रिया में इवि, अवि, इवि, एवि, एविणु, इ, अप्पि आदि प्रत्ययों का प्रयोग (४) भविष्यत् में–स–और–ह–प्रकार की कियाएँ। किन्तु इन तमाम रूढियो के बावजूद इस भाषा में कुछ ऐसे तत्त्व दिखाई पडते हैं जो अपभ्रश में लोक-प्रिय जन-भाषाओं के तत्त्वों के सम्मिश्रण की सूचना देते हैं जो लेखक के समय में प्रचलित थीं। इन्हीं विकसनशील तत्त्वो में हम ब्रजभाषा के बीज बिन्दु पा सकते हैं।

§ ८८ (१) अकारण व्यजन द्वित्व की प्रवृत्ति चारण शैली की ब्रजभाषा में प्रबल रूप से दिखाई पडती है। चन्द, नरहरिभट्ट, गंग और भूपण की भाषा में तो यह प्रवृत्ति है ही। युद्ध आदि के वर्णन के वक्त प्रयुक्त छप्पय छन्दो में तुलसी, केशव, तथा अन्य लोकभाषा के कवि भी इस प्रवृत्ति से अछूते न रह सके। इसका आरम्भ सन्देशरासक में दिखलाई पडता है।

---

[1] सदेश रासक, पृष्ठ ४७

चिरग्गय (१८१ क<चिरगय<चिरगत), सब्भय (२०८ <सभय), परव्वस (२१० ग<परवस<परवश) दलव्वहल (११ क<दलवहल) तम्माल (५६ ग<तमाल), तुस्सार (१८४ घ<तुसार<तुषार) आदि।

§ ८९. **स्वरसंकोचन** (Vowel Contraction) आधुनिक भाषाओं में स्वर-संकोच का अत्यन्त मनोरंजक इतिहास है। संस्कृत के तत्सम शब्द जो प्राकृत काल में तद्भव हुए, उनमें क्षयिष्णुता की प्रवृत्ति बढ़ने लगी, स्वरों के बीच की विवृत्ति तो टूटी ही, संधि-प्रक्रिया से उन्हें संध्यक्षर बना लिया गया, इस प्रक्रिया में शब्दों का रूप-आकार एकदम ही बदल गया और वे नए चेहरे लेकर सामने आए।

अँअँ>ऑ=सुन्नार (१०८ क<*सुन्नआर<स्वर्णकार), साहार (१३४ घ<सहयार<सहकार), अंधार (१३९ ग<अंधआर<अंधकार)।

अँउँ>ओँ=तो (१८ घ<तउ<तत) सामोर (४२ क<सम्मउर<शाम्बपुर) मोर (२१२ ख<मऊर<मयूर) आसोय (१७२ क<आसउय <अश्वयुज), इंदोअ (१४३ घ>इन्दाओप<इन्द्रगोप) आदि।

स्वर-संकोच इसी अवस्था में कृदन्त से बने निष्ठा रूपों के चडिय> चढी १६१ घ तुट्टिय>तुटी १८ ख, आदि रूप बन जाते हैं। अपभ्रंश में कृदन्तज विशेषणों में लिंग-भेद का उतना विचार न था किन्तु ब्रजभाषा में स्त्रीलिंग कर्ता के कृदन्तज भूत के नए रूप भी स्त्रीलिंग ही होते हैं और चढी, टूटी आदि उसी अवस्था के संकेत हैं।

§ ९०. म् >व् के रूपान्तर को हमने हेमचन्द्रीय अपभ्रंश की विशेषता कहा था। रासक में कहीं-कहीं यह व् भी लुप्त हो जाता है। मध्यम 'व' के लोप की यह प्रवृत्ति ब्रजभाषा की खास विशेषता है। चाटुर्ज्या ने इसे ब्रज खड़ी बोली की विशेषता बताते हुए प्रारंभिक मैथिली से इसकी तुलना की है। (देखिए वर्णरत्नाकर § १८) संदेशरासक में मध्यग व् लोप के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। मंनाएवि (७४ अ<मंनावेवि) भाइयइ (५२ क<भावियइ<भाव्यते) भाइण (९५ ग<भाविण<भावेग), संताउ (७६ ख<संतावु<संताप) जीउ (१५४ ग<जीवु<जीवः)।

§ ९१. **ल का महाप्राणीकरण**। ल>ल्ह। ल्ह, म्ह, आदि ध्वनियाँ ब्रज में बहुतायत से मिलती हैं। मिल्हउ (४६ ग<मेल्ल=छोड़ना)।

§ ९२ द्वित्व या संयुक्त व्यंजनों में केवल एक व्यंजन को सुरक्षित रखने तथा इसकी क्षति पूर्ति के लिए पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर देने की प्रकृति, जो आधुनिक आर्यभाषाओं में आकर पूर्णतया विकसित हुई संदेशरासक की भाषा में आरम्भ हो गई थी।

ऊसास (९७ क<उस्सास<उच्छ्वास) नीसरइ (५४ ग<निस्सरइ <निस्सरति) नीसास (८३ ग<निस्सास<नि:श्वास) दीसहि (९८ घ <दिस्सइ <दृश्यते)।

§ ९३. प्रातिपदिकों के निर्माण में सहायक प्रत्ययों में संदेशरासक का यर<कर प्रत्यय अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यथा दीवयर २२ ख, संजीवयर २२ घ, उल्हावयर ६७ य। हेमचन्द्र में भी वंचयर (४।४१२) रूप इसी तरह का है। यह प्रत्यय अन्त्य स्वर के दीर्घ होने पर **प्रायः**

वैसा ही रूप लेता जैसा ब्रज का चितेरा, लुटेरा आदि। अपभ्रंश की उ विभक्ति के साथ सयुक्त होकर यह प्रत्यय यँरँ>रों (यरउ>एरो) का रूप ग्रहण करता है जो चितेरो, लुटेरो के निर्माण में सहायक है।

§ ९४. उपसर्गों में 'स' उपसर्ग का प्रयोग विचारणीय है। सलज्जिर २८ क, सगग्गिर २६ ग, सविलक्ख (२८ क<सविलक्षण) सलोल, सकोमल आदि में यह उपसर्ग देखा जा सकता है। ब्रज का सकुशल, सकोमल, सघन आदि रूप इस प्रकार निर्मित होते हैं।

§ ६५. सन्देशरासक की भाषा ब्रज के कितनी निकट है इसका पता तो कारक विभक्तियों को देखने से चलता है जिनमें ब्रजभाषा की तरह ही निर्विभक्तिक या मात्र प्रातिपदिक रूपों का ही प्रयोग हुआ है।

विरह सब्वसेय कय (१०३-ख विरहेण वशीकृताः) विरहग्गि धूम लोयणसब्वणु (१०६ घ-विरहाग्नि धूमेन लोचनस्रवणम्) णेवर चरण खिलग्गिवि (२७ घ, नूपुरचरणे विलग्य) पिय वियोय विसुण्ठल्य (११५ क प्रिय वियोगविसस्थल) इसी प्रकार सम्बन्ध कारक में पवसत ७४ क, संमरत ४६ क, गिरत १७५ ख आदि में प्रातिपदिक मात्र प्रयुक्त हुए हैं (देखिए सन्देशरासक § ५१)

§ ६६ विभक्ति-व्यत्यय के उदाहरण भी सन्देशरासक में विरल नहीं हैं। ब्रजभाषा में विभक्तिव्यत्यय की प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल है। सों, पै, आदि परसर्ग तो एकाधिक कारकों में व्यवहृत होते हैं। 'मो पै कही न जाइ' आदि कुछ उदाहरण हेमचन्द्र के दोहों की भाषा के प्रसग में दिए जा चुके हैं। सन्देशरासक के उदाहरण इस प्रकार हैं—

षष्ठी का प्रयोग द्वितीयार्थ में—

(१) तुअ हियय ट्ठियह छड्डिवि ७५ ख = त्वाम् हृदयस्थितम् मुक्त्वा (कर्म)
(२) बिलवतियह नासासिहसि १६१ ङ = विलपन्तीं मा नाश्वासयति (कर्म)
(३) दिन्ती पहिय पियासु ७० ख = प्रियाय

§ ६७. सर्वनाम प्रायः वही है जो हेम व्याकरण में अपभ्रंश दोहों में मिलते है। इन सर्वनामों से ब्रजभाषा के सर्वनामों का क्या सम्बन्ध है, यह उसी प्रसंग में दिखाया जा चुका है।

§ ६८. क्रिया रूपों की दृष्टि से अपभ्रंश से भिन्न और ब्रजभाषा के निकट पहुँचने वाली कुछ विशेपताएँ महत्त्वपूर्ण हैं।

(क) वर्तमान कालिक कृदन्त का प्रयोग ते रूप प्राय· 'अन्त' से ही अन्त होते है। इसका रूपान्तर ब्रज में (अन्त>अत) कहत, जात, सुनत आदि में दिखाई पडता है। अन्त के भी कुछ रूप मिलते हैं।

(१) सुहय तइय राजो उग्गिलन्तो सिणेहो (१०० ख)
(२) मोह वसिण बोलन्त (६५ ग)
(३) त्यो-त्यों काल हसन्त (कबीर)

(ख) भूत कृदन्तज रूप का भूत्काल में स्त्रीलिंग में प्रयोग द्रष्टव्य है। Preterite Participle के इय या इयड प्रत्यय के योग से बनाए हुए रूप जैसे हुइय (ब्रज हुई) तुटी, चडी (चढी ब्रज) आदि।

§ ९९. असमापिका क्रिया में इ प्रत्यय वाले रूपों का बाहुल्य तो है ही। इसी का विकास ब्रजभाषा में भी हुआ। ब्रज में 'इ' प्रत्यय वाले पूर्वकालिक रूप बहुत मिलते हैं। किन्तु ब्रज में पूर्वकालिक युग्म का प्रयोग एक नई विशिष्टता है। उदाहरण के लिए भई जुरि कै खरी' हसि के, लै कै आदि रूप में पूर्वकालिक के मूल रूपो जुरि, हसि या लइ के साथ कृ का असमापिका रूप भी जुडा हुआ है। इस प्रकार का प्रयोग सन्देशरासक में भी प्राप्त होता है।

विरह हुयासि **दहेवि करि** आसा जल सिंचेइ (१०८ ख)

§ १०० भूतकाल के कृदन्तज प्रयोगों में कर्मवाच्य के स्थान पर कर्तृ-वाच्य का प्रयोग नहीं दिखाई पडता है, जो ब्रज की विशेषता है। किन्तु कर्तृवाच्य की ओर प्रवृत्ति होने लगी थी। कल्लोलिहि गज्जिउ १४२ ख, सिंहिंडउ रडिउ १४४ ख, सालूरिहि रसिउ ११४ ग, कुसुमिहि सोहिउ २१५ ख, इन रूपों में तृतीया कारक के साथ कर्म वाच्य दिखाई पडता है। हसिहि चडिउ में हंस द्वारा चढा गया—अर्थ धीरे-धीरे बदलने लगा। हंसि चडिउ से हस चडिउ > हंस चड्यो।

§ १०१. संयुक्त-क्रिया का प्रयोग अवहट्ट की अपनी विशेषता है। इस प्रकार के प्रयोगों ने नव्य आर्य भाषा की क्रियाओं को नया मोड दिया है। सन्देशरासक के कुछ उदाहरण देखिये—

(१) को णिसुणे विणु रहइ (१८ ग) कौन सुने बिना रहता है
(२) तक्खरु वक्खरु हरि गउ (६५ च) तश्कर ने सामान हर लिए
(३) असेस तरुय पडि करिगय (१६२ घ) सभी पेडों के पत्ते गिर गए

इस प्रकार के हिन्दी और ब्रजरूपों के लिए द्रष्टव्य (कैलाग हिन्दी ग्रामर § ४४२,७५४)

§ १०२. क्रियार्थक संख्याओं के साथ नकारात्मक 'ण' के बाद सामर्थ्य सूचक जाइ (गम्) का प्रयोग किया जाता है। इससे क्रिया के सम्पादन में असमर्थता का बोध होता है—

(१) न धरणउ जाइ ७१ क, धरा नहीं जाता
(२) कहण न जाइ ८१ क, कहा नहीं जाता
(२) किम सहण न जाए २१८ ख, सहा नहीं जाता

ये प्रयोग प्रायः सन्देशरासक के दोहों में ही हुए हैं जो भाषा के विकास की परवर्ती अवस्था के सूचक हैं। इस तरह के बहुत से प्रयोग छिताईवार्ता में हुए हैं। उदाहरण के लिए एक पंक्ति देखी जा सकती है।

'एक दिवस की कहन न जाइ (छिताई वार्ता १२७)

§ १०३. परसर्गों के प्रयोगों में भी अपभ्रंश से कुछ नवीनता दिखाई पडती है।

सउ (ब्रज सौं) विरह सउं ७६ क, कदप्प सउं (६६ क)
गुरुविणु एण सउं (७४ ख)
सरिसु (ब्रज, सरिसों, सरिसौ) हाय हियइ सरिसु (१६१ घ)
मियणाहिण सरिसउ (१८७ घ)

कैसे मिथिला के सिंहासन को हस्तगत किया, इस पद में वर्णित है। भाषा पूर्वी प्रदेश के कवि ने लिखी है, किन्तु यह एकदम पश्चिमी पिंगल है।

अनलरन्ध्र कर लक्खन नरबए। सक समुद्द कर अगिनि ससी।
चैत कारि छठि जेठा मिलिओ। बार वेहप्पर जाउलसी॥
देवसिहे ज पुहवी छड्डिअ। अद्धासन सुरराए सरू।
दुहु सुरुतान नीन्दे अब सोअउ। तपन हीन जग तिमिरे भरू॥
देखहु ओ पृथिमी के राजा। पौरुस माँझ पुन्न बलिओ।
सतबले गगा मिलित कलेवर। देवसिंह सुरपुर चलिओ॥
एक दिन सकल जवन बल चलियो। औका दिस सों जम राए चरू।
दुअओ दलटि मनोरथ पूरेओ। गरूअ दाप सिवसिंह करू॥
सुरतरू कुसुम घालि दिस पुरेओ। दुन्दुहिं सुन्दर सादु धरू।
वीरछत्र, देखन को कारन। सुरजन सते गगन भरू॥
आरम्भिय अन्तेट्ठि महामख। राजसूय असमेध जहाँ।
पण्डित घर आचार बखानिअ। जाचक को घर दान कहाँ॥
बिज्जावइ कविवर एहु गावए। मानव मन आनन्द भएओ।
सिंहासन सिवसिंह बइट्ठो। उच्छवै वैरस बिसरि गएओ॥

सों, कारन, को आदि परसर्ग, जहाँ-तहाँ आदि क्रिया विशेषण पुरेओ, बइट्ठो, बिसरि गएओ, भएओ आदि भूतकृदन्त से बने क्रिया रूपों के कारण इस भाषा की आत्मा पश्चिमी ही मालूम होती है। मैं यह नहीं कहता कि इस पर पूर्वी प्रभाव नहीं है विशेष कर कर्ता में ए-कारान्त रूप आदि किन्तु वह प्रधान नहीं है, आरोपित है।

§ १०७. कीर्तिलता वैसे अपभ्रंश जिसे कहीं कहीं भ्रम से मिथिलापभ्रंश कहा गया है, का ग्रन्थ है। फिर भी उसमें पश्चिमी भाषा-तत्त्वों की बात लोगों को खटकती है, किन्तु इसकी भाषा के वास्तविक विश्लेषण करने के इच्छुक और तथ्य के अनुसधित्सु के लिए इस कथन से कोई आश्चर्य न होगा कि कीर्तिलता में बहुत से, अत्यत महत्त्वपूर्ण और विरल, अन्यत्र प्रायः एकदम अप्राप्य ऐसे प्रयोग मिलते हैं जो पश्चिमी हिन्दी के न जाने कितने उलझे हुए रूप तत्त्व (Morpholog) की गुत्थियों को सुलझाने में समर्थ हैं। ब्रजभाषा की दृष्टि से कुछ थोड़ी सी विशेषताएँ नीचे उद्धृत की जाती हैं।[1]

१—अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परसर्ग—

(क) सत्रो > सों (ब्रज)

तुरय राउत सञो टुट्टइ (४। १८४) मान सञो (१। २४)

(ख) कारण > कारन, (ब्रज, चतुर्थी)

वीर जुज्झ देक्खइ कारण (४।१६०) पुन्दकारि कारण रण (४।१७५)

माखन कारन आरि करत जो (सूर)

---

१ कीर्तिलता की भाषा के लिए द्रष्टव्य : कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, पृ० ७६–१२६

(ग) कइ>कै (व्रज, सम्बन्ध)
पूज आस असवार कइ उत्थि सिरनवइ सव्व कइ (२।२३४) जाकै घर निसि बसे कन्हाई (सूर)

(घ) को—
दान खग्ग को मामन न जानइ २।३८ (षष्ठी) व्रज में बहुत प्रचलित है।

(ङ) केरि, केरि को
तं दिस केरी राय घर तरुणी (४। ८६)
आय लपेटे सुतहु नद केरे (सूर २५।६०)

ने का प्रयोग हिन्दी में केवल व्रज और खडी बोली में ही होता है। १४ वीं १५ वीं की कोई भी ऐसी पुस्तक नहीं है जिसमें ने के प्रयोग के कोई चिन्ह सकेत आदि प्राप्त हों। ने के प्रयोग के आदि रूप केवल कीर्तिलता में ही मिलते हैं। जेन्ने जाचक जन रजिउ (१।६३), जेन्ने णिय कुल उद्धरिअउ (१।६४) आदि। इसमें जेण का विकसित जेन्ने—जिससे व्रज जानै जिन्ने रूप बनता है। पूर्वी अपभ्रश की शुद्ध रचनाओं में इस प्रकार 'ने' वाले रूपों का मिलना असंभव है।

२—सर्वनामों के महत्त्वपूर्ण रूप—
मेरहु>मेरौ, व्रज
मेरहु जेट्ठ गरिट्ठ अछ (२। ४२)
मेरो मन अनत कहा रचुपावै (सूर)

मेरहु के साथ मोरहु रूप भी मिलता है दोनों का व्रज रूप मोरो मेरौ होता है। हौं के हउं या हओ पूर्वरूप तो कीर्तिलता में बहुत मिलते हैं। (देखिए कीर्तिलता और अवहट्ट; सर्वनाम प्रकरण)

पूर्ववर्ती निश्चय का 'ओ' रूप अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ओ के साथ ओहु का प्रयोग निश्चित रूप से हिन्दी 'वह' के विकास की सूचना देता है। ओहु का प्रयोग १४वीं शती के किसी अन्य ग्रन्थ में शायद ही मिले।

ओहु खास दरबार (कीर्ति) ओ परमेसर हर सिर सोहइ (कीर्ति०)
वह सुधि आवत तोंहिं सुदामा (सूर)
देखे तुम अस ओऊ (सूर)

सूर के 'ओऊ' का ओऽपि>ओ भी अर्थ है। निकटवर्ती के एहु और 'एही' रूप का भी महत्त्व है।

राय चरित रसालु एहु (कीर्ति०)
स्याम को यहै परेखो आवै (सूर)
विश्वकर्मा एहि कार्य छल (कीर्ति०)
एहि घर बनी क्रीडा गज मोचन (सूर)

निजवाचक अपभ्रंश अप्पणउ कीर्तिलता में विविध रूपों में आता है।
अपने दोन ससक (कीर्ति)

होने पर यह सिद्ध नहीं हो जाता कि प्राकृतपैंगलम् के हम्मीर सबन्धी पद्य उक्त शार्ङ्गधर के ही लिखे हुए हैं। इस विवाद को व्यर्थ का तूल देना न केवल असामयिक है बल्कि निराधार वितंडा-मात्र भी है।

§ १०९. जज्वल की तरह कुछ पदों में विज्जाहर या विद्याधर का नाम आता है। विद्याधर कान्यकुब्ज नरेश जयचन्द्र के मत्री थे।[1] प्रबन्धचिन्तामणि में विद्याधर जयचन्द्र का मत्री और 'सर्वाधिकारभारधुरंधर' तथा 'चतुर्दश विद्याधर' कहा गया है।[2] विद्याधर काव्य प्रेमी था इसका पता पुरातन प्रबध सग्रह के 'जयचन्द्रनृपवृत्तम्' से भलीभाँति चलता है। परमर्दिन् ने कोप कालाग्नि रुद्र, अवध्यकोपप्रसाद, रायद्रहबोल आदि विरुद धारण की, इससे कुपित होकर जयचन्द ने उसकी कल्याग कटक नाम की राजधानी को घेर लिया। परमर्दि के अमात्य उमापतिधर ने भयाकुल राजा के आग्रह पर विद्याधर को एक सुभाषित सुनाया जिससे अत्यन्त प्रसन्न होकर विद्याधर ने सुसुप्त राजा को पलग सहित उठवाकर पाँच कोश दूर हटा दिया।[3] लगता है विद्याधर स्वय भी कवि था और उसने देशी भाषा में कविताएँ की थीं जिनमें से कुछ प्राकृतपैंगलम में सकलित हैं। इन रचनाओं का सग्रह राहुल साकृत्यायन ने काव्य-धारा में प्रस्तुत किया है।[4]

§ ११०. प्रसिद्ध संस्कृत कवि जयदेव के गीतगोविन्दम् के बारे मे बहुत पहले विद्वानों ने यह धारणा व्यक्त की थी कि यह अपने मूल में किसी प्राकृत या देशी भाषा में रहा होगा। पिशेल ने इन छन्दों को भाषावृत्त में देखकर ऐसा अनुमान किया था। (ग्रेमेटिक § ३२) जयदेव के नाम से सबद्ध दो पद गुरुग्रन्थ साहब में भी मिलते हैं। राग गूजरी और राग मारू में लिखे ये दोनों गीत भाषा और साहित्य दोनों ही दृष्टियों से उत्तम नहीं कहे जा सकते। किन्तु इनमें पश्चिमी हिन्दी का रूप स्पष्ट है। इन पदों को दृष्टि में रखकर डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने लिखा है कि यह बहुत सभव है कि ये पद मूलतः पश्चिमी अपभ्रंश में लिखे गये हों जो उस काल में बंगाल में बहुत प्रचलित था। पश्चिमी अपभ्रश की कुछ विशेषताएँ, खास तौर से 'उ' कारान्त प्रथमा प्रातिपादिक की, इन छन्दों में दिखाई पड़ती हैं, यही नहीं उन पर सस्कृत का भी घोर प्रभाव है।[5]

प्राकृत पैंगल्म् के दो छन्द गीतगोविन्द के श्लोको के बिल्कुल रूपान्तर माल्म होते हैं। मैं बहुत विश्वास से तो नहीं कह सकता किन्तु लगता है ये छन्द जयदेव के स्वतः रचित है, गुरु ग्रन्थ साहब के दो पदों की ही तरह ये भी उनके पश्चिमी अपभ्रश या पुरानी ब्रजभाषा की कविताओं के प्रमाण हैं। सभव है पूरा गीतगोविन्द परवर्ती पश्चिमी अपभ्रश या अवहट्ट

---

१. अल्तेकर—दी हिस्ट्री आव राष्ट्रकूट्स पृ० १२८
२. चिन्तामणि, मेरुतुगाचार्य, ११३–११४
३. पुरातन प्रबध सग्रह, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, पृ० ९०
४. हिन्दी काव्यधारा, पृ० ३९६–९८
5 It seems very likely they (Poems in Guru Granth) were originally in Western Apabhrams'a as written in Bengal Western characteristics are noticable in them e g the-u affix for nominative, There is straight influence of Sanskrit as well
Origin and Development of the Bengali Language, P 126

में लिखा गया था जिसे लेखक ने स्वयं संस्कृत में रूपान्तरित कर दिया। पहला छन्द इस प्रकार है—

जिण वेअ धरिज्जे महियल लिज्जे पिट्ठिहि दन्तहिं ठाउ धरा
रिउ वच्छ विआरे, छल तणु धारे, वंधिय सत्तु सुरज्ज हरा
कुल खत्तिय तप्पे, दहमुख कप्पे, कसअ केसि विणास करा
करुणा पअले मेछह विअले सो देउ णरायण तुम्ह वरा

(पृ० ५७०।२७०)

गीत गोविन्द[1] का श्लोक :

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते ।
दैत्यान्दारयते वलिं छलयते क्षत्रं क्षय कुर्वते ।।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते।
म्लेच्छान्मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्य नमः ।।

(अष्टपदी १. श्लोक १२. पृ० १७)

वसन्तागम के समय की शीतल रातें विरही लोग अत्यत कष्ट से बिताते हैं, साथ ही फूलों की गन्ध, भौंरों की गुंजार और कोकिल की काकली उनके हृदय को प्रिया समागम की स्मृतियों के उल्लास से भर देती हैं—

जं फुल्लक फल वण बहत लहु पवण
भमइ भमर कुल दिसि विदिस
झंकार पलइ वण रवइ कुहिल गण
विरहिय हिय हुअ दर विरसं
आणदिय जुअ अण उलसु उठिय मणु
सरस नलिणि किम सयणा
पल्लट्ट सिसिर रिउ दिवस दिहर भउ
कुसुम समय अवतरिय वणा

(पृ० ५८७।२१३)

गीत गोविन्द का श्लोक :

उन्मीलनमधुगन्धलुब्धमधुपव्याधूतचूताङ्कुरः
क्रीडत्कोकिलकाकलीकलरवैरुद्गीर्णकर्णज्वराः ।
नीयन्ते पथिकैः कथ कथमपि ध्यानावधानक्षण-
प्राप्तप्राणसमं समागमरसोल्लासैरमी वासराः ।।

(पृ० २९)

कृष्ण सबंधी एक और पद्य प्राकृतपैंगलम् में संकलित है, वह सीधे जयदेव के गीत-गोविन्द के किसी श्लोक का अनुवाद या समानार्थी तो नहीं मालूम होता किन्तु वस्तु और वर्णन की दृष्टि से जयदेव के श्लोकों का बहुत प्रभाव मालूम होता है, दो एक श्लोकों को साथ रखकर देखने से शायद अनुवाद भी मालूम पड़े।

---

१. मंगेश रामकृष्ण तैलंग द्वारा संपादित, बम्बई १९१३

व के लोप के बाद कई तरह के परिवर्तन दिखाई पडते हैं। कभी इसके स्थान में ए या इ रह जाता है कभी उ। प्राकृत पैंगलम् में व के स्थान पर 'उ' का प्रयोग दिखाई पडता है।

भेउ (२२०।२ <भेव <भेद), आउ (५५२।४ <आव ३६७।३ <आयाति),
ठाउ (२३६।५ ठाव <ठाम <स्थान), णेउर (२६।२ <णेवुर <नूपुर),
देउ (३४४।२ <देव), पसाउ (२५७।६ <पसाव <प्रसाद), पाउस
(३००।४ <प्रावृट्), घाउ (५०४।२ <घाव <घातः),
सन्देश रासक में भी इस तरह के बहुत से प्रयोग मिलते हैं—
सताउ (७६।ब सदे० <सतावु <संताप), जीउ (१५४।स, सन्दे० <जीवु <जिवः),
पाउ (२०६ द, सदे० <पापम्)

डा० हरिवल्लभ भायाणी का विचार है कि मध्यग 'व' लोप ब्रजभाषा की एक मुख्य विशेषता है (सन्देशरासक भूमिका § ३३) मध्यदेशीय भाषाओं, खडी बोली इत्यादि में भी यह प्रवृत्ति दिखाई पडती है। पुरानी मैथिली के विषय में वर्णरत्नाकर में विचार किया गया है (वर्णरत्नाकर § १८)।

§ ११६. साधारणतः विद्वानों का मत है कि ब्रजभाषा के पद ओकारान्त या औकारान्त होते हैं जब कि खडी बोली के पद आकारान्त। इस सिद्धान्त को इतना सबल माना गया कि पश्चिमी हिन्दी की इन दो बोलियों को सर्वथा भिन्न सिद्ध करने में इसको मूल आधार बताया गया। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने खडी बोली और ब्रजभाषा का मुख्य अतर बताते हुए कहा कि सबसे महत्त्वपूर्ण फर्क है कि ब्रजभाषा के साधारण पुलिंग सज्ञा शब्द औ या ओकारान्त होते हैं जैसे मेरौ बेटौ आयौ, या मेरो बेटो आयो, वाने मेरो कह्यो न मान्यो आदि जबकि खडी बोली के शब्द आकारान्त होते हैं।[1] किन्तु आधुनिक ब्रजभाषा तथा प्राचीन ब्रजभाषा दोनों में ही इस नियम के अपवाद मिलते हैं। प्राकृतपैंगलम् में आकारान्त और ओकारान्त दोनों तरह के रूप मिलते हैं। एक ही शब्द कभी ओकारान्त है कभी आकारान्त।

भमरो (१६३।४ <भ्रमरः), मोरो (१६३।४ <मयूरः), कामो (१२२।४ <काम), णाओ (१।८ <नागः) आदि पुलिंग सज्ञा शब्दों का प्रयोग ओकारान्त दिखाई पडता है, किन्तु बुड्ढा (५४५।२ <वृद्धः) साथ ही (बुड्ढो ५१२।२) वपुडा, (४०१।३ <वापुरा) बेचारा के अर्थ में तथा विशेषण (वका ५६७।३ <वक्र) खडी बोली का बाका, दीहरा (३०६।८< दीर्घ) आदि रूप पाये जाते है जो आकारान्त हैं।

ऊपर के उदाहरणों से दो विशेषताए स्पष्टतया परिलक्षित होती हैं (१) प्राचीन ब्रजभाषा में आकारान्त और ओकारान्त दोनों तरह के पद प्रचलित थे। इन प्रयोगों के आधार पर प्राकृतपैंगलम् में खडी बोली के बीज भी ढूँढे जा सकते हैं और सभव है लोग इन्हें खडी बोली के प्रयोग कहें, परन्तु मिर्जा खाँ की साक्षी के आधार पर कहा जा सकता है कि ब्रजभाषा में आकारान्त और ओकारान्त दोनो तरह के प्रयोग होते थे। मिर्जा खा लिखते हैं—[2]

---

1. चाटुर्ज्या, भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी पृ० १८४
2. ए ग्रामर आफ दी ब्रजभाषा, शाति निकेतन, १९३६ पृ० ४७

'पुलिंग शब्दों में वे प्रायः अन्त में 'ओ' जोडते हैं जैसे कलूटो। किन्तु बोलचाल में 'ओ' के स्थान पर 'आ' का प्रयोग करते है जैसे कलूटा। केलाग ने भी इस प्रकार की प्रवृत्ति पर ध्यान दिया था। व्रजभाषा की ध्वन्यात्मक विशेषताओं के बारे में केलाग ने लिखा है—

'व्रजभाषा में पदान्त का 'आ' विशेषणों और क्रियाओं में प्रायः 'ओ' दिखाई पडता है किन्तु सज्ञा शब्दों में प्राकृत का 'ओ' आ ही रह जाता है।'[1] जो हो ओकारान्त और आकारान्त दोनों तरह के प्रयोग व्रज में चलते हैं।

§ ११७. दूसरी विशेषता है ओकारान्त प्रयोग। प्राचीन व्रज मे अभी तक ओकारान्त पदों का विकास नहीं हुआ था। सूर और सूर के बाद की व्रजभाषा में प्रायः औकारान्त रूप मिलते हैं। मिर्जा खा ने भी सर्वत्र ओकारान्त ही रूप दिए हैं इस पर जियाउद्दीन ने एक टिप्पणी भी दी है, जिसमें इस ओ-कारान्त को बोल-चाल की भाषा की विशेषता बताया है।[2]

§ ११८. व्रजभाषा के सर्वनामों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण वे साधित रूप है जो इसे अन्य भाषाओं से भिन्न करते हैं। खडी बोली के सर्वनामो के तिर्यक रूप जिस, तिस, किस, उस आदि के आधार पर बनते हैं जैसे जिसने, उसने, जिसको, तिसको आदि। किन्तु व्रजभाषा के तिर्यक् रूप या, वा, जा का आदि साधित है अर्थात् व्रजभाषा में ये रूप वानें, वाको, जाको, ताकों, आदि बनते हैं। इस प्रकार खडी बोली में जबकि साधित-रूप में जिस, तिस, किस, उस का महत्व है व्रज में ता, का, वा, या, जा का। प्राकृतपैंगलम् में इन रूपों के बीज-बिन्दु दिखाई पडते है।

(१) कैसे जिविआ **ता**का पिअला (४०८।४)
(२) **ता**क जणणि किण थक्कउ वभ्भउ (४७०।४)
(३) **का**हु णअर गेह मद्दखि (५२३।४)
(४) **जा** अद्धगे पव्वई सीसे गगा जासु

इन सर्वनामों के अलावा जो, सो, तासु, जासु आदि व्रजभाषा के बहुप्रचलित रूपो के प्रयोग भरे पडे हैं। नीचे कुछ विशिष्ट प्रयोग दिये जाते हैं—

(१) **हम्मारो** दुरिन्ता सहारो (३६१।४ प्रा० पैं०)
(२) **हमारें** हरि हारिल की लकरी (सूर)
(३) गई भविती किल का **हमारो** (४३५।४ प्रा० पैं०)
(४) **हमरी** बात सुनो व्रजराय (सूर)
(५) उप्पाय हीणा हउँ एक्क नारी (४३५।२ प्रा० पैं०)

मध्यमपुरुष के सर्वनामो के भी बहुत ही विकसित रूप दिखाई पडते है।
(१) किति **तुअ** हरिवभ भण (१८४।८)
(२) सोहर **तोहर** सकट सहर (३५१।२)

---

१. कैलाग, ग्रामर आफ दी हिन्दी लैंग्वेज, पृ० १२८
२. ए ग्रामर आफ दी व्रज भाषा, पृष्ठ ३७, फुट नोट

(३) **तुहंइ** धुव हम्मीरो (१२७।४)
(४) **तुमहि** मधुप गोपाल दुहाई (सूर)
(५) **तुहुं** जाहिं सुन्दरि (प्रा० पैं० ४०१।१)
(६) **तुव** ध्यानहिं में हिलि मिलि (दास २६–२६)

तुअ>तुव का प्रयोग ब्रज में बहुत प्रचलित है। इन सभी रूपों की तुलना के लिए देखिये (ब्रजभाषा §§ १६४–१६७)।

निकटवर्ती निश्चय वाचक सर्वनामों के निम्नलिखित रूप महत्वपूर्ण हैं—
(१) **ते एन्हि** मलयाणिला (प्रा० पैं० ५२८।४)
(२) वारक **इनि** वीथिन्ह ह्वे निकसे (सूर)
(३) **एहु** जाण चउमत्ता (३६।४ प्रा०)
(४) **इहै** सोच अक्रूर परयो (सूर)
(५) कब देख्यों **इति** भाँतिं कन्हाई (सूर)

§ ११९. परसर्गों का प्रयोग नव्य भारतीय आर्यभाषाओं की अपनी विशेषता है। परसर्गों का प्रयोग यद्यपि अपभ्रंश काल में ही आरभ हो गया था किन्तु बाद में इनका बहुत विकास हुआ। प्राकृत पैंगलम् में परसर्गों का प्रयोग अपेक्षाकृत कम दिखाई पडता है।

करण कारण–सउँ>सौं
सभुहि **संउ** भया भिंग गण (११२।२ प्रा०)
नन्दनदन **सौं** इतनो कहिओ (सूर)
अधिकरण—मध्य>मज्झ>मह
आइकल उक्कच्छ **मंह** लोहगिणि किउ सार (१५०।१ प्रा०)
ज्यों जल **मांह** तेल की गागरि (सूर)

§ १२० ब्रजभाषा में सभाव्य वर्तमान का रूप वास्तव में अपभ्रंश के वर्तमान काल का तिङन्त रूप ही है। इन रूपों में अन्तिम स्वर विवृत्ति (Hiatus) सन्धि प्रक्रिया के अनुसार सयुक्त स्वर में बदल जाती है। उदाहरण के लिए मारउ का मारौ, मारइ का मारै आदि रूप। ब्रजभाषा में यह रूप वर्तमान काल के इस मूल भाव को प्रकट करता है, किन्तु जब उसे निश्चित वर्तमान का रूप देना होता है तब ब्रजभाषा में इस तिङन्त रूप के साथ वर्तमान काल की सहायक क्रिया को भी जोड देते है। इस प्रकार की प्रक्रिया ब्रजभाषा की अपनी विशेषता है। उदाहरण के लिए हौ मारौ हौं, तू मारै है, वह जानै है आदि रूप वर्तमान कृदन्त में सहायक क्रिया लगाकर नहीं, तिङन्त के रूप में सहायक क्रिया लगाकर बने हैं। प्राकृत पैंगलम् का एक उदाहरण लीजिए—

जह जह वलया वढइ हइ तह तह णाय कुणेह (१६२।१)

यहा वर्तमान निश्चयार्थ की क्रिया 'वढइ हइ' पर गौर करें। वह रूप ब्रजभाषा में 'बढे है' हो जायेगा। इस तरह के रूप परवर्ती ब्रजभाषा में बहुत प्रचलित दिखाई पडते हैं। प्राचीन खडी बोली और दक्खिनी में भी ऐसे प्रयोग विरल नहीं।

'पत्ता-पत्ता बूटा-बूटा हाल हमारा जाने है' (मीर)

८—व्रजभाषा की असमापिका क्रियायें अपना निजी महत्त्व रखती है। इनकी सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है सयुक्त पूर्वकालिक क्रिया का प्रयोग। व्रजभाषा मे इस तरह की क्रियाएँ सर्वत्र दिखाई पडती है। पूर्वकालिक क्रिया के साथ√कृ का पूर्वकालिक रूप।

भई **जुरि कै** खरी (सूर)

कछुक दिवस औरो व्रज **बसि कै** (सूर)

खडी बोली हिन्दी में इसका थोडा भिन्न रूप पहनकर, खाकर आदि में दिखाई पड़ता है। प्राकृत पैंगलम् के रूप इस प्रकार हैं।

जइ राय विपत्तिउ अणुसर खत्तिउ **कट्टि कए** वहि छुन्द भणौ (३३०।३, ४) 'कट्टिकइ' काट कर का पूर्व-रूप है। व्रजभाषा में 'काटि कौ' हो जायेगा। कै का पूर्वरूप कए भी महत्त्वपूर्ण है। दूसरा उदाहरण देखें—

हय गय अप पसरत धरा गुरु **सज्जिकरा** (३३०।६)

धरा के तुक पर अतिम शब्द 'कर' का करा हो गया है। 'सज्जिकर' में पूर्वकालिक युग्म का प्रयोग देखा जा सकता है, इसमें 'कर' खडी बोली में आज भी प्रचलित हैं। इसी तरह 'छक्कलु मुँह **संणावि कर**' (२५६।४) में भी वही प्रवृत्ति दिखाई पडती है। सन्देशरासक में 'दहेवि करि' रूप से भी इसी प्रवृत्ति का पता चलता है।

व्रजभाषा में भूतकाल की सामान्य क्रिया में लोगों ने औकारान्त या ओकारान्त की प्रवृत्ति को लक्ष्य किया है। इस तरह के रूप पहले कर्मवाच्य मे थे और बाद में ये कर्तृवाच्य में बदल गए। प्राकृत पैंगलम् में इस प्रकार के कर्मवाच्य रूप मिलते हैं—

(१) लोइहि जाणीओ (५४७।३)
(२) फणिऍं भणीओ (३४८।१)
(३) पिंगलें कहिओ (३२३।३)

कर्मवाच्य के ये रूप व्रज मे कर्तृवाच्य में बदल गए। प्राकृत पैंगलम् में कर्मवाच्य रूपों के साथ-साथ कर्तृवाच्य के भी रूप दिखाई पडते है।

(१) सिहर कंपिओ (२६०।१)
(२) नग्रण झंपिश्रो (२६०।२)
(३) सो सम्माणीश्रो (५०६।२)
(४) पफुल्लिअ कुंद उगो सहि चंद (३७०।४)

क्रिया रूपों में और भी बहुत से महत्त्वपूर्ण प्रयोग प्राकृत पैंगलम् की भाषा में मिलते हैं, जिनका आगे चलकर व्रजभाषा मे विकास और रूपान्तर दिखाई पड़ता है, सामान्य वर्तमान के लिए वर्तमान कृदन्त के अन्त (शतृ प्रत्यायान्त) रूपों का प्रयोग भी इस भाषा की विशेषता है। उदा हेरन्ता (५०७।४), मज्झे तिणि पलन्त (५६६।२) आदि। ऐसे रूप रासो, कबीर, चारण शैली के नरहरिभट्ट आदि की रचनाओं मे बहुत मिलते है।

§ १२१. व्रजभाषा के अव्यय के बहु प्रचलित घों, लौ, आदि रूप प्राकृत पैंगलम् में नहीं मिलते। किन्तु प्राकृत पैंगलम् में 'जु' का प्रयोग एक स्थान पर हुआ है। 'जु' व्रजभाषा में पादपूरक अव्यय है, जिसका प्रयोग बहुतायत से हुआ है।

(१) मुहअरण मण सुहइ जु जिमि ससि रयणि सोहइ (२६३।३)
(२) विद्यमान विरह-सूल उरमें जु समाति (सूर)
(३) गेंद उछारि जु ताको (सूर)
जु<यत् से विकसित पादपूरक अव्यय प्रतीत होता है।

प्राकृत पैंगलम् की भाषा में ध्वनि और रूप दोनों ही दृष्टियों से प्राचीन ब्रज के प्रयोगों का बाहुल्य है। वाक्य-विन्यास की दृष्टि से तो यह भाषा ब्रज के और निकट दिखाई पडती है। निर्विभक्तिक प्रयोग वर्तमान कृदन्तों का सामान्य वर्तमान में प्रयोग, सर्वनामों के अत्यत विकसित रूप इसे ब्रजभाषा का पूर्वरूप सिद्ध करते हैं। क्रिया के भविष्य रूप में यद्यपि इस काल तक 'गा' वाले रूप नहीं दिखाई पडते किन्तु आविह, करिह आदि में 'ह' प्रकार के रूपों का प्रयोग हुआ है। ब्रजभाषा में 'गा' प्रकार के रूप भी मिलते हैं परन्तु 'ह' प्रकार के चलिहैं, करिहैं आदि रूप भी बहुत मिलते हैं।

१२२. अवहट्ठ मे लिखे ग्रथों की भाषा का विश्लेषण करते हुए गुजरात के दो प्रसिद्ध कवियों का परिचय दिये बिना यह विवरण अधूरा ही रहेगा। इन रचनाओं में गुजराती के कुछ तत्त्व भी प्राप्त होते हैं किन्तु मूल ढाचा शौरसेनी का ही है। १३६० सवत् के आसपास जिनपद्मसूरि ने **थूलिभद्द फागु** नामक काव्य लिखा। जिनपद्मसूरि के इस काव्य का कोई निश्चित रचना-सवत् नहीं मिलता। राहुल साकृत्यायन ने हिन्दी काव्यधारा में इस ग्रन्थ का रचनाकाल १२०० ई० अर्थात् १२५७ सवत् अनुमानित किया है, किन्तु यह अनुमान ठीक नहीं प्रतीत होता। 'जैन गुर्जर कवियों' के प्रसिद्ध लेखक श्री मोहनलाल दलीचद देसाई ने जिनपद्मसूरि का जन्मकाल १३८२ सवत्, आचार्य-पदवी-प्राप्तिकाल १३६० और मृत्यु १४०० सवत् लिखा है। जो बिल्कुल गलत लगता है। सभवत. जन्म सवत् १३८२ में न कहकर वे १२८२ कहना चाहते हैं। मुनि श्री सारमूर्ति ने सवत् १३६० में जिनपद्मसूरिरास की रचना की थी। इस रास ग्रथ की रचना उसी वर्ष हुई जिस वर्ष जिनपद्मसूरि का पट्टाभिषेक हुआ।

अमिय सरिस जिनपद्मसूरि पट ठवणह रासू।
सवण जल तुम्हि पियउ भाविय लहु सिद्धिहिं तासू ॥१॥
विक्कम निज सवच्छरिण तेरह सइ नउ एहि
जिट्ठि मास सिय छट्ठि तहि सुह दिण ससि वारेहि
आदि जिणेसर वर भुवणि ठविय नन्दि सुविसाल
धय पडाग तोरण कलिय चउ दिसि वदर वाल ॥१६॥

(जिनपद्मसूरि रास)

इन जिनपद्मसूरि के विषय मे 'ऐतिहासिक जैन काव्य सग्रह' में लिखा गया है कि 'प्रसिद्ध खीमडकुल के लक्ष्मीधर के पुत्र अवाशाह की पत्नी की कुक्षि-सरोवर से उत्पन्न राजहस के सदृश्य पद्मसूरि जी को सं० १३८९ ज्येष्ठ शुक्ला षष्ठी सोमवार को ध्वजा पताका तोरण वदन मालादि से अलकृत आदीश्वर जिनालय में नान्दिस्थापन विधि साथ श्री सरस्वती-कठाभरण तरुणप्रभाचार्य (षडावश्यक बालावबोधकर्ता) ने जिन कुशलसूरि जी के पद पर स्थापित कर

जिनपद्मसूरि नाम प्रसिद्ध किया।[1] इससे मालूम होता है कि श्री जिनपद्मसूरि १३८६ के आसपास विद्यमान थे, अतः थूलिभद्द फागु का रचनाकाल इसी संवत् के आस-पास मानना ज्यादा उचित होगा। थूलिभद्द काव्य श्री मुनि जिनविजय जी द्वारा संपादित प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में संकलित है। परवर्ती अपभ्रंश में लिखी इस रचना की भाषा में गुजराती प्रभाव अवश्यंभावी है, किन्तु सामान्यतः इसमें व्रजभाषा की प्रवृत्तियाँ भी स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। मुनि स्थूलिभद्र पाटलिपुत्र में चतुर्मास व्यतीत करने के लिए रुकते हैं, वहाँ एक वेश्या उन्हें लुब्ध करने के लिए नाना प्रकार के प्रयत्न करती है। लेखक ने वेश्या के साज-श्रृङ्गार और सौंदर्य का वर्णन इस भाषा में किया है।

काजलि अंजिवि नयन जुय सिरि संथउ फाडेइ
वोरियांढिढि काचुलिय उर मंडलि ताडेइ ॥१३॥
कन्नु जुयल जसु लहलहत किर मयण हिंडोला
चञ्चल चपल तरंग चंग जसु नयण कचोला
सोहइ जासु कपोल पालि जणु गालि मसूरा
कोमल विमल सुकंठ जासु वाजइ संखतूरा ॥१४॥
लवणिम रसभरि कूवडीय जसु नाहिय रेहइ
मयणराइ किर विजयखंभ जसु ऊरू सोहइ
जसु नव पल्लव कामदेव अंकुस जिम राजइ
रिमझिम रिमझिम पाय कमलि घाघरिय सुवाजइ ॥१५॥
नव जोवन विहसति देह नव नेह गहिल्ली
परिमल लहरिहि मंदमयत रइ केलि पहिल्ली
अहर विंब परवाल खण्ड वर चंपा वन्नी
नयन सलूणिय हाव भाव बहुगुण सम्पुन्नी ॥१६॥
इणि सिणगारि करेवि वर जब आई मुणि पासि
जो एवा कउतिग मिलिय सुर किनर आकासि ॥१७॥

भाषा की दृष्टि से सरलीकृत काजलि < कज्जल, काचुलिय < कञ्चुलिय, वाजइ < वज्जइ, घाघरिय < घग्घर (देशीनाम माला) आदि शब्द, निर्विभक्तिक कारक प्रयोग, जसु, जासु, जो आदि सर्वनाम जिम तिम क्रिया विशेषण, अति विकसित अपभ्रंश के तिङन्त रूप तथा लहलहंत, विकसति आदि कृदन्त का सामान्य वर्तमान में प्रयोग, और भूत कृदन्तों के स्त्रीलिंगी सम्पुन्नी, वन्नी, गहिल्ली, आदि रूप भूतकाल के कृदन्त निष्ठा का स्त्रीलिंग 'आई' रूप, तत्सम शब्दों की अति बहुलता आदि विशिष्टताएँ इस भाषा को पूर्ववर्ती अपभ्रंश से काफी दूर और व्रज के निकट पहुँचाती हैं।

हिंडोला, कचोला, मसूरा, संखतूरा, आदि प्रयोगों को देखने से यद्यपि खड़ी बोली का भी आभास होता है पर ये प्रयोग व्रज में भी चलते हैं।

---

1. ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, अगरचन्द नाहटा और भंवरलाल नाहटा, कलकत्ता संवत् १९९४, पृ० १४–१५

§ १२३. दूसरे कवि हैं श्री विनयचन्द्र सूरि जिन्होंने **नेमिनाथ चौपई** का निर्माण सवत् १३२५ के आसपास किया। श्री राहुल साकृत्यायन के इनका काल अनुमानतः १२०० ईस्वी रखा है।[1] श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई चौदहवीं शती मानते हैं। क्योंकि इनका विक्रमी १३२५ का लिखा 'पर्यूषणा कल्प सूत्र' का निरुक्त प्राप्त होता है। इनका काव्य नेमिनाथ चतुष्पदिका भी मुनि जिनविजय सपादित प्राचीन गुर्जर काव्य-सग्रह में संपूर्ण सकलित है। भाषा के परिचय के लिए नीचे एक अश उद्धृत किया जाता है।

पोसि रोसि सवि छोडयि नाह, राखि राखि भइ मयणह पाह
पढइ सीव नवि रयनि विहाइ, लहिय छिद सखि दुक्ख अमाइ ॥१७॥
नेमि नेमि तू करती मुद्धि, जुव्वण जाइ न जाणसि सुद्धि
पुरिस रयण भरियउ ससारु, परणु अनेरस कुइ भत्तारु ॥१८॥
भोली तउ सखि खरी गमारि, वारि अछतइ नेमि कुमारि
अन्नु पुरिस कुइ अप्पणु नढइ, गइवरु लहइ कुरासभि चढइ ॥१९॥
माह मासि माचइ हिम रासि, देवि भणइ मइ प्रिय इइ पासि
तणु विणु सामिय दहइ तुसारु, नव नव मारहि मारइ मारु ॥२०॥
इहु ससि रोइसि सहू अरन्नि, हत्थि कि जामइ धरणउ कन्नि
तऊ न पतीजसि माहरि माइ, सिद्धि रमणि रत्तउ नमि जाइ ॥२१
कति वसतइ हियड़ा माहि, वाति पहीजउं किमहि लसाइ
सिद्ध जाइ तउ कोइ त वीह, सरसी जोउत उगसेंण धीय ॥२२॥

छोडवि < छड्डुवि, राखि < रक्ख, गमारि < गम्मारि, माहि < मज्झि, वाति < वत्ति < वृत्त, उगसेंण < उग्गसेण < उग्रसेण आदि सरलीकृत प्रयोगों के साथ ही तणु, रत्तउ ससारु, अनेरसु, मारू आदि—उ—प्रधान रूप, मइ, तू, अप्पणु > अपनो (ब्रज) तथा भूत निष्ठा के भरियउ > भर्यो (ब्रज) कृदन्त वर्तमान करती > करति (ब्रज) तथा अनेक तिङन्त तद्भव रूप खरी, भोली गमारि > गवारि (ब्रज) भतारु, मुद्धि > सुधि (ब्रज) आदि शब्द तथा क्रिया रूप अमाइ, पतीजसि, विहाइ, तथा क्रिया विशेषण तउ > तो (ब्रज) विणु आदि इस भाषा को प्रत्यक्ष प्राचीन ब्रज सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं।

परवर्ती अपभ्रश की ओर भी अनेक रचनाएँ ब्रजभाषा के विकास के विश्लेषण में सहायक हो सकती हैं। पूर्वी प्रदेश में लिखी गई रचनाओं में 'बौद्धगान ओ दोहा' का महत्त्व निर्विवाद है। सिद्धों की रचनाओं में दोहा कोश तो निःसन्देह पश्चिमी अपभ्रंश में है।

---

1. हिन्दी काव्य धारा, प्रयाग, १९४५, पृ० ४२८-३२

2. आचार्यहता। तेणणों स० १३२५ मां पर्यूषणा कल्पसूत्र पर निरुक्त रचेन छे। तेमना गुरु रतनसिंह सूरि अे तपगच्छमां थयेला सैद्धान्तिक श्री मुनिचन्द्र सूरिना शिष्य हता जे विक्रम तेरहमी सदी मा विद्यमान हता। तेमणे टीका पुद्गल-पट्त्रिंशिका निगोद पट्त्रिंशिका आदि ग्रयो रचेना छे।
—जैन गुर्जर कवियो, पाद टिप्पणी, पृ० ५

किन्तु चर्यागीत की भाषा अन्तःप्रवृत्ति की दृष्टि से अवहट्ट या परवर्ती अपभ्रंश से साम्य रखते हुए भी पूर्वी प्रयोगों से अत्यन्त रगी हुई है।

१२वीं से १४वीं काल की भाषा की विवरण-तालिका मैंने पश्चिमी राजस्थानी का जिक्र किया है। इस भाषा की पुष्कल सामग्री प्रकाशित हो चुकी है। और बहुत सी अप्रकाशित अवस्था में जैन भाडारों में सुरक्षित है। इस भाषा का अत्यत वैज्ञानिक परिचय डा० तेसीतोरी ने अपने निबन्ध प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में प्रस्तुत किया जो सन् १९१४-१६ के बीच इडियन ऐंटिक्वैरी में प्रकाशित हुआ। इस भाषा में भी हम प्राचीन व्रजभाषा के कुछ समता-सूचक तत्त्व प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु इसे प्रमुख ढाँचे के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

पिंगल या व्रजभाषा की चारण शैली—

§ १२४ पिंगल भाषा का किंचित् रूपादर्श प्राकृत पैंगलम् के फुटकल पदों में दिखलाई पड़ता है किन्तु इसका सबसे महत्त्वपूर्ण और गौरव ग्रन्थ पृथ्वीराज रासो है। ईस्वी सन् १८७६ में जब डा० बूलर को पृथ्वीराज की विजय की प्रति उपलब्ध हुई और उसे अधिक ऐतिहासिक मानकर उन्होंने रायल एशियाटिक सोसाइटी को पत्र लिखकर रासो का प्रकाशन स्थगित करा दिया, तब से आज तक किसी न किसी रूप में कई विद्वानों ने ऐतिहासिक, भाषा-शास्त्रीय, सास्कृतिक आदि आधारों पर इस ग्रथ की प्रामाणिकता पर ऊहापोह की, बहस की और खडनमडन की अजस्र धारा में इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को मात्र जाली कहकर तिलाजलि दे देने का सदेश भी दिया। कर्नल टाड[1], डा० बूलर[2], डा० मारिसन[3], डा० ओझा[4] तथा डा० दशरथ शर्मा[5] जैसे कुछ विद्याव्यसनी व्यक्तियों के प्रयत्नों से इस ग्रन्थ का सही विवेचन भी हुआ और इसके विवादास्पद प्रसंगों की क्रमिक जाच भी होती रही। डा० बूलर ने पृथ्वीराज विजय की घटनाओं को ऐतिहासिक माना क्यों कि वे सन् ९१२ ईस्वी से ११६८ ईस्वी तक की प्रशस्तियो में सूचित घटनाओं से मिलती थीं। पृथ्वीराज विजय में पृथ्वीराज को सोमेश्वर और कर्पूर देवी का पुत्र कहा गया है, ये कर्पूर देवी चेदिदेश के राजा की कन्या बताई गई हैं जब कि पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज को अनगपाल की पुत्री से उत्पन्न कहा गया है। पृथ्वीराज विजय की बातें पृथ्वीराज के लेखों से साम्य रखतीं हैं। इन्हीं सब ऐतिहासिक विषमताओं को देखते

---

१. एनल्स एड एन्टिक्वीटीज़ आव राजस्थान, १८२९
२. प्रोसिडिंग्स आफ जे० ए० यस० बी०, जनवरी, १८९३
३. सम एकाउण्टस आफ दी जेनिओलाजीज् इन, पृथ्वीराज विजय, वियना ओरियण्टल जर्नल, खड सात, १८९३
४. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, नवीन स० भाग १. १९२० पृथ्वीराज रासो का निर्माण काल, कोषोत्सव स्मारक सग्रह, १९२८ ईस्वी
५. राजस्थान भारती भाग १ अंक २-३, मरुभारती वर्ष १, तथा पृथ्वीराज तृतीय और मुहम्मद बिनसाम की मुद्रा, जर्नल आव न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी आव इण्डिया १९५४। दिल्ली का अतिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज तृतीय, इण्डियन कल्चर, १९४४ इत्यादि

मुनि जी के इस सद् प्रयत्न के कारण लोगों को रासो के किसी न किसी रूप की प्राचीनता में विश्वास करने का आधार मिला। मूल रासो अपभ्रंश के परवर्ती रूप में लिखा काव्य रहा होगा, उसकी लोकप्रियता उसकी वस्तु और भाषा दोनों के विकास का कारण हुई। इधर लघु और बृहद् दो रूपों की बात होने लगी है। अब तक इस प्रकार के रूपान्तरों की चार परम्परायें निश्चित की गई हैं। बृहद् रूपान्तर की ३३ प्रतियाँ, मध्यम की ११ लघु की ५ और लघुतम की २ प्राप्त हुई हैं। इन प्रतियों का सम्यक् विश्लेषण करने के बाद पाठ-विशेषज्ञ डा० माताप्रसाद गुप्त इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि बृहत् तथा मध्यम में ४९ स्थानों में से केवल १६ स्थानों पर बलाबल सम्बन्धी समानता है। शेष स्थानों पर विषमता है। बृहद् और लघु में ४९ स्थानों में केवल ५ स्थानों पर समानता है, शेष स्थानों पर विषमता है। और मध्यम तथा लघु में ५१ स्थानों में से केवल २४ स्थानों पर विषमता है। यदि बृहद् से मध्यम या बृहद् से लघु या मध्यम से लघु का संक्षेप हुआ होता तो तीन में से किन्हीं भी दो पाठों में इस प्रकार की विषमता न होती। इसलिए यह अनुमान निराधार है कि लघु और मध्यम बृहद् का अथवा लघु मध्यम का संक्षिप्त रूपान्तर है।[1] लघुतम प्रतियाँ स्वतंत्र हैं, यह विचार पुष्ट होता है, यदि इनमें से कोई प्राचीन प्रति मिले तो उसके विषय में कुछ विश्वस्त भी हुआ जा सकता है। किन्तु जबतक कोई प्रामाणिक संस्करण प्राप्त नहीं होता तब तक रासो की भाषा का सामान्य अध्ययन भी कम महत्त्व की वस्तु नहीं। इधर हाल में कविराज मोहन सिंह के सम्पादकत्व में साहित्य संस्थान् उदयपुर से पृथ्वीराजरासो का प्रकाशन आरम्भ हुआ है।[2] इस ग्रन्थ के सम्पादक ने देवलिया तथा बीकानेर की लघु प्रति के 'पंचसहस्स' शब्द से रासो की संख्या को पांच सहस्र मानकर असली रासो का पता लगाने के लिए एक तरीका निकाला है। रासोकार ने स्वरचित छन्दों के विषय में लिखा है :

छंद प्रबन्ध कवित्त जति साटक गाह दुहत्थ
लघु गुरु मंडित खंडि यहि पिंगल अमरभरत्थ

अर्थात् इसमें कवित्त, साटक, गाह (गाथा), दुहत्थ (दोहा) छन्दों का प्रयोग हुआ है। सम्पादक ने इस प्रमाण के आधार पर 'पंच सहस्स' संख्या को सीमा मानकर वास्तविक रासो का निर्णय करने का प्रयत्न किया है। जाहिर है कि यह रास्ता अत्यन्त खतरनाक और अनुमान को उचित से अधिक सही मानने के कारण लक्ष्यभ्रष्ट करने वाला है। पंच सहस्र से ज्यादा पद यदि इन्हीं छन्दों में मिले तो फिर ऐतिहासिक घटनाओं का वही ऊहापोह, वही विवाद।

रासो की भाषा—

§ १९५. रासो की भाषा प्राचीन ब्रज या पिंगल कही जाती है। हिन्दी के सर्व प्रथम इतिहासकार गार्सां द तासी ने रायल एशियाटिक सोसाइटी के हस्तलिखित प्रति के फारसी

१ पृथ्वीराजरासो के तीन पाठों का आकार सम्बन्ध, हिन्दी अनुशीलन वर्ष ७ अंक ४, १९५५ ई०

२ अब तक रासो के दो भाग प्रकाशित हो चुके हैं। प्रकाशक : साहित्य संस्थान उदयपुर। १९५४ ई०

शीर्षक को उद्धृत करते हुए लिखा है कि इस शीर्षक 'तारीख पृथुराज वज़बान पिंगल तसनीफ कर्ता कवि चन्द वरदाई' का आशय है, पृथुराज का इतिहास पिंगल जबान में, रचयिता चन्द वरदाई।[1] गार्सा द तासी १२वीं से आजतक के हिन्दी साहित्य को 'हिन्दुई साहित्य' कहते हैं और प्राचीन हिन्दुई को व्रज के सबसे निकट बताते हैं। 'व्रजप्रदेश की खास बोली व्रजभाषा उन आधुनिक बोलियों में से है जो पुरानी हिन्दुई के सबसे अधिक निकट है। हिन्दुई के महत्त्व का अनुमान बारहवीं शताब्दी में लिखित चन्द के रासो काव्य से किया जा सकता है जिससे कर्नल टाड ने एनल्स आव राजस्थान की सामग्री ली।[2] तासी जब व्रजभाषा बोली की चर्चा करते हैं तो उनका मतलब व्रजप्रदेश को बोलचाल की भाषा से नहीं बल्कि सूरदास आदि की कविता की भाषा से है। इस भाषा को वह पुरानी हिन्दुई यानी १२वीं शती के रासो की भाषा के सबसे निकट मानते हैं। डा० तेसीतोरी पिंगल अपभ्रंश के परिचय के सिलसिले में कहते हैं कि उसकी भाषा (प्राकृत पैंगलम् की) उस भाषा-समूह का शुद्ध प्रतिनिधि नहीं है जिससे पश्चिमी राजस्थानी उत्पन्न हुई। प्राकृत पैंगलम् की भाषा की पहली सन्तान पश्चिमी राजस्थानी नहीं बल्कि भाषा का वह विशिष्ट रूप है जिनका प्रमाण चन्द की कविता में मिलता है जो भलीभाँति प्राचीन पश्चिमी हिन्दी कही जा सकती है।'[3] जार्ज ग्रियर्सन चन्द के रासो को व्रजभाषा की आदि रचना बताते हैं और चार सौ वर्ष बाद होने वाले सूरदास को व्रज का दूसरा कवि।[4] यहाँ ग्रियर्सन भी रासो की भाषा को व्रजभाषा का प्रारम्भिक रूप ही स्वीकार करते हैं। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या पृथ्वीराज रासो की भाषा को पश्चिमी हिन्दी (व्रजभाषा) का आरंभिक रूप मानते हैं, किन्तु इस भाषाको रूढ और साहित्य शैली की भाषा स्वीकार करते हैं। रासो के बारे में वे लिखते हैं 'इसके मुख्य उपादान तो पश्चिमी अपभ्रंश के हैं साथ ही साथ आद्य पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी और पञ्जाबी बोलियों का पुट मिला दिया गया है। यह जनभाषा नहीं थी।'[1] डा० धीरेन्द्र वर्मा रासो की भाषा को प्रधानतया व्रज कहते हैं 'यद्यपि ओजपूर्ण शैली को सुसज्जित करने के लिए प्राकृत अथवा प्राकृताभास स्वतन्त्रता के साथ मिश्रित कर दिये गए हैं। पृथ्वीराजरासो मध्यकालीन व्रजभाषा में ही लिखा गया है, पुरानी राजस्थानी में नहीं जैसा कि साधारणतया इस विषय में माना जाता है।'[2]

§ १२६. उपर्युक्त विचारों के विश्लेषण के आधार पर इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि रासो की भाषा को प्राचीन व्रज नाम दिया जा सकता है। बहुत से लोग जो रासो की भाषा को अनियमित और परवर्ती वंशभास्कर या चारण शैली के अन्य काव्यों की भाषा से मिलती-जुलती कहकर अत्यधिक आधुनिक बताते हैं वे एक बात भूल जाते हैं कि चारण शैली की भाषा का निर्माण १२वीं १३वीं शताब्दी में पूर्ण रूप से हो गया था जिसका पता प्राकृतपैंगलम् के छन्दों की भाषा से चलता है, रासो की भाषा से मिलती जुलती भाषा १६५० संवत् के जान कवि के क्यामखा रासा में है, नरहरिभट्ट के छप्पयों में मिलती है, और आज भी राजस्थान के कुछ चारण इसी भाषा में काव्य करते हैं, किन्तु इस आधार

१ हिन्दुई साहित्य का इतिहास, अनुवाद, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, १९५३, पृ० ६६

२. हिन्दुई साहित्य का इतिहास, प्रथम सं० की पहली जिल्द की भूमिका १८३९ ई०

३. पुरानी राजस्थानी, पृ० ६, काशी, १९५६

४. लिंग्विस्टिक सर्वे आव इंडिया, खण्ड ९, भाग प्रथम पृ० ६६

पर यह तो नहीं कहा जा सकता कि रासो की भाषा एकदम नई है या उसमें पुरानी भाषा के तत्व नहीं हैं। रासो की भाषा में नवीनता लाने का 'सद्प्रयत्न' प्रक्षेपकों ने अवश्य किया है, किन्तु उसमें प्राचीन भाषिक तत्व भी प्रचुर हैं।

§ १२७. रासो की प्राचीन भाषा कैसे नवीन रूप लेती रही है इसका किंचित् आभास 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' के तीन छप्पयों और नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित रासो के उन्हीं छप्पयों की भाषा के परस्पर तारतम्य से मिल सकता है। नीचे इन छप्पयों की भाषा का तुलनात्मक ध्वनि-विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

पुरातन प्रबन्ध सग्रह का पहला छप्पय—

इक्कु वाणु पुहुवीसु जु पइं कइंवासह मुक्कयो
उर भिंतरि खडहडिउ धीर कक्खंतरि चुक्कउ।
बीअं करि संधीउ भंमइ सूमेसरनंदण।
एहु सु गडि दाहिमओ खणइ खुदइ सइंभरि वणु।
फुड छंडि न जाइ इहु लुब्भिउ वारइ फलकउ खल गुलह
न जाणउं चंद बलद्दिउ कि न वि छुट्टइ इह फलह॥

(पृ० ८६ पद्यांक २७५)

रासो का छप्पय—

एक वान पहुमी नरेश कैमासह मुक्यौ
उर उप्पर थरहरयो वीर कष्षंतर चुक्यौ
बियौ वान सधान हन्यौ सोमेसर नन्दन
गाढ़ौ करि निग्रह्यौ पनिव गाड्यौ सभरिधन
यल छोरि न जाइ अभागरो गाड्यौ गुन गहि अग्गारो
इम जंपै चद वरद्दिया कहा विघट्टै इह प्रलौ॥

(रासो पृ० १४६६ पद्य २३६)

पुरातन प्रबन्ध का दूसरा छप्पय—

अगहु म गहि दाहिमओ रिपुराय खयंकरु
कूडु मंत्रु मम ठवओ एहु जंबूपय मिलि जग्गरु
सह नामा सिक्खवउ जइ सिक्खिविउ बुज्झइ
जपइ चदवलिद्दु मज्झ परमक्खर सुज्झइ
पहु पहुविराय सइंभरधणी सयभरि सउणइ संभरिसि
कइवास विआस विसिट्ट विणु मच्छिवध बद्धओ मरिसि

(वही पृ० पदाक २७६)

रासो का छप्पय—

अगह मगह दाहिमौ देव रिपराइ खयंकरु
कूरमत जिन करौ मिले जम्बूवै जगर
मो सह नामा सुनौ एह परमारथ सुज्झै
अक्खै चंद विरद्द विमौ कोइ एहु न बुज्झै
प्रथिराज सुनवि संभरि धनी इह सम्भलि
कैमास वलिष्ठ वसीठ विन म्लेच्छ बंध बंधो मरिस

(रासो पृ० २१८२ पद्य ४७६)

पुरातन प्रबन्ध का तीसरा छप्पय—

त्रिन्हि लष तुषार सवल पाखरी अइ जसु हय
चउदसय मयमत्त दति गज्जंति महामय
वीस लक्ख पायक्क सफर फारक्क धणुद्धर
ल्हूसडू अरु वलु यान संक कुजाणइ ताहं पर
छत्तीस लष नराहिवइ विहि विनडियो हो किम भयऊ
जइ चंद न जाणउ जल्हुकइ गयउ कि मूअ कि धरि गयउ ॥

(पृ० ८८, पद्यांक २८७)

रासो का छप्पय—

असिय लप्ख तोषार सजउ पक्खर सायद्दल
सहस हस्ति चौसट्ठि गरुअ गज्जंत महामय
पंच कोटि पाइक्क सुफर फारक्क धनुद्धर
जुध जुधान वर वीर तोर बधन सद्धनभर

छत्तीस सहस रन नाइबौ विहि निम्मान ऐसो कियौ
जे चन्द राइ कवि चन्द कह उदधि बुड्डि कै धर लियौ ॥

(रासो पृ० २५०२ पद्य २१६)

तीसरे पद से स्पष्ट है कि केवल सेना की संख्या ही 'त्रिण्हि' यानी तीन लक्ष से 'असी लक्ष' नहीं हो गई बल्कि भाषा भी कम से कम सौ वर्ष का व्यवधान मिटा कर नए रूप में सामने आई।

§ १२८. प्राचीन छप्पयों की भाषा में सर्वत्र उद्वृत्त स्वरों को सुरक्षित रखा गया है जब कि नये छप्पयों में विवृत्ति मिटाकर संयुक्त स्वर कर लिए गए हैं। यथा—

खडहडिउँ > ख्यरहर्यौं (शब्दान्तर) चुक्कियउ > चुक्यौ, कइवासह > कैमास, जंबूपय (इ) > जंबूवै, बुज्झइ > बुज्झै, सुज्झइ > सुज्झै, विअ (उ) > वियौ, चउसट्ठि > चौंसट्ठि (शब्दान्तर) भयउ > भयौ

इस अवस्था को देखने से दो बातों का पता चलता है। प्राचीन छप्पयों की भाषा प्राकृत पैंगलम् की भाषा की तरह उद्वृत्त स्वरों को सुरक्षित रखती है जबकि नये छप्पयों की भाषा ब्रजभाषा की तरह इन्हें सुरक्षित नहीं रखती। इस प्रवृत्ति का सबसे बड़ा प्रभाव

ब्रजभाषा के वर्तमान तिङन्त और भूतनिष्ठा के ऐ-कारान्त और औ-कारान्त रूपों के निर्माण में दिखाई पडता है।

§ १२९. प्राचीन छपदों में उद्वृत्त स्वर सर्वत्र सुरक्षित हैं। कहीं-कहीं उन्हें सयुक्त स्वर में परिवर्तित भी किया गया है, किन्तु यह परिवर्तन अउ > औ के बीच की स्थिति 'अओ' की सूचना देती है।

मुक्कओ (अप० मुक्कउ) = मुक्यौ

दाहिमओ (अप० दाहिनउ) = दाहिमौ

ठवओ (अ० ठवियउ) = ठयौ

वद्धओ (अप० वद्धउ) = वधौ

विनिडओ (अप० विनिडउ) = विनड्यौ

यहाँ प्राचीन छपदों की भाषा में ओ-कारान्त (भूतनिष्ठा) की प्रवृत्ति दिखाई पडती है। प्राकृत पैंगलम् की भाषा में सर्वत्र प्रायः ओ-कारान्त ही रूप मिलते हैं या तो अपभ्रंश की तरह विवृत्ति वाले 'अउ' के रूप। प्राकृत पैंगलम् के उदाहरण पीछे टिप्पणी में देखे जा सकते हैं। लगता है १२ वीं १४ वीं तक औकारान्त रूपों का विकास नहीं हुआ था, यह अवस्था सन्देशरासक की भाषा में भी देखी जा सकती है।

§ १३०. पिंगल में नव्य भारतीय आर्य भाषाओं की प्रमुख प्रवृत्ति यानी सरलीकरण का भी प्रभाव पडा है। प्राचीन छपदों की भाषा में बहुत से रूप अपभ्रंश की तुलना में सरलीकृत कहे जा सकते हैं, किन्तु बहुत से रूपों में व्यजन द्वित्व सुरक्षित है जो बाद की छपदों की भाषा में सरल कर लिया गया है।

इक्कु (अप० एक्कु) > एक

विसट्ट (अप० वसिट्ट) > वसीठ

परमक्खर (अप०) परमाँ (रथ)

प्राचीन पद मे पाखरी सरलीकृत रूप है जब कि नये में पक्खर कर लिया गया है।

§ १३१. व्यजन द्वित्व (Simplyfication of Inter Vocalic Sounds) के प्रयोग भी मिलते हैं। चारण कवि का उद्देश्य युद्धोन्माद या शस्त्र-ग्रहण की उत्तेजना का सचार होता था इसीलिये वह शब्दों के अर्थ की अपेक्षा उसके उच्चारणगत ध्वनि या गूँज की ओर अधिक ध्यान देता था। इसके लिये वह अनावश्यक द्वित्व का प्रयोग निर्विकार भाव से करता था। वस्तुतः उसका यह एक कौशल हो गया था। अमृतध्वनि और छप्पय छन्दों तथा त्रोटक आदि वर्णवृत्तों में वह इस कौशल का पूरा उपयोग करता था।

(१) पायक्क (< पाइक < पदातिक)

(२) फारक्क (फारक)

(३) अग्गरा < आगर < आकर

नये पदों मे पायद्दल < पयदल, विम्मान < विमान या विवान आदि रूप मिलते हैं। यह प्रवृत्ति डिंगल मे तो बहुत प्रबल थी।

§ १३२. व>म

व का म परिवर्तन द्रष्टव्य है—

पुहुवीस>पुहुमीस (पृथ्वीश)

कइवासह>कइमासह (कदम्ववास)

ग्रियर्सन ने अलीगढ की, व्रजभाषा में व>म परिवर्तन लक्ष्य किया था। मनामन< मनावन (हिन्दी) वामन<वावन (हिन्दी) रोमति<रोवति।[1] अपभ्रंश में ऐसे प्रतिरूप मिलते थे।

मन्मथ>वम्मह

प्राचीन छपदो में प्रयुक्त ण ध्वनि नवीन छपटों में सर्वत्र 'न' कर दी गई है। वाण>वान, नदण>नंदन, सइंभरिधणु>सभरिधन आदि। व्रजभाषा में ण का न हो जाता है। वस्तुतः व्रज में ग ध्वनि पूर्णतः लोप हो चुकी है (देखिये व्रज भाषा § १०५।

इस प्रकार ध्वनि विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते हैं कि रासों के पुराने पदों की भाषा १३ वीं १४ वीं की भाषा है। जो लोग इसे एकदम अपभ्रंश कहते हैं वे इसके रूप तत्व की नवीन अग्रसरीभूत भाषा-प्रवृत्तियों पर ध्यान नहीं देते जो परसर्ग, विभक्ति, क्रियारूपों और सर्वनामों की दृष्टि से काफी विकसित मालूम होती है। दूसरी ओर रासों का जो वर्तमान रूप प्राप्त है उसकी भाषा से पुराने छपटों की भाषा का सीधा सबंध है। परवर्ती भाषा इसी का विकास है जो सूर आदि की भाषा से पुरानी है और उसमें १३ वीं १४ वीं के भी वहुत से रूपों को सुरक्षित किये हुये हैं।

पृथ्वीराज रासो की भाषा की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख आवश्यक है।[2]

ध्वनि सम्बन्धी विशेषताएँ—ध्वनि सम्बन्धी कुछ विशेषताओं का पुरातन प्रबन्ध के छपटों की भाषा के सिलसिले मे उल्लेख हो चुका है। कुछ अन्य नीचे दी जाती हैं।

§ १३३. रासो की भाषा में तत्सम-प्रयोगों के अलावा अन्य शब्दों में प्रयुक्त ऋ का परिवर्तन अ, इ, ए आदि में होता है अमृत>अमिय, कृत>किय, हृदय>हिय, मृत्यु>मीचु, आदि। यह प्रवृत्ति अपभ्रंश से भी पहले शुरू हो गई थी और बाद में व्रजभाषा में भी दिखाई पडती है।

---

१. लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, खण्ड ९, भाग १, पृ० ७१

२. रासो की भाषा के लिए द्रष्टव्य—

(क) जान वीम्स, स्टडीज़ इन ग्रामर आव चन्दवरदाई, जे० ए० यस० बी० खण्ड ४२, भाग १ पृ० १६५–१९१

(ख) हार्नले, गोडियन ग्रामर में यत्र-तत्र

(ग) नरोत्तमदास स्वामी, पृथ्वीराजरासो की भाषा, राजस्थान भारती भाग १ अंक ४ पृ० ११४७

(घ) डॉ० नामवर सिंह, पृथ्वीराजरासो की भाषा, काशी, ११५६

(ङ) डा० विपिन विहारी त्रिवेदी–चन्दवरदाई और उनका काव्य, इलाहाबाद, पृ० २८१–३११

§ १३४. **उपधा या अन्त्य स्वरका लोप** या ह्रस्वीकरण अपभ्रंश में भी था, रासो में भी है और यही बाद में ब्रजभाषा के रमनि, रेख, आस आदि में दिखाई पडती है। रासो की भाषा में धारा > धार, भाषा > भाष, रजनी > रयणि, शोभा > सोभ, लज्जा > लाज, भुजा > भुज आदि में यह प्रवृत्ति लक्षित होती है।

§ १३५. **स्वर संकोच** या (Vowel Contraction) की प्रवृत्ति परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ठ की सभी रचनाओं में पाई जाती है। सन्देशरासक, प्राकृत पैंगलम् आदि की भाषा के विश्लेषण के सिलसिले में हम इस पर विचार कर चुके हैं।

पदातिक > पाइक, ज्वालापुर > जलउर > जालौर, साकभरि > सायभरि > सभरि, तृतीय > तीज, मयूर > मोर आदि इसके उदाहरण हैं।

§ १३६. **मध्यग म > वँ**—यह ब्रजभाषा की अत्यन्त परिचित प्रवृत्ति है। कुमारी > कुँवारी, तोमर > तोवँर, परमार > पवाँर, भ्रमर > भवँर, सामत > सावँत आदि।

§ १३७. रेफ वाले शब्दों में कई स्थितियाँ होती हैं। सयुक्त पूर्ववर्ती र् मध्यस्वरागम द्वारा पूर्ण र हो जाता है तथा रेफवाले वर्ण द्वित्व (Gemination) हो जाता है। दुर्ग > दुरग्ग, वर्ष > वरस्स, अर्क > अरक्क, स्वर्ग > सुरग्ग, पर्वत > परव्वत, अर्द्ध > अरद्ध।

दूसरी प्रक्रिया में रेफ का पूर्ण र हो जाता है किन्तु आदि स्वरहीन (light) होकर उसमें मिल जाता है। बाद में क्षति पूर्ति के लिए समीकरण के आधार पर अन्त्य व्यंजन का द्वित्व हो जाता है। जैसे—

गर्व > ग्रब्ब, वर्ण > व्रन्न, सर्प > स्रप्प, गर्भिणी > ग्रब्भनिय
पर्व > प्रब्ब, धर्म > ध्रम्म आदि।

§ १३८. र का विकल्प से लोप भी होता है यथा समुद्र > समुद, प्रहर > पहर, प्रमाण > पमान। ब्रज में इस तरह के शब्द बहुत मिलते हैं।

§ १३९. **द्वित्त्व वर्ण सरलीकृत** होकर एक वर्ण रह जाता है और इसकी क्षतिपूर्ति के लिए पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर लेते है। यह नव्य आर्य भाषाओं की बहुत प्रचलित प्रवृत्ति है। कार्य > कज्ज > काज, दर्दुर > दद्दुर > दाद्दुर, वल्गा > वग्ग > वाग या वाघ, क्रियते > किज्जइ > कीजइ आदि।

§ १४०. **स्वरभक्ति**-उच्चारण सौकर्य के लिए सयुक्त व्यजनों के टूटने के बाद उनमें स्वर का आगम होता है, यह प्रवृत्ति न केवल रासो की भाषा में है बल्कि मध्यकाल की ब्रज, अवधी आदि सभी में समान रूप से दिखाई पडती है। यत्न > जतन, दुर्दैव > दुरदेव, पूर्ण > पूरन, वर्ण > वरन, वर्ष > वरस, स्वप्न > सपना, शब्द > सबद, स्पर्श > परस, द्वार > दुवार, दर्शन > दरसन आदि।

रूप-तत्त्व—

§ १४१. ब्रजभाषा में बहुवचन में कर्ता, कर्म, करण आदि में न, नि विभक्ति का प्रयोग होता है, परिवर्तित रूप में 'यन' भी मिलता है (देखिये ब्रजभाषा §१५०) रासो की भाषा में ऐसे रूप प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। मीननु मुत्ति, सत्थियनु, दरवलनि, सुगधनि, करण में राजनु (—समझावहिं) आदि।

§ १४२. रासो में ने परसर्ग नहीं मिलता। ब्रज में 'ने' या 'नै' परसर्ग मिलता है। बीम्स ने रासो का एक पद उद्धृत किया है जिसमें उन्हें ने ने का प्रयोग मिला था, बालपन पृथीराज ने, इस प्रयोग का भी उन्हें ने कर्ता-करण की ओर नहीं बल्कि सम्प्रदान की ओर लगाव देखा। इस प्रकार रासो की भाषा में ने का पूर्णतः अभाव है कीर्तिलता के दो चार सर्वनामिक प्रयोगों को छोडकर ने का प्रयोग १२ वीं १४ वीं के पिंगल अपभ्रंश साहित्य में कहीं नहीं मिलता। किन्तु रासो मे अन्य कारकों में विविध परसर्गों का प्रयोग हुआ है। करण में सू, सों यथा **लक्ख सों भिरे, राज सूं कहइ**। करण में ते का प्रयोग भी हुआ है। यह ते ब्रज में तें' के रूप में दिखाई पडता है, **पानि ते मेरु ढिल्ले**। सम्प्रदान में लागि या लग्गि तथा अपभ्रंश तणउ का विकृत तण रूप प्रयुक्त हुए हैं **(१) जीव लगि छुंडिय (२) गुनियन तन चाह्यो**। ब्रज में आरम्भिक रचनाओं में तन या तणा (ओर के अर्थ में) का प्रयोग मिलता है लगि का प्रयोग परवर्ती ब्रज में अत्यन्त विरल है, किन्तु आरम्भिक ब्रज (१४००-१६००) में इसका बहुत प्रयोग हुआ है। सम्बन्ध के 'को' 'कउ' और के तीनों रूपों के बहुत से उदाहरण मिलते हैं।

१—कवि **को** मन स्तउ २—पृथीराज कउ ३—रोस के दरिया आदि। अधिकरण का प्रसिद्ध परसर्ग मज्झ>माज्झ>माझ, मह माझारि आरि कई रूपों में मिलता है।

§ १४३. सर्वनामों की दृष्टि से रासों की भाषा बहुत धनी है अर्थात् उसमें नाना प्रकार के सर्वनाम दिखाई पडते हैं।

हौं, मैं—तो हौं छुंडों देहि, मैं सुन्या साहिबिन अंप कीन
मो, मोहि—कह्यो मोहनि वर मोहि, मो सरण हिन्दू तुरक
मेरे, मेरी—मेरे कछु राय न आवहु, मेरी अरदासि
हम, हमारी—हम मरन दिवस हैं मंगलीक, आल्हा सुनो हमारी वानीन

इसी प्रकार तुम, तुम्ह, तुम्हइ, तै, तोहि आदि के भी उदाहरण मिलते हैं। ब्रजभाषा की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण वे साधित रूप है जिनमें परसर्गों के प्रयोग से कारकों का निर्माण होता है। जाको देहन होई, में जाको साधित रूप है। इसी तरह ता को, ता सौ, ता पै आदि रूप उपलब्ध होते हैं। सर्वनामों की दृष्टि से रासों की भाषा बिल्कुल ब्रज कही जा सकती है।

§ १४४. वर्तमान में तिङन्त रूपों के अलावा जो अपभ्रंश से सीधे आये हैं और जिनका विकास ब्रज में भी हुआ, अन्त वाले निष्ठा रूप भी प्रयुक्त हुए हैं, ठीक प्राकृत पैंगलम् की तरह। झलकन्त कनक (कनक झलकता है) राइ अप्पंत दान (राजा दान अर्पता है) यह पिंगल और प्राचीन ब्रज की अपनी विशेषता है। भविष्य में—न—वाले रूपों के साथ ही—ह—प्रकार के रूप प्रयुक्त हुए हैं। भिड़िहै, जानिहै, मानिहै आदि रूप ब्रज के समान ही है। निष्ठा के भूत (कृदन्त) कालिक रूप स्त्रीलिंग कर्ता के अनुसार चली, उठी आदि बनते हैं। क्रियार्थक संज्ञा ण—प्रत्यय के योग से बनती है। ब्रज की तरह ही, दिक्खण, चाहण, आदि जो उकारान्त होने से देखनो, चाहनो आदि अजरूर ले लेने हैं।

§ १४५ भूत काल में इग से बने कुछ विलक्षण रूप मिलते हैं। भविष्यत् के गा वाले रूपों के विकास में इनका योग संभव है। वैसे ये गत >ग बने प्रतीत होते हैं।

(१) **करिग** देव दिक्खन नगर
(२) गहि छोरि दक्खिन **फिरिग**
(३) उभय सहस हय गय **परिग**

सयुक्त क्रिया के प्रयोग भी मिलते हैं जो प्रायः ब्रजभाषा जैसे ही हैं। प्राचीन शौरसेनी के प्रभाव से (कथित > कधिदो) आदि की तरह–ध–प्रधान कुछ रूप दिखाई पडते हैं। कीधौ (कियौ) लीधौ (लियौ) आदि। न, ध, त कृतप्रत्ययान्त रूप हैं जो सस्कृत में भी किसी न किसी रूप में हैं–दीन, हीन जीर्ण, शीर्ण, दुग्ध, मुग्ध, दग्ध, लब्ध, कृत, हृत, कथित।

(१) वर **दीधौ** ढुंढा नरिंद
(२) प्रथिराज ताहि दो देस **दिद्ध**
(३) पुत्री पुत्र उछाह दान मान धन **दिद्धिय**
(४) अहि वन मनि **लिद्धिय**

इस प्रकार के रूप प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में बहुत प्रचलित हैं, बाद में प्राचीन गुजराती में भी इनका प्रचलन रहा, ब्रज की आरंभिक प्रद्युम्नचरित, हरिचन्द्र पुराण (१४००–१५००) आदि रचनाओं में इनका प्रयोग मिलता है। ये रूप कबीर, नरहरि तथा केशव की रचनाओं में भी मिलते हैं। बीम्स लिद्ध की उत्पत्ति √लभ् से करते हैं। जिसका रूपान्तर लब्ध बनता है, इसी लब्ध से लिद्ध तथा इसी के तुक पर अन्य क्रियाओं के भी ऐसे ही रूप बन गए।

§ १४६. क्रिया विशेषण के रूपों में ओर, कह, कोद (एक कोद करि नेहु-सूर) किधु, किंधो, के (विभाजक) आदि ऐसे रूप, जो १४ शताब्दी के किसी अपभ्रंश ग्रथ में नहीं दिखाई देते और जो ब्रजभाषा के अत्यत प्रचलित अव्यय रूप हैं, बहुत अधिक मिलते हैं।

§ १४७ सख्यावाचक विशेषण, न केवल विविध रूपों के बल्कि भाषा के विकास के कई स्तरों से गृहीत भी नाना प्रकार के दिखाई पडते है। अष्ट, अट्ठ, अट्ट, आठ, आठ के ये चार रूप प्राप्त होते हैं इसी प्रकार प्रायः सभी पूर्ण सख्याएँ कई रूपान्तरों के साथ प्रयुक्त हुई हैं। अन्य सख्यावाचक विशेषणों के कुछ विचित्र सकेत भी मिलते है जैसे दस + दोह = १२, दस + तीन = १३, दहतीय = १३, तेरहतीन = १६, दस आठ = १८, चौअग्गानी वीस = २४, तीस पर पाच = ३५, तैंतीसे नौ = ४२, तीसह विय = ६०, पचास वीस दो दून घटि = ६४, आदि।

§ १४८ शब्द समूह तो चन्द की स्वच्छन्दता और निरकुशता का विचित्र नमूना है ही। तद्भव रूपों के नष्ट-भ्रष्ट अतिविकृत रूपों को पहचान सकना भी मुश्किल होता है। देशी शब्दों का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है वागुर, वत्र, अलगार, तिनक्क, भाठी, ढोह, छोगा, वेढ (रुकावट) गुदरन, औसर, ढीमर, आदि सैकडों शब्द इस विभाग में रखे जा सकते हैं। अरबी फारसी शब्दों का भी पूरा हुजूम दिखाई पडता है। हक्क, (हक), हसम (नौकर), फुरमान (फरमान), अरदासि (अर्जदास्त), मुजरा, कब्बूल, हरवल (हरावल), मीसान, खान, नेज (नेज़ा) तसलीम, कहर, खरगोस, सिकार, बजार, जीन, कोटल (कोतल) गाज़ी, पीर, जहूर (ज़ाहिर होना) आदि बहुत से शब्द इस्तेमाल हुए है। यह सही है कि चन्द ने इन शब्दों में भी रद्दोबदल किया है। छन्दानुरोध और उच्चारण-सौकर्य के कारण इन विदेशी

शब्दो में भी परिवर्तन हुए हैं।[1] चारण शैली का प्रभाव विदेशी शब्दों पर भी घनिष्ठ रूप से पड़ा है।

§ १४९. पृथ्वीराज रासो के अलावा कई अन्य रासो काव्य भी पिंगल भाषा में लिखे गए। इनमें नल्लसिंह का विजयपाल रासो और नरपति नाल्ह का वीसलदेव रासो दो अत्यन्त प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ हैं। नल्लसिंह का कोई निश्चित परिचय प्राप्त नहीं होता। विजयपाल रासो के ही एक अंश से यह सूचित होता है कि ये सिरोहिया शाखा के भाट थे। विजयगढ़ के यादव नरेश विजयपाल के आश्रित सभा-कवि के रूप में इन्हें राजा से एक नगर, सात सौ गाँव, हाथी, घोड़े और रत्न जड़ित कञ्चन के आभूषण पुरस्कार में मिले थे।

भये भट्ट प्रथु यज्ञ ते है सिरोहिया अल्ल।
वृत्तेश्वर यदुवंस के नल्ल पल्ल दल सल्ल॥
वीसा सो गजराज वाजि सोलह सो माते।
दिये सात सौ ग्राम म्हहर हिंडोन सुदाते॥
सुतर दिये द्वै सहस रकम गिलमे भरि अंवर।
कञ्चन रत्न जटाव बहुत दीने जु अडम्बर॥
कुल पूजित राव सिरोहिया यादव पति निज सम कियव।
नृप विजयपाल जू विजयगढ साह ये जू सम्मपियव॥

ग्यारहवीं शताब्दी में करौली मे विजयपाल नामक एक प्रतापी राजा अवश्य हुए थे जिन्होंने अलवर, भरतपुर, धौलपुर आदि राज्यों के कुछ भागोंपर भी अधिकार कर लिया था।[2] पं० मोतीलाल मेनारिया ने इस ग्रथ को १६०० का बताया है।[3] जबकि मिश्रबंधु इसका रचनाकाल १३५० का अनुमानित करते है। इस ग्रन्थ को अत्यन्त परवर्ती माननेके कारणों का जिक्र करते हुए मेनारिया जी लिखते है कि 'गजनी ईरान, काबुल, दिल्ली, ढूढाड आदि पर विजयपालका एक छत्र राज्य होने की जो बात नल्लसिंह ने अपने ग्रथ में लिखी है वह इतिहास विरुद्ध और अतिरंजन है। दूसरे यह कि इस ग्रंथ पर पृथ्वीराज रासो (१८ वीं शताब्दी) और वंशभास्कर (१८९७) दोनों का प्रभाव साफ झलकता है।[4] मेनारिया जी के दोनो तर्क बहुत प्रबल नहीं हैं। जैसा कि पहले ही कहा गया पिंगल शैली का निर्माण १४ वीं शताब्दी मे ही हो चुका था जिसका निर्वाह वशभास्कर जैसे परवर्ती ग्रथ में यानी १८ वीं शती के अन्त तक होता रहा। रही बात इतिहास विरुद्ध बातो के उल्लेख की तो ऊपर जिसे इतिहास विरुद्ध घटना कहा गया है वह मात्र अतिरंजन और आश्रयदाता की प्रशस्ति में

---

१. अरबी फारसी शब्दो की एक विस्तृत सूची, मूल के साथ डा० विपिनविहारी त्रिवेदी ने प्रस्तुत की है, चन्दवरदायी और उनका काव्य, पृ० ३१३–४६

२. द रुलिंग प्रिंसेज़ चीफ्स ऐण्ड लीडिंग परसोनेजेज़ इन राजपूताना, छठाँ संस्करण, पृ० ११५

३ राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० ८३–८४

४ वही, पृ० ८३–८४

अतिशयोक्ति का अनिवार्य प्रयोग है। इसे शैली की सामान्य त्रुटि या विशेषता जो चाहें कह सकते हैं।

विजयपाल रासो की भाषा पिंगल या प्राचीन ब्रज है। मेनारिया जी ने लिखा है कि इस ग्रथ में सब ५२ छन्द, ८ छप्पय, १८ मोतीदाम, ८ पद्धरि, ६ दोहे और २ चौपाइयाँ मिलती हैं। नीचे कुछ (छन्द—मोतीदाम) अश उद्धृत किये जाते हैं—

जुरे जुध यादव पंग मरद्द मही कर तेग चढ्यो रण मद्द
हकारिय जुद्ध दुहू दल सूर मनो गिरि सीस जल्लथरि पूर
हलौ हिल हाक वजी दल मद्धि, भई दिन ऊगत कूक प्रसिद्धि
परस्पर तोप वहैं विकराल, गजै सुर भुम्मि सरग्ग पताल
लगै वर यन्त्रिय छत्तिय शुद्ध गिरे भुव भार अपार विरुद्ध
वहैं भुववान ढक्यौं असमान, खमजर खेचर पाव न जान।

नरपति नाल्ह का वीसलदेव रासो हिन्दी साहित्य का बहुचर्चित ग्रथ रहा है। इसके रचना काल के विषय में बहुत विस्तृत विवाद[1] हो चुका है। नाहटा और मेनारिया इस ग्रथ को १६ वीं शताब्दी से पहले का निर्मित मानने को तैयार नहीं है। डा० ओझा इसके रचना-काल १२७२ सवत् को प्रमाणित बताते हैं। यद्यपि इस विवाद का कोई सर्वमान्य निष्कर्ष नहीं निकल सका है पर विभिन्न प्रतियों के आधार पर डा० गुप्त द्वारा सपादित ग्रथ १६ वीं से पहले की भाषा की सूचना अवश्य ही देता है। ग्रथ की भाषा पिंगल के कम राजस्थानी के ज्यादा निकट है।

§ १५०. पिंगल की दृष्टि से श्रीधर व्यास के रणमल्लछन्द का महत्व असदिग्ध है। श्रीधर ईडर के राठौर नरेश रणमल्ल के दरबारी कवि थे। इन्होंने सवत् १४५७ में रणमल्ल छन्द की रचना की[2] जिसमें ईडर नरेश रणमल्ल और पाटण के सूबेदार जफरखाँ के सवत् १४५४ के युद्ध का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रथ का सपादन 'प्राचीन गुर्जर काव्य' में रायबहादुर केशवलाल हर्षदराय ध्रुव बी० ए० ने १९२७ में किया जो गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी, अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ।[3] यह बहुत सतोषप्रद सस्करण नहीं है। इधर पुरातत्व मदिर, जयपुर से मुनि जिनविजय जी के निरीक्षण में इस ग्रथ का पुन. सपादन हो रहा है। के० ह० ध्रुव ने इस ग्रन्थ का सपादन पूना, डेकन कालेज के सरकारी सग्रह की प्रति के आधार

---

१. वीसलदेव रासो के रचनाकाल के लिए द्रष्टव्य श्री मेनारिया, राजस्थानी भाषा और साहित्य, ८९-९१, अगरचन्द नाहटा, राजस्थानी जनवरी १९४०, डा० गौरीशकर हीराचन्द ओझा, नागरीप्रचारिणी पत्रिका १९४७ पृ० २२५, तथा वर्ष ५४ (२००६ सवत्) पृ० ४१, तथा डा० माताप्रसाद गुप्त स० वीसलदेव रास, प्रयाग १९५३।

२ के० एम० मुंशी, गुजराती एण्ड इट्स लिटरेचर, पृष्ठ १०१

३. कवीश्वर दलपतराय स्मारक ग्रथमाला न० ४, प्राचीन गुर्जर काव्य, १–१४ पृ०

पर किया था जिसमे लिपिकाल १६६२ दिया हुआ है।[1] रणमल्ल छन्द का एक अश नीचे उद्धृत किया जाता है—

जिम जिम लसकर लोह रसि लोट्टइ सासन लक्कि
ईडरवइ चउमइ चडइ तिम तिम समर कडक्कि ॥४४॥

पच चामर

कटक्कि मूंछ मौंछ मेंछ मल्ल मोलि मुग्गरि
चमक्कि चलि रण्णमल्ल मल्ल फेरि संगरि
चमक्कि धार छोडि धान छण्डि धाहि धग्गड़ा
पंडक्कि पाट पक्कढन्त मारि मारि मग्गड़ा ॥४५॥

चुप्पई

हय खुर तल रेणुइ रवि छाहिउ, समुहरि भरि ईडरवइ आइउ
खान खवास खेलि वल धायु, ईडर अडर दुग्ग तल गाह्यु ॥४६॥
दम दम कार ददाम दमक्कइ, ढमढम ढमढम ढोल ढमक्कइ
तरवर तरवर वेस पहट्टइ, तर तर तुरक पडइ लट टुट्टइ ॥४७॥

श्रीधर व्यास की भाषा चारणशैली से घोर रूप में रगी हुई है। भाषा प्रायः पृथ्वीराज रासो की तरह ही है। कहीं कहीं तो भाषा विल्कुल सूदन की भाषा की तरह है जिसके बारे में शुक्ल जी ने लिखा है "भाषा मनोहर है पर शब्दों की तडा तड, पडापड से जी ऊबने लगता है।[2] तुलसीदास ने भी वीर प्रसगों में इस कौशल का प्रयोग किया है।

§ १५१ चारण शैली की व्रजभाषा के इस विवेचन से हम व्रजभाषा के प्राचीन रूप का निश्चित आभास पाते हैं। इस भाषा में कृत्रिमता बहुत है, शब्दों के विकार भी स्वाभाविक नहीं है, प्रयासजन्य कर्ण-कटुता से ओज पैदा करने के उद्देश्य के कारण इसमें भयकर विकृति दिखाई पडती है। इस काल की भाषा में सस्कृत के तत्सम शब्द भी प्रयोग में आने लगे थे हालाकि उनके रूप भी शुद्ध नहीं थे, उनमें भी चारण शैली की विकृति का भद्दा प्रभाव पड़े विना न रह सका। यह सब होते हुए भी इस भाषा की आत्मा व्रज की ही है। भाषा के वाहरी ढाँचे के भीतर व्रज भाषा के सामान्य प्रचलित रूप की एकसूत्रता अन्तर्निहित है। यद्यपि हम इस भाषा को बोली जाने वाली व्रज से भिन्न मानते हैं, क्योंकि यह कृत्रिम और दरबारों की साहित्यिक भाषा थी, फिर भी इसका भाषागत और साहित्यिक महत्त्व निर्विवाद और मान्य है।

औक्तिक व्रजभाषा का अनुमानित रूप—

§ १५२. १२वीं से १४वीं शताब्दी के बीच जब कि पिंगल-व्रज दरबारों की साहित्यिक भाषा के रूप में प्रचलित थी, मध्यदेश या शूरसेन प्रदेश की अपनी जन'बोली का भी विकास हो रहा था। पिंगल भाषा की ऊपरी बनावट और शारीरिक गठन के भीतर यद्यपि इन

१. प्राचीन गुर्जर काव्य, प्रस्तावना, पृ० १–२
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २६४–६५

जन-बोली की आत्मा का आभास मिलता है। किन्तु इसका शुद्ध रूप इससे कुछ भिन्न अवश्य था जो १६वीं शताब्दी में विकसित होकर भक्ति-आन्दोलन के साथ ही एक प्रौढ भाषा के रूप में दिखाई पडा। १२वीं से १४वीं तक के विभिन्न प्रादेशिक बोलियों का परिचय देनेवाले कुछ औक्तिक ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं यद्यपि इनमें से कोई भी सीधे रूप से ब्रज प्रदेश की बोली से सबद्ध नहीं है, फिर भी मध्यदेश और राजस्थान की बोलियों का विवरण प्रस्तुत करने वाले औक्तिक ग्रन्थों की भाषा के आधार पर ब्रजभाषा के आरम्भिक रूप का अनुमान सहज सभव है। उक्ति ग्रन्थो का जो साहित्य प्राप्त हुआ है उसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प० दामोदर का उक्ति व्यक्तिप्रकरण है जिसकी रचना काशी में १२वीं शताब्दी में हुई थी। इस ग्रन्थ के अलावा कुछ प्रमुख उक्ति रचनाओं का पता चला है।[1]

(१) मुग्धावबोध औक्तिक, कर्ता, कुल मडन सूरि, रचना काल सवत् १४५० वि०
(२) बालशिक्षा ,, सग्राम सिंह, रचना काल विक्रमी स० १३३६
(३) उक्ति रत्नाकर ,, श्री साधुसुन्दर गणि, रचनाकाल १६ वीं शती
(४) अज्ञात विद्वत्कर्तृक उक्तीयक, रचनाकाल १६ वीं शती।
(५) अविज्ञात विद्वत्सगृहीतानि औक्तिक पदानि, १६ वीं शती।

उक्ति व्यक्तिप्रकरण को छोडकर बाकी सभी रचनाएँ राजस्थान-गुजरात में लिखी गई हैं इसलिए यह स्वाभाविक है कि उनमें पश्चिमी भाषाओं की बोलियों का ही मुख्यतया प्रतिनिधित्व हुआ है।

§ १५३. उक्ति का अर्थ सामान्य या पामरजन की भाषा है। जैसा मुनि जी ने लिखा है कि 'उक्ति शब्द का अर्थ है लोकोक्ति अर्थात् लोकव्यवहार में प्रचलित भाषा-पद्धति जिसे हम हिन्दी में बोली कह सकते हैं। लोक भाषात्मक उक्ति की जो व्यक्ति अर्थात् व्यक्तता 'स्पष्टीकरण' करे—वह है उक्ति व्यक्ति-शास्त्र।[2] किन्तु इस उक्ति का अर्थ बहुत सीमित बोली के अर्थ में मानना ठीक नहीं होगा, क्योंकि बोली शब्द तो एक अत्यन्त सीमित घेरे के सामान्य अशिक्षित जन की भाषा के लिए अभिहित होता है जब कि इन ग्रथों के रचयिता इस शब्द से साहित्यिक अपभ्रश से भिन्न जन-व्यवहार की अपभ्रश की ओर सकेत करना चाहते हैं।[3] इन

---

१. इन छहो उक्ति ग्रन्थों का सपादन मुनि जिनविजय जी ने किया है। उक्ति व्यक्ति प्रकरण, सिंघी जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुआ है। मुग्धावबोध औक्तिक का अश प्राचीन गुजराती गद्य सदर्भ (अहमदाबाद) में सकलित है। उक्ति रत्नाकर, जिनमें न० ४ और ५ भी सगृहीत हैं, तथा बालशिक्षा शीघ्र ही राजस्थान पुरातत्व मदिर जयपुर से प्रकाशित होने वाले हैं। पिछले दोनों ग्रन्थों का मूल पाठ मुझे मुनि जी के सौजन्य से प्राप्त हुआ है।

२. उक्ति व्यक्ति प्रकरण, प्रास्ताविक वक्तव्य, पृ० ७

३. देशे देशे लोको वक्ति गिरा भ्रष्टया यया किंचित्।
सा तत्रैव हि सस्कृतरचिता वाच्यत्वमायाति ॥६॥
सस्कृत भाषा पुन परिवर्त्य प्रयुज्यते तदाऽपभ्रशभाषैव दिव्यत्व प्राप्नोति। पतिता ब्राह्मणी कृतप्रायश्चित्ता ब्राह्मणीत्वमिति चेति। उक्ति व्यक्ति प्रकरण, व्याख्या, पृ० ३

यह लोकभाषा की एकदम नई और महत्वपूर्ण प्रवृत्ति थी जिसका प्रभाव अन्य औक्तिक ग्रथों भाषा में भी समान रूप से दिखाई पडता है।

§ १५५ पितर तर्प (उक्ति ४२।८) आपणु काज विशेष (४२।६) परा वस्तु (४२।१६) वे मान (४२।२०) ऋण शेष (४२।५) आदि शब्द पहले के अपभ्रंश में इस तरह तत्सम में प्रयुक्त नहीं हो सकते थे। नीचे तद्भव देशी आदि कई तरह के प्रयोग एकत्र उद्धृत ये जाते हैं—

ओझउ (उक्ति रत्नाकर पृ० ५ <उपाध्याय) सनीचर (उक्ति० रत्नाकर ५ <शनैश्चर) तउ (उ० र० <वाद्यम्), चोज (उ० र० ६ <चौर्यम्), आसू (उ० र० ६ <अश्रु) ालू (उ० र० ७ <ईर्ष्यालु), काजी (उ० र० ७ = काजी) आपणी घायउ (उ० र० < आत्मीय भ्रातः), जूआरय (उ० र० ७ <द्यूतकारक), वहिनि (उ० र० ८ <भगिनी), (उ० र० १० <रक्षा), करवत (उ० र० <करपत्रकम्), मसाण (उ० र० ११ < शानम्), बुहारी (उ० र० ११ <बहुकरी), चूल्हीं (उ० र० ११ = चूल्हा,) बीछू उ० र० १३ <वृश्चिक), घोडउ (उ० र० <घोटक), अम्ह केरो (उ० र० १५ = हमारो), करेउ (उ० र० १५ = तुम्हारो), छाह (उ० र० १५ <छाया), झीणउ (उ० = झीनो)

इस तरह के करीब डेढ हजार शब्द उक्ति रत्नाकर में एकत्र किए गए हैं इन शब्दों के ावा सख्याओं, क्रियाविशेषणों एव क्रिया रूपों के प्रयोग अलग से दिए गए हैं। इन ा रूपों में से कुछ अत्यत महत्व के प्रयोग उल्लेखनीय हैं।

गिणइ (३७ <गिणयति), हिंडोलइ (३७ <हिंदोलयति),
माजइ (३७ <मार्जति), वूडइ (३८ = वूडता है), सूझइ
(३८ = सूझता है), ताकइ (४१ = ताकता है),
पतीजइ (४३ <प्रतीयते), समेटइ (४३ = समेटता है),
उदेगई (४३ <उद्वेगयति)।

विक्रमी सवत् १३३६ में रचित सग्राम सिंह के औक्तिक ग्रन्थ बालशिक्षा में कई अत्यत शिष्ट देशी क्रियायें एकत्र की गई हैं।[१] झखइ (झखता है), चाटइ (चाटता है), वघारइ ावारता है), फडफडइ (फडफडाता है), कडकडइ (कडकडाता है) जोअइ (प्रतीक्षा ता है), हीडइ (हीडता है), फडइ (फटता है), ओहटइ (हटता है), छेंकइ ोकता है), ढाकइ (ढाकता है), फूकइ (फूकता है), मेल्लइ (छोडता है), छाटइ चुनता है,), मागइ (मागता है) भूतिनष्ठा के रूप प्रायः सभी 'उ' कारान्त हैं, जो भूत- न्त से निर्मित हुए हैं।

§ १५६. औक्तिक ग्रन्थों की भाषा में बहुत से ऐसे प्रयोग है जो १४वीं तक के अन्य ाणिक रचनाओं में नहीं मिलते, ये प्रयोग व्रजभाषा के वैज्ञानिक अध्ययन में अपरिहार्य से सहायक है।

---

१ प्राचीन गुजराती गद्य सदर्भ, पृ० २१४–२१७ से सकलित

१—प्राचीन ब्रज मे संभवतः तीन लिंग होते थे। ग्रियर्सन ने नपुंसक लिंग के प्रयोग लक्षित किये थे। उनके मतानुसार क्रियार्थ बोधक सज्ञा (Infinitive) का लिंग मूलतः नपुंसक था। सोना का नपुसक रूप उन्होंने 'सोनों' बताया। 'अपनों धन' में अपनों को भी उन्होंने नपुसक ही माना।[1] सग्रामसिंह बालशिक्षा के प्रथम प्रक्रम में लिंग-विचार करते हुए लिखते हैं—

> लिंगु तीन। पुलिंगु स्त्री लिंगु, नपुसक लिंगु। भलु पुलिंगु, भली स्त्रीलिंग। भलु नपुसक लिंगु।[2]

यहाँ भी नपुसक लिंग की सूचना अनुस्वार से ही मिलती है जैसा उपर्युक्त रूप सोनो या अपनो में। उक्ति व्यक्ति के लेखक भी तीन लिंग का होना मानते हैं। लगता है कि यह नियम बाद मे अत्यन्त अनावश्यक होने के कारण छोड दिया गया।

२—१४ वीं शती तक के किसी पिंगल या अपभ्रश के ग्रथ में निम्नलिखित क्रिया विशेपणों का पता नहीं चलता जो ब्रजभाषा में पर्याप्त सख्या में प्राप्त होते हैं और जिनका सकेत औक्तिक ग्रथों में पहली बार मिलता है लूं>लौं :

> उपरि लूं=ऊपर तक, उक्ति रत्नाकर पृ० ५६
> हेठि लूं =नीचे तक ,, ,, ,,
> तउ>तौ : तौ तहिं उक्ति रत्नाकर पृ० ५६

३—रचनात्मक कृदादि प्रत्ययों का सक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

(१) करतउ, लेतउ, देतउ इत्यादी कर्तरि वर्तमाने शक्तृटानशौ
(२) कीजतउ, लीजतउ, लीजतउ इत्यादौ कर्मण्यानश्
(३) करणहार, लेणहार देणहार इत्यादौ वर्तमाने वुण तृचौ
(४) कीधउ, दीधउ, लीधउ इत्यादौ अतीते निष्ठा क्वसुकानौ च
(५) करीउ, लेउ, देउ इत्यादौ क्त्वा
(६) करिवा, लेवा, देवा, इत्यादौ तुम्
(७) करिवउ, लेवउ, देवउ इत्यादौ कर्मणि तव्यानीयौ
(८) करणहार, लेणहार इत्यादौ भविष्यति काले तुमुन्

ऊपर के सभी प्रत्ययों से बने रूप ब्रजभाषा में किंचित् ध्वनि परिवर्तन के साथ प्रयुक्त होते हैं। करतो, लेतो आदि (कर्त्तरि वर्तमान के) कीजो, लीजो, दीजो (कर्मणि प्रयोग में) करनहार, देनहार, भूतनिष्ठा के रूप कीयो दीयो के स्थान पर कीयो दियो वाले रूप, क्त्वा के करि, ले, दे, क्रियार्थक सज्ञा में करिवा, लेवा के स्थान पर करिवो, लेवो, देवो आदि तथा तव्यत् के करिवो, लेवो, देवो रूप ब्रज में अत्यन्त प्रचलित हैं।

---

1. लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, खण्ड ९, भाग १, पृ० ७७
2. बालशिक्षा सज्ञा प्रक्रम, प्राचीन गुजराती गद्य संदर्भ, पृ० २०७

४—नीचे उक्ति रत्नाकर से कुछ ऐसे वाक्य उद्धृत किये जाते हैं जिनके व्याकरणिक रूप का ब्रजभाषा से साम्य देखा जा सकता है।

(१) श्री वासुदेव दैत्य मारइ (पृष्ठ ७२)
(२) ब्राह्मण शिष्य पाहिं (ब्रज, पै) पोथउ लिखावइ (पृष्ठ ७३)
(३) जु कर्ता प्रथम पुरुष हुइ तु क्रिया प्रथम पुरुष हुइ। जु कर्ता मध्यम पुरुष हुइ तु क्रिया मध्यम पुरुष हुइ। (पृष्ठ ६६)
(४) कुँभार हाँडी घडइ (पृष्ठ १६)
(५) वाछडउ गाइ धायंउ (पृष्ठ १८) वछरो गाइ धायौ

वस्तुत. औक्तिक ग्रथों की भाषा लोक भाषा की आरभिक अवस्था का अत्यत स्पष्ट सकेत करती है। इस भाषा मे वे सभी नये तत्व, तत्सम-प्रयोग, देशी क्रियायें, नये क्रिया विशेषण, सयुक्तकालादि के क्रियारूप अपने सहज ढंग से विकसित होते दिखाई पडते हैं। यह भाषा १४वीं शती के आस पास मुसलमानों के आक्रमण और ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के द्विधा कारणों से, नई शक्ति, और सघर्ष से उत्पन्न प्राणवत्ता लेकर बडी तेजी से विकसित हो रही थी, १४वीं के आसपास इसका रूप स्थिर हो चुका था।

ब्रजभाषा का निर्माण

औक्तिक से परिनिष्ठित तक

[वि० सं० १४००–१६००]

§ १२७. अष्टछाप के कवियों की ब्रजभाषा के माधुर्य सौष्ठव और अभिव्यक्ति-कौशल को देखकर इस भाषा-साहित्य के विद्वानों ने प्रायः आश्चर्य प्रकट किया है। इस आश्चर्य के मूल में यह धारणा रही है कि इतनी सुव्यवस्थित भाषा का प्रादुर्भाव इतने आकस्मिक रूप से कैसे हुआ। सूर के साहित्य को आकस्मिक मानने वाले विद्वानों के विचारों की ओर हम 'प्रास्ताविक' में ही संकेत कर चुके हैं। यह सत्य है कि हिन्दी साहित्य के संपूर्ण इतिहास पर विचार करते समय सूर और उनकी पृष्ठभूमि की समस्या को उतना महत्त्व नहीं दिया जा सकता था, इसीलिए केवल कुतूहल व्यक्त करके ही संतोष कर लिया गया क्योंकि अव्वल तो इस कुतूहल को शान्त करने के लिए कोई समुचित आधार न था, सूर के पहले की ब्रजभाषा-काव्य-परंपरा अत्यंत विशृङ्खलित और भग्नप्राय थी, दूसरे १४००से१६०० विक्रमी का जो भी साहित्य प्राप्त था, उसकी भाषा पर सुव्यवस्थित तरीके से विचार भी नहीं किया गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में विभिन्न धाराओं का साहित्यिक और सैद्धान्तिक दृष्टि से जितना सूक्ष्म विश्लेषण किया, उतना ही भिन्न भिन्न धाराओं के कवियों द्वारा स्वीकृत भाषा का विश्लेषण भी उनका उद्देश्य रहा। यह बात दूसरी है कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनके पास ज्यादा अवकाश और स्थल न था, किन्तु १४००से१६०० तक के हिन्दी साहित्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट निर्गुण सन्त धारा के साहित्य के प्रति, उनके हृदय में स्वतः बहुत उत्साह नहीं था, वैसे ही उसकी भाषा के प्रति भी बहुत आकर्षण नहीं दिखाया गया। सन्तों की भाषा को 'सधुक्कड़ी' नाम देकर शुक्ल जी आगे बढ़ गए। कहीं कुछ विस्तार

से सोच विचार किया तो लिखा. 'नाथ पथ के इन योगियों ने परपरागत साहित्य की भाषा या काव्य-भाषा से जिसका ढाचा नागर अपभ्रंश या व्रज का था, अलग एक सधुक्कड़ी भाषा का सहारा लिया जिसका ढाचा खडी बोली या राजस्थानी का था।'[1] शुक्ल जी ने शीघ्रता में भी एक बात बहुत स्पष्टतापूर्वक कही कि 'सन्त कवियों के सगुण भक्ति के पदो की भाषा तो व्रज या परंपरागत काव्य-भाषा है पर निर्गुन बानी की भाषा नाथपथियों द्वारा गृहीत खडी बोली या सधुक्कडी भाषा है।'[2] इसी प्रकार कबीर और नानक जैसे सन्तों की भाषा पर जो यत्र-तत्र विकीर्ण विचार दिए गए उसमें भी शुक्ल जी ने प्रायः सर्वत्र परपरागत काव्य भाषा यानी व्रजभाषा और खडी बोली वाली सधुक्कडी का जिक्र जरूर किया।[3] इस प्रकार परपरागत काव्य-भाषा के रूप में व्रजभाषा के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी, और यह मानते हुए भी कि इन सन्तोंने भी सगुण भक्ति के पद व्रजभाषा में ही लिखे, शुक्ल जी को सूरदास की सुगठित व्रजभाषा को देखकर एकाएक आश्चर्य क्यों हुआ? इस काल का अप्रकाशित साहित्य तो सूरदास की पूर्वपीठिका के अध्ययन की दृष्टि से बहुमूल्य है ही, जिसका आगे विवेचन होगा, किन्तु प्रकाशित साहित्य में नामदेव से लेकर नानक तक अर्थात् १३७२ से १५२६ तक के सन्तों की जो वाणियाँ गुरुग्रन्थ में सकलित हैं, यदि उनके भी पूरे परिमाणों का ध्यान से विश्लेषण किया जाय तो मालूम होगा कि इनमें ५० प्रतिशत से भी अधिक रचनाएं व्रजभाषा की हैं और इनकी भाषा गडबड या विशृङ्खलित नहीं है, बल्कि एक शक्तिशाली भाषा का सबूत उपस्थित करती है। सूर की भाषा को समझने के लिए, उसे परपरा-शृङ्खलित बनाने के लिए तथा उसकी शक्तिमत्ता और शैली के अन्तर्निहित कारणों की खोज के लिए सन्तों के व्रजभाषा-पदों का भी पूर्ण विवेचन होना चाहिए। साथ ही सधुक्कडी नाम से बोधित भाषा से इस भाषा के सबधों की भी व्याख्या आवश्यक है। यही नहीं इस परिपार्श्व में मध्यदेश में प्रचलित जन भाषाओं का विशेषत: कबीर द्वारा 'पूर्बी' नाम से अभिहित भाषा का परिचय-परीक्षण भी होना चाहिए।

§ १५८ मध्यप्रदेश में १४-१६ वीं शताब्दी के बीच मूलतः चार प्रकार की भाषाए दिखाई पडती हैं।

(१) सधुक्कडी कही जाने वाली खडी बोली के ढाँचे पर आधृत और किंचित् राजस्थानी तथा पजाबी से मिश्रित भाषा।

(२) पूरबी, अवधी, काशिका आदि।

(३) काव्य भाषा यानी व्रज।

(४) चारणों की पिंगल भाषा।

इन चार प्रकार की भाषाओं में पिंगल का विवरण पिछले अध्याय में उपस्थित किया जा चुका है जिसमें हम यह निवेदन कर चुके हैं कि पिंगल मूलत. व्रजभाषा का पूर्वरूप या कनिष्ठ शौरसेनी अपभ्रंश थी जिसमें राजस्थानी चारणों के प्रभाव के कारण कुछ स्थानीय भाषा-तत्त्व भी समिलित हो गए थे और जो एक प्रबल साहित्य-माध्यम के रूप में सारे उत्तर

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १८

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ७०।

३ देखिए, वही पृ० ८० और ८४।

भारत में छा गयी थी, इसमें बहुत बाद तक काव्य रचना होती रही। १८ वीं शती में भी 'वंश भास्कर' जैसे ग्रन्थ इसमें लिखे गए, किन्तु यह सर्वमान्य साहित्य-भाषा का स्थान खो चुकी थी। इस प्रकार विचारणीय केवल तीन भाषाए बच जाती है, तथाकथित सधुक्कडी, पूरबी और व्रज।

§ १५९. 'पूरबी' शब्द को लेकर कुछ विद्वानों ने बहुत खींच-तान की है। पूरबी का अर्थ भोजपुरी था या अवधी या कुछ और इस पर निर्णायक ढंग से विचार नहीं हो सका है। कुछ लोग 'पूरबी' का आध्यात्मिक अर्थ करते हैं। श्री परशुराम चतुर्वेदी 'पूरबी' के बारे में लिखते हैं कि 'पूरब दिशा द्वारा उस मौलिक स्थिति (?) की ओर संकेत किया गया है जिसमें जीवात्मा और परमात्मा के बीच किसी प्रकार के अन्तर की अनुभूति नहीं रहती। अतएव कबीर साहब की ऊपर उद्धृत साखी का अर्थ आध्यात्मिक दृष्टिकोण के अनुसार ही लगाना समीचीन होगा।[1] कबीर के शब्द हैं—बोली हमारी पूर्व की। 'पूर्व की बोली' का आध्यात्मिक अर्थ संगत हो सकता है, अर्थात् पूर्वकाल के लोगों ऋषियों या स्वयं परमात्मा की। टीकाकारों ने भी ऐसा अर्थ किया है। हाँलाकि इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हुए भी चतुर्वेदी जी ने कबीर की भाषा में अवधी तत्त्वों के खोज बीन का प्रयत्न किया है। मुझे लगता है कि 'पूरबी' शब्द कबीर ने जान बूझ कर 'पछाँहीं' या 'पश्चिमी' से अपनी भाषा की भिन्नता सूचित करने के लिए प्रयुक्त किया। 'पूरबी' शब्द 'पश्चिमी' का सापेक्ष्य है, जो इस बात की सूचना देता है कि हिन्दी प्रदेश में दोनों प्रकार की भाषायें प्रचलित थीं। पूरबी का अर्थ साधारणतः वही है जो पूर्वी हिन्दी का है। कबीरदास भाषा के सूक्ष्म भेदों के प्रति अधिक सचेत भले ही न रहे हों किन्तु तत्कालीन सन्तों द्वारा प्रयुक्त व्रजभाषा और खडी बोली से अपनी निजी बोली का भेद तो वे पहचानते ही रहे होंगे। सम्भवतः कबीर ने सर्वमान्य भाषा यानी व्रज में अपने पूरबी प्रयोगों का स्पष्टीकरण करते हुए स्वीकार किया कि पूरब का होने के कारण अपनी भाषा 'पूरबी' का कुछ प्रभाव भी आ गया है। वैसे कबीर के कई पद भोजपुरी या अवधी में भी दिखाई पड़ते हैं। रमैनी की भाषा में अवधी का प्रभाव स्पष्ट है। दोहे चौपाई में लिखी अवधी रचनाओं का कबीर के समय तक काफी प्रचार हो चुका था। 'नूरकचन्दा', 'हरिचरित्र' जैसे काव्य ग्रन्थ लिखे जा चुके थे और उनका काफी प्रचार था। पूरबी का अर्थ भोजपुरी ही है। जिन पदों में भोजपुरी-प्रयोग हैं वे कितने प्राचीन है, यह कहना कठिन ही है। बीजक में ही यह अधिक मिलता है। बीजक सत्रहवीं शताब्दी में धनौती (छपरा) मठ से प्रथम प्रचलित हुआ। ऐसा कुछ विद्वानों का मत है।

§ १६०. तथाकथित सधुक्कडी और व्रज पर हम साथ-साथ विचार करें तो ज्यादा समचीन होगा। खडी बोली और व्रज के उद्गम, विकास और पारस्परिक सम्बन्धों पर बहुत विवाद हुआ है। परिणामत. इनकी विभिन्नता को उचित से ज्यादा महत्त्व दिया गया और १८वीं शताब्दी के अन्त मे इनके समर्थकों में काफी वाद विवाद भी हुआ। खडी बोली और व्रज दोनों ही पडोसी बोलियाँ है इसलिए इनमें समता ज्यादा है, विभिन्नता कम। दोनों के उद्गम और विकास के स्रोतों का सही अभिज्ञान उपर्युक्त कथन की सत्यता प्रमाणित करता है।

---

१ कबीर साहित्य की परख, संवत् २०११, पृ० २१०

नहीं कहा जा सकता कि जिस जबान में यह शअरगोई करता था वह वही थी जो आम तौर पर हिन्दू मुसलमान बोलते थे।"[1] कादरी साहब के ये विचार उपयुक्त हैं क्यों कि आम तौर पर दिल्ली में बोली जाने वाली हिन्दू और मुसलमानों की बोली को खुसरो फारसी के बराबर दर्जा नहीं दे रहे थे क्यों कि उसको तो १६वीं शताब्दी में भी वह दर्जा प्राप्त नहीं था और मुसलमानों से प्रेरित यह भाषा बाबर के काल तक गँवारू ही मानी जाती थी। हिन्दुस्तानी के बारे में हाब्सन-जाब्सन का यह उद्धरण देखिए–[2]

"इसके बाद उन्होंने (टॉम कोरिएट) इन्दोस्तान अथवा गॅवारू भाषा में पूर्ण दक्षता प्राप्त कर ली। श्री राजदूत महोदय के निवास गृह मे एक ऐसी वाचाल महिला थी जो सुबह से शाम तक डाटडपट किया करती और अट-शट बकती रहती। एक दिन उन्होंने उसी की भाषा में उसकी बुरी गत बनाई और आठ बजते बजते उसका बोलना मुहाल कर दिया।'

१६०० ईस्वी तक हिन्दुस्तानी को यही दर्जा प्राप्त था यानी गँवारू बोली का। मैं उर्दू हिन्दी, हिन्दुस्तानी के विवाद में नहीं जाना चाहता, किन्तु इतना सत्य है कि खडी बोली को साहित्य की भाषा बनाने का कार्य मुसलमानों ने ही किया क्योंकि हिन्दू अपनी शुद्ध परपरा प्राप्त भाषा सस्कृत या ब्रजभाषा में ही अपना सास्कृतिक कार्य करते थे। मुसलमान विजेताओं के विखराव और उत्तर भारत के प्रमुख शहरों में उनके प्रभाव के कारण इस नई भाषा का प्रचार तेजी से होने लगा था। इसलिए सक्रान्तिकालीन सत, जिनमें अधिकांश मुसलमानी सस्कृति से किसी न किसी रूप में प्रभावित थे इसी का सहारा लेने को बाध्य थे। इस नई भाषा का कोई ठीक नाम न था। समय समय पर हिन्दी, दक्खिनी, रेखता, उर्दू इसके विभिन्न नाम हुए। जार्ज ग्रियर्सन ने हिन्दुस्तानी के दो भेद स्वीकार किये। बोलचाल की हिन्दुस्तानी, साहित्यिक हिन्दुस्तानी। साहित्यिक हिन्दुस्तानी की उन्होंने चार शैलिया मानीं उर्दू, रेखता, दक्खिनी और हिन्दी।[3] इन चारों नामों में भाषा की दृष्टि से रेखता शब्द का प्रयोग सबसे प्राचीन है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या रेखता का अर्थ 'विकीर्ण प्रयोग' मानते हुए लिखते हैं 'तब की भाषा पश्चकालीन उर्दू की तरह फारसी से बिल्कुल लदी हुई न थी। फारसी के शब्द अपेक्षाकृत कम सख्या मे मिलाये जाते थे। एक पक्ति में कहीं-कहीं छितरे हुए (रेखता) रहते थे। इसीलिये आधुनिक उर्दू-हिन्दुस्तानी पद्य की भाषा का आद्य रूप रेखता कहलाता था। १५ वीं शती के कबीर के ही नहीं १२ वीं १३ वीं शती के बाबा फरीद के पद्य भी रेखता कहकर पुकारे जा सकते हैं। इस दृष्टि से वली की अपेक्षा बाबा फरीद को 'बाबा-ए-रेखता' कहना अधिक उपयुक्त जचता है।[4] गालिब ने अपने

१ उर्दू शहपारे, जिल्द १ पृ० १०

2 After this he (Tom coryate) got a great mastery in the Indostan or more vulgar language There was a woman a landress belonging to my lord Ambassador's house hold who had such a freedom and liberty of speech that she would sometimes scould, brawe and rail from the sun rising to the sun set one day he undertook her in har own language and by eight of the clock he so silenced her that she had not one word to speak

Tery extracts Relating to T C (Hobson-Jobson P P 317)

3 Linguistic Survey of india Vol IX, Part I, page 46

४ भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० २०१-२०२

को तथा परवर्ती मीर को भी इसी रेखते का उस्ताद कहा है। रेखता का ही एक रूप दक्षिण में दक्खिनी हिन्दी के नाम से मशहूर हुआ। दक्खिनी का पुराना कवि ख्वाजा बन्दानवाज मैखूदराज़ मुहम्मद हुसेनी हैं (१३१८–१४२२ ई०) जिन्होंने कई रचनाएँ लिखीं जिनमें उनकी गद्य-रचना 'मीराजुल अशरीन' बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसके बाद बहुत सी कवियों की रचनायें मिलती हैं जिनमें मुहम्मदकुली कुतुबशा, इब्ननिशाती, शेखसादी आदि काफी प्रसिद्ध है।[1]

§ १६३. उत्तर भारत में खडी बोली या शुक्ल जी के शब्दों में 'सधुक्कडी' के पुराने लेखकों में गोरखनाथ के कुछ पद उद्धृत किये जाते हैं। गोरखनाथ के ये पद किस समय की रचनाएँ माने जायँ, यह तय नहीं हो पाया है। वैसे गोरख का समय ७ वीं शती बताया जाता है। कुछ लोग उन्हें १२ वीं शताब्दी का बताते हैं। तिब्बत में लोग इन्हें बौद्ध ऐन्द्रजालिक मानते हैं। कहा जाता है कि ये पहले बौद्ध थे किन्तु बारहवीं शताब्दी के अन्त में सेन वश के विनाश के समय शैव हो गये थे।[2] गोरख के एक शिष्य का नाम धर्मनाथ था जिन्होंने चौदहवीं शताब्दी में कनफटे नाथ सम्प्रदाय का प्रचार कच्छ में किया।[3] यदि धर्मदास को गोरखनाथ का साक्षात् शिष्य माना जाय तो उनका भी काल १४ वीं या १३ वीं का पूर्वार्द्ध मानना चाहिए। गोरखनाथ को सिद्धों की परंपरा में मानते हुए राहुल साकृत्यायन उनका काल पालवशीय राजा देवपाल के शासन-काल ८०९-४९ ईस्वी में निर्धारित करते हैं।[4] इस प्रकार गोरखनाथ को वे नवीं शती का मानते हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी गोरखनाथ का आविर्भाव विक्रम की दसवीं शताब्दी में मानते हैं।[5] डा० बड्थ्वाल ने गोरखनाथ का समय सवत् १०५० माना है और डा० फर्कुहर उन्हें १२५७ सवत् का बताते हैं। वस्तुतः गोरखनाथ के जीवन का सही विवरण जानने के लिए कोई भी ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त नहीं है। जो भी हो गोरखनाथ का समय यदि नवीं शताब्दी का माना जाय तो भी उनके नाम की कही जाने वाली रचनाओं का समय १३ वीं शताब्दी से पहले नहीं माना जा सकता क्योंकि ये भाषा की दृष्टि से उतनी पुरानी नहीं मालूम होतीं। इन्हें यदि १२वीं शताब्दी का मानें तो भी इनका महत्त्व कम नहीं होता और खडी बोली के उद्गम और विकास के अनुसन्धित्सु विद्यार्थी के लिए तो इनका और भी अधिक महत्त्व हो जाता है।

§ १६४. गोरखनाथ की प्रामाणिक मानी जाने वाली रचनाओं में से जिन १३ को डा० बड्थ्वाल ने गोरखवानी (जोगेसुरी बानी भाग १) में प्रकाशित किया है, उनकी भाषा भी एक तरह की नहीं है। अधिकांश की भाषा खडी बोली है अवश्य किन्तु उसमें 'पूर्वी' प्रभाव भी कम नहीं है। यह प्रभाव कहीं-कहीं तो इतना प्रबल है कि इसे लिपिकर्ता का दोष कहकर ही नहीं टाल सकते।

---

१ देखिए—दक्खिनी हिन्दी का गद्य और पद, लेखक श्री रामशर्मा, हैदराबाद
२. इनसाइक्लोपीडिया आव रेलीजन एण्ड इथिक्स, भाग ६, पृष्ठ ३२८
३. इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, पृ० ३२९–३३०
४. हिन्दी काव्यधारा, पृ० १५६
५. नाथ सम्प्रदाय, पृ० ९६

(१) ना जाने गुरू कहाँ गेला मुझ नीदडी न आवै (१३६।३)

(२) उदै ग्राहि अस्त हेय ग्राहि पवन मेला
बाँधिलै हस्तिया निज साइ मेला (२१।२८)

(३) सहजेहि आकार निराकर होइसि (१९१।४०)

(४) अकथ कथिले कहाणी

(५) गुरु कीजै गहिला निगुरा न रहिला
गुरु विनु ज्ञान न पाईला रे भाइला (गो० वा० पृ० १२८)

पूर्वी प्रयोगो के आधार पर कोई गोरखनाथ का सम्बन्ध पूर्वी प्रदेश से जोड़े तो उसे नीचे के वाक्यों में घोर राजस्थानी प्रभाव भी देखना चाहिए—

गोरष वालडा बोले सतगुरु वाणो रे
जीवता न परराया तेन्हें अगिनि न पार्णी रे
पीलो दूके भेसि विरोलै सासूड़ी पाह्नवडै वहुडी हिंढोले
कोय मोरी आव्यो वास्यौ गगन मछलड़ी वगलौं ग्रास्यौ। १५५।६०

यह पूरा पद राजस्थानी से रगा हुआ है। इस तरह और भी बहुत से प्रयोग छाँटे जा सकते हैं। किन्तु इन प्रयोगो के बावजूद भाषा का खडी बोली ढाँचा स्पष्ट दिखाई पडता है।

(१) गगन मडल मे गाय वियाई कागद दही जमाया
छाछि छाडि पिंडता पानी सिधा माणस खाया (६६।१९६)

(२) अवधू हिरदा न होता तब अकुलान रहिता सबद गगन न होता तब अतरष रहिता चद (१८९।२८)

(३) आकास की धेनु वछा जाया, ता धेन के पूछ न पाया (१४७।५१)

(४) गुदडी में अतीत का वासा, भणत गोरष पछूयंइ का दासा (६६।१९७)

गोरख नाथ की रचनाओं मे इस सधुक्कडी भापा के साथ काव्य की भाषा ब्रजभाषा का भी प्रयोग कम नहीं हुआ। उनका एक ब्रज पद नीचे दिया जाता है।

त्रिभुवन डसति गोरख नाथ डीठी
मारो सपर्णी जगाई ल्यौ भौंरा
जिन मारी सपर्णी ताको कहा करै जौंरा
सापर्णी कहै मै अबला वलिया
ब्रह्मा विस्न महादेव छलिया
मार्ता मार्ता सपनी दसौ दिसि धावै
गोरषनाथ गारुड़ी पवन वेगि ल्यावै।

(१३४।४५)

गोरखबानी में सकलित रचनायें यदि प्रामाणिक मानी जायें तो हम कह सकते है कि गोरखनाथ की भापा खडी बोली का आरम्भिक रूप है जो अभी सक्रान्तिकाल से गुजर रही थी जिनमे स्थिरता नहीं आई थी और यह स्थिरता इस भापा को आगे की कई शताब्दियों तक नहीं प्राप्त हुई क्योंकि इस भापा के विकास के पीछे पूरे मध्यदेश के जन-मानस का योग दान

नहीं था। गोरखनाथ के ब्रजभाषा पद इस बात का संकेत करते हैं कि पदों के लिए ब्रजभ
का ही प्रयोग होता था। संतों की वाणियों की भाषा का अध्ययन करने पर मालूम होता है
ये कवि क्रान्तिकारी ओजस्वी उपदेशों, रूढ़ि खंडन, पाखंड-विरोध या उसी प्रकार के
परंपरा-प्रथित विचारों का विच्छेद करने के लिए जिस भाषा का प्रयोग करते थे वह नवो
खड़ी बोली थी, किन्तु अपने साधना के सहज विचारों, रागात्मक उपदेशों तथा निजी अनुभूि
की बात पद शैली की ब्रजभाषा में करते थे। रेखता या खड़ी बोली शैली में बाद में कुछ
भी लिखे गए, किन्तु पदों की मूल भाषा ब्रज ही रही।

§ १६५. गोरखनाथ की ही तरह उनके गुरु कहे जाने वाले मत्स्येन्द्र नाथ जी का
समय विवाद का ही विषय है। उनकी रचनाओं का भी कुछ पता नहीं चलता। तिब्बती स्रो
से प्राप्त सिद्धों की नामावली में गुरुओं के नाम दिए हुए हैं। मत्स्येन्द्रनाथ को लुईपा
मीननाथ भी कहा गया है। डा० कल्याणी मल्लिक इन तीनों नामों को एक व्यक्ति से स
बताती हैं।[1] मत्स्येन्द्रनाथ का समय दसवीं शताब्दी के पूर्व ही माना जाता है किन्तु उन
प्राप्त रचनाओं की भाषा को १३ वीं १४ वीं के पहले की नहीं माना जा सकता। डा० बाग
ने मत्स्येन्द्र के कौल ज्ञान निरंजन नामक ग्रन्थ का संपादन किया है जिनका रचनाक
११ वीं शताब्दी बताया गया है। 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' में डा० मल्लिक ने मत्स्येन्द्रनाथ के
पुराने पद उद्धृत किये हैं। जो उन्होंने जोधपुर की किसी प्रति मे प्राप्त किए थे। इन दो
में तो एक पूर्णतः ब्रजभाषा का ही है।

राग धनाश्री

पखेरू ऊडिसी आय लीयो वीसराम
ज्यों ज्यों नर स्वारथ करै कोई न सजायो काम ॥ टेक ॥
जल कू चाहे माछली घण कू चाहे मोर
सेवन चाहे राम कूं ज्यों चितवत चन्द चकोर ॥ १ ॥
यो स्वारथ को सेवडो स्वारथ छोडि न जाय
जब गोविंद किरपा करी म्हारो मन वो समायो आय ॥ २ ॥
जोगी सोई जाणीये जग तैं रहे उदास।
तत निरंजण पाइय कहै मछन्दर नाथ ॥ ३ ॥

मत्स्येन्द्रनाथ के साथ ही इस पुस्तक में चर्पटी नाथ तथा भरथरी के हिन्दी पद
दिये हुए हैं, किन्तु इनकी भाषा वही मिश्रित पचमेल यानी रेखता है। डा० मल्लि
ने इस ग्रन्थ में गोरखनाथ के नाम से सम्बद्ध एक गोरख उपनिषद् प्रकाशित कराया है जिन
भाषा शुद्ध ब्रजभाषा और काफी पुष्ट और परिमार्जित ब्रजभाषा कही जा सकती है। गोर
उपनिषद् की प्रतिलिपि जोधपुर की ही किसी प्रति से की गई। जिस प्रति से यह अंश लि
गया है वह संवत् २००२ की है जिसे किसी श्री बाल्राम साधु ने तैयार की थी। मूल प्र
का कुछ पता नहीं चलता। लेखिका ने गोरख उपनिषद् की भाषा को राजस्थानी अ

१. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति, कल्याणी मल्लिक, पूना, १९५४, पृ० १५-१६

हिन्दुस्तानी का मिश्रण कहा है। जो ठीक नहीं लगता। यह ब्रजभाषा में लिखी रचना है। वैसे मुझे इसकी प्राचीनता पर सन्देह है। एक अंश नीचे उद्धृत किया जाता है।[1]

"आगे मत्स्यनाथ असत्य माया स्वरूपमय काल ताको खडन कर महासत्य तैं सोभत भयो। आण निर्गुणातीत ब्रह्मनाथ ताकुं जानै यातै आदि ब्राह्मण सूक्ष्म देवी। ब्राह्मण वेद पाठी होतु है, ऋग यजु साम इत्यादि का इनके सूक्ष्म भेद कहिये। ब्राह्मण वहिवै में चतुर वर्ण को गुरु भयो अरु इहाँ च्यारों आश्रम को समावेस गये होय है याते ही अल्पाश्रमी आश्रमन कोहु गुरु भयो। सो विशेष करि शिष्य पद्धति में वह्यो ही है। तात्पर्य भेदा-भेद रहित अचिन्त्य वासना जुक्त जीव होयते तो कुल मार्ग करियौ में आवतु है। अरु समस्त वासना रहित भये हैं अतः करण जिनके ऐसे जीवन जोग भजन में आवतु हैं।" यह भाषा १३ वीं के पहले की गद्य भाषा नहीं मालूम होती। उक्त व्यक्ति प्रकरण की भाषा को दृष्टि में रखकर विचार करें तो स्पष्ट मालूम होगा कि यह परवर्ती शैली है किसी ने बहुत पीछे खड़ी बोली की गद्य शैली की चेतना और प्रेरणा लेकर इस गद्य का निर्माण किया है।

§ १६६. इस प्रकार सधुक्कडी या खडी बोली के प्रचार में आने और कवियों द्वारा उसके स्वीकृत होने के पहले से ब्रजभाषा में काव्य-रचना के सकेत मिलते हैं। खडी बोली को कविता की भाषा के उपयुक्त तो बहुत बाद में माना गया। खडी बोली की विजय कविता की भाषा के रूप में १६वीं शताब्दी की घटना है, किन्तु ब्रज से उसका युद्ध बहुत पुराना है। १२वीं शताब्दी सक्रान्तिकाल में इस सघर्ष का आरम्भ हुआ। नई भाषा को मुसलमानी आक्रमण के साथ ही कई राजनैतिक कारणों से प्रोत्साहन मिला और वह उन्हीं के द्वारा प्रचारित प्रसारित भी हुई, इसीलिए भारतीय सस्कृति के पोषक लेखके-कवि इसे स्वीकार नहीं कर सके। १४ वीं १५ वीं शताब्दी का सत-आन्दोलन भारतीय वैधी भक्ति परम्परा का विरोधी था, उस काल मे सन्तों ने इस नई भाषा को स्वीकार किया, कुछ तो अपने उपदेशों के प्रचार के लिए, लेकिन ज्यादा इसीलिए कि वे शिष्ट वर्ग की साहित्यिक भाषा से वाकिफ नहीं थे। उसकी साहित्यिक विशेषताओं को पूर्णतः प्राप्त कर सकना न उनके लिए सभव ही था और न तो साहित्यिक वैशिष्ट्य की उपलब्धि उनका उद्देश्य ही था। खडी बोली और ब्रजभाषा के इस सम्पर्क को ठीक पहचान न सकने के कारण कई प्रकार की भ्रान्तियाँ हुई हैं। बहुत से लोगों ने खडी बोली को ब्रजभाषा से उत्पन्न माना। मुहम्मद हुसेन आजाद ने अपने आवेहयात में लिखा कि हमारी जबान (उर्दू) ब्रजभाषा से निकली है।[2] बालमुकुन्द गुप्त ने हिन्दी भाषा की भूमिका प्रस्तुत करते हुए बताया कि वर्तमान हिन्दी भाषा की जन्म-भूमि दिल्ली है, वहीं ब्रजभाषा से वह उत्पन्न हुई, और वहीं इसका नाम हिन्दी रखा गया। आरम्भ में नाम रेख़ता था, बहुत दिनों तक यही नाम रहा, पीछे हिन्दी कहलाई।[3] एक तरफ ब्रज के समर्थक खड़ी बोली की उत्पत्ति ब्रजभाषा से दिखाते हैं, जो उचित नहीं है तो दूसरी तरफ कुछ ऐसे भी लोग हैं जो ब्रजभाषा को सदा के लिए भुला देने का उपदेश देते हुए कहते हैं। 'हिन्दी साहित्य

---

१. वही, मत्स्येन्द्रनाथ का पद, पृ० ७६

२ आवेहयात, पृ० ६

३ हिन्दी भाषा की भूमिका

और भाषा के विषय में प्रचलित सभी स्थापनाओं को किसी स्वतन्त्र चिन्तन का परिणाम मानकर सदा ही सही निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता।' और तब अपने चिन्तन से निकाले हुए सही निष्कर्ष को इस तरह रखते हैं 'इसका (गलत निष्कर्ष का) सबसे बडा उदाहरण है हिन्दी की मध्यकालीन काव्य-भाषा का ब्रजभाषा नामकरण और सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी के पहले के काव्य-ग्रन्थों में किसी काल्पनिक ब्रजभाषा की खोज।'[1] 'मध्यदेशीय भाषा' नामक पुस्तक में लेखक ने और भी कई निष्कर्ष निकाले हैं जिन पर आगे विचार करेंगे। यहाँ हमारा निवेदन इतना ही है कि खडी बोली और ब्रज के विकास पर ठीक ढंग से विचार होना चाहिए। ब्रजभाषा खड़ी बोली के आरम्भकाल से उसके कुछ पहले से ही एक अटूट शृंखला में विकसित होती आ रही है। इस भाषा के बहुत से पद सन्तों की वाणियों के रूप में सकलित हैं, जो इसकी शक्ति और विकासावस्था के सूचक हैं। ब्रजभाषा कोई काल्पनिक वस्तु नहीं है, वह शौरसेनी भाषाओं की परम्परा की उत्तराधिकारिणी और ११वीं शती से १८वीं शती तक के काल की सर्वश्रेष्ठ काव्यभाषा के रूप में स्वीकृत तथा सास्कृतिक विचारों का प्रबल माध्यम रही है।

§ १६७. ब्रजभाषा में पद-रचना का आरम्भ कब से हुआ, यह कहना कठिन है। पद-शैली का प्रयोग निर्गुणिये सन्तों ने तो किया ही, बाद के वैष्णव भक्त कवियों की रचनाओं में तो यह प्रमुख काव्य-प्रकार ही हो गया। वस्तुतः ब्रजभाषा के गेय पदों का प्रचलन १२ वीं १३ वीं शताब्दी में ही हो गया था, यद्यपि इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता किन्तु प्राकृतपैंगलम् की रचनाओं, १३ वीं शती के खुसरो, गोपाल नायक आदि संगीतज्ञ कवियों के गेय पदों के आधार पर यह धारणा पुष्ट होती है। लोक भाषाओं में आरम्भिक साहित्य प्रायः लोग गीतों के ढंग का ही होता है। देशी भाषा के सगीत की चर्चा तो बृहद्देशी के लेखक ने ७ वीं शती में ही की थी।

> अबलाबालगोपालैः क्षितिपालैर्निजेच्छया
> गीयते सानुरागेण स्वदेशे देशि रुच्यते

१२वीं शती में सामन्ती दरबारों में संगीत का बडा मान था और राजपूत रजवाडों का देशी भाषा प्रेम भी विख्यात है ही, फिर देशी भाषा के माध्यम से संगीत के आनन्दोपभोग के लिए गेयपदों की रचना अवश्य हुई होगी। खुसरो की पूरी रचनाएँ प्राप्त नहीं होती, वही हाल गोपाल नायक की रचनाओं का है किन्तु इनके छिट-पुट जो पद मिलते हैं वे इस बात के प्रमाण हैं कि ब्रज भाषा में १३ वीं शताब्दी में पद लिखे जाते थे। नाथों की वाणियों में भी इस तरह के गेय पद मिलते हैं। गोरख वाणी में बहुत से ऐसे पद दिये हुए हैं, जो गेय हैं राग-रागिनी सम्मिलित। नाथों के बाद सन्तों ने इस प्रकार के बहुत से श्रेष्ठ कोटि के पद लिखे। १४९२ विक्रमी में ग्वालियर के विष्णुदास के पद ब्रजभाषा के अमूल्य निधि हैं। ब्रजभाषा के गेय पदों का जादू सुदूर पूरब में असम के शकरदेव (दे० § ४२७-४८) ने लेकर पश्चिम गुजरात के कवियों पर छा गया था।

---

१. हरिहर निवास द्विवेदी, मध्यदेशीय भाषा, पृ० ५०

पदों के अलावा इस काल में और भी कई प्रकार के काव्य-रूपों के माध्यम से साहित्य लिखा गया। चरित, मगल, रास, प्रेमाख्यान, वेलि, आदि काव्य रूपों में कई प्रकार की साहित्य-सृष्टि हुई। इसका परिचय आगे दिया गया है।

§ १६८ इस काल के बहुत से कवि ग्वालियर से संबद्ध थे। श्री हरिहर निवास द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'मध्यदेशीय भाषा' में इसी आधार पर ये तर्क दिये हैं–

(१) मध्यकालीन काव्य-साहित्य की भाषा केवल व्रज के सकुचित क्षेत्र में बोली जाने वाली व्रजभाषा न होकर, वह मध्यकालीन हिन्दी है जो मेवाड़, दिल्ली, कन्नौज, आगरा और बुन्देलखड आदि प्रदेश में बोली जाती है। इस भाषा का जन्म ग्वालियर में हुआ, इसलिए इसे ग्वालियरी कहना चाहिए (पृ० ६६)।

(२) हिन्दी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल और डा० धीरेंद्र वर्मा प्रभृति साहित्य-मर्मज्ञों ने मध्यकालीन काव्य-साहित्य की भाषा को व्रजभाषा कहा है जो उनके मत से व्रज के आस-पास बोली जानेवाली भाषा के टकसाल में ढाली गई है (पृ० ६–७)।

(३) किन्तु ११वीं से १५वीं तक जो हिन्दी बुन्देलखंड में विकसित हुई वही १६वीं १७वीं १८वीं शताब्दी में कवियों द्वारा अपनाई गई, इसलिए इसे व्रज की संकुचित सीमा में बाध देना ठीक नहीं (पृ० ६–७)।

(४) ग्वालियरी भाषा के स्थान पर व्रजभाषा प्रचार के पीछे मुगलो का बुन्देलखड के राजवाडों से द्वेष तथा वृन्दावन के गोस्वामियों के प्रति अनुराग मूल कारण था (पृ० ११५)। द्विवेदी जी ने यदि व्रज के कुभनदास या सूर और ग्वालियर के विष्णुदास, मानिक या थेघनाथ जैसे कवियों की भाषाओं की तुलना करके, उसका मथुरा या व्रजमडल की बोली से पार्थक्य दिखाया होता तो सभव है उपर्युक्त दोनों विद्वानों के मत पर शका करने की कुछ गुजायश होती। केवल इसी आधार पर कि ये कवि ग्वालियर के हैं इसलिए इनकी भाषा 'ग्वालियरी' मानी जाये, बहुत युक्तिपूर्ण तर्क नहीं मालूम होता। 'ग्वालियरी भाषा' शब्द का प्रयोग कुछ स्थानों पर हुआ है, हॉलाकि कोई भी प्रयोग १७वीं शताब्दी के पहले का नहीं है। ग्वालियरी भाषा का प्राचीनतम प्रयोग 'हितोपदेश' नामक ग्रथ में बताया गया है जिसे द्विवेदी जी बकौल अगरचद नाहटा १५वी शताब्दी की रचना मानते हैं। किन्तु हितोपदेश मे न रचना काल दिया है और न लिपिकाल। फिर श्री नाहटा ने न तो इस ग्रथ की भाषा का विश्लेषण किया न कोई ऐतिहासिक अन्तर्साक्ष्य दिया, केवल यों ही कह देने से तो यह १५वीं शताब्दी का ग्रथ नहीं हो जायेगा। दूसरा प्रयोग कवि पृथ्वीराज की वेलि पर १६२६ ईस्वी में कविवर समय सुन्दर के प्रशिष्य जयकीर्ति की लिखी टीका में मिलता है जिसमें जयकीर्ति अपने पूर्ववर्ती टीकाकार गोपाल का उल्लेख करता है और कहता है कि उसकी टीका ग्वालियरी भाषा में थी, किन्तु गोपाल अपनी भाषा को स्वय क्या कहता है ?

मरुभाषा निरजल तजि करि व्रजभाषा चोज
अब गुपाल यातें लहैं सरस अनूपम मौज

इस तरह द्विवेदी जी की 'ग्वालियरी भाषा' नाम का दूसरा स्तभ भी टूट जाता है जो गोपाल की भाषा ग्वालियरी मान कर बनाया गया, जिसे गोपाल ने स्वय व्रजभाषा कहा।

द्विवेदी जी ने अपनी इस थीसिस के मंडन में वल्लभ संप्रदाय से मुगलों के साँठगाँठ का जो जिक्र किया है, वह तो और भी निराधार प्रतीत होता है। मुगलों के अनुराग या वल्लभ संप्रदाय के प्रति उनकी निष्ठा-श्रद्धा की बात तो समझ में आती है, किन्तु इसके कारण ग्वालियरी नाम के स्थान पर ब्रजभाषा नाम प्रचलित करने में वल्लभ सम्प्रदाय को मुगलों ने सहायता दी—यह बात बिलकुल व्यर्थ लगती है। भाषाओं के नाम इस तरह नहीं पड़ा करते। शूरसेन के आधार पर शौरसेनी नाम मध्यदेशीय भाषा का बहुत पहले से रहता आया है। शूरसेन प्रदेश बाद में ब्रज प्रदेश के रूप में विख्यात हुआ, इसलिए वहाँ की भाषा ब्रजभाषा कही जाने लगी, और इस भाषा का प्रभाव सदा से एक व्यापक भू-भाग पर रहता आया है, वही उत्तराधिकार ब्रजभाषा को भी प्राप्त हुआ। वैष्णव आन्दोलन ने इस भाषा के प्रभाव क्षेत्र को और विस्तृत बनाया। ग्वालियर सदा से ब्रजभाषा क्षेत्र के अन्तर्गत माना जाता है।

§ १६६ ईस्वी १६७६ में मिर्जा खां ने ब्रजभाषा का जो व्याकरण लिखा, उसमें ब्रज क्षेत्र का विवरण इस प्रकार दिया गया—

'मथुरा से ८४ कोश के घेरे में पड़ने वाले हिस्से को ब्रज कहते हैं। ब्रज प्रदेश की भाषा सभी भाषाओं से पुष्ट है।' इस कथन के बाद पत्र संख्या १६५ ख पर मिर्जा खां इस क्षेत्र में ग्वालियर को भी सम्मिलित करते हैं। जार्ज ग्रियर्सन ने ब्रजभाषा के क्षेत्र में ग्वालियर को सम्मिलित किया है साथ ही ब्रज के भेदोपभेदों में ग्वालियर की बोली को परिनिष्ठित ब्रज का एक रूप स्वीकार किया है। जार्ज ग्रियर्सन ने ब्रजभाषा के निम्नलिखित भेद बताये हैं—

(१) परिनिष्ठित ब्रज—चल्यो
मथुरा, अलीगढ़, पश्चिमी आगरा
(२) परिनिष्ठित ब्रज नम्बर २—चल्यो
बुलन्दशहर
(३) परिनिष्ठित ब्रज नं० ३ चलो
पूर्वी आगरा, धोलपुर ग्वालियर
(४) कन्नौजी—चलो
एटा, मैनपुरी, बदायूँ, बरेली
(५) बुन्देलखण्डी ब्रज—चलो
सिकरवारी, ग्वालियर का उत्तर पश्चिमी भाग
(६) राजस्थानी ब्रज, जैपुरी—चल्यो
भरतपुर, डाँग बोलियाँ
(७) राजस्थानी ब्रज नं० २ मेवाती—चल्यो
गुड़गाँव
(८) नैनीताल के तराई की मिश्रित ब्रजभाषा

श्री हरिहर निवास द्विवेदी ने लिखा है कि 'हिन्दी में ब्रजमण्डल को केन्द्र मानकर चलने वाली ब्रजभाषा का कभी अस्तित्व नहीं रहा, न उसकी कल्पना ही कभी मध्यदेश में

हुई, वह बगाल की देन है। उस समय काव्य भाषा की टकसाल कहीं अन्यत्र थी वह उस प्रदेश में (ग्वालियर में) थी जिसे डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अपने ग्रन्थ ब्रजभाषा में ब्रजभाषा क्षेत्र से बाहर बताया है।[1] डा० धीरेन्द्र वर्मा ने समूचे ग्वालियर को ब्रजक्षेत्र से बाहर नहीं बताया है। भारतीय भाषाओं का जो सर्वेक्षण डा० ग्रियर्सन ने प्रस्तुत किया उन्हीं तथ्यों को दृष्टि में रखकर भाषाओं के क्षेत्र का निर्धारण हुआ है। डा० ग्रियर्सन उत्तर पश्चिमी ग्वालियर को ही ब्रजक्षेत्र मानते हैं, तथा वहाँ की भाषा को वे परिरिक्षित ब्रज स्वीकार करते हैं। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने ग्वालियर को ब्रज क्षेत्र में तो रखा ही है, उन्होंने ब्रज बोलियों का अध्ययन करने के लिए ग्वालियर से भी सामग्री एकत्र कराई थी।[2]

§ १७०. श्री द्विवेदी की ही तरह कुछ और विद्वानों को यह गलतफहमी हुई है कि ब्रजभाषा का नामकरण बंगाल की देन है और 'ब्रजबुलि' के आधार पर मथुरा की भाषा को बाद में ब्रजभाषा कहा जाने लगा। ब्रजभाषा शब्द का बहुत पुराना प्रयोग नहीं मिलता। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है कि निश्चित रूप से ब्रजभाषा का उल्लेक १८ वीं शताब्दी के पूर्व नहीं मिलता। इसी प्रकार के निष्कर्षों को देखते हुए कुछ लोग सोचते हैं कि १८ वीं शताब्दी में अचानक 'ब्रजभाषा' का नामकरण किया गया और उसे बंगाल की देन समझने लगते हैं। ब्रजभाषा को पुराने लेखक 'भाषा' कहा करते थे। मिर्जा खाँ ने भी सस्कृत, प्राकृत के बाद 'भाखा' ही नाम लिया है। लगता है 'ब्रजभाखा' शब्द पुराना था। सक्षेप में लोग 'भाखा' कहा करते थे। 'ब्रजभाषा' शब्द का प्रयोग भी १८ वीं शताब्दी के पहले से होने लगा था। सवत् १६४४ में लिखी गोपाल कृत रसविलास टीका में 'ब्रजभाषा' का प्रयोग हुआ है।

> मरुभाषा निरजल तजी करि ब्रजभाषा चोज
> अब गुपाल यातें लहै सरस अनूपम मोज
>
> —अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर की हस्तलिखित प्रति, पद्य ४५

ब्रजमण्डल को केन्द्र मानकर चलने वाली भाषा जिसे शौरसेनी कहते हैं, उसका हिन्दी में सदैव अस्तित्व रहा है, यही नहीं, शौरसेनी भाषाएँ हिन्दी प्रदेश तो क्या सम्पूर्ण उत्तर भारत की मान्य साहित्यिक भाषायें रहीं हैं।

---

१. मध्यदेशीय भाषा, ग्वालियर, सवत् २०१२ वि०, पृ० ७
२ ब्रजभाषा, डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० (६) तथा पृ० १२५

अप्रकाशित सामग्री का परिचय-परीक्षण

प्रद्युम्न चरित (विक्रमी १४११)

§ १७१. व्रजभाषा के अद्यावधि प्राप्त ग्रंथों में सबसे प्राचीन अग्रवाल कवि का प्रद्युम्न चरित है जिसका निर्माण विक्रमी १४११ अर्थात् १३५४ ईस्वी में व्रजक्षेत्र के केंद्र नगर आगरा में हुआ। सर्व प्रथम नागरीप्रचारिणी सभा-सचालित हिन्दी ग्रंथों की खोज के सिलसिले में इस ग्रन्थ का पता चला जिसका विवरण १९२३-२५ की खोज रिपोर्ट्र (सर्वे आफ द हिन्दी मैन्युस्क्रिप्ट्स) मे प्रस्तुत किया गया। स्व० डा० हीरालाल ने इस ग्रन्थ का परिचय देते हुए लिखा "यह ग्रन्थ भाषा और साहित्य दोनों दृष्टियो से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। विभिन्न जैन लेखकों ने इसी नाम से इसी विषय पर कई रचनायें लिखीं, परन्तु जैन विद्वानों को भी इस लेखक का पता नहीं है। बम्बई की जैन श्वेताम्बर सभा द्वारा प्रस्तुत जैन ग्रन्थावली में भी इस ग्रन्थ का कहीं उल्लेख नहीं है, यद्यपि वहाँ पाँच प्रद्युम्नचरितो का विवरण दिया हुआ है जिसमें एक १२०० विक्रमी संवत् की रचना है[1]। उक्त खोज रिपोर्ट में इस हस्तलिखित प्रति का लिपिकाल १७९५ दर्ज किया गया है जिसे ऋपधरमा नामक किसी व्यक्ति ने दिल्ली में लिखा था। इसकी प्रति बाराबकी के जैन मदिर में सुरक्षित बताई गई है, किन्तु बहुत प्रयत्न के बाद भी मुझे उक्त मदिर से कोई विवरण प्राप्त न हुआ। अक्तूबर १९५५ में जयपुर में श्री बधीचंद जी के जैन मन्दिर के अव्यवस्थित भाडार में, जिसका अब तक 'कैटलाग' भी नहीं बन सका है, उक्त ग्रथ

---

१. सर्च रिपोर्ट, १९२३-२५, पृ० १७

की एक प्रति मुझे अनायास ही मिल गई। इस दूसरी प्रति के अन्त में लिपि-संबंधी पुष्पिका इस प्रकार है[1]—

'संवत् १६६४ वर्षे आसोज वदि मंगलवासरे श्री मूलसंघे लिखायितं श्री ललितकीर्ति सा० चादा, सा० सरणम् सा नाथू सा दशायोग्य दत्त। श्रेयास्तु शुभमस्तु मांगल्य ददातु'।

इस पुष्पिका से स्पष्ट है कि यह सर्च-रिपोर्ट में सूचित प्रति से पुरानी है। ग्रन्थकर्ता के विषय में बहुत थोड़ी बातें मालूम हो पाई हैं। अन्तिम हिस्से से पता चलता है कि ग्रन्थ आगरे में लिखा गया था। कवि अग्रवाल वंशीय जैन था।

अग्रवाल को मेरी जाति, पुर आगरे माँहि उत्पति। ७०२
सुधणु जननि गुणवइ उर धरिउ, सामइ राज घरइ अवतरिउ
एरछ नगर वसन्ते जाणि, सुणिउ चरित मोहि रचिउं पुराण। ७०५

अग्रवाल नामक एक दूसरे कवि की भी कुछ रचनायें प्राप्त होती हैं। इसी सर्च-रिपोर्ट में एक दूसरे अग्रवाल कवि का भी जिक्र है[2] जो वंश परम्परा से आगरे के ही मालूम होते हैं। वैसे इस कवि का परिचय देते हुए सर्च रिपोर्ट के निरीक्षक ने लिखा है: अग्रवाल, मल्ह और गौरी के पुत्र, जिसके आदित्यवारकथा की सूचना सर्च-रिपोर्ट १६०० नम्बर ११ में प्रकाशित हुई है। उक्त रिपोर्ट में कवि का नाम गौरी बताया गया है जबकि यह उसकी माँ का नाम है। निरीक्षक ने इस द्वितीय अग्रवाल का नाम नहीं दिया, जो ग्रन्थ के अन्तिम हिस्से में स्पष्टतया दिया हुआ है—

अग्रवाल तिन कियौ वखान, गौरी जननि तिहुयणगिरि थान
गरग गोत मल्ह को पूत, भाऊ कवि सुभ भगति संजुत्त

स्पष्ट ही कवि का नाम भाऊ अग्रवाल है जिसने रविवार व्रत की कथा लिखी, आमेर भाडार के सूचीपत्र में भी इस कवि का विवरण दिया हुआ है। आमेर भाडार की प्रशस्ति संग्रह में कवि का नाम अज्ञात तथा ग्रन्थ का अन्तिम अंश इस प्रकार है।[3]

अग्रवालीय कीयो बखान, कुवरि जननि तिहुअनगिरि थान
गरग गोत मल्ह दो पूत, भायो कविजन भगति सजूत

यहाँ 'भायो' वस्तुत. भाऊ का ही भ्रष्टलेखोत्पन्न रूपान्तर है। इन दोनों अग्रवालों के माँ-बाप, तथा जन्मस्थान मे कोई साम्य नहीं मिलता, कुवरि, गौरी या सुधणु में किंचित् भी साम्य नहीं। सर्च रिपोर्ट १६२३-२५ में बाराबंकी प्रति से जो उद्धरण दिया हुआ है उसमें—

'सुद्धि जणणी गुणवइ उर धरिउ, साहु महराज घरहिं अवतरिउ' पंक्ति आती है जिससे 'सुद्धि माता और बड़े साहु पिता का पुत्र' होने का पता चलता है। किन्तु इनकी रचनाओं में कुछ स्थलों पर किंचित् साम्य मिलता है जैसे:

---

१ यह प्रति आजकल अतिशय क्षेत्र के कार्यकर्ता श्री कस्तूर चन्द कासलीवाल, जयपुर के पास सुरक्षित है। इस प्रति के कुछ अंश परिशिष्ट में संलग्न है।

२. सर्च रिपोर्ट, १६२३-२५, पृ० २१

३ आमेर भाडार की सूची, जयपुर, पृ० संख्या ६५

रविवार व्रत कथा से—

> हीन्हीं दृष्टि मैं रच्यो पुराण, हीण बुद्धि हौं कियो वखाण
> हीण अधिक अक्षर जो होय, बहुरि सवारे गुणियर लोय

प्रद्युम्न चरित से—

> हौं मति हीण बुद्धि अयाण, मइ सामि को कियो वखाण
> मन उछाह मइ कियउं विचित्त, पडित जण सोहइ दे चित
> पडित जण विनवउ कर जोरि, हउं मति हीण म लावहु खोरि।

§ १७२. इसी प्रकार सरस्वती वंदना, नगर-वर्णन आदि प्रसग कुछ साम्य रखते है किन्तु इन्हें रूढिगत साम्य भी कह सकते है। जो भी हो, दोनों अग्रवाल कवियों को एक सिद्ध करने का कोई पुष्ट आधार प्राप्त नहीं होता है। इधर श्री अगरचद नाहटा ने '१४११ के प्रद्युम्न चरित का कर्ता' शीर्षक एक निबध जनवरी १९५७ के हिन्दी अनुशीलन में प्रकाशित कराया है। श्री नाहटा ने कुछ अन्य प्रतियों के उपलब्ध होने की सूचना दी है। दो प्रतियो की सूचना हम आरभ में ही दे चुके हैं। तीसरी प्रति श्री नाहटा ने दिल्ली से प्राप्त की है जिसमें लिपिकाल सवत् १६९८ दिया हुआ है। चौथी प्रति उज्जैन के सींधिया ओरियंटल इन्स्टीट्यूट में सुरक्षित है जिसका प्रति नम्बर ७४१ है जिसमें इस ग्रंथ का रचना काल संवत् १५११ दिया हुआ है। लिपिकाल आसोय वदी ११ आदित्यवार संवत् १६३४ है।

> सम्वत् पचसइ हुइ गया
> ग्यारहोत्तरा अत्तह (?) भया
> भादव वदि पंचमी ति, सारु
> स्वाति नक्षत्र शनीचर वारु।।१६।

१८ मई १९५६ की 'वीर वाणी' में आमेर भाडार के कार्यकर्ता श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल ने 'राजस्थान के जैन ग्रंथ भाडार में उपलब्ध हिन्दी साहित्य' शीर्षक एक लेख छपाया है जिसमें उन्होंने जयपुर की प्रति के अतिरिक्त कामा के जैन भाडार मे प्राप्त एक दूसरी प्रति का भी उल्लेख किया है। इन पाँच प्रतियों में से जयपुर, कामा, बाराबंकी और दिल्ली की चार प्रतियों में रचनाकाल सवत् १४११ ही दिया हुआ है। श्री अगरचन्द नाहटा ने लिखा है कि 'तिथि का निर्णय करने के लिए प्राचीन सवतों की जत्री को देखा गया पर वदी पचमी, सुदी पचमी और नवमी तीनों दिनों में शनिवार और स्वाति नक्षत्र नहीं पडता'[1] किन्तु सर्च रिपोर्ट के निरीक्षक डा० हीरालाल ने लिखा है कि गणना करने पर ईस्वी सन् १३५४ के ९ अगस्त में शनिवार को उपर्युक्त तिथि और नक्षत्र का पूरा मेल दिखाई पडता है।[2] श्री नाहटा ने सम्भवत. उपर्युक्त निर्णय देते समय डा० हीरालाल के इस कथन का ध्यान नहीं

---

१ हिन्दी अनुशीलन वर्ष ९ अंक १-४, पृ० १९

2 He wrote his work in Samvat 1411 on Saturday the 5 th of the dark of Bhadra month which on calculation regularly corresponds to Saturday, the 9th August, 1354 A D Search Report, 1923-25 page 17

दिया। श्री नाहटा ने विभिन्न प्रतियों के आधार पर कवि का नाम निश्चित करने का भी प्रयास किया है जो विचारणीय कहा जा सकता है, कई स्थानों पर 'सधारु' शब्द का प्रयोग हुआ है जो कवि का नाम हो सकता है।

सो सधार पणमइ सुरसती
तिन्हि कउ बुद्धि होइ कत हुती ॥१॥
हस चढ़ी करि लेखन लेइ
कवि सधारु सारद पणमेइ ॥२॥
जिण सासन मइ कहियउ सार
हरिसुव चरित करइ साधारु ॥१२॥

इन सभी स्थलों को देखते हुए कवि का नाम 'सधारु' ही मालूम होता है। कवि के जन्म-स्थान और माता पिता के नाम पर भी श्री नाहटा ने विचार किया है। कुछ प्रतियों में स्पष्ट ही 'आगरे माहि उतपति (बारावकी, पद्य संख्या ७०२) दिया हुआ है। किन्तु नाहटा ने कामा वाली प्रति में 'अगरो वे मेरी उतपति' (प० स० ७०१) पाठ देखा है।

लेखक ने अपने को एरछ नगर का रहने वाला कहा है (पद्य सं० ७०५) कुछ प्रतियों में एरछ, एलचि शब्द भी आता है। इसी आधार पर श्री नाहटा कवि को मध्यप्रान्त के एलचिपुर का रहनेवाला मानते हैं। इस विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। पिता का नाम शाह महराज और माता का नाम गुणवइ मानना भी एकदम सही नहीं लगता क्योंकि कामा वाली प्रति में साहु महाराज दिया है, और बाराबकी वाली प्रति में सामहराज। माता का नाम 'गुणवइ' और भी गडबडी पैदा करता है क्योंकि 'सुधनु जननि गुणवइ उर धरिउ' में गुणवइ का अर्थ गुणवती है जो विशेषण लगता है, मूल नाम सुधनु हो सकता है।

प्रद्युम्न चरित की विषय वस्तु

§ १७३ चौबीस तीर्थंकरोंकी वन्दना के बाद कवि ने द्वारकापुरी का वर्णन किया। एक दिन नारद ऋषि घूमते-घामते कृष्ण के पास पहुँचे। प्रेमपूर्ण वर्तालाप के बाद वे आज्ञा लेकर रनिवास को गए। सत्यभामा ने दर्पण में अपने पीछे खड़े नारद को देखा किन्तु उठी नहीं बल्कि उनकी कुरूपता का उपहास किया। नारद क्रोध से उबलते-उफनते श्रीगिरि पहुँचे और वहाँ सत्यभामा के मान-मर्दन के उपाय सोचने लगे। कुण्डनपुर में राजा भीष्मक की सुन्दरी कन्या को देखकर उन्हें प्रसन्नता हुई। उन्होंने शिशुपाल की वाग्दत्ता का कृष्ण के साथ विवाह होने की भविष्यवाणी की। कृष्ण-रुक्मिणी प्रेम विवाह में परिणत हुआ। नारद ने सत्यभामा को चिढ़ाया और दोनों स्त्रियो में यह बाजी लगवा दी कि जिसके प्रथम पुत्र होगा उसी के चरणों तले दूसरी केश रखेगी। सत्यभामा और रुक्मिणी दोनों को पुत्र उत्पन्न हुआ और दोनों के घर बधाई बजी। एक दिन बालक प्रद्युम्न को एक दैत्य उठाकर तक्षक पर्वत पर ले गया, और उसे एक शिला के नीचे दबा कर रख दिया। पूर्वसंचित पुण्यों के कारण बालक की मृत्यु नहीं हुई। इसी बीच मेघकूट नरेश कालसंवर अपनी रानी कनकमाला के साथ उधर से निकले, हिलती हुई शिला के नीचे से बच्चे को निकालकर राजा लौट आये और रानी के गूढ गर्भ का सवाद प्रचारित करके प्रद्युम्न को उन्होंने अपना पुत्र घोषित किया।

पुत्र-वियोग से व्याकुल रुक्मिणी को नारद ने समझाया-बुझाया और वे प्रद्युम्न का पता पूछने के लिए 'पुण्डरीकपुर' में जिनेन्द्र पद्मनाभ के पास पहुँचे। मुनि ने बताया कि प्रद्युम्न ने पूर्व जन्म में अवध नरेश मधु के रूप में जन्म लिया था, उसने बटुपुर के राजा हेमरथ की रानी चन्द्रावती का अपहरण किया। रानी के विरह में हेमरथ पागल होकर मर गया जो इस जन्म में उस दैत्य के रूप मे पैदा हुआ है। मुनि ने बताया कि प्रद्युम्न सोलह वर्ष की अवस्था में सोलह प्रकार के लाभ और दो प्रकार की विद्याओं सहित पुनः अपने माँ-बाप से मिलेगा।

बडा होने पर प्रद्युम्न ने कालसंवर के तमाम शत्रुओं को पराजित किया। राजा की अन्य रानियों से उत्पन्न पुत्रों ने ईर्ष्यावश उसके विनाश के लिए नाना प्रयत्न किए। विजयार्ध शिखर से नीचे गिराया, नाग गुफा में भेजा, कुये में गिराया, वन में छोड़ा, किन्तु सभी स्थानों से प्रद्युम्न न केवल सकुशल वापिस ही लौटा बल्कि अपने साथ प्रत्येक भयप्रद स्थान से अगणित आश्चर्यमय वस्तुओं को भी साथ लाया। विपुल वन में उसने एक सर्वांग सुन्दरी तपस्विनी से व्याह किया। सवर-पत्नी कनकमाला प्रद्युम्न पर मोहित हो गई, उसने कामेच्छा से प्रद्युम्न को झुकाना चाहा, किन्तु प्रद्युम्न का चरित्र कुदन की तरह निर्दोष ही रहा।

नारद के साथ प्रद्युम्न द्वारका लौटा, उसने न केवल अपने मायावी घोडों से सत्यभामा के बाग को नष्ट करा डाला बल्कि नकली ब्राह्मण वेश में सत्यभामा का आतिथ्य ग्रहण करके खाद्य सामग्री का दिवाला भी निकाल दिया। तरह तरह से सत्यभामा को परेशान कर वह माँ के कक्ष में पहुँचा। सत्यभामा ने बलदेव के पास शिकायत की, यादवों की सेना ब्राह्मण वेशधारी प्रद्युम्न को पकडने आई, किन्तु उसके मायास्त्र से मोहित होकर गिर पडी। नाराज बलराम स्वयं पकडने आये और मत्र प्रभाव से सिंह बनते-बनते बचे। प्रद्युम्न ने अपनी माँ को असली रूप में प्रणाम किया, सत्यभामा से दिल्लगी की बात सुनाई और पिता से मिलने के लिए नया स्वाग रचाया। माँ को अपने साथ लेकर उसने यादवों की सभा में जाकर कृष्ण को ललकारा 'ओ यादवो और वीर पाडवों से सुसज्जित कृष्ण, मैं तुम्हारी प्राण–वल्लभाको अपहृत करके ले जाता हूँ, मैं दुर्गुनी नहीं हूँ केवल बल–पारखी हूँ, ताकत हो तो उन्हें छुडाओ, यादवों की सेना आगे बढ़ी किन्तु मायास्त्रों से पराजित हुई। विवश कृष्ण युद्ध करने के लिए उठे। कृष्ण के सभी अस्त्र–शस्त्र बेकार गए, हर बार वे नया अस्त्र उठाते, हर बार प्रद्युम्न उन्हें विफल कर देता। दाहिने अंगों से बार-बार फडकने से कृष्ण को किसी रक्त संबंधी से मिलने की सूचना हुई। कृष्ण ने लडके से रुक्मिणी लौटा देने की प्रार्थना की। अन्त में मल्ल युद्ध की तैयारी हो रही थी कि नारद ने आकर सारे रहस्य का भंडाफोड किया। कृष्ण ने व्यंग्यपूर्वक प्रद्युम्न से रुक्मिणीको ले जाने को कहा। प्रद्युम्न ने गर्दन झुका ली। नारद ने प्रद्युम्न के विवाह का समाचार भी बताया, कि कैसे उसने रास्ते में कौरवों को पराजित कर दुर्योधन की पुत्री से विवाह किया। द्वारका में वधू के साथ प्रद्युम्न का स्वागत हुआ। बधाइयाँ बजीं।

प्रद्युम्न के दो एक विवाह और हुए। दो एक बार सत्यभामा को उसने और परेशान किया। अन्त में बहुत वर्षों के बाद जिन के मुख से कृष्ण के मारे जाने और यादव-विनाश द्वारका-ध्वस का समाचार सुनकर प्रद्युम्न ने जिनेन्द्र से दीक्षा ली और कठिन तपस्या के बाद कैवल्य पद प्राप्त किया। अन्त में कवि ने अपनी दीनता प्रकट करते हुए ग्रन्थ के श्रवण, मनन, पठन आदि के फलों का विवरण दिया है।

प्रद्युम्न चरित के कई अंश परिशिष्ट में दिये हुए हैं। इस ग्रन्थ का साहित्यिक मूल्यांकन साहित्य-भाग में दिया गया है।

हरिचन्द पुराण (विक्रमी संवत् १४५३)

§ १७४ हरिचन्द पुराण की सूचना खोज रिपोर्ट (१६००) में प्रकाशित हुई[1] किन्तु तब से आज तक ब्रजभाषा के इतने सुन्दर और प्राचीन ग्रन्थ के प्रकाशन-परिचय का कोई कार्य नहीं हुआ। खोज-रिपोर्ट में उक्त ग्रन्थ की अत्यन्त संक्षिप्त सूचना प्रकाशित हुई थी। सूचना से मालूम होता है कि ग्रन्थ की प्रतिलिपि विद्याप्रचारिणी जैन सभा, जयपुर में मौजूद थी, किन्तु आज न तो वह सभा है और न तो उक्त प्रति का पता चलता है। ऐसा जान पड़ता है कि इसी ग्रन्थ की प्रति घूम-घामकर श्री अगरचन्द नाहटा के पास पहुँची है और अब वहीं सुरक्षित है, सर्च रिपोर्ट में वर्णित प्रति के २८ पत्र, ६"×८" का आकार, २१ पंक्तियो के पृष्ठ, और ६३० पदसंख्या, नाहटा वाली प्रति में भी दिखाई पडते हैं। सर्च-रिपोर्ट में वर्णित प्रति में भी लिपिकाल नहीं है और नाहटा जी के पास सुरक्षित प्रति में भी।

हरिचन्द पुराण के लेखक के विषय में कुछ विशेष पता नहीं चलता। सर्च रिपोर्ट के निरीक्षक महोदय लिखते है : ग्रन्थ कर्ता का नाम कदाचित् नारायण देव हो।[2] किन्तु यह बिल्कुल निराधार अनुमान है। ग्रन्थ कर्ता का नाम जाखू (जाखू) मणयार है जिसने विक्रमी संवत् १४५३ अर्थात् १३६६ ईस्वी में यह कथा छन्दोबद्ध की। निरीक्षक के अनुमान का आधार अन्त की पंक्ति है जिसका ठीक अर्थ नहीं किया गया। अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

> पुहुप विवाँण बैठि करि गयौ, हुयो बधावो आणद भयौ
> एहि कथा कौ आयौ छेव, हम तुम्ह जयो नरायण देवु

निचली पंक्ति में लेखक नारायण देव कृष्ण का स्मरण करके ग्रन्थ समाप्त करता है और मंगलवाक्य के रूप में अपने और पाठक की विजय के लिए नारायण का आशीर्वाद माँगता है। 'हम' से लेखक का नाम होने के भ्रम का परिहार हो जाना चाहिये था क्योंकि 'हम' तो लेखक के लिए है ही फिर लेखक नारायण देव कैसे हो सकता है। जाखू शब्द का प्रयोग लेखकीय रूप में कई बार आया है, कुछ पंक्तियों में जाखू मणयार भी आता है। लगता है लेखक मणयार या मनियारा जाति का था जिसने किसी शारद दूबे से इस पुराण की कथा सुनी थी जिसे चैतमास की दशमी रविवार के दिन १४५३ संवत् में पूरा किया।

> सारद दूबे कथ्यो पुराण, पावी मति बुधि उपनो जाण
> करूँ कवित्त मन लावों वार, सत हरिचद पवडो ससार ॥३॥
> चौदह सै तिरपनै विचार, चैतमास दिन आदित वार
> मन माहिं सुमिरयो गादीत, दिन दसराहे कियो कवीत ॥४॥

इसी के नीचे 'आचली' छन्द के अन्तर्गत कवि के नाम का प्रयोग हुआ है—

---

१ खोज रिपोर्ट १६००, नम्बर ८६, पृ० ७६–७७
२ वही, पृ० ७७

आँचली

सूरिज वंस राज सपवित्त, धन हरिचन्द न मेल्हो चित्त
सुणो भाव धरि जापू कहै, नासै पाप न पीछै रहै ॥८॥

§ १७५. हरिचंद पुराण की कथा राजा हरिचंद की पौराणिक कथा पर ही आधृत है किन्तु कवि ने अपनी मौलिक उद्भावना के बल पर कई प्रसंगों को काफी भावपूर्ण और मार्मिक बनाने का प्रयास किया है। हरिचंद पुराण के कई अंश परिशिष्ट में दिये गए हैं, इनमें भाषा की सफाई और जन-काव्य की झलक देखी जा सकती है। जापू की भाषा में ब्रजभाषा के औक्तिक प्रयोगों के साथ ही अपभ्रंश के अवशिष्ट रूप भी दिखाई पडते है। हूँणीज्जइ, थुणीज्जइ, सुणन्तु, आपणँह (पष्ठी) फाडइ, टीयउ, तोडइ आदि बहुत से रूप अपभ्रंश प्रभाव की सूचना देते हैं, किन्तु भाषा में जन-सुलभ सहजता और सफाई भी दिखाई पडती है। रोहिताश्व की मृत्यु पर शैव्या के विलाप का वर्णन करते हुए कवि की भाषा सारे रूढ प्रयोगों को छोडकर स्वाभाविक गति में उतर आती है—

विप्र पुछि वन भीतर जाइ, रानी अकली परी बिलखाइ।
सुत सुत कहै वयण ऊचरइ, नयण नीर जिमि पाउस झरइ॥
हा ध्रिग हा ध्रिग करै संसार, फाटइ हियो अति करै पुकार।
तोडइ लट अरु फाडइ चीर, डैपै मुख अरु चोवै नीर॥
धरि उछंग मुप चूमा देइ, अरे बच्छ किम थान न पेइ।
दीपउ करि दीणेउ अँधियार, चन्द विहुण निसि घोर अंधार॥
वछ विण गो जिमि कार्‍यो आहि, रोहितास विणु जीवों काहि।
तोहिं विणु मों जग पाल्ट भयो, तोहिं विणु जिवतहँ मारउ गयो॥
तोहि विणु मैं दुप दीठ अपार, रोहितास लायो अँकवार।
तोहि विणु नयन ढलै को नीर, तेहि विणु माम ज्या मुके सरीर॥
तोहि विणु वात न श्रवण सुणेइ, तोहि विणु जीव पयाणो देइ॥

विष्णुदास (संवत् १४९२)

§ १७६. विष्णुदास ब्रजभाषा के गौरवास्पद कवि थे। सूरदास के जन्म से अर्ध-शताब्दी पहले, जिन दिनों ब्रजभाषा में न तो वह शक्ति थी न वह अर्थवत्ता, जिसका विकास अष्टछाप के कवियों की रचनाओं में दिखाई पडा, विष्णुदास ने एक ऐसे साहित्य की सृष्टि की जिसने कृष्णभक्ति के अत्यन्त मार्मिक और मधुर काव्य की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। विष्णुदास ने एक ऐसी भाषा का निर्माण किया जिसे १७ वीं शताब्दी में भारत की सर्वश्रेष्ठ साहित्य भाषा होने का गौरव मिला।

विष्णुदास की रचनाओं की सूचना आज से पचास वर्ष पूर्व, १९०६—८ की खोज रिपोर्ट में प्रकाशित हुई थी। १९०६ की खोज रिपोर्ट के निरीक्षक डा० श्यामसुन्दरदास ने यद्यपि इन कवि के बारे में कुछ विशेष नहीं लिखा, क्योंकि उस समय विन्ध्यप्रदेश की खोज का जो विवरण प्रस्तुत किया गया उसमें विष्णुदास की दो रचनाओं, महाभारत कथा और स्वर्गारोहण की सामान्य सूचना मात्र दी गई। ये दोनों पुस्तकें दतिया राज पुस्तकालय में सुरक्षित बताई गई।

विष्णुदास के बारे में इतना ही मालूम हो सका कि वे गोपाचल गढ़, या ग्वालियर के रहने वाले थे जो उन दिनों डोंगर सिंह नामक राजा के अधीन था। महाभारत कथा में लेखक ने रचनाकाल का भी उल्लेख किया था इस आधार पर रिपोर्ट में उन्हें १४३५ ईस्वी का कवि बताया गया।[1] महाभारत कथा और स्वर्गारोहण की पाडु लिपियो के विवरण से ज्ञात हुआ कि ये क्रमशः सवत् १७६७ ईस्वी और १७७५ ईस्वी की लिखी हुई हैं। महाभारत की पाडुलिपि २४ पक्तियों के ७६ पत्रों की पुस्तक है जिसमें २५११ श्लोक आते हैं। स्वर्गारोहण महाभारत से छोटी रचना है जिसमें २० पक्तियों के १५ पत्र हैं। श्लोक सख्या ४१८ है।[2] चार वर्षों के बाद पुनः १६१२ की खोज रिपोर्ट में विष्णुदास की सूचना प्रकाशित की गई। इसमें विष्णुदास के रुक्मिणी मगल का विवरण भी दिया गया। रचना के आदि अन्त के कुछ पद भी उद्धृत किये गए। अन्त का विष्णुपद इस प्रकार है।[3]

महलन मोहन करत विलास।
कहाँ मोहन कहाँ रमन रानी और कोउ नहीं पास।
रुक्मन चरन सिरावत पिय के पूजी मन की आस॥
जो चाहै थिसौ अब पायो हरि पति देवकी सास।
तुम विनु और कोन थो मेरो धरत पताल अकाश॥
पल सुमिरन करत तिहारो ससि पूस पर गास॥
घट घट व्यापक अन्तर्यामी सब सुखरासी ।
विष्णुदास रुक्मन अपनाई जनम जनम की दासी॥

सन् १६२६–२८ की खोज रिपोर्ट में विष्णुदास की रचनाओं का नया विवरण प्रकाशित हुआ। इस पर्व विष्णुदास की दो रचनायें रुक्मिणी मगल और सनेहलीला प्रकाश में आईं। रुक्मिणी मगल की चर्चा तो १६०६–८ की रिपोर्ट में ही आ चुकी थी, किन्तु वह इतनी अल्प और भ्रष्ट थी कि उससे कुछ विशेष बात मालूम न हो सकी। १६२६–२८ की रिपोर्ट में रुक्मिणी मगल की काफी सविस्तार सूचना प्रकाशित हुई। पिछली खोज रिपोर्ट में रुक्मिणी मागल से जो अन्तिम विष्णुपद ऊपर उद्धृत किया गया है, यही १६२६–२८ की रिपोर्ट से उद्धृत किया जाय तो एक नया रूप दिखाई पड़ेगा।

मोहन महलन करत विलास।
कनक मंदिर में केलि करत हैं और कोउ नहिं पास।
रुक्मिनी चरन सिरावै पी के पूजी मन की आस।
जो चाहो सो अबे पावों हरि पति देवकि सास॥
तुम विनु और न कोऊ मेरो धरणि पताल अकास।
निस दिन सुमिरन करत तिहारो सब पूरन परकास॥

---

१ सर्च रिपोर्ट, १६०६–८, पृ० ६२, नंबर २४८
२ वहीं, पृ० ३२४–३२६, संख्या २४८ ए और बी०
३ वृन्दावन के गोस्वामी राधारामचरण की प्रति, खोज रिपोर्ट १६१२-१४ पृ० २५२

घट घट व्यापक अन्तर जामी त्रिभुवन स्वामी सब सुखरास ।
विष्णुदास रुकमन अपनाई जनम जनम की दास ॥[1]

दो समान पदों में लिपी के कारण कितना बडा अन्तर उपस्थित हो जाता है। पहले पद की पक्तियाँ भ्रष्ट और त्रुटिपूर्ण हे। रुक्मिणी मंगल कृष्ण और रुक्मिणी के विवाह का मंगल-काव्य है जिसमें विष्णुदास ने भक्ति और शृंगार का अनोखा समन्वय किया है।

§ १७७. ब्रजभाषा में सगुण कृष्णभक्ति का आरम्भ वल्लभाचार्य के वृन्दावन पधारने के ८०, ९० साल पहले ही कवि विष्णुदास द्वारा किया जा चुका था। यह एक नया ऐतिहासिक सत्य है। १९२६-२८ की रिपोर्ट में ही विष्णुदास की दूसररी कृति सनेह लीला का भी विवरण दिया हुआ है।[2] सनेहलीला भ्रमरगीत का पूर्व रूप है। कृष्ण को एक दिन अचानक ब्रज की स्मृति आती है। स्नेह-विह्वल कृष्ण उद्धव को गोपियों के लिए ज्ञान का संदेश देकर गोकुल भेजते हैं। ज्ञान-गम्भीर उद्धव ब्रज की धूलि में सारी निर्गुण-गरिमा को लुटाकर वापिस आते है। विष्णुदास के शब्दों में ही उद्धव का उत्तर सुनिये—

तब ऊधो आये यहाँ श्री कृष्ण चन्द के धाम
पाय लागि वन्दन कियो बोलत ले ले नाम १०९
ग्वाल वाल सब गोपिका ब्रज के जीव अनन्य
तुमही पाय लागन कह्यो सुनो देव ब्रह्मन्य ११०
नन्द जसोदा हेत की कहिये कहा बनाय
वे जानै कै तुम भले सो पै कह्यो न जाय १११
वे चित टारत नहीं स्याम राम की जोर
मध नामक पुरती ग्रहे मूरति मधुर किशोर ११२
अस गोपिन के प्रेम की महिमा कछू अनन्त
मैं पूछी पट् मास लौं तऊ न पायो अन्त ११३
देह गेह सब छाणि के करत रूप को ध्यान
बन को भजन विचारिये सो सब फीको मान ११४
सन्त भक्ति भूतल विषै वे सब ब्रज को नार
चरण सरण रहीं सदा मिथ्या लोग बिसार ११५
उनके गुण नित गाइये करि करि उत्तम प्रीति
मैं नाहिन देखूँ कहुँ ब्रज वासिन की रीत ११६
तब हरि ऊधो सो कह्यो हूँ जानत सब अंग
हौं कहूँ छाड्यो नहीं ब्रज वासिन्ह को संग ११७
ब्रज तजि अनत न जायहो मेरे तो या टेक
भूतल भार उतारहौं धरिहौं रूप अनेक ॥ ११८

---

१. खोज रिपोर्ट, १९२६-२८, पृ० ७५९, संख्या ४९८ ए
२. वही, पृ० ७६०, संख्या ४९९

सन् १६२६-३१ की सर्वे रिपोर्ट में विष्णुदास की चौथी बार सूचना प्रकाशित हुई जिसमें महाभारत कथा, स्वर्गारोहण पर्व और स्वर्गारोहण इन रचनाओं की सूचना प्रकाशित हुई। अतिम दोनों पुस्तके सभवत' एक ही हैं। किंतु इनके जिन अशों के उद्धरण दिये गये हैं, वे भिन्न भिन्न है और विवरण में इससे अधिक कुछ पता भी नहीं चलता। सभव है दोनों ग्रन्थ ही मूल ग्रन्थ के हिस्से हों। पाँचों पाडवों के स्वर्गारोहण की कहानी को बड़े मार्मिक ढग से प्रस्तुत किया गया है। महाभारतकथा, और स्वर्गारोहण के कुछ अश परिशिष्ट में सलग्न है।

§ १७८ इस प्रकार विष्णुदास के बारे में अब तक खोज रिपोर्ट में चार बार सूचनाएँ प्रकाशित हो चुकीं, इनके ग्रन्थों का परिचय भी दिया गया, किन्तु अभाग्यवश ब्रजभाषा के इस सस्थापक कवि का हिन्दी साहित्य के इतिहास में शायद ही कहीं उल्लेख हुआ हो।[1] विष्णुदास ग्वालियर नरेश डूगरेन्द्र सिंह के राज्यकाल में वर्तमान थे। १४२४ ईस्वी में डूगरेन्द्र सिंह ग्वालियर के राजा हुए। डूगरेन्द्र सिंह स्वय साहित्य और कला के प्रोत्साहक नरेश थे। विष्णु-दास की रचनायें—

(१) महाभारत कथा
(२) रुक्मिणी मगल
(३) स्वर्गारोहण
(४) स्वर्गारोहण पर्व
(५) स्नेह लीला।

विष्णुदास की भाषा १५ वीं शती की ब्रजभाषा का आदर्श रूप है। इस भाषा में ब्रज के सुनिश्चित और पूर्ण विकसित रूप का आभास मिलता है जो १६ वीं शती तक एक परिनिष्ठित भाषा के रूप में दिखाई पडा। कूँ (कों), हूँ (हों), सू (सों) लूं या लों (लौं) आदि पुरानी भाषा के चिह्न है। विष्णुदास की भाषा में भूत कृदन्त के निष्ठा रूप में 'आ' अन्त वाले रूप भी मिलते है। स्वर्गारोहण पर्व में धरिया, खरखरिया, कहिया, रहिया आदि अवहट्ठ की परंपरा के निश्चित अवशेष है। खडी बोली में केवल आकारान्त रूप ही दिखाई पडते हैं, किन्तु ब्रज मे और खास तौर से प्राचीन ब्रज में दोनों प्रकार के रूपों का प्राधान्य था। तिङन्त के वर्तमान काल का रूप करई (महा० २) भनई (स्वर्ग०) सुनइ, (स्वर्ग) धरइ (स्व०) आदि रूप भी अपभ्रश का लगाव व्यक्त करते हैं। भाषा की अर्धविकसित अवस्था की सूचना इन रूपों से चलती है। विष्णुदास की भाषा का विवेचन इस काल के अन्य कवियों की भाषा के साथ ही आगे हुआ है।

कवि दामो की लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा (विक्रमी १५१६)

§ १७९ ईस्वी सन् १९०० के, नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा सचालित हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज में कवि दामो की लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा का पता चला। खोज

---

1 मिश्रबन्धु विनोद मे सूचना मात्र मिलती है

रिपोर्ट में इस प्रति का लिपिकाल संवत् १६६६ दिया हुआ है।[1] अन्त की पुष्पिका इस प्रकार है।

'इति श्री वीरकथा लखमसेन पद्मावती सम्पूर्ण समाप्ता, सवत् १६६६ वर्षे भाद्र सुदि सप्तमी लिखित फूलपेडा मध्ये। पोथी के विवरण में १० पत्र, ६३"×८" २६ पंक्तियाँ और ४८८ पद्य का हवाला दिया हुआ है। अभी हाल में एक दूसरी प्रति का पता चला है जो श्रीअगरचन्द नाहटा के पास सुरक्षित है। श्री उदयशंकर शास्त्री ने इस प्रति का परिचय देते हुए एक लेख त्रिपथगा में प्रकाशित कराया है।[2] नाहटा जी के पास सुरक्षित प्रति की अन्तिम पुष्पिका इस प्रकार है 'इति श्री वीरकथा लखमसेन पद्मावती सम्पूर्ण समाप्ता संवत् १६६६ वर्षे भाद्र सुदि सप्तमी लिखितं फूलपेडा मध्ये। वही २६ पंक्ति, वही ६३"×८" के १० पत्र। एक ही स्थान एक ही लिपिकाल, वार, नक्षत्र, वर्ष सब एक। उदयशंकर शास्त्री इसे दूसरी प्रति बताते हैं किन्तु खोज रिपोर्ट में सूचित, विद्याप्रचारिणी जैन सभा, जयपुर की प्रति से इसमें कोई भिन्नता नहीं। न तो आज जयपुर में उस सभा का कोई पता है और न तो प्रति का। मुझे लगता है कि उक्त दोनों प्रतियाँ वस्तुतः एक ही हैं। जैसा कि उनके विवरण से स्पष्ट है। किन्तु दोनों प्रतियों की भाषा में कुछ अंतर अवश्य दिखाई पड़ता है। नाहटा जी के प्रति के उद्धरण परिशिष्ट में दिये हुए हैं, सर्च रिपोर्ट में सूचित प्रति का अंश इस प्रकार है।

सुणो कथा रस लील विलास, योगी मरण राय बनवास
मेलो करि कवि दामो कहइ, पदमावती बहुत दुःख सहइ ॥१॥
काशमीर हुँत नीसरइ, पंचन सत अमृतरस भरइ
सुकवि दामउ लागइ पाय, हम दर दीयो सारद माय ॥२॥
नमूँ गणेश कुंजर शेष, मूसा वाहन हाथ फरेस
लाडू लावन जस भरि थाल, विघन हरण समरू दुदाल ॥३॥

केवल तीन चौपाइयों में ही भाषा–भेद देखें। सुणउ (ना०) सुणो (सर्च०) मेलउ (ना) मेलो (सर्च) दामउ (ना) दामो (स) वाहण (ना०) वाहन (स०) लावण (ना०) लावन (स०)। सर्च रिपोर्ट में अन्तिम अंश भी दिया हुआ है। भाषा की दृष्टि से यह पूर्णतः ब्रजभाषा है। किन्तु नाहटा वाली प्रति में उद्वृत्त स्वर ज्यों के त्यों हैं उनमें पुरानापन दिखाई पड़ता है, जबकि सर्च रिपोर्ट वाली प्रति में सूचना लेखक ने उद्वृत्त की संधि करके अउ > औ कर लिया है। ण के स्थान पर प्रायः न लिखा हुआ है। इस प्रकार कुछ मामूली अन्तर व्यक्त होता है बस। प्रतियाँ प्रायः एक ही मालूम होती हैं।

दामो कवि के बारे में कुछ विशेष पता नहीं चलता। इस आख्यान की रचना के विषय में कवि की निम्न पंक्तियाँ महत्वपूर्ण हैं–

संवतु पनरह सोलोत्तरा मझारि
जेठ वदी नवमी बुधवार
सप्त तारिका नक्षत्र दृढ जान
वीर कथा रस करूँ बखान ॥४॥

---

१. खोज रिपोर्ट, सन् १९००, नम्बर ८८, पृ० ७५

२. त्रिपथगा अंक १०, जुलाई, १९५६ पृ० ५३–५८

सरस विलास काम रस भाव
जाहु दुरीय मनि हूअ उछाह
कह इवि कीरत दामो कवेस
पदमावती कथा चहुँ देस ॥५॥

ऊपर की चौपाई से मालूम होता है कि कवि ने १५१६ सवत् अर्थात् १४५६ ईस्वी में इस आख्यानक काव्य की रचना की। दूसरी चौपाई की दूसरी अर्धाली से लगता है कि कवि का पूरा नाम कीर्तिदाम था, जिसके सक्षिप्त दामो नाम से कवि प्रसिद्ध था जैसा कि ग्रन्थ में कवि ने कई स्थानों पर अपने को दामो ही लिखा है। यह अपभ्रश कथा शैली में लिखा प्रेमाख्यानक है जिसकी कहानी चिरपरिचित मध्यकालीन कथाभिप्रायों (Motif) से पूरित है।

§ १८० कथा का साराश नीचे दिया जाता है—

सिद्धनाथ नामक प्रतापी योगी हाथ में खप्पर और दड लेकर नव-खण्ड पृथ्वी पर घूमता रहता था। एक बार योगी हसराय के गढ़ सामोर में पहुँचा। वहाँ उसने राजकन्या पद्मावती को देखा। वह बातें करती तो मानो चन्द्रमुख से अमृत की वर्षा होती। सौन्दर्यमुग्ध योगी ने बाला से पूछा कि तुम किसी की परिणीता हो या कुमारी? नरपति कन्या बोली : मैं सौ राजाओं का वध करने वाले को अपना पति वरूँगी। कामदग्ध योगी तब—सयम से भ्रष्ट होकर सुन्दरी राजकन्या को देखता ही रह गया, किसी तरह वापिस आया। एक सौ एक राजाओं के वध का उपाय सोचने लगा। उसने एक कुएँ से सुरग का निर्माण किया जो सामौर गढ़ से मिली हुई थी। योगी राजाओं को पकड-पकड कर लाता और उसी कुएँ में डालता जाता। इस तरह उसने चण्डपाल, चण्डसेन, अजयपाल, धरसेन, हमीर, हरपाल, दण्डपाल, सहस्रपाल, सामन्तसिंह, विजयचन्द्र, वैरिशाल, भिण्डवाल, आदि निन्यानवे राजाओंको पकड कर कुएँ में बन्द कर दिया। दो अन्य राजाओ को पकडने के उद्देश्य से उसने फिर यात्रा की। हाथ में बिजौरी नीबू लेकर वह लखनौती के राजा लक्ष्मण के महल के द्वार पर पहुँचा और जोर की हाँक लगाकर आकाश में उड गया। इस सिद्ध करामाती योगी को देखकर आश्चर्यचकित द्वारपालों ने राजा को खबर दी, राजा ने योगी को ढूँढ लानेका आदेश दिया किन्तु योगी ने जाना अस्वीकार किया। लाचार राजा स्वय योगी के पास पहुँचा। योगी ने लखनौती छोडकर वहाँ जाने का कारण पूछा। प्यासे राजा ने पानी माँगा। योगी ने कहा कि तालाब आदि सूख गये हैं, कुयें के पास चलो। राजा ने पानी निकाल कर पहले योगी को पिलाया। अपने पीने के लिये दुबारा पानी लाने कुयें पर पहुँचा तो योगी ने उसे कुयें में ढकेल दिया जहाँ उसने बहुत से राजाओ को देखा। पूछने पर राजाओं ने बताया कि यह सिद्धनाथ योगी एक सौ एक राजाओं का वध कर पद्मावती से विवाह करना चाहता है। लक्ष्मणसेन ने उन कैद राजाओ को मुक्त करके बाहर निकाल दिया और सुरग के रास्ते एक स्वच्छ जल के सरोवर के किनारे पहुँचा। पानी पीकर प्यास बुझाई और एक ब्राह्मण के घर जाकर अपने को लखनौती का राजपुरोहित बताकर शरण ली। ब्राह्मणी ने उसे सामौर के राजपुरोहित का पद दिला दिया।

राजकुमारी पद्मावती के स्वयवर में लक्ष्मणसेन ब्राह्मण युवक के वेश में पहुँचा, राजकुमारी ने उसके रूप से आकृष्ट होकर वरमाला पहना दी। इस पर स्वयवर में आये राजा बहुत क्रुद्ध हुए, किन्तु उनकी एक न चली। लक्ष्मण सेन ने सबको पराजित किया और अपना

असली परिचय देकर पद्मावती से शादी की। एक रात को सिद्धनाथ योगी आकर राजा से बोला—मुझे पानी पिला, नहीं तुझे शाप दूँगा। भय के कारण राजा ने वह उसकी खोजबीन की। योगी ने तब तक जल पीने से इन्कार किया जब तक राजा वचनबद्ध नहीं हो गया कि वह पद्मावती से उत्पन्न पहली सन्तान को योगी के पास लायेगा। समय बीतने पर पद्मावती के आग्रह और योगी के भय से राजा जब सद्यः उत्पन्न बच्चे को लेकर योगी के पास पहुँचा तो उसने उसे चार टुकड़ों में काटने को कहा। राजा ने वैसा ही किया। वे टुकड़े खग, धनुषबाण, वस्त्र और कन्या के रूप में परिणत हो गए। राजा इससे बड़ा दुखी हुआ और राजपाट छोड़कर वन में चला गया। इधर-उधर घूमते-भटकते राजा कर्पूर धारा नगर में पहुँचा जहाँ हरिया नामक एक धनकुबेर सेठ निवास करता था। राजा ने उसके डूबते हुए लड़के की रक्षा की। नगर में रहते हुए राजा ने वहाँ की राजकन्या को देखा और दोनों में प्रेम हो गया। धारा नरेश लक्ष्मणसेन के इस कार्य पर बड़ा क्रुद्ध हुआ और लक्ष्मणसेन के वध की आज्ञा दी, किन्तु सारी कथा सुनकर उसे लक्ष्मणसेन पर बड़ी दया आई। उसने न केवल मुक्त ही किया बल्कि अपनी कन्या भी व्याह दी। राजा नई रानी के साथ लौटा और दोनों पत्नियों के साथ सुखपूर्वक लखनौती आकर रहने लगा।

§ १८१. दामों की भाषा प्राचीन ब्रजभाषा है, इसमें सन्देह नहीं किन्तु राजस्थानी का प्रभाव भी प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। प्रतिलिपि बहुत शुद्ध नहीं है। राजस्थानी लिपिकार की स्वभाषाप्रियता भी राजस्थानी प्रभाव में सहायक हो सकती है। नीचे एक अंश उद्धृत किया जाता है। आदि और अंत के कुछ अंश परिशिष्ट में संलग्न हैं।

> घरि चाल्यउ लखणउती राय, अति अणंद हरख्यउ मन भाय
> कहइ वधावउ आयउ राइ, तब तिण लाधउ बहुत पसाइ ॥६२॥
> लखन सेन लखनौती गयउ, राज माँहि वधावउ भयउ
> बंभण भाट करइ कइ वार, मिलियो वेग सहू परिवार ॥६३॥
> मिल्यौ महाजण राजा तणा, नयर देस भउ उछाह घणा
> माय पूत अरु धीय कुमारि, लखन सेन भेट्यो तिणि वार ॥६३॥
> भणइ प्रधान स्वामि अवधारि, काइ देव रहियो इणवार
> योगी सरिसउँ मइ दुःख सहयउँ, घाल्यउँ कुँआ कष्ट भोगेयउँ ॥६४॥
> गढ सामउर रहइ छइ राय, तासु धीय परणी रंग माहि।
> पछइ कपूर धार हूँ गयउँ, चन्द्रावती विहाहण लियउँ ॥६४॥

काव्य प्रायः विवरणात्मक है इसलिए भाषा में बहुत सौन्दर्य नहीं दिखाई पड़ता, किन्तु आरम्भिक भाषा के अध्ययन के लिए इस ग्रन्थ का महत्त्व निर्विवाद है, काव्यरूप की दृष्टि से तो यह अनुपेक्षणीय ग्रन्थ है ही।

डूंगर बावनी (विक्रमी संवत् १५३८)

§ १८२. बावन छप्पयों की इस रचना के लेखक कवि डूंगर उपनाम पद्मनाभ बहुत प्रसिद्ध जैन श्रावक और कवि थे। डूंगर बावनी की रचना इन्होंने १५३८ विक्रमी अर्थात्

१४८१ ईस्वी सन् में सम्पूर्ण की। तिथिकाल का जो संकेत कवि करता है, उसका अर्थ १५४८ भी हो सकता है।

> संवत पनरह चाल तीनि अठ गल उदयवता
> सम्वत्सर आणंदि माघ तिहि मास वसन्ता
> सुकुल पच्छ द्वादसी वार रवि सुमिर सुमित्तहउ
> पूरव पाढ़ा नखत जोग हरषिणि तिहि खिल्लउ
> सुभ लगन महूरत सुभ घड़ी पद्मनाभ इम उच्चरइ
> बावनी किद्ध डूंगरतणी ए महियल बहु वित्थरइ ॥५०॥

डूँगर कवि की बावनी की प्रति श्री अगरचन्द नाहटा के अभय जैन ग्रन्थागार में सुरक्षित है। कवि ने ग्रन्थ के आरम्भ में अपने पूर्व-पुरुषों का परिचय दिया है। श्रीमालि कुल की फोफल्या शाखा में श्री पुन्नपाल हुए, जिनके पुत्र श्री रामदेव की धर्मपत्नी वारू देवी के गर्भ से दो पुत्र रत्न उत्पन्न हुए डूँगर और दीपागर।

ग्रन्थ को देखने से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि पद्मनाम ने डूँगर कथित उपदेशों को बावनी रूप में लिखा या डूँगर और पद्मनाभ एक ही व्यक्ति थे जिन्होंने इन नीति, विषय, बावन छप्पयों का निर्माण किया। क्योंकि कहीं 'सघपति डूगर कहइ' या 'नृपति डूँगर कहइ' इस प्रकार की भणिता का प्रयोग है।

> धर्म होइ धन रिद्धि भरइ भण्डार नवइ निधि
> धर्महि धवल आवास तुग तोरण विविह परि
> धर्महि छद्दा इति नारि पदमिणी पीन स्तनि
> धर्महिं पुत्र विचित्र पेखि सन्तोष हुवइ मनि
> धरमहि पसार निरवाण फल एह वयन निज मन धरहु
> सघपति राय डूँगर कहइ धर्म एक अहनिस करहु ॥५॥

दूसरे स्थान पर कवि 'पद्मनाथ उच्चरइ' कहता है जैसा पचासवें छप्पय में आता है, जिसे रचनाकाल के सिलसिले में पहले उद्धृत किया गया है। जो भी हो, दो एक पदों को छोडकर अधिकाश में 'डूगर कहइ' ही आता है और ग्रन्थ का नाम भी डूँगर बावनी है जो छीहल कवि की छीहल बावनी की, तरह कवि के नाम की पुष्टि करती है।

§ १८३. डूँगर कवि की रचनाएँ अपभ्रंश प्रभावित दिखाई पडती हैं किन्तु यह छप्पय शैली का परिणाम है। १६ वीं १७ वीं तक की छप्पय रचनाओं में भी अपभ्रंश-प्रभाव को सुरक्षित रखा गया है। नरहरिभट्ट के छप्पय और छीहल (१५८० सवत्) की बावनी के छप्पय इस तथ्य के प्रमाण हैं। डूँगर के छप्पय प्रायः नीति विषयक ही हैं। किन्तु नीति में उपदेश के साथ ही कविता का गुण भी समन्वित किया गया है। तीन छप्पय नीचे उद्धृत किये जाते हैं।

> रितु वसन्त उल्हणी विविहि वणराय फलह सहु
> कटक विकट करीर पन्त पिक्खंत किपिं नहु
> धाराहर वर धवल वारि वरसत घोर घन
> कुरलतउ चातक कठ न बूढइ इक्कु कन

जिस कालि जिसउ दीन्हउ, तिसउ तिन काल पावंत जन
सघ पति राय डूंगर कहइ अलिय दोष दिज्जइ कवन ॥२०॥
इन्द अहल्या रम्यउ जानि तसु अइति उपन्नी
कान्ह रम्यउ ग्वालिनी पेखि करि रूप रवन्नी
दस कंधर दस सीस सीय कारनि सिर खण्डयउ
कीचक अरु द्रुपदी कज्ज देउल सिरि मद्‌येउ
रक्खिय न अप्पइ इमि जानि सो नर अवमहि डुव्वयउ
तिनि मयन नृपति डूगर कहइ को को को न विंड्‌यउ ॥६॥
औषधि मूल मत्री सर्प नहि मानइ दुर्जन
सर्प डसी वेदना एहि दिट्ठइ हुई गजन
लागइ दोष अनन्त कियइ संसर्ग पुनि परि
तवडी जल हरइ घड़ी पीटियइ सुफल्लरि
वइरी वेसास कीजइ नहीं, नीद न आवइ सुक्ख करि
परिहरउ सदा डूगर कहइ भलउ न वछइ पिसुन नर ॥१०॥

डूंगर के कुछ छप्पय अत्यन्त उच्चकोटि के हैं। भाषा अत्यन्त पुष्ट, गठी हुई और शक्तिपूर्ण है। छप्पयों की यह परम्परा बाद में और भी विकसित हुई। साहित्य और भाषा दोनों ही दृष्टियों से इनका महत्त्व स्वीकार किया जायेगा।

§ १८४. मानिक कवि

१६३२-३४ ईस्वी की खोज रिपोर्ट में मानिक कवि की वैतालपचीसी की सूचना प्रकाशित हुई।[2] इस त्रैमासिक विवरण का सक्षिप्त अश नागरीप्रचारिणी पत्रिका मे सवत् १६६६ में छपा, जिसमें मानिक कवि का नाम दिया हुआ है।[3]

मानिक कवि ने विक्रमी सवत् १५४६ अर्थात् १४८६ ईस्वी में वैताल-पचीसी की रचना की। रचना के विषय में कवि ने लिखा है :

संवत् पनरह सै तिहिकाल, ओरु वरस आगरौ छियाल।
निर्मल पाख आगहन मास, हिमरितु कुम्भ चन्द को वास॥
आठे द्योस वार तिहि भानु, कवि भाषे वैताल पुरानु।
गढ ग्वालियर वरन अतिभलो, मानुसिध तोवर जा वलो॥
संवई खेमल वीरा लीयो, मानकि कवि कर जोरें दीयो।
मोहि सुनावहु कथा अनूप, जो वैताल कियो वहु रूप॥

ग्वालियर में मानसिंह तवर का राज्य था। उनके राज्यकाल में १५४६ विक्रमी सवत् के अगहन महीने के शुक्ल-पक्ष अष्टमी रविवार को यह कथा राजा की आज्ञा पर लिखी गई।

---

१. डूंगर कवि का यह परिचय पहली बार प्रकाशित किया जा रहा है। प्रति, श्री अगरचन्द नाहटा बीकानेर के पास सुरक्षित।

२. त्रैमासिक खोज विवरण १९३१-३४ पृ० २४०-४१

३. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४४ भाग २, अक ४

मानिक-कवि ने किसी सघई खेमल का नाम लिया है। राजा ने कवि के लिए जो ताम्बूल-वीटिका प्रदान की, उसे प्रथम सघई खेमल ने लिया और मानिक कवि को प्रदान किया। लगता है सघई खेमल कोई राजकर्मचारी तथा राजा का निकटवर्ती था। मानिक कवि को राज दरबार में पहुँचने में इसने सहायता की। मध्यकालीन कवियों को राजकवि का अथवा विशेष सभाकवि का सम्मान प्रदान करने के लिए राजा कवि को ताम्बूल प्रदान करता था इसका उल्लेख कई कवियों ने बडी गर्वोक्ति के साथ किया है।

मानिक कवि का निवास स्थान अयोध्या था। ये जाति के कायस्थ थे। मानिक के पूर्व-पुरुप भी कवि थे।

§ १८५. बैतालपचीसी[1] प्राचीन 'वैतालपञ्चविशति' का अनुवाद प्रतीत होता है, वैसे भाषा-कार ने कई प्रसगों को अपने ढग पर कहा है जिसमें मौलिक उद्भावना भी दिखाई पडती है। आरम्भ का अश नीचे उद्धृत किया जाता है :

सिर सिंदूर वरन मैमत, विकट दन्त कर फरसु गहन्त
गज अनन्त नेवर झकार, मुकुट चन्द अहि सोहै हार
नाचत जाहि धरनि धसमसे, तो सुमरिन्त कवितु हुलसे
सुर तैंतीस मनावैं तोंहि, मानिक भने बुद्धि दे मोहिं
पुनि सारदा चरन अनुसरों, जा प्रसाद कवित्त उच्चरों
हस रूप ग्रथ जा पानि, ता कौ रूप न सकौं बखानि
ताकी महिमा जाइ न कही, फुरि फुरि माइ कन्द मा रही
तो पसाइ यह कवितु सिराइ, जा सुवरनों विक्रम राइ

मानिक की भाषा शुद्ध ब्रज है। अयोध्या का कवि मानसिंह तोंवर की सभा में जाकर ब्रजभाषा काव्य करने लगता है। जिस दिन 'संघई खेमल' ने मानिक कवि का राजा मानसिंह से परिचय कराया और बैताल पचीसी लिखने की आज्ञा मिली, उसी दिन काव्य आरम्भ हो गया—भाषा ब्रज है जो इस बात की सूचना देती है कि उस समय भी अवध में उत्पन्न किसी कवि के लिए ब्रजभाषा में काव्य लिखना सहज व्यापार था। यह स्थिति ब्रजभाषा की सर्वप्रियता और व्यापक मान्यता की पुष्टि करती है।

कवि ठक्कुरसी (विक्रमी १५५०)

§ १८६ कवि ठक्कुरसी की सूचना पहली बार प्रकाशित की जा रही है। आमेर भण्डार के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में इस कवि का नामोल्लेख मात्र हुआ है।[2] इनकी तीन रचनाओं का पता चला है जो (१५५०–७८ सवत्) के बीच लिखी गई हैं। ठक्कुरसी

---

१ प्रति कोसीकला, मथुरा के पं० रामनारायण के पास सुरक्षित।

२. राजस्थान के जैन शास्त्र भाण्डारों की ग्रन्थ-सूची—
(१) पार्श्वनाथ सकुन सत्तावीसी पृ० ८७
(२) गुणवेलि ६८
(३) नेमिराजमतिवेलि २५२

जैन लेखक थे। कवि के बारे में इससे ज्यादा कुछ मालूम न हो सका। विक्रमी संवत् १५५० में उन्होंने पचेन्द्रियवेलि या गुण-वेलि नामक रचना लिखी जो भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है। पचेन्द्रियवेलि की अंतिम पंक्तियों में लेखक और उसके रचनाकाल के विषय में निम्न सूचना प्राप्त होती है—

कवि घेल्ह सुजण गुण गावो, जग प्रगट ठकुरसी नावो।
ते वेलि सरस गुन गायो, चित चतुर मुरख समुझायो ॥३५
संवत् पन्द्रह सौ पचासो, तेरस सुदि कातिग मासो।
इ पाँचो इन्द्रिय वस राषे, सो हरत धरत फल चापै ॥३६

'इति श्री पञ्चेन्द्रिय वेलि समाप्त। सवत् १६८८ आसोज वदि दूज, सुकुर वार लिखितम् जोतावारणी आगरा मध्ये।'

घेल्ह सम्भवत: ठक्कुरसी के पिता का नाम था। पार्श्वनाथ शकुन सत्तावीसी के अन्त में 'घेल्ह नदणु ठक्कुर सी नाँव' यह पक्ति आती है। किन्तु गुणवेलि से इस प्रकार का कोई सकेत नहीं मिलता। ठकुरसी ने पञ्चेन्द्रिय वेलि में इन्द्रियों के अनियमित व्यापार और तज्जन्य पतन का वर्णन करके इन्हें सयमित रखने की चेतावनी दी है। लेखक की भाषा प्रायः व्रज है। किञ्चित् राजस्थानी प्रभाव भी वर्तमान है। नीचे एक अश उद्धृत किया जाता है, पूरी रचना परिशिष्ट में दी हुई है।

केलि करन्तो जन्म जलि गाल्यो लोभ दिपालि।
मीन मुनिप संसार सर सो काढ्यो धीवर कालि ॥
सो काढ्यो धीवर कालि, हिगाल्यो लोभ दिपालि।
मछि नीर गहीर पईठै, दिठि जाइ नहीं तहँ दीठै ॥
इहि रसना रस के घालै, थल आइ मुवे दुष सालै।
इहि रसना रस के लीयो, नर कौन कुकर्म न कीयो ॥
इहि रसना रस के ताई, नर मुमै बाप गुरु भाई।
घर फोडे मारे बाटा, नित करै कपट धन घाटा ॥
मुपि झूठ साच वहु बोले, घरि छड़ि देसाउर डोलै।
इहि रसना विषय अकारी, वसि होई ओगनि गारो ॥
जिन जहर विषै वस कीते, तिन्ह मानुष जनम विगूते।
कवंलिय पइट्ठो भँवर दल, घ्राण गन्ध रस रूदि ॥
रैनि पडी सो सकुर्यौ नीसरि सक्यो न मूदि।

ठक्कुरसी ने नेमि राज-मति के प्रेम-प्रसग पर भी एक वेलि की रचना की है। इनकी तीसरी कृति पार्श्वनाथसकुन सत्तावीसी है।

छिताई-वार्ता

§ १८७. छिताई चरित नामक ग्रन्थ की पहली सूचना हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज की १९४१–४२ की रिपोर्ट में प्रस्तुत की गई। उक्त प्रति इलाहाबाद म्यूनिसिपल म्यूजियम में सुरक्षित है जिसका लिपिकाल १६८२ विक्रमी उल्लिखित है। खोज रिपोर्ट ने छिताई चरित

के लेखक श्री रतनरङ्ग बताये गये हैं, रचनाकाल का कोई उल्लेख नहीं है। १६४२ ईस्वी में विशालभारत के मई अङ्क में नाहटा-बन्धु श्री अगरचन्द और भँवरमल ने 'छिताई-वार्ता' की सूचना प्रकाशित की और बताया कि उक्त रचना के लेखक कवि नारायणदास हैं। प्रति का लिपिकाल १६४७ विक्रमी है। ईस्वी सन् १६४६ में नागरीप्रचारिणी के खोज विभाग के कार्यकर्ता श्री वटेकृष्ण ने 'छिताई चरित' पर एक निबन्ध प्रकाशित कराया जिसमें इस ग्रन्थ के ऐतिहासिक महत्त्व पर विचार किया गया।[1]

यह छिताई वार्ता और चरित मूलतः एक ही ग्रन्थ के दो भिन्न नाम हैं, जैसा कि श्री वटेकृष्ण ने अपने निबन्ध में स्वीकार किया। डा० माताप्रसादगुप्त ने इस ग्रन्थ की उपलब्ध दोनों प्रतियों का निरीक्षण करके इसके रचनाकाल और रचयिता के बारे में अपना विचार 'छिताई वार्ता : रचयिता और रचनाकाल' शीर्षक निबन्ध में प्रकाशित कराया।[2] नाहटा बन्धुओं द्वारा सङ्कलित प्रति उन्हीं के अभय जैन पुस्तकालय, बीकानेर में सुरक्षित है जिसके आरम्भिक पाँच-पत्र त्रुटित हैं। पुस्तक के अन्त में यह पुष्पिका दी हुई है।

'छिताई वारता समाप्त श्री संवत् १६४७ वर्षे माघ वदी ६ दिने लिखित वेला कस्य सी, साहराय जी पठनार्थं। शुभम् भवतु।' इस प्रति में कई स्थानों पर नरायनदास-भणिता से युक्त पक्तियाँ मिलती हैं। 'कवियन कहै नरायन दास' यह अर्धाली कई बार प्रयुक्त हुई है। इसी प्रकार कई पक्तियों में कवि नाम की तरह रतनरंग शब्द का प्रयोग भी हुआ है। दोनों ही प्रतियों में छन्द १२८, १४३, ५४२, ६६० आदि में नारायनदास का नाम दिया हुआ है, साथ ही छन्द १६०, ३६६ में ग्रन्थकर्ता के रूप में रतनरग का नाम आता है। इस प्रकार एक ही ग्रन्थ में दो भिन्न-भिन्न ग्रन्थकर्ताओं के नाम एक नई समस्या उत्पन्न करते हैं। पाठ विशेषज्ञ डा० माताप्रसाद गुप्त ने अपने निबन्ध में इस समस्या का समाधान उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। 'छिताई वार्ता' की उक्त सवत् १६४७ की प्रति (जो प्राचीनतर है) नारायणदास अथवा रतनरग में से किसी के भी हस्तलेख में नहीं हैं, अतः यह तो मानना ही पड़ेगा कि ग्रन्थ की रचना-तिथि स० १६४७ के पूर्व होगी। फिर दोनों प्रतियों का मिलान करने पर ज्ञात होता है कि किसी एक की सारी भूलें और पाठ-विकृतियाँ दूसरी में नहीं हैं, इसीलिए यह भी प्रकट है कि दोनों में से कोई भी दूसरे की प्रतिलिपि नहीं है। फिर भी दोनों में कुछ सामान्य भूलें और पाठ विकृतियाँ हैं, जिससे यह ज्ञात होता है कि दोनों की कोई, भले ही वह ऊपर की किसी पीढी में हो, सामान्य (उभयनिष्ठ) पूर्वज प्रति थी, जिसमें वे भूले या पाठ विकृतियाँ हो गई थीं, और इसीलिए वे भूले या पाठ विकृतियाँ इन दोनों प्रतियों में भी सामान्य रूप से आ गई हैं। किन्तु ये भूलें और पाठ विकृतियाँ इस प्रकार की हैं जो उल्लिखित ग्रन्थकारों नारायणदास अथवा रतनरग से होना सम्भव न थीं, अतः यह भी मानना पड़ेगा कि इन प्रतियों की वह सामान्य पूर्वज प्रति इनमें से किसी के हस्तलेख में नहीं थी। फिर दोनों प्रतियों के प्रथम लगभग ६८५ छन्दों में नारायणदास की रचना के साथ-साथ उसमें किये हुए रतनरग

---

१. नागरीप्रचारिणी पत्रिका स० २००३, वैशाख पृ० ११४–१२१
माघ, पृ० १२७–१४७

२ त्रैमासिक आलोचना, अङ्क १६, नवम्बर १६५७, पृ० ६७–७३

के सुधार भी समानरूप से मिलते हैं।[1] इसलिए दोनों कवियो की उक्त सामान्य पूर्वज प्रति भी रतनरग के पाठानुवाद के बाद ही लिखी गई होगी। नारायणदास की मूल रचना तो रतनरग की प्रति से भी पूर्व की होगी।

इस प्रकार नारायनदास की रचना की रतनरग ने पाठानुदानयुक्त प्रतिलिपि की। जिसकी कोई परवर्ती प्रतिलिपि प्राप्त प्रतियों की पूर्वज प्रति थी। सवत् १६४७ की प्रतिलिपि और उसकी विकास-परम्परा से स्रोतो के उपर्युक्त विवेचन के बाद यह सहज अनुमान हो सकता है कि छिताई वार्ता मूल रूपमें काफी पुरानी रचना रही होगी। डा० गुप्त ने इन विवेचन के आधार पर छिताई वार्ता के रचनाकाल का अनुमान करते हुए लिखा कि '१६४७ की प्रति और नारायणदास की रचना के बीच पाठ की तीन स्थितियाँ निश्चित रूप से पडती है और यदि हम प्रत्येक स्थिति परिवर्तन के लिए ५० वर्षो का समय माने जो कि मेरी समझ में अधिक नहीं है-तो रतनरग के पाठ का समय १५८० के लगभग और नारायणदास की रचना का समय १५०० सवत् ठहरता है, वैसे मेरा अपना अनुमान है कि भावी खोज में कुछ और प्रतियाँ प्राप्त होने पर एकाध स्थिति बीच में और निकल सकती है, और तब रतनरग के पाठ का समय १५०० के लगभग और नरावणदास की रचना का समय सवत् १४५० के लगभग प्रमाणित हो तो आश्चर्य नहीं।'[2]

पाठ शोध के आधार पर रचनाकाल का यह अनुमान बहुत सन्तोषप्रद तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु किसी अन्य ऐतिहासिक प्रमाण की उपलब्धि के अभाव में इसी से काम लेना पडेगा। वैसे लिपिकाल १६४७ को देखते हुए इतना तो अनुमेय है कि रचना १६वीं शताब्दी की अवश्य है।

§ १८८. छिताई वार्ता ब्रजभाषा की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गौरवास्पद रचना है। इसकी कथा अत्यन्त रोमानी और मर्मस्पर्शी है। अलाउद्दीन खिलजी ने अपने सेनापति निसुरत खा को देवगिरि के प्रतापी राजा रामदेव को पराजित करने के लिए भेजा। मुसलमानी सेना के आक्रमण और अत्याचार से संत्रस्त प्रजा ने राजा से रक्षा की प्रार्थना की। राजा सन्धि के लिए दिल्ली गया। वहाँ उसने सुल्तान के भाई उलू खा को एक लाख टंक प्रदान करके अपना मित्र बना लिया। राजा को दिल्ली में तीन वर्ष बीत गए—इधर उसकी युवती कन्या छिताई विवाह के योग्य हो गई। रानी ने राजा के पास सन्देश भेजा, बादशाह ने रामदेव को देवगिरि लौटनेकी आज्ञा दी, साथ ही उपहार मे एक अच्छा चित्रकार भी साथ भेज दिया। चित्रकार ने पुराने महल को चित्रकला के लिए अनुपयुक्त बताया, नये महल का निर्माण हुआ। राज कन्या छिताई अकित चित्रो को देखने आई। चित्रकार ने इसे देखा तो चित्रवत् रह गया, उसने छिताई की छवि अकित कर ली। इस बीच छिताई का विवाह समुद्रगढ के राजा

---

१. रतनरग की निम्न चौपाई से मालूम होता है कि उसने नारायनदास की रचना को सवार सुधार कर उपस्थित किया है—

रतन रग कवियन बुधि लई सभौ विचरी कथा बनई।
गुनियन गुनी नरायन दास, तामहि रतन कियो परगास ॥५०४॥

२. त्रैमासिक आलोचना, अक १६, पृ० ७१

भगवान् नारायण के पुत्र सुरसी से हो गया। एक दिन मृगया के समय सुरसी भर्तृहरि के तपोभूमि में जा पहुँचा और उसने हिंसा से विरत करने का उपदेश देनेवाले मुनि की प्रमाद-वश उपेक्षा की जिससे नारी-वियोग का शाप मिला। चित्रकार ने देवगिरि से लौटकर अलाउद्दीन से छिताई के रूप की प्रशंसा की, चित्र देखकर बादशाह ने ससैन्य देवगिरि को प्रस्थान किया। देवगिरि में देवी-पूजन के अवसर पर छलपूर्वक छिताई को पकड़ लिया गया और बाद में शाह दिल्ली लौट आया। सुरसी पत्नी-वियोग में सन्यासी हो गया और चन्द्रगिरि पर योगी चन्द्रनाथ से दीक्षा लेकर गोपीचन्द की भाँति हाथ में वीणा लेकर भिक्षा माँगते इधर से उधर घूमता रहा। दिल्ली में उसके वीणा-वादन से अलाउद्दीन बहुत प्रसन्न हुआ और उसने रनिवास में छिताई को भी वीणा सुनाने की आज्ञा दी। वीणा वादन के समय व्यथित छिताई के आँसू बादशाह के कन्धे पर गिरे, जिससे उसे शोक हुआ, छानबीन करके सारा हाल मालूम किया और सुरसी को छिताई लौटा दी।

कथा की यह मामूली रूपरेखा है लम्बी कथा नाना प्रकार की मार्मिक उद्भावनाओं, प्रेम प्रसंगों और सौन्दर्य-चित्रणों से भरी हुई है।

§ १८६. छिताई वार्ता की भाषा पूर्णतः ब्रजभाषा है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने टीका ग्रन्थ पद्मावत में इसे अवधी पुस्तकों की सूची में रखा है।[1] डा० हरिकान्त श्रीवास्तव छिताई वार्ता की भाषा पर लिखते हैं 'इसकी भाषा राजस्थानी है पर कहीं कहीं डिंगल का पुट भी मिलता है, यहाँ यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि नाहटा जी से प्राप्त प्रतिलिपि उतनी ही अशुद्ध है जितनी इलाहाबाद म्यूजियम की। शब्दों का तोड़-मरोड़ भी कुछ ऐसा है कि वास्तविक भाषा सम्बन्धी निष्कर्ष देना दुस्तर कार्य है।'[2] डा० अग्रवाल ने सम्भवतः सर्च रिपोर्ट की सूचना के आधार पर ही छिताई वार्ता को प्रेमाख्यानक की परंपरा में देखते हुए इसे अवधी भाषा का काव्य स्वीकार कर लिया। डा० हरिकान्त श्रीवास्तव ने जरूर दोनों प्रतिलिपियाँ देखीं थीं, जैसा वे कहते हैं, किन्तु उनका भाषा विषयक निर्णय तो इसका प्रतिवाद ही करता है। राजस्थानी और डिंगलका भेद भी वे अभी नहीं निश्चित कर पाए है। छिताई वार्ता की भाषा कहीं-कहीं प्रतिलिपि के दोष के कारण अशुद्ध हो सकती है किन्तु ऐसी तोड़ी-मरोड़ी तो बिल्कुल हीं नहीं है कि वास्तविक भाषा सम्बन्धी निर्णय देना दुस्तर कार्य हो। डा० माताप्रसाद गुप्त ने इस रचना के महत्त्व की अभ्यर्थना करते हुए ठीक ही लिखा है कि यह एक ऐसी रचना है जो हमारी भाषा और साहित्य को महत्त्व प्रदान करती है क्योंकि चन्द और हितहरिवंश-सूरदास के समय में भी ब्रजभाषा और उसके साहित्य के अनुपेक्षणीय अस्तित्व की सूचना देती है। 'छिताई वार्ता' का एक अंश नाहटा की प्रति से उतार कर मैंने परिशिष्ट में दिया है, भाषा का नमूना उस अंश में देखा जा सकता है। एक दूसरे अंश के पाँच पद नीचे दिये जाते हैं। छिताई में नख-शिख वर्णन देखिये—

> तैं एते सन्तनु गुण हर्यौ, न्याय वियोग विधाता कर्यौ।
> तैं सिर गुंथी जु वेनी भाल, लाजनि गए भुयग पयाल ॥५४४॥

---

1. पद्मावत, वासुदेवशरण अग्रवाल, झाँसी, २०१२ विक्रमी, पृ० २६
2. भारतीय प्रेमाख्यानक काव्य, काशी १६५५, पृ० २१७

वदनि जोति तैं ससि कर हरीं, तूँ सुख क्यो पावहि सुन्दरी ।
हरे हरिण लोचन तैं नारि, ते मृग सेवैं अजौं ऊजारि ॥५४५॥
जे गज कुम्भ तोहिं कुच भए, ते गज देस दिसन्तर गए ।
तैं केहरि मध्य स्थुल हर्यौ, तो हरि ग्रेह कंदल नीसर्यौ ॥५४६॥
दसन ज्योति ते दारिउँ भए, उदर फूटि तैं दारिउँ गए ।
कमल वास लइ अंग छिडाइ, सजल नीर ते रहे लुकाई ॥५४७॥
जइ तैं हरी हंस की चाल, मलिन मान सर गए मराल ।
होइ सन्त माननी मान, तजै देम कै छुडे जान ॥५४८॥

क्रिया, सर्वनाम, परसर्ग सभी रूपों से छिताई वार्ता[1] की भाषा १५वीं शताब्दी की व्रजभाषा की प्रतिनिधि कही जा सकती है ।

थेघनाथ

§ १९०. मानसिंह के शासन-काल में ग्वालियर व्रजभाषा कवियों का केन्द्र हो गया था । थेघनाथ मानसिंह के दरबार से सीधे रूप मे सम्बद्ध नहीं मालूम होते किन्तु उनके किसी राज-पुरुष भानुकुँवर से इनका सम्बन्ध था । थेघनाथ के विषय में सर्वप्रथम सूचना खोज रिपोर्ट (१९४४–४६) में प्रकाशित हुई ।[2] इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि आर्यभाषा पुस्तकालय के याज्ञिक संग्रह में सुरक्षित है । इस प्रति का लिपिकाल सवत् १७२७ ही मानना चाहिए क्योंकि यह प्रति सवत् १७२७ की चतुरदास कृत भागवत् एकादस स्कन्ध की प्रति के साथ ही लिखी हुई थी जो बाद में जिल्द टूटने से अलग-अलग हो गई । स्व० याज्ञिक जी ने लिखा है 'थेघनाथ कृत गीता अनुवाद का लिपिकाल १७२७ विक्रमी मानना चाहिए कारण की चतुरदास कृत एकादश स्कन्ध की प्रति जो इसी जिल्द में थी, उसका लिपिकाल १७२७ है । दोनों के लिपिकार एक ही व्यक्ति हैं । देखो प्रति नम्बर २७८।५० । जिल्द टूट जाने से दोनों पुस्तकें अलग अलग हो गई हैं ।[3]

श्री थेघनाथ ने अपनी 'गीता भाषा' में रचनाकाल और आश्रयदाता के बारे में कुछ सकेत किया है । विक्रमी १५५७ अर्थात् इस्वी १५०० में यह ग्रन्थ लिखा गया—

पन्द्रह सौ सत्तावन भानु, गढ गोपाचल उत्तम थानु ।
मानसींह तिहि दुग्ग नरिन्दु, जसु अमरावति सोहै इन्दु ॥४॥
नीत पुँज सौ गुन आगरौ, वसुधा रावन को अवतारो ।
जाहि होइ सारदा बुद्धि, कै मया जाके हिय शुद्धि ॥५॥
जीभ अनेक सेस ज्यूँ धरै, सो थुत मान स्यंध की करै ।
जाकै राजधर्म की जीति, चलै लोक कुल मारग रीति ॥६॥

---

1 पुस्तक प्रकाशित होते-होते सूचना मिली है कि डा० मातापसाद गुप्त द्वारा सम्पादित छिताई वार्ता नागरीप्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हो गई है

२. १९४४–४६ की रिपोर्ट अभी तक प्रकाशित है

३ याज्ञिक संग्रह, नागरीप्रचारिणी सभा की प्रति के अन्त की टिप्पणी

§ १६१. मानसिंह की प्रजापरायणता, उदारता और विद्वत्ता की प्रशसा करने के बाद कवि अपने आश्रयदाता भानुकुँवर की चर्चा करता है। कवि के वर्णनों से मालूम होता है कि भानुकुँवर कीरतसिंह के पुत्र और राजामानसिंह के विश्वासपात्र राजपुरुष थे। कीर्तिसिंह को थेघनाथ राजपुत्र बताते हैं, इससे सभव है कि भानुसिंह भी राज घराने के व्यक्ति थे। थेघनाथ भानुसिंह के विषय में लिखते हैं—

सबही विद्या आहि बहुल, कीरतिसिंह नृपति कैं पूत।
षट दर्शन कै जाने भेव, मानै गुरु अरु ब्रह्मनु देव॥
समुद समान गहरु ता हिये, इक वत पुत्र बहुत तिह किये।
भले बुरे को जाने मर्म, भानुकुँवर जनु दूजौ धर्म॥
भानुकुँवर गुन लागहिं जिते, मोपे वर्नैं जाहिं न तिते।
कै आइवंल होइव घने, वरनै गुन सो भानुहिं तनै॥
अगनित गुन ता लहै न पारू, कल्प वृक्ष कलि भानुकुमारू।
तिहि तबोर थेघू कहु दयो, अतिहित करि सो पूछन ठयो॥

इस कलि कल्पवृक्ष भानुसिंह ने एक दिन अत्यन्त प्रेमपूर्वक कवि थेघनाथ को ताम्बूल-वीटिका प्रदान की और कहा कि इस ससार में कोई भी वस्तु नित्य नहीं, सारा विश्व माया जाल है। ऐसे विश्व में गीता के ज्ञान-बिना मनुष्य शाला में बधे हुए पशु की तरह निष्फल है। इसलिए गीताकथा को छन्दोबद्ध करके लिखो। इस आज्ञा को सुनकर एक क्षण के लिए कवि मौन बैठा रहा, उसने सोचा शायद मेरे कार्य का लोग उपहास करें किन्तु :

सायर को बेरा करि तरैं, कोऊ जिन उपहासहिं करै
जों मेरे चित्त गुरु के पाय, अरु जो हियें बसे जदुराय
तो यह मोपै ह्वैहैं तैसे, कह्यो कृश्न अर्जुन को जैसे

परिणामतः थेघनाथ ने गीता को भाषा में बद्ध किया। गीता भाषा में प्रायः मूलभाव को सुरक्षित रखा गया है। कवि ने अत्यन्त सहज और प्रवाहपूर्ण शैली में गीता के मूल विषय को छन्दोबद्ध किया है। एक अश नीचे दिया जाता है—

कुल छय भये देखिहै जबही, विनसै धर्म सनातन तबही
कुछ छय भयौ देखिहे जाई, बहुरि अधर्म होई नव आई
जबहि कृश्न यह होइ अधर्म, तब वे सुन्दरि करैं कुकर्म
दुष्ट कर्म वे करिहै जबही, वर्ण मलटु कुल उपजै तबही
परहिं पितर सब नरक मझार, जो कुटुम्ब घालिये मारि
नारिन को नहिं रच्छकु कोई, धर्म गए अपकीरति होई
कुल धर्महि नर काटे जबही, परै नर्क सदेह न तबही
यह मैं वेदव्यास पहि सुन्यौ, बहुरि पथ कृश्न सो भन्यौ

गीता भाषा का प्रथम अध्याय परिशिष्ट में दिया हुआ है। थेघनाथ की भाषा शुद्ध टकसाली व्रज है। इस काल की व्रजभाषा के व्याकरण में इस पर विस्तृत विचार किया गया है।

चतुर्भुजदास की मधुमालती कथा (१५५० विक्रमी के लगभग)

§ १६२. जनवरी सन् १६३६ की हिन्दुस्तानी में श्री अगरचन्द नाहटा ने मधुमाल्ती नामक दो अन्य रचनायें शीर्षक लेख प्रकाशित कराया। मंझन की प्रसिद्ध मधुमालती से भिन्न दो अन्य रचनाओं का परिचय उक्त लेख में दिया गया। सितम्बर १६५४ की कल्पना में डा० माताप्रसाद गुप्त ने चतुर्भुजदास की मधुमालती का रचना-काल शीर्षक लेख प्रकाशित कराया। डा० गुप्त ने अपने लेख में मधुमालती का रचना काल संवत् १५५० विक्रमी से प्राचीन प्रमाणित करने का प्रयत्न किया। डा० गुप्त ने बताया है कि ग्रन्थ के अन्त के पद्यों से इस पुस्तक की रचना-प्रक्रिया तथा तिथि आदि के विषय में कुछ संकेत मिलते हैं। अन्तिम अंश इस प्रकार है।

मधुमालती वात यह गाई, दोय जणा मिलि स्नेह बनाई।
एक साथ ब्राह्मन सोई, दूजौ कायथ कुल में होई
एक नाथ माधव वद होई, मनोहरपुरी जानत सब कोई
कायथ नाम चतुर्भुज जाकौ, मारू देस भयौ गृह ताकौ
पहली कायथ कही जब जानी, पाछे माधव उचरी बानी
कछु क यामैं चरित मुरारी, श्री वृन्दावन कौ सुखकारी
माधव ता तैं गाइयौ यौं रस पूरन सोय
कौन काम रस स्यौं हु तौ जानत हैं सब कोय
काइथि गाई जानि कै रसक निरखि की वात
नाम चत्रभुज हौ भयौ मारू माँहि विख्यात्।

डा० गुप्त लिखते हैं कि 'हिन्दी संसार को माधव का उपकृत होना चाहिए कि उन्होंने यह स्पष्ट कह दिया कि पहली काइथ कही जब बानी पाछे माधव उचरी बानी यही नहीं अन्तिम दोहे में यह संकेत भी कर दिया कि मधुमाल्ती के उत्तरार्ध का यह रूपान्तर उन्होंने तब किया जब चतुर्भुज का नाम मारूदेश में विख्यात हो चुका था।'[1] डा० गुप्त का कहना है कि माधवानल कामकन्दला नामक रचना के लेखक माधव वही माधव हैं जिन्होंने मधुमाल्ती के उत्तरार्ध का रूपान्तर किया और चूँकि माधवानल कामकन्दला का निर्माण संवत् १६०० में हुआ जो निम्न पद से स्पष्ट है—

सवत् सोरै सै वरसि जैसलमेर मझारि।
फागुन मास सुहावने करी वात विस्तार॥

'इससे यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि माधव सवत् १६०० में न केवल वर्तमान थे, वे प्रेम कथाओं की रचना भी कर रहे थे, अतः यह अनुमान सहज ही में किया जा सकता है कि मधुमालती में उनके हस्तक्षेप का समय सवत् १६०० था उसके अत्यन्त निकट होगा। उस समय तक, जैसा माधव ने कहा है चतुर्भुजदास विख्यात कवि हो चुके थे, उनका रचना-काल १५५० विक्रमी के आस-पास माना जा सकता है। डा० गुप्त इस ग्रथ को इससे भी अधिक प्राचीन मानने के पक्ष में हैं।

---

१. चतुर्भुज दास की मधुमालती का रचना काल, कल्पना, सितम्बर १६५४ पृ० २०–२१

इस अनुमान के प्रति सबसे बड़ी शंका 'माधव' को लेकर ही की जा सकती है। डा० गुप्त ने माधवानल काम कन्दला (१६००) से रचनाकार माधव के नाम का संकेत देने वाली पंक्तियाँ उद्धृत नहीं की। १६०० संवत् में लिखे माधवानल कामकन्दला की एक प्रति श्री उमाशंकर याज्ञिक लखनऊ के संग्रहालय में भी बताई जाती है। किन्तु उससे रचनाकार का पता नहीं चलता। यदि यह ग्रन्थ माधव नामक किसी कवि का लिखा मान भी लिया जाये तो शंका की गुंजायश फिर भी रह जाती है कि क्यों इस माधव को मधुमालती से संबद्ध माधव ही माना जाये। इस प्रकार की शंका के निवारण के लिए डा० गुप्त ने शायद दोनों का प्रेमाख्यान लेखक होना बताया है, किन्तु यह बहुत सबल प्रमाण नहीं कहा जा सकता। प्रेमाख्यान लिखनेवाले एक नाम के दो व्यक्ति भी हो सकते हैं।

रचना ब्रजभाषा में है जैसा कि उपर्युक्त पद्यांश से पता चलता है। किन्तु जब तक इस ग्रन्थ के रचनाकाल का निश्चित पता नहीं लग जाता, तब तक इसकी भाषा की प्रामाणिकता आदि पर भी विचार करने में कठिनाई रहेगी। वैसे भाषा की दृष्टि से यह रचना छिताईवार्ता की भाषा से बहुत साम्य रखती है। और यदि केवल भाषा के आधार पर ही इसके रचना-काल का निर्णय देना हो तो इसे हम १६ वीं शती के उत्तरार्ध की कृति मान सकते हैं।

चतुर्भुज की मधुमालती का सबसे बड़ा महत्त्व उसके काव्य-रूप का है। आख्यानक काव्यों की इतनी आधार स्फुट विशेषताएँ शायद ही किसी काव्य में एकत्र दिखाई पड़ें। इस रचना की कई प्रतियाँ ग्वालियर में प्राप्त हुई हैं। पूरी रचना सामने आ जाने तथा तिथि-काल आदि का पूरा विवरण प्राप्त हो जाने के बाद ही इसकी भाषा और साहित्यिक विशिष्टता का अध्ययन किया जा सकता है।

चतुरुमल

§ १९३. विक्रमी संवत् १५७१ (१५१४ ई० में) कवि चतुरुमल ने नेमिश्वर गीत[1] की रचना की। इस गीत में नेमि और उनकी पत्नी राजल दे के प्रेम प्रसंगों और विरह आदि का वर्णन है। नेमिनाथ के ऊपर कई जैन लेखकों ने अत्यन्त उच्चकोटि के काव्य लिखे हैं। चतुरुमल की रचना बहुत उच्चकोटि की तो नहीं है, किन्तु भाषा और साहित्य की दृष्टि से इसका कुछ महत्त्व अवश्य है।

कवि जैन थे। यशवन्त श्री भक्त श्रावक के पुत्र थे। ग्वालियर के रहनेवाले थे। कवि ने ग्वालियर नरेश मानसिंह का नाम लिया है जिनके राज्य में प्रजा अत्यन्त सुखी और संतुष्ट थी। जैन लोग अपने धर्म का स्वच्छंदतापूर्वक पालन करते थे।

> नेमि देस सुख सयल निधान, गढ़ गोपाचल उत्तिम थान।
> एक सोवन को लंका जिसी, तो वर राउ सवल वर किसी ॥
> भुजबल आपु जु साहस धीर, मानसिंघ जा जानिये वीर।
> ताकै राज सुखी सब लोग, राज समान करहि दिन भोग ॥
> निहचै चित लावहीं निज धर्म, श्रावग दिन जु करहिं षट कर्म।
> संवत् पन्द्रह सै दो गनै, गुर उनहत्तरि ता ऊपर भनै ॥

1, प्रशस्ति संग्रह, पृ० २३१ प्रति आमेर भाण्डार जयपुर में सुरक्षित

> भादो वदि तिथि पञ्चमी, वार सोम नषत रेवती ।
> चन्द नक्ष्य बलु पाइयौ, लगन भलौ सुभ उपजी मती ॥

रचना सामान्य ही है । भाषा ब्रज है ।

धर्मदास

§ १९४. जैन कवि थे । इन्होंने संवत् १५७८ (१५२१ ईस्वी में) में धर्मोपदेश श्रावकाचार नामक ब्रजभाषा ग्रन्थ लिखा । इस ग्रन्थ में जैन श्रावक लोगों के लिए पालनीय आचारों का बड़ा सुन्दर चित्रण किया गया है । कवि ने अपने बारे में विस्तार से लिखा है जिससे मालूम होता है कि वे बारहसेनी जाति के थे । अपने पूर्व-पुरुषों का परिचय देते हुए लेखक ने लिखा है कि मूल संघ विख्यात श्रावक बारहसेनी जाति में होरिल साहु नामक पुरुष हुए। उनके ज्येष्ठ पुत्र करमसी जिन के परम उपासक और परमविवेकी दयालु व्यक्ति थे । उनके पुत्र पद्म हुए जो कवि, वैद्य और कलाकार थे, उनके दो पुत्रों में एक धर्मदास हुए जिन्होंने इस श्रावकाचार का उपदेश दिया । प्रशस्ति संग्रह में इनकी रचना के कुछ अंश उद्धृत किये हुए हैं ।[1] ग्रन्थ की रचना के विषय में कवि ने लिखा है—

> पन्द्रह सो अठहतरि वरिसु, सम्वच्छर कुशलह कन सरसु
> निर्मल वैसाखी अखतीज, बुधवार गुनियहु जानीज
> तादिन पूरो कियो यह ग्रन्थ, निर्मल धर्म भनौ जो पंथ
> मंगल करउ अर विघनि हरनु, परम सुख कवियनु कहुं करनु

ग्रन्थ में लेखक ने इस उपदेश सुनने वालों के प्रति अपनी मंगल कामना व्यक्त की है । यह प्रसंग धर्मदास की सहजता और जनमंगल की सदिच्छा का परिचायक है । भाषा अत्यन्त बोधगम्य और प्रवाहयुक्त है ।

> धन कन दूध पूत परिवार, बाढै मंगल सुपक्षु अपार
> मेदिनि उपजहु अन्न अनन्त, चारि मास भरि जल बरषन्त
> मंगल बाजहु घर घर द्वार, कामिनि गावहि मंगल चार
> घर घर सीत उपजहु सुक्ख, नासे रोग आपदा दुक्ख
> घर घर दान पूज अनिवार, श्रावक चलहि आप आचार
> नंदउ जिन सासन संसार, धर्म दयादिक चलौ अपार
> नदउ जिन पडिमा जिन गेह, नदउ गुन निर्ग्रन्थ अदेह

छीहल

§ १९५ १७वीं शताब्दी का हिन्दी साहित्य एक ओर जहाँ सूर और तुलसी जैसे अप्रतिम प्रतिभाशाली भक्त कवियों की गैरिक वाणी से पवित्र होकर हमारा श्रद्धा-भाजन बना वहीं देव, बिहारी और पद्माकर जैसे कवियों की शृङ्गारिक भावना पूर्ण रचनाओं के कारण सहृदय व्यक्तियों के गले का हार भी । बहुत से लोग रीतिकालीन शृङ्गार-भावना के साहित्य को

---

१ प्रशस्ति संग्रह, अतिशय क्षेत्र जयपुर से प्रकाशित । पाण्डुलिपि आमेर भण्डार, जयपुर में सुरक्षित

भक्तिकाल की आध्यात्मिकता की प्रतिक्रिया भी मानते हैं, यद्यपि १४वीं शताब्दी में विद्यापति ने शृङ्गार-भावना से परिप्लुत अद्वितीय कोटि की साहित्य-सृष्टि की, किन्तु उसमें भक्ति भाव का प्रेरणा-स्रोत भी ढूँढा ही गया। इस स्थिति में यदि कवि छीहल की शृङ्गारिक रचनाओं का विवेचन हुआ होता तो रीतिकालीन शृङ्गार-चेतना के उद्‌गम के लिए अधिक ऊहापोह करने की जरूरत न हुई होती।

छीहल के बारे में हिन्दी के कई इतिहासकारों ने यत्र-तत्र किंचित् विचार किया है, खास तौर से छीहल की 'पंच सहेली' का उल्लेख पाया जाता है। आचार्य शुक्ल ने छीहल के बारे में बडी निर्ममता के साथ लिखा 'संवत् १५७५ में इन्होंने पंच सहेली नाम की एक छोटी सी पुस्तक दोहों में राजस्थानी मिली भाषा में बनाई जो कविता की दृष्टि से अच्छी नहीं कही जा सकती। इनकी लिखी एक बावनी भी है जिसमें ५२ दोहे हैं।'[1] पंच सहेली को बुरी रचना कहने की बात तो कुछ समझ में आ सकती है, क्योंकि इसे रुचि-भिन्नता मान सकते हैं, किन्तु बावनी के बारे में इतने निःसदिग्ध भाव से जो विचार दिया गया वह ठीक नहीं है। बावनी ५२ दोहे की एक छोटी रचना नहीं है, बल्कि इसमें अत्यत उच्च कोटि के ५३ छप्पय छन्द हैं।[2] डा० रामकुमार वर्मा ने छीहल की 'पंच सहेली' का ही जिक्र किया है। वर्मा जी ने छीहल की कविता की श्रेष्ठता, निकृष्टता पर कोई विचार नहीं दिया, किन्तु उन्होंने पञ्च सहेली की वस्तु का सही विवरण दिया। 'इसमें पाँच तरुणी स्त्रियों ने—मालिन, छीपन, कलालिन और सोनारिन प्रोषितपतिका नायिका के रूप में अपने प्रियतमों के विरह में अपने करुण आवेगों का वर्णन अपने पति के व्यवसाय से सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओं के उल्लेख और तत्सम्बन्धी उपमाओं और रूपकों के सहारे किया है।[3] वर्मा जी ने बावनी का उल्लेख नहीं किया। और भी कई इतिहासकारों ने छीहल का नामोल्लेख किया है, पर बावनी की चर्चा प्रायः नहीं दिखाई पडती।

§ १६६. छीहल कवि की चार रचनाओं का पता चला है 'आतमप्रतिबोध जयमाल', पञ्च सहेली, छीहल-बावनी, पन्थीगीत।[4] इन चारो रचनाओं में मैं शुरू की तीन की प्रतिलिपियाँ ही देख सका। इनमें अन्तिम दो रचनाएँ केवल जयपुर के आमेर भाण्डार में दिखाई पडीं और स्थानों पर इनकी सूचना नहीं मिली। पन्थी गीत और आतमप्रतिबोध जयमाल में कवि का नाम छीहल ही दिया हुआ है, किन्तु पन्थीगीत अत्यन्त साधारण कोटि की रचना है जिसमें जैन-कथाओ के सहारे कुछ उपदेश दिए गए हैं। आतमप्रतिबोध जयमाल भी नाम से कोई जैन धार्मिक ग्रन्थ ही प्रतीत होता है। शेष दो रचनाओं में शृङ्गार और नीति की प्रधानता है, कवि के जैन होने का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। वैसे पन्थीगीत और आतमप्रतिबोध की

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, सवत् २००७, पृ० १६८

२ आमेर भंडार जयपुर, अनूप सस्कृत लाइब्रेरी बीकानेर, अभय पुस्तकालय, बीकानेर की चार प्रतियों के आधार पर लेखक द्वारा संपादित इस बावनी के कुछ अश परिशिष्ट में दिए हुए हैं।

३ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३२४ और ४४८

४ चारों की प्रतियाँ आमेर भाण्डार जयपुर में सुरक्षित हैं।

वस्तु को देखने से लेखक के जैन होने का अनुमान किया जा सकता है। बावनी के शुरू के कुछ छप्पयों के प्रथम अक्षर से 'ॐ नमः सिद्ध' बनता है, इससे भी लेखक के जैन होने का पता चलता है।

§ १६७. पंच सहेली के अन्तिम दोहों से मालूम होता है कि कवि ने इस रचना को १५७५ संवत् में लिखा—

> सम्वत पनरह पचुहत्तरइ पूनिम फागुन मास।
> पञ्च सहेली वरनवी, कवि छीहल परगास ॥६८॥

छीहल कवि का कुछ विस्तृत परिचय छीहल बावनी के अन्तिम छप्पय में दिया हुआ है—

> चउरासी आगल्ल सइ जु पन्द्रह सम्वच्छर।
> सुकुल पक्ख अष्टमी मास कातिग गुरुवासर ॥
> हिरदय उपनी बुद्धि नाम श्री गुरु को लीन्हो।
> सारद तनइ पसाइ कवित सम्पूरण कीन्हो ॥
> नालि गाव सिनाथ सुतनु अगरवाल कुल प्रगट रवि।
> बावनी वसुधा विस्तरी कवि कंकण छीहल्ल कवि ॥

बावनी की रचना १५८४ संवत् में हुई इस प्रकार 'सहेली' इससे ६ वर्ष पहले लिखी गई। कवि छीहल के अनुसार उनका जन्म स्थान नालि गाँव था। पिता शिवनाथ थे जो अग्रवाल वंशीय थे।

कवि छीहल की पच सहेली आरम्भिक रचना मालूम होती है। कवि ने इन छोटे किन्तु अत्यन्त उच्चकोटि के सरस काव्य में पाँच विरहिणी नायिकाओं की मर्म-व्यथा को अत्यंत नहन ढंग से व्यक्त किया है। मालिन, तंबोलिनी, छीपनि, कलाली और सोनारिन अपनी अपनी विरह व्यथा कवि को सुनाती हैं। ये भोली नायिकाएँ अपने दुःख को अपने जीवन की सुपरिचित वस्तुओं तथा उनके प्रति अपने रागात्मक-बोध के माध्यम से प्रकट करती हैं। जैसे मालिन अपने दुःख को इन शब्दों में व्यक्त करती है—

> पहिली बोली मालिनी हम कूं दुक्ख अनन्त।
> बालो जोवन छडि के चलो दिसाउरि कत ॥१७॥
> निस दिन वहइ प्रनाल ज्युं नयनह नीर अपार।
> विरहउ माली दुक्ख का सूभर भरया कियार ॥१८॥
> कमल वदन कुमलाइया सूकी सुप वनराइ।
> पिय विण मुझ टक्कु पिण वरस बराबर जाइ ॥१९॥
> चपा केरी पंखरी गूँथ्या नवसर हार।
> जो एहि पहिरउँ पीव विनु लागइ अगु अगार ॥२२॥

तँबोलिनी कहती है कि हे चतुर, मेरा दुख तो मुझसे कहा ही नहीं जाता—

> हाथ मरोरउं सिर धुनउं किस सो कहूं पुकार।
> तन दाझइ मन कलमलइ नयन न म्हइइ धार ॥२५॥
> पान झरें मन सूख कै बेलि गई मन सूकि।
> दूभरि रात वसंत की गयो पियारा मूकि ॥२६॥

हियरा भीतर पइसि करि विरह लगाई आग ।
प्रिय पानी बिनु ना बुझइ, जलइ सुलागि सुलागि ॥२७॥

दर्जी की पत्नी का सारा शरीर विरह अपनी तीखी कैंची से काट कर दुख की बखिया देकर सी रहा है, वह भला अपने दुखको क्या कहे ?

तन कप्परु, दुक्ख कतरनी विरहा दरजी एहु ।
पूरा व्योंत न व्योंतइ, दिन दिन काटइ देहु ॥३२॥
दुक्ख का तागा बीटिया सार सुइ कर लेइ ।
चीनजि बधइ काय करि नाना बखिया देइ ॥३३॥
देही मदनै यौं दही देइ मजीठ सुरग ।
रस लीयो अवटाइ कइ वा कस कीयो अग ॥३४॥

कलालिन का पति तो उसके शरीर को विरह-भट्टी पर चढा कर अर्क ही बना रहा है—

मो तन भाटी ज्यूँ तपइ नयन चुवइ मदधार ।
विनही अवगुन मुझ सूँ कसकरि रहा भरतार ॥३६॥
माता योवन फाग रति परम पियारा दूरि ।
रली न पूजै जीव को मरउं विसूरि विसूरि ॥४२॥

सुनारी के विरह ने तो उसका 'रूप' (सौन्दर्य) और सोना (नींद) दोनों ही चुरा लिया । उसके शरीर को विरह के काँटे पर तौल कर जाने उसे क्या सुख मिला ।

विरहै रूप चुराइया सोन हमारा जीव ।
कासु पुकारूँ जाइकै जो घर नाही पीव ॥४८॥
तन तौले काँटउ धरी देपइ कसि रक्खाइ ।
विरहा अग सुनार जूँ धरइ फिराइ फिराइ ॥४६॥

छीहल ने पाँचों सहेलियों के इस विरह-दु:ख को बडी सहानुभूति के साथ सुना, सान्त्वना देकर वे लौट आए, दूसरी बार जब वे फिर पहुँचे तो सारा समा बदल चुका था ।

मालिन का मन फूल ज्यूँ वहुत विगास करेइ ।
प्रेम सहित गुजार करि प्रिय मधुकर रस लेइ ॥५८॥
चोली खोलि तँवोलिनी काढा गात्र अपार ।
रग किया बहु पीव सूँ नयन मिलाये तार ॥५९॥

छीहल को पञ्च सहेली १६वीं शती का अनुपम शृगार-काव्य है, इस प्रकार का विरह वर्णन, उपमानों की इतनी स्वाभाविकता और ताजगी अन्यत्र मिलना दुर्लभ है । सभवत. शुक्ल जी ने विना पूरे काव्य को देखे आरम्भ के दो चार दोहों की सूचना के आधार पर ही उसे सामान्य कोटि की रचना कह दिया ।

इस पुस्तक की भाषा पर कुछ विचार करना आवश्यक है । अनूप सस्कृत लायब्रेरी बीकानेर की चारों प्रतियाँ [1] अत्यन्त स्पष्ट और सुवाच्य है ।

---

१ प्रतिया का नम्बर अनूप सस्कृत लाइब्रेरी कैटलाग के राजस्थानी सेक्शन में दिया हुआ है । राजस्थानी सेक्सन की सूची शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाली है ।

(१) पञ्च सहेली री वात (नम्बर ७८, छंद संख्या ६६, पत्र १६-२२ लिपि-काल १७१८ स०) ।

(२) पञ्चसहेली (नम्बर १४२, पृ० ६७-७६) ।

(३) पञ्चसहेली री वात (नम्बर २१७) अन्त में कुछ संस्कृत श्लोक भी दिए हुए हैं ।

(४) पञ्चसहेली री वात (नम्बर ७७) पत्र ६८-१०२ । लिपिकाल १७४६ स० ।

इन प्रतियों में ७८ नम्बर वाली और ७७ नम्बर वाली प्रतियों की भाषा व्रजभाषा के निकट है जब कि नम्बर २१७ और १४२ में राजस्थानी प्रभाव ज्यादा है । आमेर भांडार की प्रतिलिपि में भी राजस्थानी प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है । इसे लिपिकर्ता की विशेषता मान सकते हैं । वैसे कई प्रतियों में राजस्थानी प्रभाव को देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि पञ्च सहेली की भाषा राजस्थानी मिश्रित व्रजभाषा है । राजस्थानी प्रभाव विशेष रूप से न>ण में तथा भूतकालिक क्रिया के आकारान्त रूपों में दिखाई पड़ता है । चुराइया (४८) काढ्या (५६) वीटिया (३३) कुमलाइया (१६) आदि में । किसी-किसी प्रति में ये ही क्रियायें ओकारान्त भी दिखाई पड़ती हैं । प्रथमा बहुवचन में 'या' अन्त वाले रूप भी राजस्थानी प्रभाव ही बताते हैं । सहेलियाँ (६), प्रवालियाँ (१२) यौवनवालियाँ (१३) आदि । बाकी प्रयोग पूर्णतः व्रजभाषा के ही हैं ।

बावनी

§ १९८. कवि छीहल की बावनी भाषा और भाव दोनों के परिपाक का उत्तम उदाहरण है । नीति और उपदेश को मुख्यतः विषय बनाते हुए भी रचनाकार कभी भी काव्य से दूर नहीं हुआ है इसीलिए प्रायः उसकी कविता में नीति की एक नए ढंग से तथा नए भावों के साथ अभिव्यक्ति हुई है । रचना के अंश परिशिष्ट में संलग्न हैं । इसलिए केवल एक छप्पय ही यहाँ उद्धृत किया जाता है—

> लीन्ह कुदाली हाथ प्रथम खोदियउ रोस करि ।
> करि रासभ आरूढ घरि आनियो गूण भरि ॥
>
> देकरि लत्त प्रहार मूढ गहि चक्क चढ़ायो ।
> पुनरपि हाथहिं कूट धूप धरि अधिक सुखायो ॥
>
> दीनी अगिनि छीहल कहै कुंभ कहै हउँ सह्या सब ।
> पर तरगि याइ टकराहणे ये दुखसालै मोंहि अब ॥

बावनी की रचना छप्पय छन्द में हुई है इसी कारण इसकी भाषा में प्राचीन प्रयोग ज्यादा मिलते हैं । हम पहले ही कह आये हैं कि छप्पयों में अपभ्रंश के प्रयोगों को जान बूझ-कर लाने की शैली ही बन गई थी जो बहुत बाद तक चलती रही । भाषा व्रज है, आगे बावनी की भाषा पर संयुक्त रूप से विचार किया गया है ।

वाचक सहज सुन्दर

§ १६६. ये जैन कवि थे। इन्होंने सवत् १५८२ में यतनकुमार रास[1] की रचना की। ग्रंथ का रचनाकाल कवि के शब्दों में ही इस प्रकार है।

सम्वत् पनरै वयासीइ संवछरि ये रची तुभ्क रास रे।
वाचक सहज सुन्दर इमि बोले भ्रातु बुद्धि प्रकास रे॥

रचना बहुत ही सुन्दर और सरस है।

सरसति हंस गमन पय पणमूं अविरल वाणि प्रकास रे।
विनता नगरी श्री रिसहेसर भाष्यौ सुक्ख विकास रे ॥१॥
संगत साधु सवे नयीजइ पूरइ मनह जगीस रे।
गुरु गुण रतन समुद्र भरउ जिमि विद्या लह रितु रंग रे ॥२॥
बिनु गुरु पंथ न लहीयइ गुरु जग माहि प्रछन्न रे।
माता पिता गुरुदेव सरीखा सीख सुनो नर नाहि रे ॥३॥
हंस पपइ जिमि मान सरोवर राज पपइ जिमि पाट रे।
सांभर को जल विण जिम लोयण गरथ पपइ जिमि हाट रे ॥४॥
विण परमल जिम फूल करडी सील पपइ जिमि गोरी रे।
चन्द्रकला पपि जिम रयणी, ब्रह्म निसिय विण वेद रे।
मारग पुण्य पवित्र तिमि गुरु विन, कोइ न बूझे भेद रे ॥६॥

भाषा पर किंचित अपभ्रंश और राजस्थानी प्रभाव भी है, वैसे ब्रज ही है।

[1] ...ित।

गुरुग्रन्थ में ब्रजकवियों की रचनाएँ

§ २००. गुरुग्रन्थमें १६०० स० के पूर्व के कई सन्त-कवियों की रचनाएँ सकलित हैं। सन्त-वाणी धार्मिक भारत देश के लिए अन्न-वस्त्र की तरह ही अत्यन्त आवश्यक वस्तु रही है। इसी कारण एक ओर जहाँ अनन्त जनता के कण्ठ में निवसित ये वाणियाँ पोथियों में लिखी रचनाओं की अपेक्षा ज्यादा दीर्घायुषी रही हैं, वहीं नित-प्रति प्रयोग में आने के कारण इनके कलेवर में परिवर्तन और विकार भी कम नहीं आया है। सौभाग्यवश सवत् १६६१ में सिक्खों के पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने इन वाणियों को लिपिबद्ध कराकर इन्हें धर्म-ग्रन्थ का एक हिस्सा बना दिया, जिसके कारण कुछ रचनाएँ जनता के 'प्रीति भाजन' के अतिवादी परिणाम से बच गई। इन सन्तों की रचनाओं की भाषा १६६१ तक जिस स्थिति में पहुँची थी, उसपर बीच की काल व्याप्ति का प्रभाव तो अवश्य ही पड़ा होगा, फिर भी इनकी प्राचीनता के प्रति कुछ आस्था तो हो ही सकती है।

गुरुग्रन्थ साहब में निश्चित काल-सीमा के अन्तर्गत आविर्भूत, जिन कवियों की रचनाएँ सगृहीत हैं, उनमें जयदेव, नामदेव, त्रिलोचन, सधना, वेनी, रामानन्द, धन्ना, पीपा, सेन, कबीर, रैदास, फरीद, नानक और मीरा का नाम सम्मिलित है। इन कवियों की रचनाओं पर अब तक बहुत कुछ लिखा जा चुका है। साहित्यिक दृष्टि से इनकी कृतियों का मूल्याकन हुआ है। इनमें से कुछ प्रसिद्ध लोगों की भाषा पर भी यत्र-तत्र विचार मिलते हैं, यद्यपि बहुत विकीर्ण और न्यून। इन कवियों की भाषा आरम्भिक हिन्दी की अविकसित अवस्था की सूचना देती है, जिनमें कई प्रकार के तत्त्व मिश्रित हुए हैं, उनका सम्यक् विवेचन आवश्यक है। नीचे इन कवियों के अत्यन्त सक्षिप्त परिचय के साथ इनकी रचनाओं, विशेषतः भाषा का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

§ २०१. **नामदेव**—महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त कवि नामदेव का आविर्भाव-काल १४वीं शती का पूर्वार्ध माना जाता है। डा० भण्डारकर के अनुसार इनका जन्म नरसी-बमनी (सतारा) में एक दर्जी परिवार में संवत् १३२७ अर्थात् ईस्वी १२७० में हुआ।[1] नामदेव साधुओं के सत्संग में रहने वाले भ्रमण-प्रिय सन्त थे। ज्ञानेश्वर जैसे प्रतिष्ठित महात्मा के साथ इन्होंने देश-भ्रमण किया। कहा तो यह भी जाता है कि इन्होंने जीवन के अन्तिम काल में पंजाब को अपना कार्यक्षेत्र बना लिया था। ८० वर्ष की अवस्था में ईस्वी सन् १३५० में इनकी मृत्यु हुई।[2] नामदेव के जीवन के साथ कई चमत्कारिक घटनायें भी लिपटी हुई हैं।[3]

अत्यन्त व्यापक पर्यटन करने वाले नामदेव की भाषा में कई प्रकार के भाषिक-तत्त्वों का संमिश्रण अनिवार्य था। १४ वीं शताब्दी में उत्तर भारत में प्रचलित भाषाओं की एक सूची हमने पिछले अध्याय में प्रस्तुत की है।[4] इसमें पिंगल, अपभ्रंश के कुछ परवर्ती रूप, पुरानी राजस्थानी तथा कई प्रकार की जनपदीय बोलियों की स्थिति का विवेचन हो चुका है। नामदेव की भाषा पर इन भाषाओं का किसी-न-किसी रूप में प्रभाव दिखाई पड़ता है। १४ वीं शती में मध्यदेशीय आरम्भिक खड़ी बोली, राजस्थानी, पंजाबी आदि के मिश्रण से रेखता हिन्दी का निर्माण हो रहा था। जिसे बाद में दक्खिनी हिन्दी और दिल्ली के पिछले खेवे के उर्दू कवियों की हिन्दुई या हिन्दवी का अभिधान भी प्राप्त हुआ। इस रेखता में पंजाबी भाषा के तत्त्व भी पूर्ण मात्रा में विद्यमान थे। नामदेव की हिन्दी रचनाओं का एक संग्रह 'सकल सन्तगाथा' नाम से पूना से प्रकाशित हुआ है,[5] किन्तु इस संकलन में संगृहीत रचनाओं की प्राचीनता सन्दिग्ध है। नामदेव की रचनाओं में जो गुरु ग्रन्थ साहब में संकलित है,[6] आधी करीब इसी मिश्रित रेखता या आरम्भिक खड़ी बोली की रचनाएँ हैं। इस प्रकार की भाषा का एक पद नीचे दिया जाता है।

> माइ न होती बाप न होता करमु न होती काइया।
> हम नहीं होते तुम नहीं होते कवनु कहाँ ते आइया ॥१॥
> राम न कोई न किस ही केरा, जैसे तरुवर पंषि बसेरा।
> चन्द न होता सूर न होता पानी पवणु मिलाइया।
> सासतु न होता वेद न होता करमु कहाँ ले आइया ॥२॥
> षेचर भूचर तुलसी माला गुर परसादी पाइया।
> नामा प्रणवै महतम ततु है सत गुरु होइ लषाइया ॥३॥

---

१ वैष्णविज़्म शैविज़म एण्ड माइनर रीलिजस सिस्टम्स, पृ० ९२।

२ एम० ए० मैकालिफ्—दि सिख रिलीज़न, भाग ६ पृ० ३४।

३ नाभादास कृत भक्तमाल का 'नामदेव प्रतिज्ञा निर्बही' छप्पय पृ० ३०६-७

४ देखिए § ८४

५ नामदेव और उनकी हिन्दी कविता, श्री विनयमोहन शर्मा, विश्वभारती खण्ड ६ अंक २ सन् १९४७ ईस्वी

६ नामदेव के ६२ पद गुरुग्रन्थ साहब में मिलते हैं।

प्रायः ब्रह्म की निराकार-भावस्थिति, पाखड-खंडन, शास्त्र-वेद की असमर्थता, साधु के फक्कड जीवन की महत्ता सम्बन्धी कविताएँ इसी रेखता शैली में चलती हैं, किन्तु भावपूर्ण सहज भक्ति की रचनाएँ ब्रजभाषा में ही दिखाई पडती हैं। नामदेव ने कई रचनाएँ शुद्ध ब्रजभाषा में लिखीं। इन रचनाओं की ब्रजभाषा प्रद्युम्न चरित, हरीचंदपुराण आदि की भाषा की तरह काफी पुरानी प्रतीत होती है। दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

१—बदहु किन होइ माधउ मोसिउ
ठाकुर ते जनु जन ते ठाकुर पेल परिउ है तोसिउ
आपन देउ देहुरा आपन आप लगावै पूजा
जल ते तरग तरंग ते जलु है कहन सुनन को दूजा ॥१॥
आपहिं गावै आपहिं नाचै आप बजावै तूरा
कहत नामदेउ तूँ मेरो ठाकुर जनु ऊरा तू पूरा ॥२॥

२—मैं बउरी मेरा राम भतारु रचि रचि ताकउ करउ सिंगार
भले निंदउ भले निंदउ भले निंदउ लोग।
तन मनु राम पियारे जोगु ॥१॥
वाद-विवाद काहु सिउ न कीजै, रसना राम रसाइनु पीजै।
अब जीअ जानि ऐसी बनिआई, मिलउ गुपाल निसान बजाई ॥३॥
उस तति निन्दा करे नरु कोई, नामे श्री रगु भेटल सोई ॥४॥

§ २०२. इन पदों की भाषा पूर्णतः ब्रज है। इसमें प्राचीन ब्रज के प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में दिखाई पडते है। माधउ>माधो, मो सिउ>मो सों, परिउ>पर्यो, तोसिउ>तो स्यों, सुनन कउ>सुनन कौ, करउ>करों, निंदउ>निंदौं में उद्वृत्त स्वरों की सुरक्षा, सिउ, कउ आदि परसर्गों के पुराने रूप इस भाषा की प्राचीनता के प्रमाण हैं। सन्देशरासक की भाषा मे व>उ को परवर्ती शौरसेनी अपभ्रंश की ब्रजोन्मुखी प्रवृत्ति का सूचक बताया गया है (देखिये सन्देशरासक § ३३) नामदेव की भाषा में बउरी <बावुल< व्याकुल, नामदेउ<नामदेव, देउ<देव, माधउ<माधव आदि इसके उदाहरण हैं।

क्रियापद, सर्वनाम (ताकउ, मोसिउ, मेरो) तथा वाक्यविन्यास सब कुछ ब्रजभाषा के वास्तविक रूप की सूचना देते हैं।

नामदेव की कृतियों में मराठी प्रभाव भी दिखाई पडता है, खास तौर से रेखता शैली की अथवा पुरानी राजस्थानी शैली की रचनाओं में यह प्रवृत्ति झलकती है, किन्तु ब्रजभाषा वाली रचनाओं में यह प्रभाव कम से कम दिखाई पडता है। यह ब्रजभाषा के विकास और उसके सुनिश्चित रूपकी स्थिरता का भी द्योतक है।

§ २०३ **त्रिलोचन**—महाराष्ट्र के सन्त कवि त्रिलोचन के जीवन-वृत्त की कोई सविस्तर सूचना नहीं मिलती। जे० एन० फर्कुहर के मतानुसार इनका जन्म १३२४ ईस्वी में हुआ,[1] पंढरपुर में रहते थे। नामदेव के समकालीन थे। त्रिलोचन और नामदेव के आध्या-

---

1. आउट लाइन आव द रीलिजस लिटरेचर इन इण्डिया, पृ० २१०–३००।

त्मिक वार्तालाप सम्बन्धी कुछ दोहे उपलब्ध होते है। त्रिलोचन साधारण कोटि के रचनाकार थे, इनके केवल चार पद गुरुग्रन्थ में उपलब्ध होते हैं।[1] त्रिलोचन की रचनाओं की भाषा शुद्ध ब्रज नहीं है। इनमें रेखता शैली की हिन्दी का प्राधान्य है। ब्रजभाषा के कुछ रूप भी मिले हुए दिखाई पडते हैं। एक पद नीचे दिया जाता है जो भाषा की दृष्टि से ब्रज के ज्यादा नजदीक मालूम होता है।

अन्त कालि जो लछमी सिमरै ऐसी चिन्ता महि जे मरै।
सरप जोनि बलि बलि अउतरै ॥१॥
अरी बाई गोविन्द नाम मति बीसरै।
अन्त कालि जो इसत्री सिमरे, ऐसी चिन्ता महि जे मरे।
वेसवा जोनि बलि बलि अउतरे ॥२॥
अन्त काल जो लडिके सिमरे ऐसी चिन्ता महि जे मरे।
सूकर जोनि वलि बलि अउतरे—आदि

§ २०४. जयदेव—सस्कृत के प्रसिद्ध गीतकार जयदेव के दो पद गुरुग्रन्थ साहब में मिलते है। हालाँकि बहुत से विद्वान् यह स्वीकार नहीं करते कि गुरुग्रन्थ साहब के जयदेव और सस्कृत के गीतकार जयदेव एक ही व्यक्ति हैं। इस आशका का सबसे बडा कारण यह माना जाता है कि गुरुग्रन्थ साहब के पद, भावभूमि और शैली की दृष्टि से गीतकार जयदेव की संस्कृत रचनाओं से मेल नहीं खाते। इन पदों में निर्गुण भक्ति का प्रभाव स्पष्ट है साथ ही शैली की दृष्टि से भी ये उतने सहज और श्रेष्ठ नहीं हैं। हमने प्राकृतपैंगलम् के वस्तु-विवेचन के सिलसिले में कुछ कविताएँ उद्धृत की हैं जो जयदेव के गीत गोविन्द के श्लोकों के पिंगल रूपान्तर हैं (देखिए § ११०)। इन रचनाओ में दशावतार की स्तुति, कृष्ण-राधा के प्रेम-प्रसग चित्रित हुए हैं, साथ ही भाषा और छन्द दोनों ही दृष्टियोंसे ये कवितायें जयदेव की सस्कृत उपलब्धियों की तुलना कर सकती हैं। गीत गोविन्द के आधार पर यह कहना ठीक न होगा कि जयदेव निर्गुण-भक्ति से प्रभावित काव्य नहीं कर सकते। निर्गुण और सगुण भक्ति का मध्यकालीन विभेद भी १२वीं शती के जयदेव के निकट बहुत महत्त्व नहीं रखता। इन दो पदो में से एक की भाषा और शैली तो प्राकृत पैंगलम् की भाषा और शैली से अत्यधिक साम्य रखती है। उदाहरण के लिए हम जयदेव का वह पद, साथ ही प्राकृत पैंगलम् की एक कविता नीचे उद्धृत करते है—

चदसत भेदिया नादसत पूरिया सूरसत पोडसादतु कीया।
अबल बलु तोडिया अचल चलु थप्पिया अघडु घडिया तहाँ अपिउ पीया ॥१॥
मन आदि गुण आदि वखाणिया, तेरी दुविधा द्रुहि समानीया।
अरधिकउ अरधिया सरधिकउ सरधिया
सललिकउ सललि समानि आइया।
वदति जै देव जैदेव कउ रमिया।
ब्रह्म निरवाणु लवलीण पाइया ॥२॥

---

[1] सिरी राग पद १ पृष्ठ ९१, राग गूजरी पद १–२ पृ० ५२५–५२६, रागधनासरी पद १ पृ० ६९४।

प्राकृत पैंगलम् के एक पद की भाषा देखिये—

जिण वेंअ धरिज्जे महियल लिज्जे पिट्ठिहिं दंतिहिं ठाउ धरा।
रिउवच्छ वियारे छलतणु धारे बंधिअ सत्तु सुरज्ज हरा॥
कुल खत्तिय कप्पे दहमुह तप्पे कंसअ केसि विणास करा।
करुणा पयले मेच्छह विअले सो देउ णरायण तुम्ह वरा॥
(प्राकृत पैंगलम् २०७।५७०)

जयदेव के गीतगोविन्द के दशावतार वाले श्लोक से इस पद का अक्षरशः साम्य हम पहले ही दिखा चुके हैं। जयदेव के गीतगोविन्द के परवर्ती काल में कई अनुवाद हुए, इसलिए यह कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति ने गीतगोविन्द का पिंगल अवहट्ठ में अनुवाद किया होगा किन्तु अव्वल तो प्राकृत पैंगलम् का रचनाकाल १४०० के बाद नहीं खींचा जा सकता, दूसरे अनुवाद में यह सहजता, यह भाषा-शक्ति कम दिखाई पड़ती है। जो भी हो प्राकृत पैंगलम् के कृष्ण लीला सम्बन्धी पद, गीतगोविन्द से उनका पूर्ण साम्य, गुरु ग्रन्थ साहब के जयदेव भणिता-से युक्त दो पद तथा उनकी भाषा से प्राकृतपैंगलम् की भाषा का इतना सादृश्य—इस बात के अनुमान के लिए कम आधार नहीं है कि संस्कृत के प्रसिद्ध गीतकार जयदेव ने कुछ कवितायें प्रारम्भिक ब्रजभाषा अथवा पिंगल अपभ्रंश में भी लिखीं थीं।

जयदेव के रचनाकाल के विषय में अब भी अनुमान का ही सहारा लेना पड़ता है। जयदेव का सम्बन्ध सेनवंशी राजा लक्ष्मणसेन से जोड़ा जाता है जिनका शासनकाल ११७९–१२०५ ईस्वी माना जाता है। भागवत की (दशम स्कंध ३२।८) भावार्थ-दीपिका की वैष्णवतोषिणी टीका से विदित होता है कि उक्त लक्ष्मणसेन के दरबार में जयदेव, उमापतिधर के साथ रहते थे।[2] जयदेवने गीतगोविन्द में जिन कवियों की चर्चा की है उनमें उमापतिधर का भी नाम आता है:

वाचः पल्लवयुमापतिधरः सन्दर्भशुद्धिं गिरां
जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरुहद्रुतः।
श्रृंगारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धनः
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतिधरो धोयी कविः क्ष्मापतिः॥
(गीत० १।४)

इस श्लोक में आये कवियों का सम्बन्ध भी सेनवंशी राजा लक्ष्मणसेन से जोड़ा जाता है।[3] कुछ लोग जयदेव को उड़ीसानरेश कामार्णवदेव (११९६–१२१३ ईस्वी) तथा राजा पुरुषोत्तमदेव (१२२७–३७ ईस्वी) का समसामयिक मानते हैं। इन तथ्यों के आधार पर हम जयदेव को विक्रमी १३ वीं शताब्दी के अन्त का कवि मान सकते हैं।

---

१. राग मारू, गुरुग्रन्थ साहब, पद १, पृ० ११०४, तरन तारन संस्करण।

२. श्री जयदेव सहचरेण महाराज लक्ष्मणसेनमन्त्रिवरेणोमापतिधरेण सहः
(दशम स्कन्ध ३२।८ की टीका)

३. रजनीकान्त गुप्त, जयदेव चरित, हिन्दी, बाँकीपुर १८१० पृ० १२

जयदेव के जीवन-वृत्त से ज्ञात होता है कि उन्होंने वृन्दावन की यात्रायें की थीं, न भी की हों, तो भी १४ वीं शताब्दी में पिंगल या प्राचीन ब्रज का इतना प्रचार था कि बगाल के कवियों ने भी इसमें रचनायें कीं। विद्यापति की कीर्तिलता और सिद्धों के पदों की भाषा इसका प्रमाण है। जयदेव के केवल इन दो पदों के आधार पर भाषा का निर्णय करना उचित नहीं मालूम होता, फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि यह भाषा अत्यन्त विकृत, टूटी-फूटी और अव्यवस्थित होनेके बावजूद प्राचीन ब्रजभाषा के तत्त्वों पर आधारित है। पहले उद्धृत किये गये मारू राग वाले पद में क्रिया रूप प्रायः आकारान्त हैं जो ब्रज की मूल प्रवृत्ति के मेल में नहीं हैं किन्तु उकारान्त प्रातिपदिक, कउ>कौ परसर्ग, आदि ब्रजभाषा के प्रभाव की सूचना देते हैं। इन पद्यों में पाये जाने वाले ब्रज प्रभावों को ही लक्ष्य करके डा० चाटुर्ज्या ने कहा था कि ये पद पश्चिमी शौरसेनी अपभ्रंश के मालूम होते हैं।[1]

§ २०५. **वेणी**—वेणी के बारे में कोई विशेष सधान नहीं हो सका है। सिक्खों के पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने अपने एक पद में वेणी की चर्चा की है। उक्त सदर्भ मे केवल वेणी कवि के विषय में इतना ही मालूम होता है कि वेणी को अपने सद्गुरु की कृपा से प्रकाश (ज्ञान) प्राप्त हुआ।[2] श्री परशुराम चतुर्वेदी इन्हें नामदेव से भी पूर्ववर्ती मानने के पक्ष में हैं क्योंकि वे वेणी की भाषा को नामदेव से पुरानी बताते हैं।[3] वेणी की भाषा वस्तुतः पुरानी है नहीं, अत्यधिक भ्रष्टता से उत्पन्न दुरूहता के कारण ही यह ऐसी लगती है। नामदेव की भाषा से कई अर्थोंमें यह परवर्ती लगती है। उदाहरण के लिए उनका एक पद लीजिए—

इड़ा पिंगुला अउर सुखमना तीन वसहिं एक ठांई
वेणी सगमु तह पिरागु मनु भजन करे तिथाई
सतहु तहाँ निरजन राम है, गुर गमि चीन्है विरला कोइ
तहाँ निरजन रमइया होइ ॥१॥
देव स्थाने कीया निसाणी, तह वाजे सवद अनाहद वाणी।
तहँ चन्द न सूरजु पउणु न पाणी, साखी जाकी गुरु मुख जाणी।
उपजै गियान दुरमति छीजै, अमृत रस गगन सरि भीजै।
एसु कला जो जाणे भेउ, भेटै तासु परम गुर देउ ॥३॥
दसम दुआरा अगम अपारा परम पुरुष की घाटी।
ऊपरि हाट हाटु परि आला, आले भीतर थाटी ॥४॥
जागतु रहै सो कबहु न सोवै, तीन तिलोक समाधि पलोवै।
बीज मत्र लै हिरदै रहै, मनूआ उलटि सुन महि महै ॥५॥

यह भाषा नामदेव से परवर्ती ही कही जायेगी। न तो नामदेव की भाषा की तरह इसमें उद्वृत स्वर की सुरक्षा दिखाई पडती है और न तो अपभ्रंश के उतने अधिक अवशिष्ट

---

१ ओरीजिन ऐंड डेवलेप्मेन्ट आव द बेंगाली लैंग्वेज़ पृ० १२६।

२ वेणी कउ गुरु कीउ प्रगासु रे मन तभी होई दास
राग महला ५ गुरुग्रन्थ पृ० १६६२।

३. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० १०४।

रूप, फिर भी यह भाषा १५ वीं शती के बाद की नहीं है। भाषा ब्रज ही है, रेखता-शैली की यत्किंचित् छाप भी दिखाई पडती है।

§ २०६. **सधना**—संत सधना के बारे में प्रचलित जनश्रुतियों के अतिरिक्त कोई प्रामाणित वृत्तान्त नहीं मिलता। ऐसा समझा जाता है कि इनका जन्म सेहवान (सिंध) में हुआ था। मेकलिफ ने लिखा है कि नामदेव और ज्ञानदेव की तीर्थयात्रा के सिलसिले मे संत सधना से एलौरा की कंदरा के निकट मुलाकात हुई थी।[1] इस आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि वे नामदेव के समकालीन थे अतः इनका अविर्भाव काल भी १४ वीं शताब्दी ही मानना चाहिए। सधना जाति के कसाई थे, मास वेचना पुश्तैनी पेशा था, किन्तु इस निकृष्ट कर्म के पंक से उनकी आत्मा कभी कलंकित न हुई। गुरु ग्रन्थ में उनका एक ही पद मिलता है, जो नीचे दिया जाता है।[2]

नृप कनिया कै कारने इकु भइया वेषधारी।
कामारथी सुआरथी वाकी पैज सँवारी ॥१॥
तव गुन कहा जगत गुरा जउ करमु न नासै।
सिंह सरन कत जाइये जउ जंबुक ग्रासै ॥२॥
एक बूँद जल कारने चात्रिक दुष पावै।
प्रान गये सागर मिलै फुनि काम न आवै ॥३॥
प्रान जो थाके थिरु नहीं कैसे विरमावउ।
बूँढ़ि मुवै नउका मिलै कहु काहि चढावउं ॥४॥
मैं नाहीं कछु हउ नहीं किछु आहि न मोरा।
अउसर लजा राखि लेउ सधना जनु तोरा ॥५॥

भाषा प्राचीन है। नामदेव की भाषा की तरह इसमें भी प्राचीन ब्रज के कई चिह्न दिखाई पडते हैं। जउ > जो, नउका > नौका, विरमावउ > विरमावौ, चढावउ > चढावौ आदि इसके स्पष्ट प्रमाण हैं।

§ २०७ **रामानन्द**—उत्तर भारत में भक्ति-आन्दोलन के संस्थापक रामानन्द का स्थान अप्रतिम है। रामानन्द के जीवन-वृत्त सम्बन्धी कोई महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध नहीं होती। परवर्ती कवियों और उनके कुछेक शिष्यों की रचनाओं में इनकी चर्चा आती है जो ऐतिहासिक कम प्रशंसामूलक अधिक है। रामानन्द स्वामी रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में चौथे थे। डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है कि प्रत्येक शिष्य के लिए यदि ७५ वर्ष का समय निर्धारित किया जाये तो रामानन्द का आविर्भाव काल चौदहवीं शताब्दी का अन्त ठहरता है।[3] यद्यपि यह बहुत सही तरीका नहीं है क्योंकि साधुओं की शिष्य परम्परा में एक पीढी के लिए ७५ वर्ष का समय बहुत ज्यादा मालूम होता है और इसमें अत्यधिक अनुमान की शरण लेनी पडती है, फिर भी १४वीं शती का अनुमान उचित ही है क्योंकि कुछ और प्रमाणों से इसकी

---

१ मैकलिफ : दि सिख रिलीजन भाग ६, पृ० ३२
२ राग बिलावल पद १, पृ० ८५८
३ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २२१

पुष्टि होती है। श्री परशुराम चतुर्वेदी रामानन्द को रामानुजाचार्य की पाँचवीं पीढ़ी में उत्पन्न बताते हैं, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है 'रामार्चन पद्धति में रामानन्द जी ने अपनी गुरु-परम्परा दी है उसके अनुसार रामानुजाचार्य जी रामानन्द जी से चौदह पीढी ऊपर थे, अब चौदह पीढ़ियों के लिए यदि हम ३०० वर्ष रखें तो रामानन्द जी का समय वही (१५ वीं का चतुर्थ चरण) आता है।[1] अगस्त्य संहिता में रामानन्द का जन्म कलियुग के ४४०० वें वर्ष में होना लिखा है जो १३५६ विक्रमी संवत् में पड़ेगा। कबीर के नाम से प्रसिद्ध एक पद में रामानन्द की चर्चा आती है हाँलाकि श्री परशुराम चतुर्वेदी के मत से,[2] 'कबीर साहब की उपलब्ध प्रामाणिक रचनाओं में स्वामी रामानन्द का नाम कहीं भी नहीं आता, कबीर-पन्थियों के मान्य धर्म ग्रन्थ बीजक में एक स्थल पर रामानन्द शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है।'[3] चतुर्वेदी जी बीजक की प्रामाणिकता में सन्देह व्यक्त करते हैं और निम्नोद्धृत पद में रामानन्द का अर्थ स्वामी रामानन्द समझने को उचित नहीं मानते, किन्तु कबीर के इस प्रकार के प्रयोगों की प्रामाणिकता वहीं सन्दिग्ध होनी चाहिए जहाँ उनमें साक्षात् गुरु-शिष्य का सम्बन्ध जोडा जाता है, क्योंकि रामानन्द कबीर के पहले एक प्रसिद्ध सन्त हो चुके थे, इसलिए उनकी रचनाओं में रामानन्द की चर्चा मिलना ही अप्रामाणिक नहीं हो जायेगा। रामानन्द के एक शिष्य सेन भी माने जाते हैं। सेन के एक पद में रामानन्द की चर्चा आती है।[4] सेन का समय भी विवादास्पद है। भक्तमाल सटीक में रामानन्द की जन्मतिथि संवत् १३५६ दी हुई है। इसके अनुसार स्वामी श्री १०८ रामानन्द जी दयालु प्रयागराज में कश्यप जी के समान भगवद्धर्म युक्त बडभागी कान्यकुब्ज ब्राह्मण पुण्य सदन के गृह विक्रमीय संवत् १३५६ के माघ कृष्ण सप्तमी तिथि में सूर्य के समान सन्तों के सुखदाता सात दण्ड दिन चढे चित्र नक्षत्र सिद्धयोग लग्न में गुरुवार को श्री सुशीला देवी से प्रगट हुए।[5] डा० आर० जी० भण्डारकर भी इस तिथि को प्रामाणिक मानते हैं।[6]

§ २०८ कहा जाता है कि रामानन्द जी की हिन्दी और संस्कृत में कई रचनाएँ थीं। किन्तु उनके नाम पर गिनाये जानेवाले ग्रन्थों की प्रामाणिकता पर विद्वानों ने सन्देह व्यक्त किया है। हिन्दी में इनकी बहुत कम रचनायें प्राप्त होती हैं। डा० बडथ्वाल ने योगप्रवाह में उनकी कुछ रचनायें दी हैं। हाल ही में काशी नागरी प्रचारिणी सभा से डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के सम्पादकत्व में 'रामानन्द की हिन्दी रचनायें' शीर्षक एक छोटी सी पुस्तक प्रकाशित हुई है।[7] इस पुस्तक मे रामानन्द की राम रक्षा, ज्ञान लीला, हनुमान् जी की आरती, योग

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ११८, संवत् २००७ काशी
२. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० २२५
३. रामानन्द राम रस माते, कहहिं कबीर हम कहि कहि थाके।
　　　　　　　　　　　　　—बीजक शब्द ७७।
४. रामभगति रामानन्द जानै, पूरन परमानन्द बखानै—ग्रन्थ साहब, धनाश्री १
५ भक्तमाल सटीक, पृ० २७३
६. वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टिम्स्, पृ० ६६।
७ रामानन्द की हिन्दी रचनायें, काशी नागरीप्रचारिणी सभा, संवत २०१२

चिन्तामणि, ज्ञान तिलक, सिद्धान्त पञ्चमात्रा, भगति जोग, रामाष्टक आदि रचनायें सकलित की गई हैं। पुस्तक में स्व० डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल के लिखे हुए कुछ महत्वपूर्ण लेख भी संगृहीत हैं। 'युग प्रवर्तक रामानन्द,' 'अध्यात्म्य,' 'रामानन्द सम्प्रदाय,' 'संस्कृत और हिन्दी रचनाओं की विचार परम्परा का समन्वय,' शीर्षक इन चार निबन्धों में डा० बडथ्वाल ने बडी सूक्ष्मता के साथ निर्गुण-काव्य की वैचारिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करते हुए रामानन्द के व्यक्तित्व और उनके सास्कृतिक योगदान का विवेचन किया है। डा० श्रीकृष्ण लाल ने 'स्वामी रामानन्द का जीवन चरित्र' में इन प्रसिद्ध आचार्य कवि के तिथिकाल तथा जीवन सम्बन्धी घटनाओं का सकेत देनेवाले सूत्रों का अध्ययन किया है।

इस पुस्तक में सकलित रामानन्द की उपर्युक्त रचनाओं में दो प्रकार की भाषा पाई जाती है। योग चिन्तामणि, ज्ञान तिलक आदि की भाषा मिश्रित खडी बोली के नजदीक है जबकि ज्ञान लीला, हनुमान् की आरती तथा पृ० ७ पर प्रकाशित एक पद आदि रचनाओं की भाषा ब्रजभाषा है। नीचे हम दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

हरि बिनु जन्म वृथा खोयो रे।
कहा भयो अति मान बड़ाई धन मद अघमति सोयो रे॥
अति उतग तरु देषि सुहायो सैंवल कुसुम सुवा सेयो रे।
सोई फल पुत्र कलत्र विषै सु अति सीस धुनि-धुनि रोयो रे॥
सुमिरन भजन साधु की संगति अंतरमन मैल न धोयो रे।
रामानन्द रतन जम त्रासै श्रीपत पद गहे न जोयो रे॥ (पृष्ठ ७)

ज्ञान लीला का आरम्भिक अश इस प्रकार है—

मूरष तन धरि कहा कमायौ, राम भजन बिनु जनम गमायौ।
राम भगति गति जाँणी नाहीं, भंदूँ मूलौ धंधा माँही॥
मेरी मेरी करतो फिरियो, हरि सुमिरण तो कबू न करियौ।
नारी सेती नेह लगायौ, कबहुँ हिरदै राम नहिं आयौ॥
सुप माया सूँ परो पियारो, कबहूँ न सिंवर्‍यो सिरजन हारौ।
स्वारथ माहि चहूँ दिसि ध्यायो, गोविंद को गुन कबहूँ न गायौ॥ (पृ० ६)

रामानन्द का निम्नलिखित पद गुरुग्रन्थसे उद्धृत किया जाता है—

राग बसंन्त

कत जाइयै रे घर लागो रंग मेरा चितु न चलै मन भइउ पगु।
एक दिवस मन भई उमंग घसि चौआ चन्दन बहु सुगंध।
पूजन चाली ब्रह्म ठांइ, सो ब्रह्मु बताइउ गुरु मन ही मांहि॥१॥
जहाँ जाइये तँह जल पषान, तू परि रहिउ है सभ समान।
वेद पुरान सब देषे जोइ उहाँ तउ जाइयाँ जउ इहाँ न होइ॥२॥
सतगुर मैं बलिहारी तोर जिनि सकल विकल भ्रम काटे मोर।
रामानन्द सुआमी रमत बरम, गुरु का सबद काटै कोटि करम॥३॥

रामानन्द की भाषा अत्यन्त सहज और पुष्ट है। भाषा की प्राचीनता का पता क्रिया-पदों को देखने से विदित होता है। भूत निष्ठा के रूप लागो>लाग्यौ (ब्रज) ओकारान्त है

प्राचीन ब्रज के रूपों की तरह इसमें औ-कारान्त विकास नहीं है। भइउ > भयौ, बताइउ > बतायौ, रहिउ > रह्यो में पुराने चिह्न स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। भाषा नामदेव के पदों की ब्रजभाषा की तरह ही शुद्ध और प्राचीन है।

§ २०९. कबीर

मध्ययुग की मुमूर्ष सांस्कृतिक चेतना को पुनरुज्जीवित करने वाले सन्तों में कबीर का स्थान निर्विवाद रूप से मूर्धन्य है। उन्होंने अपने अद्वितीय व्यक्तित्व और अप्रतिम प्रतिभा के के बल पर एक नयी सामाजिक चेतना की सृष्टि की। द्विवेदी जी के शब्दों में कबीर में युगप्रवर्तक का विश्वास था और लोक नायक की हमदर्दी थी इसीलिए वे एक नया युग उत्पन्न कर सके।

कबीर के जीवन, व्यक्तित्व और उनकी रचनाओं की प्रामाणिकता आदि पर अब तक काफी लिखा जा चुका है, उसे यहाँ दुहराने की कोई आवश्यकता नहीं। गुरुग्रन्थ में कबीर के ढाई सौ पद तथा दो ढाई सौ श्लोक संकलित हैं। कबीर की रचनाओं के और भी कई संकलन मिलते हैं। हम यहाँ संक्षेप में कबीर की भाषा का विश्लेषण करना चाहते हैं। कबीर की भाषा पर अभी तक बहुत सम्यक् विचार नहीं हो सका है। कबीर की भाषा में इतने विविध रुप सम्मिलित दिखाई पडते हैं कि सहसा भाषा सम्बन्धी कोई निर्णय देना आसान काम नहीं। हिंदी के कई विद्वानों ने कबीर की भाषा पर यत्किञ्चित् विचार दिये हैं। आचार्य शुक्ल कबीर की भाषा को दो प्रकार की बताते हुए लिखते हैं 'इसकी (साखी, दोहे) भाषा सधुक्कडी अर्थात् राजस्थानी पंजाबी मिली खडी बोली है, पर रमैनी और सबद में गाने के पद हैं जिनमें काव्य की ब्रज भाषा और कहीं कहीं पूरबी बोली का भी व्यवहार है। खुसरो के गीतों की भाषा भी हम ब्रज दिखा आए हैं इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गीतों के लिए काव्य की ब्रजभाषा ही स्वीकृत थी।[1] शुक्ल जी कबीर की भाषा में पदों की भाषा को अलग कर इसे ब्रज नाम देना चाहते हैं। डा० श्यामसुन्दर दास इस भाषा को पंचमेल खिचडी बताते हैं और अपने विश्लेषण के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं . 'यद्यपि उन्होंने स्वयं कहा है मेरी बोली पूरबी तथापि खडी बोली, ब्रज, पंजाबी, राजस्थानी, अरबी फारसी आदि अनेक भाषाओं का पुट भी उनकी उक्तियों पर चढा हुआ है। पूरबी से उनका क्या तात्पर्य है यह नहीं कह सकते। उनका बनारस-निवास पूरबी से अवधी का अर्थ लेने के पक्ष में है। परन्तु उनकी रचना में बिहारी का भी पर्याप्त मेल है। यहाँ तक की मृत्यु के समय मगहर मे उन्होंने जो पद कहा है, उसमें मैथिली का भी कुछ संसर्ग दिखाई देता है।[2] बाबूसाहब ने न केवल मगहर में मृत्यु की बात से मैथिली का संयोग ढूँढा बल्कि 'पूरबी बोली' का अर्थ 'बिहारी' बताते हुए कबीर के जन्मस्थान के विषय में 'एक नया प्रकाश' पडने की सम्भावना भी बताई। मगहर[3] का सम्भवत.

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, काशी, २००७ विक्रमी, पृ० ८०

२. कबीर ग्रन्थावली, संवत् २००८, चतुर्थ संस्करण, पृ० ६७

३. मगहर बस्ती जिले में अमी नदी के किनारे एक गाँव है जहाँ पर कबीर पंथियों का बहुत बड़ा मठ है, जिनके दो हिस्से हैं। एक पर मुसलमान कबीर पंथियों का अधिकार है दूसरे पर हिन्दू कबीर पंथियों का। कबीर की समाधि भी है।

मगध अर्थ लेकर बाबू साहब ने कबीर की भाषा में 'मैथिली' और बिहारी बोलियों का प्रभाव ढूँढने की कोशिश की। यदि पूरबी का अर्थ वे 'अवधी' मानते हैं तो फिर भोजपूरी क्यों नहीं? भोजपुरी तो बिहारी भाषाओं में रखी भी जा सकती थी। वस्तुतः यह भाषा सम्बन्धी निष्कर्ष देने का बहुत उपयुक्त तरीका नहीं है, हम उनके मत से सहमत हैं कि 'कबीर की भाषा का निर्णय करना टेढ़ी खीर है क्योंकि वह खिचडी है।'[1] डा० उदयनारायण तिवारी, डा० श्यामसुन्दर के इस निष्कर्ष को अत्यन्त महत्वहीन बताते हुए कबीर की 'पचमेल' भाषा के लिए उत्तरदायी कारणों की खोज करते हैं। उनके मत से कबीर की मूल भोजपुरी में लिखी वाणी बुद्ध वचनों की तरह कई भाषाओं में अनूदित हो गई थीं, इसीलिए उसमें इतने प्रकार की विविधता पाई जाती है।[2] कबीर की भाषा की प्रासंगिक चर्चा करते हुए भोजपुरी भाषा के विवरण के सिलसिले में डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने लिखा कि 'कबीर यद्यपि भोजपुरी इलाके के निवासी थे, किन्तु तत्कालीन हिन्दुस्तानी (हिन्दी) कवियों की तरह उन्होंने प्रायः व्रजभाषा का प्रयोग किया, कभी-कभी अवधी का भी। उनकी व्रजभाषा में भी कभी-कभी पूर्वी (भोजपुरी) रूप भी झलक आता है किन्तु जब वे अपनी बोली भोजपुरी में लिखते हैं तो व्रजभाषा के तथा अन्य पश्चिमी भाषिक तत्व प्रायः दिखाई पडते हैं।[3] कबीर मतावलम्बी बीजक को बहुत प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं। बीजक, उस ग्रन्थ को कहते हैं जो अतरालस्थित परम सत्यसे भक्तजन का साक्षात्कार कराये। बीजक में आदि मगल, रमैनी, शब्द, विप्रमतीसी, ककहरा, वसन्त, चाचर, बेलि, बिरहुली, हिंडोला, साखी और 'सायर बीजक को पद' आदि रचनाएँ सम्मिलित है। बीजक सम्बन्धी विभिन्न जन-श्रुतियों और सम्प्रदाय प्रचलित कथाओं आदि का उचित विवेचन करने के बाद डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह ऐतिहासिक तथ्य जान पडता है कि भगवानदास के शिष्य प्रशिष्यों ने कबीरदास की मृत्यु के दीर्घकाल के बाद उसे (बीजक को) प्रचारित किया। उसमें कुछ परवर्ती बातों का मिल जाना नितान्त असभव नहीं है।'[4] इस बीजक में कई प्रकार की भाषायें दिखाई पडती हैं। रचनाओं पर राजस्थानी का प्रभाव कम है जैसा कि कबीर ग्रन्थावली की रचनाओ में मिलता है, यह सभवतः बीजक के पूरब में सुरक्षित रहने अथवा लिखे जाने के कारण हुआ।

§ २१०. उपर्युक्त मतों के आधार पर कोई भी पाठक यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि कबीर की भाषा वाकई 'पञ्चमेल' खिचडी है और तब यह भी सम्भव है कि इनके बीच

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६६

२. डा० उदयनारायण तिवारी, भोजपुरी भाषा और साहित्य, तथा हिन्दी अनुशीलन वर्ष २ अक २ में कबीर की भाषा शीर्षक निबन्ध

3 Kabir was an inhabitant of the Bhojpuria tract but following the practice of the Hindustani poets of the time he generally used Brajbhakha and occasionally Awadhi His Brajbhakha at times betrays an eastern (Bhojpuria form) form here and there and when he employes his own Bhojpuria dialect, Brajbhakha and other western forms frequently show themselves Origin and Development of the Bengali Language p 99

४. कबीर के मूल वचन, विश्वभारती पत्रिका, खण्ड ६ अंक २, पृ० ११२

सगति वैठाने के लिए यह भी कहना पड़े कि कबीर की रचनायें मूलतः भोजपुरी में थीं जिनका बाद में कई भाषाओं में अनुवाद कर दिया गया। किन्तु ये दोनों प्रकार के निष्कर्ष कबीर की भाषा की पृष्ठभूमि में वर्तमान तत्कालीन भाषिक परिस्थितियों को न समझने के कारण ही निकाले जा सकते हैं। हमारे पास कबीर की रचनाओं की मौलिकता परखने का कोई आधार नहीं है केवल इसलिए कि कबीर बनारस के थे इसलिए उनकी भाषा पूर्वी या बनारसी रही होगी, यह तत्कालीन स्वीकृत भाषा-पद्धतियों के सही विश्लेषण से उत्पन्न तर्क नहीं कहा जा सकता। वस्तुस्थिति यह है कि कबीर ने स्वय कई भाषाओ का प्रयोग किया, सम्भवत. वे इतनी बारीकी से उस भेद को स्वीकार भी नहीं करते थे। कबीर के जमाने में प्रचलित भाषा-स्थिति का हमने इस अध्याय के आरम्भ में विश्लेषण किया है। नाथ-सिद्धों द्वारा स्वीकृत रेखता या राजस्थानी पजाबी मिश्रित खडी बोली कबीर को वैसे ही उत्तराधिकार के रूप में मिली जैसे नाथ–सिद्धों से अक्खडता, रूढ़िविरोधिता और आडम्बर-द्रोही मस्ती। इसीलिए कबीर की वे रचनाएँ, जिनमें वे ढोंगियों, धर्मध्वजों, मजहबी ठीकेदारों के खिलाफ बगावत की आवाज़ बुलन्द करते हैं, खडी बोली या रेखता शैली में दिखाई पडती हैं। ठीक इसके विपरीत कबीर जहाँ अपने सहज रूप में आत्मनिवेदन, प्रणपत्ति या आत्मा-परमात्मा के मधुर मिलन के गीत गाते हैं, उनकी रचनाओं का माध्यम ब्रजभाषा हो जाती है कबीर को अपनी आवाज़ जन सामान्य तक पहुँचानी थी, इसलिए भाषा उनकी हमेशा जन-परिचित ही रही।

§ २११. १५ वीं शती का समय हिन्दी का सक्रान्तिकाल था। हिन्दीकी तीनों प्रमुख बोलियाँ, ब्रज, खडी और अवधी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में थीं, किन्तु तीनों की अलग-अलग रूपरेखा का निर्माण भी हो रहा था। अवधी में वस्तुवर्णन और प्रबन्धात्मक कथा की अभिव्यञ्जना की एक निराली शैली बनने लगी थी। ईश्वरदास की सत्यवती कथा (१५०१ ई०) और मुल्ला दाऊद की नूरक चदा (१३७५ ई०) लखनसेनि का हरिचरित्र विराट पर्व (१४८८ सम्वत्) आदि ग्रन्थ अवधी भाषा की विवरणात्मक रचना-शक्ति का परिचय देते है। दोहे चौपाई में इस प्रकार काव्य लेखन की पद्धति बहुत पुरानी है। 'सहजयान के सिद्धों में सरह-पाद और कृष्णपाद के ग्रन्थ में दो-दो चार-चार चौपाइयो के बाद दोहा लिखने की प्रथा पाई जाती है। कालिदास के विक्रमोर्वशीय में भी चौपाई–प्रकार के छद दिये हुए हैं। (देखिये विक्रमोर्वशीय ४।३२) कबीर को यह शैली प्रिय लगी और उन्होंने रमैनी की रचना इसी भाषा शैली में प्रस्तुत की। यद्यपि रमैनी की भाषा शुद्ध अवधी नहीं है फिर भी अवधी के रूप स्पष्ट दिखाई पडते हैं। ब्रज का प्रभाव भी कम नहीं है। रमैनी से सम्वत् १४८८ के कवि लखनसेनी (लक्ष्मणसेन) के हरिचरित्र के अश से तुलना करने पर भाषा सम्बन्धी साम्य का रूप स्पष्ट हो जाता है।

कबीर रमैनी[1]

सोइ उपाय करि यहु दुख जाई, ए सब परिहरि विषै सगाई।
माया मोह जोर जग भागी, ता सगि जरसि कवन रस लागी।

---

१ कबीर ग्रन्थावली, चतुर्थ सस्करण, पृ० २२८–२९

त्राहि त्राहि कर हरी पुकारा, साध संगति मिलि करहु विचारा ।
रे रे जीवन नहिं विश्रामा, सब दुख मंडन राम को नामा ।
राम नाम संसार में सारा, राम नाम भौ तारन हारा ।
सुम्रित वेद सबै सुनैं नहीं आवै कृत काज
नहीं जैसे कुंडिल वनिल दुख सोभित विन राज
अब गहि राम नाम अविनासी हरि तजि जनि अंतह वै जासी
जहाँ जाइ तहाँ पतंगा, अब जनि जरसि समझ विष संगा

हरि चरति से–[1]

भोंदु महंथ जे लागे काना, काज, छाडि अकाजे जाना
कपटी लोग सब भे धरमाधी, पोट वइदि नहि चीन्हे वियाधी
कुंअर बाँधे भूपन मरई, आदर सो पर सेइ चराई ॥
चन्दन काटि करीले जे लावा, आँवि काटि बवूर बोआवा ।
कोकिल हंस मजारहिं मारी, बहुत जतन कागहिं प्रतिपाली ॥
सारीक पंप उपारि पालै, तमचुर जग ससार ।
लखन सेनि ताह न वसै कादि जो खाँहि उघार ॥

कबीर की रमैनी की भाषा की अपेक्षा लखनसेनी की भाषा अधिक शुद्ध अवधी है। फिर भी कबीर के उपर्युक्त पद्यांश में जरसि, वर्तमान मध्यम पुरुष, करहु (आज्ञार्थक मध्यम पुरुष) जनि (अव्यय) लागि (परसर्ग, चतुर्थी) पुकार (सामान्य वर्तमान, अन्य पुरुष) आदि रूप स्पष्टतः अवधी का संकेत देते हैं वैसे भी बाकी पूरा व्याकरणिक ढाँचा अवधी का ही है किन्तु भौ (क्रियाभूत) में (सप्तमी परसर्ग) को (षष्ठी, पर०) ब्रज प्रभाव की सूचना देते है। कबीर ग्रन्थावली की रमैणी पर ब्रज का प्रभाव वैसे ज्यादा है भी।

§ २१२. कबीर की भाषा का दूसरा रूप उनकी साखियों में दिखाई पडता है। साखियों की भाषा की परम्परा भी कबीर को पूर्ववर्ती सन्तों से ही मिली। अपभ्रंश में दोहो की परम्परा पूर्ण विकसित अवस्था को पहुँच चुकी थी, परवर्ती अपभ्रंश में ये दोहे दो शैली में लिखे जाते थे। एक तो शौरसेनी अपभ्रश से विकसित शुद्ध पिंगल की शैली और दूसरी राजस्थानी की पूर्ववर्ती शैली। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के दोहों की इन दो भिन्न शैलियों का उल्लेख पहले हो चुका है। (देखिये § १६०) कबीर में राजस्थानी शैली का प्राधान्य है, किन्तु ब्रजशैली के दोहे भी कम नहीं हैं। नीचे कुछ दोहे दिये जाते हैं।

यह तन जालौं मसि करौं लिखौं राम को नाम ।
लेखणि करू करक की लिखि लिखि राम पठाउँ ॥७९॥
कबीर पीर परावनी पजर पीर न जाइ ।
एक जु पीर पिरीति की रही कलेजा छाइ ॥८०॥
हाँसी खेलौं हरि मिलै तो कोण सहै परसान ।
काम क्रोध तिष्णां तजै ताहि मिले भगवान ॥९७॥

---

1 हरिचरितत्र, अप्रकाशित, देखिये सर्च रिपोर्ट १९४४–४८

भारी कहौं तो बहु डरौं हलका कहूँ तो झूठ।
मैं का जाणौं राम कूं नैनू कबहुँ ना दीठ ॥१७२॥
सहज सहज सबको कहै सहज न चीन्है कोइ।
पाचूँ राखे परसती सहज कहीजै सोइ ॥४०६॥
जीवत मृतक ह्वै रहै तजै जगत की आस।
तब हरि सेवा आपन करै मति दुख पावै दास ॥६१६॥
झूठे सुख कौ सुख कहै मानत है मन मोद।
खलक चवीणा काल का कुछ मुख में कुछ गोद ॥६६४॥

साखियों की भाषा पर राजस्थानी का प्रभाव दिखाई पडता है यह सत्य है कि लिपिकार की कृपा के कारण न>ण के प्रयोग तथा आकारान्त क्रिया पद बहुत मिलते हैं। बीजक की साखियों में राजस्थानी प्रभाव नहीं मिलता, किन्तु जैसा हमने पहले ही निवेदन किया कि बीजक पूर्वी प्रदेश में लिखे जाने के कारण राजस्थानी प्रभाव से मुक्त है।

कबीर की तीसरी प्रसिद्ध शैली पदों की है पदों की भाषा में प्रायः जहाँ लयपूर्ण गीत का बन्धन स्वीकार किया गया है, वहाँ व्रज अवश्य है। उदाहरण के लिए निचले गीत देखें—

अब हरि हूँ अपनौं करि लीनौं।
प्रेम भगति मेरौ मन भीनौं ॥
जरै सरीर अग नहि मोरौं प्रान जाइ तौ नेह न तोरौ।
च्यतामणि क पाइये ठठोली, मन दे राम लियौ निरमोली ॥
ब्रह्मा खोजत जनम गवायौ, सोइ राम घट भीतर पायौ।
कहै कबीर छूटी सब आसा, मिल्यौ राम उपज्यौ विसवासा ॥
मेरौ हार हिरान्यो मैं लजाऊँ।
सास दुरासनि पीव डराऊँ ॥
हार गुहणै मैरौ राम ताग, विचि विचि मान्यक एक लाग।
रतन प्रवालै परम जोति, ता अतर अतर लागै मोति ॥
पञ्च सखी मिलि हैं सुजान, चलहु न जइये त्रिवेणी न्हान।
न्हाइ धोइ कै तिलक दीन्ह ना जानूँ हार किनहूँ लीन्ह ॥
हार हिरानौ जन विमल कीन्ह, मेरौ आहि परोसनि हार लीन्ह।
तीनि लोक की जानै पीर, सब देव सिरोमनि कहै कबीर ॥

इन दो पदों में ऊपर का पद एक दम शुद्ध व्रज का है। निचले पद का रूप व्रज का ही है किन्तु कहीं कहीं अवधी प्रभाव भी दिखाई पड़ता है। लीन्ह, कीन्ह, दीन्ह आदि क्रिया रूप अवधी में ज्यादा प्रचलित है किन्तु व्रज में इनके प्रयोग कम नहीं मिलते कीन्ह>कीन तो बिहारी तक मे बहुत पाया जाता है।[1]

कबीर ने बहुत थोड़े से छप्पय लिखे हैं। छप्पयों की भाषा मूलतः पिंगल ही है। पिंगल

1 मनहु इजाफा कीन (बिहारी)

का यह अपना छन्द है। चन्द ने रासों मे इस छन्द को जो पूर्णता मिली वह अद्वितीय है। कबीर की साखियों (दोहों) के बीच दो छप्पय छन्द भी उपलब्ध होते हैं।[1]

मन नहिं छाड़ै विषै विषै न छाड़ै मन कौ।
इनकौं इहै सुभाव पूरि लागी जुग जन कौ॥
खंडित मूल विनास कहौ किम विगतह कीजै।
ज्यूँ जल में प्रतिव्यंब त्यूँ सकल रामहिं जाणीजै॥
सो मन सो तन सो विषै सो त्रिभुवन पति कहूँ कस।
कहै कबीर चन्दहुनरा ज्यों जल पूरया सकल रस॥५४६॥

दूसरा छप्पय 'वैसास कौ अंग' में दिया हुआ है।

जिन नरहरि जठराहँ उदकि कैं पंड प्रकट कियौ।
सिरजे श्रवण कर चरन जीव जीभ मुख तास दियौ॥
उरध पाँव अरध सीस बीच पषा इम रषियौ।
अन पान जहाँ जरै तहाँ तैं अनल न चषियौ॥
इहि भाति भयानक उद्र में उद्र न कबहूँ छंछरै।
कृसन कृपाल कबीर कहि इम प्रतिपालन क्यौ करै॥५६०॥

छप्पय छन्द की यह विशेषता रही है कि उसमें ओजस्विता लाने के लिए पुराने शब्दों खास तौर से परवर्ती अपभ्रंश के रूपों का बहुत बाद तक व्यवहार होता रहा। चन्द के छप्पयों की विचित्र शब्दमैत्री तुलसीदास को भी आकृष्ट किये बिना न रही और उन्हें भी 'करक्खत बरक्खत' का प्रयोग करना ही पड़ा। कबीर के इन छप्पयों में भाषा काफी पुराने तत्त्वों को सुरक्षित किये हुए है। जाणीजै<जाणिजइ, कीजै<किज्जइ, विगतह ('हँ अपभ्रंश षष्ठी) रामहिं (राम को) जठराहँ (आहँ, षष्ठी) रषियो>राख्यो (रक्खउ) आदि रूप भाषा की प्राचीनता सूचित करते हैं तथा प्रतिबिंब>प्रतिव्यंब, उदर>उद्र उदकर्ते>उदिकथै, वंटहु>व्यदहु में शब्दों को तोड़मरोड़ कर चारण शैली की नकल भी की गई है।

कबीर की भाषा के इस संक्षिप्त विवरण के आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि पदों में अधिकांश ब्रजभाषा में लिखे गए। कबीर ने ब्रजभाषा में नहीं लिखा ऐसा प्रमाणित करने के लिए यह कहना कि 'जिस समय कबीर साहब (मृ० सं० १५७५) का आविर्भाव हुआ था उस समय ब्रजभाषा का अभी आधिपत्य नहीं जम सका था।[2] और साथ ही यह भी कहना कि ब्रजभाषा इन दिनों पिंगल कहला कर प्रसिद्ध थी और उसका क्षेत्र पूर्वी राजस्थान से लेकर ब्रजमंडल तक था परस्पर विरोधी बातें तो हो जाती है क्योंकि 'जो ब्रजभाषा पिंगल कहलाकर प्रसिद्ध थी' उसका प्रभाव-क्षेत्र गुजरात से लेकर बंगाल तक था। दूसरे यह भी कहना ठीक नहीं कि ब्रजभाषा का उन दिनों आधिपत्य या प्रभाव नहीं था क्योंकि इसका प्रमाण नामदेव से लेकर कबीर तक के सन्तों की रचनाएँ हैं जिनका बहुत बड़ा अंश ब्रजभाषा में लिखा गया। खुसरो से लेकर बैजू (१५वीं शती) तक के संगीतकारों की राग-रागिनियाँ

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५६–५७

२. परशुराम चतुर्वेदी कबीर-साहित्य की परख, पृ० २१७

इसी भाषा के बोल का सहारा लेकर व्यक्त हुआ करती थीं। प्रद्युम्नचरित, हरीचन्द पुराण और विष्णुदास के अनमोल पद इस भाषा में लिखे जा चुके थे। कबीर की भाषा के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल और डा० चाटुर्ज्या के निरीक्षण-निष्कर्ष अत्यन्त उचित मालूम होते हैं कि गीतों की स्वीकृत भाषा व्रजभाषा ही थी।

§ २१३ **रैदास**—तथाकथित नीच कही जानेवाली जाति में जन्म लेने पर भी रैदास की आत्मा अत्यन्त महान् थी। अपनी अनन्त साधना और तपःपूत भक्ति के कारण रैदास भारत के सर्वश्रेष्ठ सन्तों में प्रतिष्ठित हुए। रैदास के जीवन-वृत्त और रचना-काल की निर्णायक ऐतिहासिक सामग्री का अभाव है। उन्होंने अपने एक पद में कबीर का नाम लिया है जिससे मालूम होता है कि तब तक कबीर दिवगत हो चुके थे—

जाको जस गावै लोक।
नामदेव कहिए जाति कै ओछ ॥३॥
भगति हेत भगता के चले, अकमाल ले बीठल मिले ॥४॥
निरगुन का गुन देखो आई, देही सहित कबीर सिधाई ॥५॥
—रैदास जीकी बानी पृ० ३३

रैदास का सम्बन्ध एक ओर रामानन्द से और दूसरी ओर मीराबाई से जोडा जाता है। रैदास ने स्वय किसी पद में रामानन्द को गुरु के रूप में स्मरण नहीं किया। धन्ना भगत के एक पद में रैदास की चर्चा अवश्य मिलती है और धन्ना को रामानन्द जी का शिष्य कहा जाता है, अतः रैदास का १५वीं शती में होना अनुमानित किया जा सकता है। धन्ना ने अपने उक्त पद में छीपी का कार्य करने वाले नामदेव, जुलाहे कबीर, मृत पशुओं को ढोने वाले रैदास, नाई का काम करने वाले सेन का हवाला देते हुए कहा है कि इनकी भक्ति को देखकर मैं भी इधर आकृष्ट हुआ।[1] इस पद से लगता है कि धन्ना के पहले कबीर, रैदास आदि प्रसिद्धि पा चुके थे। श्री मेकालिफ ने धन्ना का आविर्भाव-काल १४१५ ईस्वी निश्चित किया है[2] जो कबीर के समय के पूर्व ठहरता है। कबीर का काल सवत् १४५५–१५७५ माना जाता है, ऐसी अवस्था में मेकालिफ का अनुमान उपयुक्त नहीं मालूम होता। सत्य तो यह है कि रामानन्द का इन सन्तो के साथ प्रत्यक्ष गुरु-शिष्य सम्बन्ध जोडने का जो रवाज है वही बहुत आधार-पूर्ण नहीं मालूम होता है, क्योंकि इन सन्तों की प्रामाणिक वाणियों में रामानन्द को प्रत्यक्ष गुरु के रूप में कहीं भी सम्बोधित नहीं किया गया है।

रैदास और मीरा के सम्बन्धों पर भी काफी विवाद हुआ है। मीरा के कुछ पदों में रैदास को गुरु कहा गया है, जैसे—

गुरु रैदास मिले मोहि पूरे, धुर से कलम भई
सतगुरु सैन दई जब आके जोत रली।[3]

---

१ गुरुग्रन्थ साहब, तरन तारन सस्करण, राग आसा, पद २ पृ० ४८७–८८
२ मेकालिफ, द सिख रिलीजन, भाग ५ पृ० १०६
३. सन्त बानी सग्रह भाग २, पृ० ७७

मीराबाई की पदावली के भी कुछ पदों में रैदास का नाम आता है।[1]

(१) रैदास सन्त मिले मोहि सतगुरु दीन्हा सुरत सहदानी

(२) गुरु मिलिया रैदास जी दीन्हीं ग्यान की गुटकी

एक तरफ मीरा-साहित्य के अन्तरग साक्ष्यों पर मालूम होता है कि रैदास मीरा के गुरु थे। दूसरी ओर प्रियादास सन्त रैदास के जीवन का जो चित्र अपने भक्तमाल की टीका में उपस्थित करते हैं, उसमें भी किसी झाली राणी का उल्लेख हुआ है।[2] कुछ लोग झाली रानी का मतलब मीरा ही समझते हैं।[3] मीरा के जन्मकाल के विषय मे वैसे ही विवाद है। कुछ लोग उन्हें (१४३०–१५०० संवत्) १५वीं शती का मानते हैं कुछ १६वीं १७वीं (१५५५–१६३० संवत्) का बताते है।[4] अतः रैदास और मीरा वाले प्रसगों से भी रैदास के जीवनकाल के बारे में कुछ ठीक निर्णय नहीं हो पाता। अनुमानतः हम इन्हें १५५० के पहले का ही मान सकते हैं।

रविदास ने अपने को जात का चमार या ढेढ कहा है तथा अपने को बनारस का निवासी बताया है। अपने को बार-बार चमार और नीची-जाति का कहा है।

> ऐसी मेरो जाति विख्यात चमार, हृदय राम गोविन्द गुन सार ॥१॥
> जाति भी ओछी करम भी ओछा कसब हमारा।
> नीचै से प्रभु ऊँच कीयो है कह रैदास चमारा ॥२॥
> (रैदास जी की बानी पृ० २१, ४३)

इस प्रकार से अपनी जाति और वंश के बारे में स्पष्ट उल्लेख करने वाले रैदास की आत्मा कितनी विशाल थी। उनकी रचनाओं का एक सङ्कलन रैदास जी की वाणी के नाम से बहुत पहले प्रकाशित हो चुका है।[5] गुरुग्रन्थ साहब में इनके बहुत से पद सङ्कलित हैं। श्री परशुराम चतुर्वेदी गुरुग्रन्थ साहब की रचनाओं के विषय में लिखते हैं कि 'दोनों संग्रहों (वाणी और गुरुग्रन्थ) में आई हुई रचनाओं की भाषा में कहीं-कहीं बहुत अन्तर है जो संग्रहकर्ता की अपनी भाषा के कारण भी सम्भव समझा जा सकता है।'[6] चतुर्वेदी जी का मतलब सम्भवतः लिपिकर्ता की अनुलेखन-पद्धति के प्रभाव से है तो यह स्वाभाविक दोष कहा जा सकता है, किन्तु यदि उनका मतलब भाषा-भेद से है, तो इसे स्पष्ट करना चाहिए था। मुझे रविदास की कविताओं में भाषा की वही दो पुरानी शैलियाँ रेखता और ब्रज दिखाई पडती हैं। इनके बारे में आगे विचार करेंगे।

§ २१४. रैदास की रचनाओं के सिलसिले में 'प्रह्लाद चरित्र' का भी जिक्र होना चाहिए। खोज रिपोर्ट सन् १९२९–३१ में रैदास के दो ग्रन्थों की सूचना प्रकाशित हुई है

---

१ मीराबाई की पदावली हि० सा० सम्मेलन प्रयाग, पृ० १० और पृ० १५९

२ भक्तमाल, नाभादास, पृ० ४८३–८५

३. ऐन आउटलाइन आव दी रिलीजस लिटरेचर आव इण्डिया, पृ० ३०६

४. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ५६५–५८२

५. रैदास की वाणी, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग

६. उत्तरभारत की सन्त परम्परा, पृ० २४१

'प्रहलाद लीला' और 'रैदास जी के पद'। प्रहलाद लीला में प्रहलाद के पिता की राजधानी मुलतान शहर बताई गई है। डा० बडथ्वाल ने अपनी इस रिपोर्ट में यह भी लिखा है कि इस ग्रन्थ की भाषा पर किञ्चित् पजाबी प्रभाव भी दिखाई पडता है।[1] ग्रन्थ के अन्त में कवि भगवान् की वन्दना करता है—

जहा भक्त को भीर तहा सब कारज सारे
हमसे अधम उधार किये नरकन से तारे
सुर नर मुनि मढन कहै पूरन ब्रह्म निवास
मनसा वाचा कर्मणा गावै जन रैदास

प्रहलाद के जन्म-अवसर का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है—

सहर बडो मुलतान जहां एक लाखन राजा
तहां जनमे प्रहलाद सुर नर मुनि के काजा
पूछो विप्र बुलाइ कै, जन्म्यौ राजकुमार
या लच्छण तो कोई नहीं असुर सहारण हार ॥१॥
मैं पठैरो राम को नाम ओइ जान हो आनौं
राम को मैं छाँडि तीसरो आन न जानौं
कहा पढावै बावरै और सकल जजार
भा सागर जमलोक तै मुहि कौ उतारै पार ॥२॥

हिरण्यकशिपु के वध का वर्णन इस प्रकार दिया गया है—

अस्त भयौ तब भान उदय रजनी जब कीन्हा
पवा मैं ते निकसि जांघ पर जोधा लीन्हा
नप सौ निम्भव विडारिया तिलक दिया महराज
सप्तलोक नवदण्ड में, तीन लोक भइ राज।

भाषा की दृष्टि से यह ग्रन्थ बहुत परवर्ती मालूम होता है। वर्णन और कथा भी साधारण कोटि ही की है।

§ २१५ रैदास के पद और उनकी भाषा

रैदास जी के पद जैसा ऊपर कहा गया हिन्दी की ब्रज और रेखता दोनों ही शैलियों में लिखे गये हैं। रेखता का किंचित् आभास अपनी जाति के सबंध में कहे हुए उनके पूर्व उद्धृत पद मे मिलता है। गुरु ग्रन्थ साहब में उनके चालीस के करीब पद इन दोनों शैलियों में मिल्ते हैं। रेखता वाले पदों पर भी ब्रजभाषा की छाप दिखाई पडती है। नीचे एक रेखता शैली का पद दिया जाता है—

तेरे देव कमलापति सरन आया।
मुझ जनम सदेह भ्रम छेदि माया ॥१॥

---

[1] नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४४ अक २ पृ० १२१ तथा हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज का विवरण १६२८-३१ पृ० ३१ पृ० ५१५, सं० २७६ ए०

अति अपार संसार भवसागर जामे जनम मरना सदेह भारी ।
काम भ्रम क्रोध भ्रम लोभ भ्रम मोह भ्रम अनत भ्रम छेदि मम करसि भारी ॥२॥
पंच संगी मिलि पीड़ियो प्रान यों जाय न सक्यो बैराग भागा ।
पुत्र वरग कुल बधु ते भारजा भरवै दसो दिष सिरकाल लागा ॥३॥
परम प्रकाश अविनाशी अघमोचना निरखि निज रूप विसराम पाया ।
वद रैदास वैराग पद चिंतना जपो जगदीस गोविंद रामा ॥६॥

इस पद की भाषा मूलतः खडी बोली ही है किन्तु इनमें भी जामें (सर्व० अधि०) और पीड़ियों, सक्यो आदि क्रिया रूप ब्रजभाषा प्रभाव की सूचना देते हैं किन्तु जहाँ आत्म-निवेदन आदि के पद आते हैं, वहाँ रैदास की भाषा अत्यन्त मार्मिक और शुद्ध ब्रजभाषा ही दिखाई पड़ती है। नीचे हम रैदास के तीन ब्रजभाषा-पद उद्धृत करते हैं। ये तीनों पद गुरु ग्रन्थ से हैं।

दूधु बछरै थनहु बिटारिउ फूल, बभँर भल मीनि बिगारउ ॥१॥
माई गोविंद पूजा कहा लै चर्हावउ, अवरु न फूल अनूप न पावउं ।
मैलागिरि बैरहे है भुइजगा, विपु अम्रितु वसहि इक सगा ॥२॥
धूप दीप नइवेदहिं वासा, कैसे पूज करहिं तेरो दासा ॥३॥
मनु अरपउ पूज चरावउं, गुरु परसादि निरंजन पावउ ॥४॥
पूजा अरचा आहि न तोरी, कहि रविदास कवन गति मोरी ॥५॥

आत्मनिवेदन सम्बन्धी दूसरा पद—

जउ हम बाधे मोह फांस हम प्रेम बधनि तुम बाँधे ।
अपने छूटन को जतन करहु हम छूटे तुम आराधे ॥१॥
माधवे जानत हहु जैसी तैसी, अब कहा करहुगे ऐसी ।
मीन पकरि फांकिउ अरु काटिउ, राधि कीउ बहुबानी ।
षड षंड करि भोजन कीनो, तउ न बिसारिउ पानी ॥२॥
आपन बापै नाहि किसी को भावन को हरि राजा ।
मोहु पटलु सब जगत बियापिउ भगत नहीं संतापा ॥३॥
कहि रविदास भगति इक बाढ़ी अब इह का सिउ कहिअै ।
जा कारनि हम तुम आराधे, सो दुप अजहूँ सहिअै ॥४॥

दैन्यभाव का चित्रण करनेवाला तीसरा पद—

नाथ कछूअ न जानउँ मनु माइया कै हाथि बिकानउ,
तुम कहीयत हैं जगतगुर सुआमी, हम कहीअत कलिजुग के कामी ।
इन पंचन मेरो मन जु बिगारिउ, पल पल हरि जी ते अन्तर पारिउ ॥२॥
जत देषउ तत दुप की रासी, अजैं न पत्याइ निगम भए साखी ॥३॥
गोतम नारि उमापति स्वामी, सीसु धरनि सहस भगगामी ॥४॥
इन दूतन पनु बधु करि मारिउ, बड़ो निलाज अजहूं नहि हारिउ ॥५॥
कहि रविदास कहा कैसे कीजै, बिनु रघुनाथ सरन काकी लीजै ॥६॥

गुरु ग्रन्थ की कृपा से इन पदों की भाषा बहुत कुछ अपनी प्राचीनता सुरक्षित किये है। रविदास की भाषा वस्तुतः कबीर की अपेक्षा कहीं ज्यादा परिनिष्ठित और शुद्ध मालूम होती है। इस भाषा में पुराने तत्त्व भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। शब्दों के उकारान्त रूप, विदारिउ > विदार्यौ, बिगारिउ > बिगार्यौ, चरावउ > चरावौ, पावउँ > पावौं, फाकिउ > फाक्यौं, काट्उि > काट्यौ, बिसारिउ > बिसार्यौ, बियापिउ > ब्याप्यौ आदि भूतनिष्ठा के रूपों में उद्‌वृत्तस्वर सुरक्षित हैं जहाँ नहीं हैं वहाँ इ + उ के रूप दिखाई पड़ते जिनसे ब्रज का यो रूप बनता है पुकारयो, कह्यो आदि। विभक्ति, परसर्ग क्रिया सभी में भाषा रूप हैं। रविदास की भाषा १५ शती की ब्रजभाषा का आदर्श-रूप है।

§ २१६. **पीपा**—रामानन्द जी के शिष्यों में पीपा की भी गणना की जाती है, किन्तु इस सम्बन्ध की पुष्टि का कोई प्रामाणिक आधार प्राप्त नहीं होता। श्री फर्कुहर ने पीपा का जन्म-काल सवत् १४८२ (सन् १४२५ ई०) बताया है।[1] ये गजनौरगढ के राजा थे। श्री कनिंघम ने गजनौर गढ की राजवशावली के आधार पर इनका जन्मकाल १३६० ईस्वी और १३८५ ई० के बीच अनुमानित किया है।[2]

पीपा जी अपनी पत्नी राजरानी सीता के साथ कृष्ण-दर्शन की आकांक्षा से घर से निकलकर इधर-उधर बहुत काल तक घूमते रहे, बाद में द्वारिका जाकर वहीं बस गए। इनकी प्रशसा में नाभादास ने भक्तमाल में जो छप्पय दिया है उसमें इनके जीवन की कुछ चमत्कारिक घटनाओं का उल्लेख मिलता है।

प्रथम भवानी भक्त मुक्ति माँगन को धायौ।
सत्य कह्यौ तेहि शक्ति सुहृद हरिशरण बतायौ॥
श्री रामानन्द पद पाइ भयो अतिभक्त की सींवाँ।
गुण असख्य निर्मोल सन्त धरि राखत ग्रीवा॥
परस प्रणाली सरस भई, सकल विश्व मगल कीयौ।
पीपा प्रताप जग वासना नाहर को उपदेश दियौ॥

—भक्तमाल पृ० ४७५

पीपा की रचनाओं का कोई सकलन प्राप्त नहीं होता। पीपा जी की बानी नामक कोई सकलन निकला भी था, जो प्राप्त नहीं होता। गुरुग्रन्थ में पीपा का केवल एक पद प्राप्त होता है।

कायउ देवा काइअउ देवल काइयउ जंगम जाती।
काइअउ धूप दीप नइवेदा काइअउ पूजा पांती॥१॥
काइया बहु खड खोजते नवनिधि पाई।
ना कुछ आइओ ना कुछ जाइयवो राम की दुहाई।
जो ब्रह्मांडे सोई पिंडे जो खोजै सो पावै।
पीपा प्रणवे परम ततु है सतगुरु होइ लखावै॥२॥

पीपा के पद की भाषा ब्रज ही है।

---

१ एन आउट लाइन आव रिलीजस लिटरेचर आव इंडिया, पृ० ३२२
२ आर्कोलाजिकल सर्वे, भाग २ पृ० २६५–६७ तथा भाग २ पृ० १११

§ २१७ धन्ना भगत—धन्ना जाति के जाट और राजपूताना के निवासी थे। अपने एक पद में उन्होंने अपने को जाट कहा है और कबीर, नामदेव, सेन, आदि नीच जातियो में उत्पन्न लोगों की भक्ति से आकृष्ट होकर स्वयं भक्त हो जाने की बात लिखी है।

इहि विधि सुनके जाटरो उठि भगती लागा
मिले प्रतपि गुसाइयां धनां वड भागा

श्री मेकालिफ ने इनका जन्मकाल सन् १४१५ ईस्वी अर्थात् सवत् १४७२ अनुमानित किया है।[1] मेकालिफ का यह अनुमान मुख्यतः धन्ना और रामानन्द के शिष्य-गुरु-सम्बन्ध की जनश्रुति पर ही आधारित है। नाभादास ने भक्तमाल मे धन्ना के बारे में एक छप्पय लिखा है। नाभादास ने इस छप्पय में लिखा है कि खेत में बोने का बीज धन्ना ने भक्तों को बाँट दिया और माता-पिता के डर से झूठे हराई खींचते रहे, किन्तु उनकी भक्ति के प्रताप से बिना बीज बोये ही अंकुर उदित हो गए। धन्ना के हृदय में अचानक उत्पन्न होनेवाली भक्ति के लिए इससे सुन्दर कथोपमा और क्या हो सकती है।

घर आए हरिदास तिनहिं गोधूम खवाए।
तात मात डर खेत थोथ लागलहि चलाए॥
आसपास कृषकार खेत की करत बड़ाई।
भक्त भजे की रीति प्रकट परतीति जु पाई॥
अचरज मानत जगत में कहुँ निपज्यो कहुँ वै बयो।
धन्य धना के भजन को बिनहिं बीज अंकुर भयो॥

—भक्तमाल, पृ० ५०४

धना के कुल चार पद गुरुग्रन्थ साहब मे मिलते हैं। इन पदो की भाषा पर खड़ी बोली और राजस्थानी का घोर प्रभाव दिखाई पडता है। नीचे एक पद दिया जाता है जो गुरु-ग्रन्थ साहब में आसा राग में दिया हुआ है।[2]

रे चित चेतसि की न दयाल दमोदर बिबहित जानसि कोई।
जे धावहिं पंड ब्रहिमंड कउ करता करै सु कोई॥ रहाउ॥
जननि केरे उदर उदक महि पिंडु कीया दस दुआरा।
देइ अहारु अगिनि महि रापै ऐसा पसमु हमारा॥१॥
कुंभी जल माहि तन तिसु वाहरि पंप भीरु तिन्ह नाहीं।
पूरन परमानन्द मनोहर समझि देपु मन माही॥२॥
पापणि कीटु गुपतु होइ रहता ताको मारत नाही।
कहे धना पूरन ताहू को मत रे जीअ डराहीं॥३॥

§ २१८ नानक—नानक का रचनाकाल हमारी निश्चित काल-सोमा के अन्तर्गत आता है। इसका जन्म संवत् १५२६ में लाहौर से ३० मील दूर तलवडी नामक ग्राम में

---

१. मेकालिफ–दि सिख रिलीजन भाग ५ पृ० १०६
२. राग आसा पद १ और ३ पृ० ४८७, राग आसा पद २ पृ० ४८८, धनासरी पद १ पृ० ६९५

हुआ। जन्म और जीवन सम्बन्धी जो भी सामग्री प्राप्त होती है, वह धार्मिक अन्धविश्वासों और पौराणिक रूढ़ियों से इतनी रगी हुई है कि उसमें से सही तथ्य निकाल सकना सहसा कठिन होता है। एम० ए० मेकालिफ ने एक जन्म-साखी के अनुसार इनका जीवन-वृत्त प्रस्तुत किया है।[1] इस साखी में भी पौराणिकता का रग गाढ़ा है। श्री जे० डब्ल्यू० यगसन को अमृतसर में एक जन्मसाखी मिली थी जिसमें नानक को जनक का अवतार बताया गया है।[2] इन सूत्रों के आधार पर नानक का जन्म १५२६ सवत् बताया गया है, इस तरह वे सूरदास से उम्र में कोई १५ वर्ष बड़े थे। इनका देहावसान सवत् १५६५ विक्रमी यानी सूर की मृत्यु से ४७ वर्ष पहले ही करतारपुर में हुआ।

नानक की रचनाओं का विस्तृत संकलन गुरुग्रन्थ में मिलता है। इनकी रचनाओं में जपुजी और 'असा दी वार' अत्यन्त प्रसिद्ध हैं जो सिखों के लिए पवित्र मत्रों की तरह पूज्य हैं। नानक की अन्य रचनाएँ जो पदों और साखियों के रूप में प्राप्त होती हैं, गुरु ग्रन्थ में 'महला एक' के अन्तर्गत सकलित हैं।

इन रचनाओं की भाषा, या तो पजाबी मिश्रित खड़ी बोली अथवा ब्रजभाषा है। आचार्य शुक्ल लिखते हैं कि 'ये भजन कुछ तो पंजाबी भाषा में हैं और कुछ देश की सामान्य काव्य भाषा हिन्दी में। यह हिन्दी कहीं देश की काव्य भाषा या ब्रजभाषा है कहीं खड़ी बोली जिसमें इधर उधर पजाबी के रूप आ गये हैं: जैसे चल्या, रह्या।'[4] शुक्ल जी ने नानक की भाषा पर जो निर्णय दिया है वह बहुत कुछ ठीक है। शुक्ल जी ने नानक के कुछ भजनों की भाषा पजाबी बताई है, पर इस प्रकार शुद्ध पजाबी में लिखे भजन नहीं मिलते। इसका मूल कारण है पजाब की भाषा-स्थिति। पजाबी बहुत बाद में साहित्य का माध्यम हुई है इसके पहले खड़ी बोली और ब्रजभाषा में ही साहित्य लिखा गया है। नानक पर लिखी जन्मसाखी सम्भवत पजाबी की प्रारम्भिक रचना मानी जाती है। गुरु अगद ने (ईसवी सन् १५३८–५२) गुरुमुखी लिपि का निर्माण किया और पंजाबी बोली के साहित्य को मान्यता दी। नानक के लिखे पजाबी पद यदि मिलते भी हैं तो उन्हें परवर्ती और प्रक्षिप्त ही मानना चाहिए। गुरु ग्रन्थ की अधिकाश रचनाएँ, गुरुमुखी लिपिमें होने पर भी, पुरानी हिन्दी की ही हैं।[5] ब्रजभाषा के प्रयोग में नानक ने आश्चर्यजनक सावधानी बरती है, फलस्वरूप ब्रजभाषा के पदों में मिश्रण अत्यन्त अल्प दिखाई पड़ता है। नानक ने रेखता शैली में भी रचनाएँ कीं। पर उनकी अत्यन्त मार्मिक और भावपूर्ण रचनाएँ ब्रजभाषा में ही दिखाई पड़ती हैं। नीचे नानक के दो ब्रजभाषा-पद उद्धृत किये जाते हैं।

काची गागर देह दुहेली उपजै विनुसै दुखु पाई
इहु जगु सागर दुतरु किउ तरीजै बिनु हरिगुर पार न पाई ॥१॥

---

१ दी सिख रिलीजन, इन्ट्रोडक्सन पृ० ७६।

२. इनसाइक्लोपीडिया आव रिलीजन ऐण्ड एथिक्स भाग ६, पृ० १८१।

३ बाबा सी० सिंह, दी टेन गुरुज़् ऐण्ड देयर टीचिंग्स्।

४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, काशी सवत् २००७ पृ० ८४।

५ जार्ज ग्रियर्सन, आन दी माडर्न इन्डो-आर्यन वर्नाक्यूलर्स § १०

मुझ विनु अवर न कोउ मेरे पियारे तुझ विनु अवर न कोई हरे
सखी रगी रूप तू है तिसु वरवसै जिसु नदिर करे
सासु बुरी घर वासुन देवै पिउ सिउं मिलन न देइ बुरी
सखी साजनी के हउं चरन सरेवउ, हरि गुरु किरपा तें नदिर धरी ॥२॥
आप विचारि मारि मनु देखियां तुम सौ मीत न अवरु कोई।
जिवं तू राखहिं तिवं ही रहणा सुखु दुप देवहि करहि सोई ॥३॥
आसा मनसा दोउ विनासा त्रिहु गुण आस निराम भई
तुरिआ वसथा गुरु मुपि पाइऐ संत सभा की उतलही ॥४॥
गियान ध्यान सगले सुभि जप तप जिसु हरि हिरदै अलख अभेवा।
नानक राम नाम मनु राता गुर मति पाये सहज सेवा ॥५॥
जो नर दुप में दुष नहि मानै।
सुख सनेह अरु भय नहि जाके कञ्चन माटी जानै॥
नहिं निन्दा नहिं अस्तुति जाके लोभ मोह अभिमाना।
हरप सोक ते रहै नियारौ नाहि मान अपमाना॥
आसा मनसा सक्त त्यागि कै जग तें रहै निरासा।
काम क्रोध जेहि परसै नाहिन तेहि घट ब्रह्म निवासा॥
गुरु कृपा जेहि नर पर कीन्हीं तिन्ह यह जुगति पिछानी।
नानक लीन भयो गोविंद सो ज्यों पानी सग पानी॥

ऊपर का पद मूलत. ब्रज का है जैसा कि हउँ (सर्वनाम) सिउँ, सउँ, कउ, तैं (परसर्ग) सरेवउँ>सरेवौं क्रिया, जिव>जिमि, तिव>तिमि (अव्यय) आदि से प्रकट है, किन्तु इस पद पर यत्र-तत्र खडी बोली की भी छाप अवश्य है, मिलिया, राता, देषिया, रहणा, आदि आकारान्त क्रियापद इसकी सूचना देते हैं। किन्तु दूसरा पद एकदम शुद्ध ब्रज का है और सूर के किसी भी पद से तुलनीय हो सकता है।

गुरु ग्रन्थ में नानक की कुछ साखियाँ भी संकलित हैं। दोहों की भाषा पर पजाबी की छाप अवश्य है, किन्तु दोहे ब्रज के ही हैं। क्रिया कहीं-कहीं आकारान्त अवश्य हैं।

सभ काउ निवै आप कउ पर कउ निवै न कोइ।
मरि तराजू तौलिये निवै सो गउरा होइ ॥१॥

जिनी न पाइउ प्रेम रसु कंत न पाइउ साउ।
सूने घर का पाहुना जिउ आइया तिउ जाउ ॥२॥
धनवता इन ही कहै अवरी धन कउ आउ।
नानक निरधन तितु दिन जितु दिन विसरै नाउ ॥३॥

जिनकै परै धनु वसै तिनको नाउँ फकीर।
जिनकै हिरदै तू वसै तै नर गुणी गहीर ॥४॥

वेदु बुलाइया वैदगी पकड़ि ढढोले बांह।
भोला वैद न जाणई करक कलेजै मांह ॥५॥

गुरु ग्रन्थ साहब में सकलित इन सतों की रचनाओ के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट पता चलता है कि भावपूर्ण पदों के लिए इन्होंने सर्वत्र ब्रजभाषा का ही आश्रय लिया है। ब्रजभाषा के ये पद इस शैली की पूर्णता तो व्यक्त करते ही हैं, साथ ही साथ इस बात के भी सबूत हैं कि १४वीं शती के नामदेव से १६वीं के नानक तक पदों की भाषा ब्रज ही रही है। ब्रजभाषा बहुत पहले से काव्य-भाषा के रूप में महाराष्ट्र, पजाब, काशी, तक स्वीकृत और सर्वमान्य रही है। सूरदास के पदों की सुव्यवस्थित और पुष्ट भाषा आकस्मिक नहीं बल्कि इसी पद-शैली की ब्रजभाषा का अग्रसरीभूत रूप है।

अन्य कवि

हरिदास निरंजनी

§ २१९ हरिदास निरजनी के जन्म-काल आदि के विषय में अब तक कोई सुनिश्चित निर्णय नहीं हो सका है। ये निरंजन सप्रदाय के आदि गुरु प्रतीत होते है। निरंजन सप्रदाय के धार्मिक परपराओं और सैद्धान्तिक मान्यताओं का निरीक्षण करने पर पता चलता है कि यह संप्रदाय नाथ सप्रदाय से प्रभावित था। इस सप्रदाय के अवशिष्ट रूपों की मीमामा करते हुए श्री क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि उडीसा ही संभवतः इस सप्रदाय की जन्मभूमि था, और वहीं से यह सप्रदाय बगाल आदि में, प्रसारित हुआ होगा।[1] उडीसा में फैले हुए इस संप्रदाय से उत्तर भारत खास तौर से पश्चिमी प्रदेशों में फैले हुए निरंजनी सप्रदाय का क्या संबन्ध है, यह बताना कठिन है। पश्चिमी भारत में फैली हुई निरजनी परपरा का कुछ परिचय दादू पथी राघोदास के भक्तमाल से (१७७० सवत्) मिलता है। इस ग्रथ में बारह निरजनी महन्तों का वर्णन दिया हुआ है जिनमें हरिदास, तुरसीदास, खेमजी, कान्हड़दास और मोहन-दास आदि समिलित किए गए हैं। राघोदास निरजनी संप्रदाय का आदि प्रवर्तक निरंजन भगवान् को बताते हैं, यही नहीं उन्होंने कबीर, नानक, दादू, जगन रात्रो ' के चार निर्गुण सप्रदायों को भी निरंजन से प्रेरित बताया।

रामानुज की पधित चली लषमीं सूँ आई।
विष्णुस्वामि को पधित सुतौ सकर ते आई॥
मधवाचार्य पधित ज्ञॉन ब्रह्मा सुविचारा।
नींबादित की पधित च्यारि सनकादि कुमारा।

---

१. मिडिवल मिस्टिसिज्म आव इण्डिया, पृ० ७०

च्यारि सम्प्रदा की पधित अवतारन सूँ ह्वै चली ।
इन च्यारि महत नृगुनीन की पद्धति निरजन सूँ चली ।। (३४३)[1]

इस प्रकार राघोदास के मत से निर्गुन सम्प्रदाय के आदि गुरु निरजन इन सम्प्रदायों के पहले विद्यमान थे। एक ओर यह सम्प्रदाय नाथ सम्प्रदाय से सम्बद्ध बताया जाता है दूसरी ओर निर्गुण सम्प्रदायों का पूर्ववर्ती माना जाता है, इसी को लक्ष्य करके डा० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल ने लिखा है कि यह निरजन सम्प्रदाय नाथ संप्रदाय और निर्गुन सप्रदाय के बीच की कडी मालूम होता है।[2] किन्तु डा० बडथ्वाल के इस अनुमान को पुष्ट करने वाले प्रमाणों का अभी अभाव है। हरिदास निरजनी के विषय में स्व० पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने लिखा है कि ये हरिदास जी प्रथम प्रयागदास जी के शिष्य हुए, फिर दादू जी के। फिर कबीर और गोरख पंथ में हो गए, फिर अपना निराला पथ चलाया।[3] इस प्रकार पुरोहित जी के मत से हरिदास दादू के बाद हुए। श्री परशुराम चतुर्वेदी हरिदास का काल १७०० के आस पास तक मानते हैं।[4] दादू पंथ के प्रसिद्ध कवि सत सुन्दरदास ने हरिदास का उल्लेख किया है[5]।

कोउक गोरष कूँ गुरु थापत कोउक दत्त दिगम्बर आदू ।
कोउक कथर कोउक भर्थर, कोउ कबीरा के राखत नादू ॥
कोउ कहै हरदास हमार जूँ यू करि गनत वाद विवादू ।
और सुसन्त सबै सिर ऊपर सुन्दर कै उर हैं गुरु दादू ॥
(सुन्दरविलास १-४)

सुन्दरदास के उल्लेख से ऐसा लगता है कि हरिदास की गणना गोरखनाथ, ककडनाथ, कबीर आदि की तरह बडे गुरुओं में होती थी। सुन्दरदास जी यद्यपि दादू को अपना गुरु स्वीकार करते हैं किन्तु उन्होंने बडे आदर के साथ यह भी स्वीकार किया है कि लोग हरिदास को गुरु मानने के लिए वादविवाद करते थे। लगता है कि यह झगडा ऐसे संप्रदाय का था जिसमें हरिदास गुरु माने जाते थे किन्तु बाद में दादू के आविर्भाव के बाद दो प्रकार के मत हो गए। कुछ हरिदास को 'अपना गुरु' कहते रहे कुछ दादू को गुरु मानना चाहते थे। सुन्दरदास के इस उल्लेख से स्पष्ट है कि हरिदास दादू के पहले हुए थे और उनका एक सुव्यवस्थित सप्रदाय था। उन्हें गुरु मानने वालों की संख्या भी थोडी न थी। इस विषय में दादू विद्यालय जयपुर के स्वामी मगलदास जी से मेरी बातचीत हुई थी। उन्होंने भी स्वीकार किया कि दादू और निरञ्जन सम्प्रदायों मे कभी ऐक्य था। श्री मगलदास स्वामी के पास सम्पत राम (नागौर) के पास सुरक्षित किसी हरिराम दास द्वारा लिखित हरिदास जी की परचई के कुछ उद्धृत अश सुरक्षित हैं, उसमें हरिदास जी के बारे में यह उल्लेख मिलता है।

---

१ श्री परशुराम चतुर्वेदी की उत्तरी भारत की सन्त परम्परा में हस्तलेख से उद्धृत, पृ० ४६२
२ निर्गुन स्कूल आफ हिन्दी पोयट्री, प्रीफेस, पृ० २-३
३ सुन्दर ग्रन्थावली, प्रथम खड, जीवन चरित्र, पृ० ६२
४. उत्तरी भारत की सत परपरा, पृ० ४७०
५. डा० पीताम्बर दत्त बड्थ्वाल सपादित सुन्दर विलास से

पन्द्रसे वारोत्तरे फागुन सुदि छठसार
वैराग्य ज्ञान भगति कू लीयौ हरि अवतार
पन्द्रह सै का वारह गयो हरि धारयो अवतार
ज्ञान भक्ति वैराग्य से आप कियो भवपार
पन्द्रह सै छप्पन समैं वसन्त पञ्चमी जान
तब हरि गोरष रूप धरि आप दियो ब्रह्म ज्ञान
सोलह सौ को छट्टि सुदि फागुण मास
परम धाम भै प्रापती नगर डींड हरिदास

इस उल्लेख के मुताबिक हरिदास का काल १५१२-१६०० सवत् मालूम पडता है जो सुन्दरदास के उल्लेख से जिनमें हरिदास को दादू का पूर्ववर्ती बताया गया है, मेल खाता है। मंगलदास जी के पास एक हस्तलिखित गुटके में तिथिकाल सम्बन्धी एक दूसरा उल्लेख मिलता है, यह गुटका बहुत परवर्ती मालूम होता है, इसे किसी पूर्णदास ने नवलगढ़ में लिखा था।

चवदेसे चोहतरे जन्म लियो हरिदास
सांखल से घर अवतरे छतरी वश निवास
छतरी वश निवास तेज सो सुरति विराजे
छतरि भेय सो सूरमाय को दूध न लाजै
मिलियो गोरष रूप हरि दियो ज्ञान परकास
चवदह सै चोहोत्तरे जन्म लियो हरिदास

पन्दरसौ पिचाणवे कियो जोति में वास
फागुन सुदि की छट्ट को परम जोति परकास

इसी से मिलता जुलता दूसरा उल्लेख मंत्रराज प्रभाकर ग्रन्थ के १३ वें उल्लास में इस प्रकार आता है :

चवदाशत संवत् सतचार, प्रकटे सुदेस सुरधर मझार।
पचासौं पञ्चानवे शुद फागुण छठि जाण।
विंशा सो वपुराखि कै पहुँचे पद निर्वाण॥

इन सभी उल्लेखो में हरिदास का काल १५वीं १६वीं विक्रमी के बीच पड़ता है। नीचे के दोनों उल्लेखों में तो १४७५-१५६५ सवत् पर मतैक्य भी दिखाई पडता है। इन उल्लेखों में व्यक्त रचनाकाल को देखते हुए श्री जगद्धर शर्मा गुलेरी का मत भी उपयुक्त ही मालूम होता है। श्री गुलेरी हरिदास का रचनाकाल १५२० और १५४० ईस्वी (अर्थात् १५७७-१५६७ विक्रमी) मानते हैं।[1] इन प्रसगों के आधार पर यह कहना शायद अनुचित न होगा कि हरिदास निरञ्जनी विक्रमी १६०० के पहले अवश्य विद्यमान थे।

---

१. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, सवत् १९९७ वर्ष ४५, पृ० ७७

हरिदास की रचनाएँ

§ २२०. हरिदास की रचनायें पूर्णतः प्रकाश में नहीं आई हैं। उनकी कुछ रचनाओं का संकलन 'हरि पुरुष की वाणी' नाम से साधु सेवा दास ने जोधपुर से प्रकाशित कराया है, इसमें हरिदास के पद संकलित किए गए हैं, श्री जगद्धर शर्मा गुलेरी ने हरिदास की रचनाओं की एक सूची प्रस्तुत की है :

(१) अष्टपदी जोग ग्रन्थ
(२) ब्रह्मस्तुति
(३) हरिदास ग्रन्थमाला
(४) हस प्रबोध ग्रन्थ
(५) निरपख मूल ग्रन्थ
(६) राजगुड
(७) पूजा जोग ग्रन्थ
(८) समाधि जोग ग्रथ
(९) सग्राम जोग ग्रथ

इन ग्रथों के अलावा कुछ साखियाँ और पद भी प्राप्त होते हैं। हरिदास का व्यक्तित्व वहुत ही आकर्षक और चमत्कारिक था। हरिदास निराश, इच्छाहीन तथा निरतर परमात्मा में लीन रहने वाले व्यक्ति थे। हरिपुरुष जी की वाणी में हरिदास का जो जीवनवृत्त दिया हुआ है, उससे प्रतीत होता है कि ४८ वर्ष की अवस्था में भयकर दुर्भिक्ष के दिनों में ये जंगल में चले गए और वहाँ दस्यु-वृत्ति करके जीवन निर्वाह करने लगे। इसी बीच भगवान् निरजन ने गोरख रूप में इन्हें मत्र दीक्षा दी और अमृत डूँगरी पर कई दिनों तक निराहार रह कर इन्होंने तपश्चर्या की। सुन्दरदास ने हरिदास को असत् और अज्ञान के विरुद्ध युद्ध करने वाले योद्धा के रूप से याद किया है।

अगद चुवन परस हरदास उपान गह्यो हथियार रे।
(सुन्दर विलास, पृ० ५७०)

हरिदास का एक पद नीचे उद्धृत किया जाता है।

रामा असाडा (हमारा) साई हो
राखो ओट चोट क्यों लागे समुझि परै कछु नाही हो॥
पाच पचीस सदा सग पैलै आवर करै अघाई हो।
तुम अटक्यौ तौ वहुड़ि न व्यापी हम वल कछु न वसाई हो॥
तारण तिरण परम सुख दाता यह दुप कासों कहिए हो।
करम विपाक विघन होइ लागा तुम रापो तो रहिये हो॥
समुद अथाह अगम करुनामय गोढि करै नित गाजै हो।
तामे मच्छ काल सा पैले भक्ति डुरै सो खाजै हो॥
चे भवरूप अनिल मोहि जारै अधकूप में घेरा हो।
जन हरिदास को आम न दूजा राम भरोसा तेरा हो॥

भाषा पर कहीं कहीं राजस्थानी प्रभाव भी दिखाई पडता है। सत-शैली के रूढ़ प्रयोगों के बावजूद, जो प्रायः कई भाषाओं से गृहित हुए हैं, इनकी भाषा पुष्ट ब्रजभाषा कही जा सकती है। हरिदास के विचार अत्यत सहज और भावमय है अतः भाषा बडी ही साफ और व्यजनापूर्ण है।

निम्बार्क संप्रदाय के कवि

§ २२१. वैष्णव सप्रदायों में निम्बार्क संप्रदाय काफी प्रतिष्ठित और पुराना माना जाता है। निम्बार्क के जन्म-काल आदि के विषय में कोई सुनिश्चित धारणा नहीं है। सप्रदायी भक्त लोग निम्बार्काचार्य के आविर्भाव का काल आज से पाच हजार वर्ष पूर्व मानते हैं। उनके मत से २०१३ वा विक्रमी वर्ष निम्बार्क का ५०५१ वा वर्ष है। ऐतिहासिक रीति पर विचार करने पर हम इस संप्रदाय का आरंभ १२वीं से पूर्व नहीं मान सकते। १२वीं शती में निम्बार्क का का जन्म आन्ध्र प्रदेश में हुआ था। उन्होंने द्वैताद्वैत के सिद्धान्त पर आधारित वैष्णव भक्ति का प्रतिपादन किया, वे बाद में वृन्दावन में आकर रहने भी लगे थे। अन्य वैष्णव सप्रदायों की तरह इस सप्रदाय के भक्तों ने भी भक्ति-साहित्य का निर्माण किया। श्रीभट्ट इस सप्रदाय के आदि ब्रजभाषा-कवि माने जाते हैं। श्रीभट्ट, हरिव्यासदेवाचार्य, परशुरामाचार्य ये तीन इस सप्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य और गुरु-शिष्य परपरा से क्रमिक उत्तराधिकारी के रूप में संबद्ध माने जाते हैं। इन तीनों ही आचार्य-कवियों के जीवन वृत्त का यथातथ्य पता नहीं लग पाया है। श्रीभट्ट का परिचय देते हुए शुक्ल जी लिखते हैं 'इनका जन्म संवत् १५९५ में अनुमान किया जाता है अतः इनका कविता-काल सवत् १६२५ या इससे कुछ आगे तक माना जाता है। युगल शतक के अतिरिक्त इनकी एक छोटी-सी रचना आदि बानी भी मिलती है।'[1] शुक्ल जी ने जन्म-काल को जिस तरह अनुमान रूप में १५९५ विक्रमी बताया वैसे ही 'युगल शत' के साथ ही 'आदि बानी' का भी अनुमान कर लिया। आदिबानी और युगलशतक दोनों एक ही चीजें हैं। ब्रजभाषा की निम्बार्क सम्प्रदाय-गत पहली रचना होनेके कारण यह आदिबानी कहलाई। शुक्ल जी ने हरिव्यासदेवाचार्य और परशुराम के बारे में कुछ नहीं लिखा। डा० दीनदयाल गुप्त ने अष्टछाप से पहले हिन्दी में कृष्ण-भक्ति काव्य की परम्परा का सन्धान करते हुए ब्रह्मचारी बिहारीशरण की 'निम्बार्कमाधुरी' में उपर्युक्त कवियों पर लिखे हुए जीवन-वृत्त को अप्रामाणिक बताया है।[2] बिहारीशरण जी ने श्रीभट्ट का समय १३५२ विक्रमी और उनके शिष्य हरिव्यास जी का १३२० विक्रमी दिया था। डा० गुप्त लिखते हैं 'वस्तुतः ब्रह्मचारी जी ने इन दोनों भक्तों की विद्यमानता का संवत् गलत दिया है। निम्बार्क सप्रदायी तथा युगल शतक के रचयिता श्रीभट्ट केशव कश्मीरी के शिष्य माने जाते हैं। इनका (श्रीभट्ट का) रचना काल संवत् १६१० विक्रमी है। श्री हरिव्यास देव का रचना काल भी सूरदास के समय का ही है। वैसे निम्बार्क सप्रदायी हरिव्यास देव जी आयु में सूर से बड़े थे।[3] डा० गुप्त ने अपनी स्थापना के मण्डन के लिए कोई आधार

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संवत् २००७, काशी, पृ० १८८

२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, प्रयाग, २००४ विक्रमी, पृ० २५

३. वही, पृ० २५

नहीं प्रस्तुत किया। केशव कश्मीरी का काल भी अब तक अनिर्णीत ही है। फिर किस आधार पर श्रीभट्ट का काल १६१० विक्रमी माना जाये। सूरदास से हरिव्यास देव को उम्र में बड़ा बताने का भी कोई आधार नहीं रखा गया। वैसे विद्वान् लेखक ने सूर से श्री हरिव्यास को उमर में बड़ा बताकर कुछ तो गुंजायश रखी ही है। शुक्ल जी की तरह श्रीभट्ट को एकदम परवर्ती नहीं करार दिया। श्रीभट्ट और उनके शिष्यानुशिष्य परशुराम के रचना-काल का निर्णय करने के लिए कोई अन्तर्साक्ष्य नहीं मिलता। युगलशतक में रचनाकाल के विषय में एक दोहा दिया हुआ है।

२ ५ ३ १
नयन बाण पुनि राम शशि गनौ अंक गति बाम।
प्रगट भयो श्री युगलशत यह संवत अभिराम॥

इस दोहे को उद्धृत करके सर्च रिपोर्ट के निरीक्षक ने यह टिप्पणी दी है: लिपि की एक मामूली गलती से यह उलझन पैदा हो गई। पहली पंक्ति में राग, के स्थान पर राम लिखा गया, राग की संख्या छः होती है इस तरह १६५२ संवत् बदलकर १३५२ हो गया। यह तिथि १९०६-८ की रिपोर्ट में दी हुई है, यही तिथि है जब श्रीभट्ट उत्पन्न हुए।[1] निरीक्षक ने यह बात बताने की कोई जरूरत नहीं समझी कि राग का राम क्यों और कैसे हुआ। केवल ग और म का सादृश्य ही इस गलती का कारण माना जाये या कोई और कारण भी है। सर्च रिपोर्ट १९०६–८ के निरीक्षक डा० श्यामसुन्दरदास ने इस कवि के विषय में कुछ विशेष नहीं लिखा। विवरण में इतना दिया हुआ है: श्री भट्ट (यफ आई १५४४ ए० डी) युगल शतक की तीन प्रतियाँ मिलती हैं जिनका समय क्रमशः १८७१, १७८६ और १८२० ईस्वी है।[2]

§ २२२. निम्बार्क सम्प्रदाय के लोग श्रीभट्ट का समय १३५२ विक्रमी ही मानते हैं और इसी समय को सही मानकर पोद्दार ग्रन्थावली के सम्पादकों ने श्रीभट्ट, हरिव्यास देव और परशुराम की कुछ कविताएँ 'पाँच प्राचीन पद' शीर्षक से संकलित की हैं जहाँ श्रीभट्ट १३५२ विक्रमी, हरिव्यास १३२० विक्रमी और परशुराम १४५० विक्रमी के बताये गये हैं।[3] एक ओर जहाँ सर्च रिपोर्ट के निरीक्षक राग को राम का स्थानापन्न बताकर श्रीभट्ट के काल को १६५२ करने के पक्ष में हैं वहाँ सम्प्रदायी भक्त उन्हें १३५२ के नीचे उतारने को तैयार नहीं ऐसी अवस्था में उस दोहे का सहारा छोड़कर कुछ अन्य आधारों पर विचार करने की आवश्यकता है। श्री नाभादास के भक्तमाल में परशुराम के विषय में निम्नलिखित छप्पय मिलता है।

ज्यों चन्दन को पवन निंब पुनि चन्दन करई
बहुत काल तम निविड़ उदै दीपक ज्यों हरई
श्रीभट मुनि हरिव्यास सन्त मारग अनुसरई
कथा कीरतन नेम रसन हरिगुन उच्चरई

---

१. सर्च रिपोर्ट, १९२३–२५, पृ० १३२
२. सर्च रिपोर्ट, १९०६–८, पृ० ८८
३. पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ८४

गोविंद भक्ति गद रोग गति तिलक दास सद वैद हद
जगली देस के लोग सब परशुराम किय पारषद

नाभादास के इस छप्पय मे श्रीभट्ट के बाद हरिव्यास और परशुराम को क्रमशः शिष्य परम्परा में स्थापित किया गया है। परशुराम के विषय में नाभादास ने एक ऐतिहासिक तथ्य का उद्घाटन भी किया है। परशुराम ने 'जंगली देस' के लोगों को वैष्णव बनाया। यह 'जगली देस के लोग' पद कुछ उलझा हुआ प्रतीत होता है। 'जंगली' शब्द लोगों के असभ्य, बर्बर और असंस्कृत होने का आभास तो देता ही है किन्तु मूलतः यह देशभेद सूचित करता है जागल देश राजस्थान के एक हिस्से का नाम था। सभवत. दिल्ली-मेरठ के क्षेत्र के, जिसे कुरुदेश कहते थे, दक्षिणी भाग को जागल कहते थे। कुरु के पूरब का देश पाचाल या इसी से 'कुरुपाञ्चाल' और 'कुरुजागल' दोनों पदों का उल्लेख मिलता है। वैसे जागल किसी भी ऐसे हिस्से को कहा जाता था जो अल्पोदक, तृणहीन, सूखा देश हो तथा जहाँ हवा और गर्मी तेज रहती हो। भावप्रकाश में जागल देश का परिचय देते हुए कहा गया है कि शुभ्र आकाश वाला तथा थोड़े जल से पैदा होनेवाले पौधों शमी, करीर, विल्व, अर्क, पीपल, कर्कन्धु आदि से भरा हुआ देश जागल कहा जाता है।[2] इन विशेषताओं से युक्त राजस्थान के किसी हिस्से को जागल कहना उचित ही है। महाभारत मे मद्र और जागल का नाम साथ आता है।[3] मद्र रावी और झेलम के बीच का देश था, इस प्रकार जागल उसके दक्षिण का प्रदेश (राजस्थान) कहा जा सकता है। इस प्रकार परशुराम संबन्धी छप्पय में 'जगली देश' का अर्थ जागल देश अर्थात् राजपूताना का भूभाग है। नाभादास के मत से परशुराम ने राजस्थान के लोगों को 'पारषद' यानी वैष्णव भक्त बनाया। नाभादास ने परशुराम के कार्य-क्षेत्र का एकदम ठीक उल्लेख किया है। क्योंकि परशुराम देव राजस्थान के सलेमाबाद (परशुरामपुरी) को केन्द्र बनाकर भक्ति-प्रचार का कार्य करते थे। आज भी उक्त नगर में निम्बार्क पीठ स्थापित है। वहीं परशुराम की इहलौलिक लीला भी समाप्त हुई थी। इस प्रकार नाभादास को यह मालूम था कि परशुराम ने जागल देश के जंगली लोगों को भक्त बनाया। परशुराम के इस विशेष-कार्य का उल्लेख भी ध्यान देने की वस्तु है। एक काफी बड़े भूभाग को असभ्य से सभ्य या भक्त बनाना कुछ समय-सापेक्ष्य व्यापार है। मेरे कहने का मतलब यह कि परशुराम नाभादास (१६४२ सवत्) से पूर्व तो थे ही, भक्ति प्रचार का कार्य तो उन्होंने और भी बहुत पहले से किया होगा। इस तरह परशुराम विक्रमी १६०० के आस पास या उसके पूर्व वर्तमान थे।

§ २२३. परशुराम सागरमें विप्रमती गन्थ की पुष्पिका से भी कुछ लोगों को भ्रम हुआ है। उक्त पुष्पिका इस प्रकार है :

---

१. अल्पोदकतृणो यस्तु प्रवातः प्रचुरातप.
सज्ञेयो जागलो देशो बहुधान्यादिसंयुतः (रत्नावली)

२ आकाशः शुभ्र उच्चश्च स्वल्पपानीयपादप'
शमी-करीर-बिल्वार्क पीलुकर्कन्धुसकुलः (भावप्रकाशम्)।

३. तत्रेमे कुरुपांचाला. शल्वा माद्रेय जांगला'। (महाभारत, भीष्म पर्व, अ० ६)

'इति विप्रमती। इति श्री परशुरामजी की वाणी सम्पूर्ण। पोथी को संवत् १६७७ वर्ष' पूरे ग्रन्थ के अन्त में पुष्पिका इस प्रकार है :

'इति श्री परशुराम देवकृत ग्रन्थ परसरामसागर सम्पूर्ण सवत् १८३७ वर्षे। मिति ज्येष्ठ वदि ५ बुधवासरे लिपि कृत व्यास मनसाराम पठनार्थ वाई अनोपाँ।'[1] इन दो पुष्पिकाओंसे लोगोंको भ्रम होता है कि ग्रन्थका लिपिकाल १८३७ और विप्रमती की पुष्पिका के हिसाब से रचनाकाल १६७७ है। किन्तु विप्रमती का पोथीवर्ष भी लिपिकाल ही है। क्योंकि 'इति श्री परशुरामजी की वाणी सम्पूर्ण' का अर्थ विप्रमती सम्पूर्ण नहीं और पोथी का अर्थ विप्रमती की पोथी नहीं, बल्कि परशुरामजी की वाणी। पहले परशुराम सागर नामक कोई ग्रन्थ कम से कम संवत् १६७७ के पूर्व शायद नहीं था। श्रीभट्ट की आदिवाणी, हरिव्यासदेव की महावाणी की तरह 'परशुराम वाणी' का ही प्रचलन रहा होगा। सवत् १६७७ के बाद और १८३७ के बीच कभी सूरसागर के वजन पर परशुराम सागरका निर्माण हुआ होगा। १८३७ में मनसाराम व्यास ने १६७७ की लिखी 'परशुराम वाणी' की पोथी से जिसमें अन्तिम रचना विप्रमती थी परशुराम सागर की प्रतिलिपि की, जिसमें कुछ और भी रचनायें शामिल की गई। इसलिए सवत् १६७७ को परशुराम देव का आविर्भाव काल बताना ठीक नहीं है। सवत् १६७७ में परशुराम वाणी का किसी भक्त ने सकलन किया क्योंकि यदि परशुराम ने स्वय सकलन किया होता तो परशुरामजी की वाणी नाम नहीं दिया गया होता, इस आधार पर भी हम परशुराम को १६७७ के पहले का मान सकते हैं। आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि प० मोतीलाल मेनारिया विप्रमती के लिपिकाल के आधार पर परशुराम देव को स० १६७७ का बताते है।[2] जबकि तत्ववेत्ता का आविर्भाव काल वे सवत् १५५० मानते हैं।[3] तत्ववेत्ता भी एक प्रसिद्ध निम्बार्क सम्प्रदायी महात्मा थे जो परशुराम देव के सम-सामयिक तथा हरिव्यासदेव के शिष्य थे। इस तरह वे परशुराम के गुरु-भाई थे।[4]

§ २२४. परशुराम सागर की रचनाओं का परीक्षण करने पर एक और भी आश्चर्य-जनक तथ्य का उद्घाटन होता है। परशुरामसागर में निम्नलिखित रचनायें सकलित की गई है।

(१) तिथि लीला (२) वार लीला (३) बावनी लीला (४) विप्रमतीसी (५) नाथ लीला (६) पदावली (७) रागरथ नाम लीला निधि (८) साच निषेध लीला (९) हरि-लीला (१०) लीला समझनी (११) नक्षत्र लीला (१२) निजरूप लीला (१३) निर्वाण लीला।

---

१. श्री कुज वृन्दावन की पोथी से

२ राजस्थानी भाषा और साहित्य, प्रयाग २००६, विक्रमी, पृ० १४१।४२

३ वहीं, पृ० १०६

४ डा० सत्येन्द्र का निबध, श्री निम्बार्क सम्प्रदाय के हिन्दी कवि, पोद्दार अभिनदन ग्रथ, पृ० ३८४।

१३ ग्रंथों की यह सूची नागरीप्रचारिणी सभा खोज रिपोर्ट (१६३२-३४) में प्रस्तुत की गई। डा० मोतीलाल मेनारिया ने राजस्थान में हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों की खोज में परशुराम के २२ ग्रंथों की सूची दी है।[1]

(१) साखी का जोड़ा (२) छंद का जोडा (३) सवैया दस अवतार का (४) रघुनाथ-चरित (५) श्रीकृष्ण-चरित (६) सिंगार सुदामा-चरित (७) द्रौपदी का जोड़ा (८) छप्पय गज-ग्राह कौ (६) प्रह्लाद-चरित (१०) अमरबोध-लीला (११) नामनिधि-लीला (१२) शौच निपेध लीला (१३) नाथ लीला (१४) निज रूप लीला (१५) श्री हरिलीला (१६) श्री निर्वाण-लीला (१७) समभणी लीला (१८) तिथि-लीला (१६) नंद-लीला (२०) नक्षत्र-लीला (२१) श्री बावनी लीला (२२) विप्रमती तथा ७५० के लगभग फुटकल पद।

ऊपर की १३ रचनाओं में पदावली और वार लीला को छोड़कर बाकी ११ ग्रंथ दूसरी सूची में भी शामिल हैं। पहली सूची रागरथ नाम लीला निधि (न० ७) दूसरी सूची नामनिधि लीला (न० ११) से मिलती जुलती है किन्तु 'रागरथ' का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। साँच निपेव लीला ही दूसरी में शौच निषेध लीला है।

दोनों सूचियों में तिथि लीला, वार लीला (दूसरी में नहीं) बावनी लीला और विप्रमती शामिल हैं जो विषय और नाम दोनों ही दृष्टियों से कबीर की कही जाने वाली इन्हीं नाम की रचनाओं से साम्य रखती है। तिथि लीला में परशुराम और कबीर दोनों ही अमावस्या से पूर्णिमा तक का वर्णन सन्तोचित ढंग से किया है। कबीर कहते हैं 'कबीर मावस मन में गरब न करना, गुरु प्रताप इमि दूतर तरना। पडिवा प्रीत पीव सूँ लागी, मसा मिथ्या तव सक्या भागी।' इसी को परशुराम इन शब्दों में कहते हैं 'मानस मैं तैं दोऊ डारी, मन मंगल अंतर लै सारी। पडिवा परमंतत ल्यौ लाई। मन कूँ पकरि प्रेम रस पाई।' कबीर मानस में गर्व न करने को कहते है परशुराम 'मैं तैं' की अहमन्यता को छोडने की सलाह देते हैं। प्रतिपदा में कबीर मन को अनुशासित करके प्रिय से प्रीति करते हैं जबकि परशुराम मन को पकड़कर प्रियतम-लवलीन करने की बात करते हैं।

वारलीला ग्रन्थ में कबीर लिखते हैं :

कबीर वार-वार हरि का गुन गाऊँ, गुरु गमि भेद सहर का पाऊँ
सोय वार ससि अमृत झरै, पीवत वेगि तवै निस्तरै

परशुराम की वारलीला में इसी को इस ढंग से कहा गया है :

वार-वार निज राम संभारूँ,
रतन जनम भ्रम वाद न हारूँ
सोम सुरति करि सीतल वारा,
देप सकल व्यापक व्यौहारा
सोन विसरि जाको निस्तारा,
समदृष्टि होइ सुमरि अपारा।

---

1. प्रथम भाग, संपादक मोतीलाल मेनारिया, उदयपुर। 'राजस्थानी भाषा और साहित्य', पृ० १४२

आरम्भ में दोनों अपने नाम के स्मरण के साथ भगवान् का स्मरण करते हैं। सोमवार को शशि-वर्षित अमृत को पीने वाले के लिए कबीर निस्तार का आश्वासन देते हैं, परशुराम सोम को सुरति शीतल वार कहकर समदृष्टि होकर उसको न भूलने में ही निस्तार बताते हैं।

§ २२५. इन ग्रन्थों में भावसाम्य को 'काव्यरूपों का साम्य' बताकर भिन्न रचनायें स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु विप्रमती में तो यह साम्य अत्यन्त आश्चर्यजनक मालूम होता है।

विप्रमतीसी

कबीर	परशुराम
सुनहु सबन मिलि विप्रमतीसी	सब को सुणियो विप्रमतीसी
हरि बिनु बूड़ै नाव भरीसी	हरि बिनु बूडे नाव भरीसी
ब्राह्मण होके ब्रह्म न जानै	बामण ह्वै पै ब्रह्म न जाणै
घर मह जगत परिग्रह आनै	घर में जगत पतिग्रह आणै
जे सिरिजा तेहि नहि पहिचानै	जिण सिरजै ताकू ण पिछाणै
कर्म मर्म लै बैठि बखाने	करम मरम कूँ बैठि वषाणै
ग्रहण अमावस सायर दूजा	ग्रहण अमावस थायर दूजा
स्वस्तिक पात प्रयोजन पूजा	सूत गया तब प्रोजन पूजा
प्रेम कनक मुख अन्तर वासा	प्रेत कनक मुख अन्तरि वासा
आहुति सत्य होमि कै आसा	सती अऊत होम की आसा
उत्तम कुल कलि माँहि कहावै	कुल उत्तम कलि माहि कहावै
फिरि फिरि मध्यम कर्म करावै	फिर फिर मधम कर्म कमावै
× ×	× ×
हस देह तजि न्यारा होई	हस देह तजि नयरा होई
ताकी जाति कहाँ धू कोई	ताकर जाति कहहुं दहुं कोई
स्वेत स्याम की राता पियरा	स्याह सुपेत की राता पीला
अवर्ण वर्ण की ताता सियरा	अवरण वरण की ताता सीला
हिन्दू तुरक की बूढ़ा बारा	अगम अगोचर कहन न आवै
नारि पुरुष मिलि करहु विचारा	अपुणै अपुणै सहज समावै
कहिये कहि कहा नहिं माना	समुझि न परै कर्शा को मानै
दास कबीर सोई पै जाना	परसा दास होई सोइ जानै

कबीर की भाषा अपने राजस्थानी रंग के लिए प्रसिद्ध है। किन्तु यहाँ उनकी 'विप्रमतीसी' की भाषा राजस्थानी प्रभाव से रहित दिखाई पड़ती है ऐसा शायद इसलिए है कि यह रचना बीजक का अंग है। बीजक की भाषा पर राजस्थानी का प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता। बहुत से विद्वानों ने बीजक की प्रामाणिकता में सन्देह भी व्यक्त किया है। लगता है कि परशुराम की मूल 'विप्रमतीसी' को राजस्थानी रंग से प्रभावित देखकर इस ग्रन्थ को कबीर के नामपर चलानेवाले ने भाषा को बदलने की बहुत कोशिश की। इन साम्यों को देखते हुए

स्व० डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने उचित ही लिखा 'परशुराम का रचनाकाल ज्ञात नहीं है वे कबीर से पहले के है या पीछे के यह भी ज्ञात नहीं। इसलिए पूर्ववर्ती संबन्ध से भी इस विषय में कोई निर्णय नहीं हो सकता। परंतु इतना निश्चय है कि औरों की भी कुछ रचनाये कबीर के नाम से चल पडी हैं। कबीर के नाम से प्रसिद्ध कुछ रचनायें स्वामी सुखानन्द और बखना जी के नाम से मिलती हैं। कबीर जैसे प्रसिद्ध व्यक्ति की रचना दूसरों के नाम से चल पड़ेगी यह कम समव है। अधिक संभव यही है कि कम प्रसिद्ध लोगों की रचनाएँ कबीर के नाम से चल पड़ी हों। और उनके कर्ताओं को लोग भूल गए हों।[1]"

§ २२६. नीचे श्रीभट्ट, हरिव्यासदेव, परशुराम और तत्ववेत्ता की कविताओं के कुछ उद्धरण दिये जाते हैं। श्रीभट्ट का कविता-नाम 'हितू', हरिव्यास देव का 'हरिप्रिया' और परशुराम का 'परमा' था। निम्बार्क संप्रदायी आचार्य कवियों के उभयनामों की सूची सर्वेश्वर में प्रकाशित की गई है।[2] इसमें प्रायः ४५ आचार्यों के अन्तरग नामों का विवरण दिया हुआ है।

श्रीभट्ट जी के युगलसत[3] का एक पद—

सुकर सुखर निरखत दोऊ मुख ससि नैन चकोर।
गोर स्याम अभिराम अति छबी फबी कछु थोर॥
गोर स्याम अभिराम विराजै।
अति उमंग अग अंग भरे रंग सुकर मुखर निरखत नहि त्याजैं।
कठ सो कंठ वाहु ग्रीवा मिलि प्रतिविम्बित तन उपमा लाजैं॥
नैन चकोरि विलोक वदन ससि आनंद सिंधु मगन भए भ्राजैं।
नील निचोल पीत पटके तट मोहन मुकुट मनोहर राजैं॥
घटा छटा भांख दल कोदंड दोउ तन एक देस छवि छाजैं।
गावत सहित मिलत गति प्यारी मोहन मुख सुर नांसुर वाजैं॥
अमिट अटकि परे दंपति दग मूरति मनहु एक ही साजैं॥

श्री हरिव्यास देव की महावाणी[4] से—

हौं कहा कहौं सुख फूल भई।
फूले फूल फबे सब वन में तन मन की सब सूल गई॥
फूल दिसन विदसन में फूलै छिति अम्बर में फूल छई।
फूली लता द्रुम सरित सरव में खग मृग सब ठां फूल ढई॥
फूल निकुज निलय निकरनि में वरन वरन में फूल नई।
श्री 'हरिप्रिया' निरख नैन छवि फूलन के टर फूल भई॥

---

१ नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४५, संवत् १९९७, पृ० ३३४
२. सर्वेश्वर, वर्ष ४ अंक ७, वृन्दावन पृ० २८
३. वृन्दावन से प्रकाशित। दूसरा काशी नागरीप्रचारिणी सभा, शीघ्र प्रकाशित करने वाली है।
४. निम्बार्क—माधुरी में सकलित

श्री भट्ट और हरिव्यास देव की रचनायें भक्तों में अति प्रचलित रही हैं और इनकी रचनाओं के कोई बहुत प्राचीन हस्तलेख भी प्राप्त नहीं होते। सभी हस्तलेख १८ वीं शती के ही मिले हैं इसलिए इन रचनाओं की भाषा बहुत परवर्ती मालूम होती है। किन्तु परशुराम देव की भाषा काफी पुरानी है। १६७७ सवत् की लिपिकृत परशुराम वाणी की कुछ रचनायें नीचे उद्धृत की जाती हैं।[1]

परशुराम के काव्य पर निर्गुण और सगुण दोनों ही मतों का प्रभाव दिखाई पडता है।

अवधू उलट्यो मेर चढ्यो मन मेरा सूनि जोति धुनि लागी।
अणभै सबद बजावै विणकर सोई सुरता अनुरागी॥
उड़ि आसमान अपाढ़ा देषै सोइ वदिय वड़भागी।
घर बाहर डर कछू नाही सोई निरभै वैरागी॥
रहै अकलप कलप तर सौं मिलि कलपि मरै नहि सोई।
निहचल रहै सदा सोइ परसा अवागमण न होइ॥

सगुण भक्ति सम्बन्धी पद—

कान्हर फेरि कहो जु कही तब तो मोरी सूँ सरै।
सोवत जागी जसोदा उठी सुन सुत सब्द ऊँसरे॥
लषमण वाण धनुषि दे मेरे मोंहि जुद्ध की हूँसरै।
सीया साल को सहै सदा दुष करिहूँ असुर विधूँसरे॥
प्रगटी आई जुद्ध विद्या वल सुमन सिंधु सारूँसरै।
परशुराम प्रभु उमगि उठे हरि लीने हाथ अथूस रे॥

'लीला समझनी' का विश्व रूप सम्बन्धी एक पद—

कैसी कठिन ठगोरी थारी देख्यो चरित महाछल भारी।
वड़ आरम्भ जो औसर साध्यो, ज्यों नलिनी सूवा गहि वाध्यो॥
छूटि न सके अकल कललाई, निर्गुण गुण में सव उरझाई।
उरझि उरझि कोइ लहै न पारा, भुरकी लागि भम्यो ससारा॥
वहि गए वनजि मॉंहि समाया, अविगत नाथ न दीपक पाया।
दीपक छॉंडि अधा ह्वै धावै, वस्तु अगह क्यों गहणी आवै॥
गहणी वस्तु न आइये वाणी जब कियो विचारि।
अध अचेतन आस वसि चाले रतन विसारि॥

तत्ववेत्ता के कुछ फुटकल पदों का एक सग्रह प्राप्त होता है। डा० मोतीलाल मेनारिया ने लिखा है कि इनके कवित्त नामक एक ग्रन्थ का पता है जो पिंगल भाषा (व्रजभाषा) में है। इसमें ६८ कवित्त (छप्पय) हैं जिनमें राम, कृष्ण, नारद, जनक आदि महापुरुषों की महिमा कही गई है। तत्ववेत्ता का एक छप्पय नीचे दिया जाता है।[2]

---

1. नागरीप्रचारिणी सभा की हस्तलिखित प्रति से। परशुराम सागर का सपादन भी सभा शीघ्र करा रही है।
2. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १०६

धरम मार्ग खड्ग धार करम मारग कछु नाहीं ।
साध मार्ग सिर ताज सिद्ध मारग मन माहीं ॥
जोग मार्ग जोगेन्द्र जोगि जोगेश्वर जानैं
हरिमारग हरिराइ वेद भागवत बखाने ।
ततवेत्ता तिहुँ लोक में विविध मार्ग विस्तरि रह्या ।
सब मारग को सुमिरतां परम मार्ग परचै भया ॥

नरहरि भट्ट

§ २२७. नरहरि भट्ट उम्र में सूरदास के समवयस्क थे । उनके रचना काल को देखते हुए हम उन्हें सूरदास से कुछ पहले का या सम-सामयिक कवि मान सकते हैं, फिर भी नरहरि भट्ट की रचनायें कई दृष्टियों से सूर-पूर्व व्रजभाषा और उसके साहित्य को समझने में सहायक हो सकती हैं। भाषा की दृष्टि से उनकी रचनाओं का विश्लेषण किया जाये तो स्पष्ट मालूम होगा कि इसकी अन्त. प्रवृत्तियाँ अष्टछापी कवियों की भाषा से उतना साम्य नहीं रखतीं जितना अपनी पूर्ववर्ती चारण शैली की पिंगल भाषा से। उसी प्रकार काव्य और उसके रूप-उपादान भी सूर कालीन काव्य-चेतना से उतना प्रभावित नहीं है जितना अपभ्रंश और पिंगल काव्य-रूपों और उनकी शैली से।

नरहरि की जन्म-तिथि का निर्णय करने के लिये कोई प्रामाणिक आधार उपलब्ध नहीं है । उनके वशजों में ऐसा विश्वास प्रचलित है कि उनका जन्म सवत् १५६२ में हुआ था। प० रामचन्द्र शुक्ल इनका जन्म-काल संवत् १५६२ ही मानते हैं।[1] नरहरि की रचनाओं के अतर्साक्ष्य से प्रमाणित होता है कि हुमायूँ के दरबार में उनका आना-जाना था। उन्होंने हुमायूँ और शेरशाह के युद्ध का बडा विशद् और चित्रात्मक वर्णन किया है। इस प्रकार के विम्बपूर्ण वर्णन स्थिति के सूक्ष्म निरीक्षण के बिना सभव नहीं है। डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल इसी आधार पर यह अनुमानित करते है कि नरहरि हुमायूँ के सपर्क मे सवत् १५६० के आस-पास आये होगे क्योंकि शेरशाह और हुमायूँ का युद्ध विक्रमी सवत् १५६७ के वैशाख में हुआ था और यदि इस दृष्टि से देखें तो नरहरि का हुमायूँ के दरबार में प्रवेश कुछ वर्ष पूर्व ही हुआ होगा और तदर्थ पाँच-सात वर्ष की मैत्री भी आवश्यक है। 'ऐसा लगता है कि नरहरि किसी एक नरेश के निश्चित सभा-कवि नहीं थे और उनका कई दरबारों के साथ सबन्ध था क्योंकि उनकी रचनाओं में बाबर, हुमायूँ, अकबर, शेरशाह और उसके पुत्र सलीम शाह की प्रशस्तियाँ मिलती हैं। बाबर के विषय में नरहरि का यह पद्य काफी महत्त्व का है।[2]

नेक वख्त दिल पाक सखी जवां मर्द शेर नर
अव्वल अली खुदाय दिया तिरिपार मस्क जर

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १०६

२. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, लखनऊ, पृ० ६६ । इस छप्पय को और भी कई लोगों ने उद्धृत किया है। देखिए महाकवि नरहरि महापात्र, पृ० २२८ विशाल भारत, मार्च, १६४६ तथा नरहरि महापात्र और उनका घराना–समेलन पत्रिका, पौप सवत् १६६६। हिन्दुस्तानी, भाग २७, पृ० स० ५

खालिक महुनेश हुकुम आलियां जो आलिब
दौलत वख्स बुलन्द जंग दुश्मन पर गालिब
अवसाफ तुरा गोयद सकल छवि नरहरि गुफलम सुनी
वावर वरोवर बादशाह दीगर न दीदय कर हुनी

इस प्रकार की प्रशसा बाबर के जीवन-काल में ही की गई होगी। इसी बात को लक्ष्य करके डा० विपिनविहारी त्रिवेदी ने नरहरि को बाबर के दरबार का कवि स्वीकार किया है।[1] विक्रमी सवत् १५६२ को नरहरि भट्ट का जन्म-काल मानने पर बाबर के दरबार में उनका उपस्थित होना असभव नहीं है क्योंकि उस समय वे २४–२५ वर्ष के रहे होंगे। मुसलमान बादशाहों के अलावा, कई हिन्दू राजों के साथ भी नरहरि का सपर्क था। उन्होंने रीवा नरेश वीरभानु तथा उनके पुत्र रामचन्द्र के विषय में भी कई प्रशस्तिमूलक पद्य लिखे हैं। इस तरह के पद्यों के आधार पर नरहरि के जीवन सबन्धी घटनाओं का विवरण डा० अग्रवाल ने अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पुस्तक में दिया है। नरहरि की शिक्षा-दीक्षा, उनके 'वश-घराना निवास–स्थल तथा पारिवारिक जीवन–वृत्त आदि के विषय में डा० विपिनविहारी त्रिवेदी ने विशाल भारत के फरवरी १९४६ के अक में विस्तार से लिखा है। यहा उस विवरण को दुहराने की आवश्यकता नहीं मालूम होती। इन सब प्रमाणों को देखने से लगता है कि नरहरि का रचना काल सूर के कुछ पहले पडता है। हम नरहरि की भाषा के विषय में कुछ विचार करना चाहते हैं।

अभी नरहरि की रचनायें पूर्णतः प्रकाश में नहीं आई हैं। अब तक जितनी रचनाओं का पता चला है, वे इस प्रकार हैं। (१) रुक्मिणी मगल, (२) छप्पय नीति और (३) कवित्त सग्रह। इन तीनों रचनाओं में केवल रुक्मिणी मगल ही पूर्ण काव्य है बाकी रचनायें फुटकल पद्यो का सग्रह मात्र है। नागरीप्रचारिणी सभा की हस्तलिखित प्रति से जिसका लिपिकाल सवत् १७२१ है, डॉ० अग्रवाल ने कुछ फुटकल पद्यों को अपनी पुस्तक के परिशिष्ट में उद्धृत किया है जो 'वादु' काव्य हैं जिनमें 'लोहे सोने का वादु', 'तेल तंबोल का वादु', 'लज्जा-भूख का वादु' आदि कई रचनायें सकलित हैं। इन रचनाओं की भाषा पर विचार नहीं हुआ है।

नरहरि की भाषा के विषय में जो विचार हम नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं, उसकी पुष्टि के लिए उदाहरण उपर्युक्त रचनाओ से लिए गए हैं, विस्तार भय से पूरी रचनाओं को उद्धृत नहीं किया जा सकता इसलिए उदाहरणों के लिए 'अकबरी दरबार के हिन्दी कवि' के परिशिष्ट में सकलित रचनाओं को देखना चाहिए।

§ २२८ ध्वनि-विश्लेषण करनेपर नरहरि की भाषा काफी प्राचीन मालूम होती है। द्वित्व व्यंजनों को सरलीकृत कर लेने की प्रवृत्ति जो अवहट्ठ काल में शुरू हुई थी और ब्रजभाषा में बाद में जिसका चरम विकास हुआ, नरहरि की भाषा में प्रबल नहीं दिखाई देती। इसीलिए द्वित्व व्यजन प्राय. सुरक्षित हैं। रिझ्झहिं (वादु२ > ब्रज० रीझहिं), सज्जहिं (वादु २ > ब्रज० साजहिं), वढ्ढेउ (वादु > वाढेउ या वाढ्यो), तिन्नि (वादु ४ अप० त्रिण्णि > ब्रज० तीनि), अप्पुवल (वादु ६ > ब्रज० आपु वल), हत्थ (वादु ६ > ब्रज० हाथ) रुक्मिणी मगल की शैली छप्पनों की नहीं है, उसमें कई प्रकार के छन्द प्रयुक्त हुए हैं इसलिए उसमे

1. महाकवि नरहरि महापात्र, विशाल भारत, मार्च १९४६, पृ० २२८

अपेक्षाकृत इस प्रकार के व्यजन-द्वित्व की सुरक्षा की प्रवृत्ति कम दिखाई पडती है, फिर भी एक दम अभाव नहीं। इसलिए ऐसा नहीं कहा जा सकता कि केवल छप्पय छन्दों में ही इस प्रकार की प्रवृत्ति मिलती है। सच तो यह है कि भाषा में विकास तभी आता है जब कवि सामाजिक विकास की चेतना को ग्रहण करता है। नरहरि भट्ट चारण शैली के कवि थे इसलिए उनकी भाषा में पुरानी परपरा का पालन ही दिखाई पड़ता है।

§ २२९ उद्वृत्त स्वरों की विवृत्ति भी सुरक्षित है। परवर्ती अपभ्रंश से उद्वृत्त स्वरों को सधि प्रक्रिया से संयुक्त स्वर बनाने की प्रवृत्ति शुरू हो गई थी। व्रजभाषा में उद्वृत्त स्वरों का नितान्त अभाव पाया जाता है किन्तु नरहरि की भाषा में अपभ्रश की पुरानी प्रवृत्ति यानी उद्वृत्त स्वरों की सुरक्षा पूर्णतः वर्तमान है।

करउं (वादु १ > व्रज करौं), गहइ (वादु ११ > व्रज० गहै), रष्षउ (वादु ११ > व्रज० राखौ), कहइ (वादु १२ > व्रज० कहै), लहइ (वादु > व्रज लहै), रुक्मिणी मंगल में इस प्रकार के प्रयोग कम है। किन्तु क्रिया रूपों में वहाँ भी विकास नहीं दिखाई पड़ता। जैसे—

पठाएउ > पठायौ, बुलाएउ > बुलायौ, बनाएउ > बनायौ, कीन्हेउ > कीन्हौं, दीन्हेउ > दीन्हौं, रोवइ > रोवै, जोवइ > जोवै, शाधेउ > साध्यौ, अवराधेउ > अवराध्यौ, कलपइ > कल्पै, तलपइ > तलफै।

यहाँ भूत निष्ठा के कृदन्तज रूपों की ध्वनि-प्रक्रिया काफी महत्त्वपूर्ण और विचारणीय है। अपभ्रंश में कहिउ, सुनिउ आदि रूप पाये जाते हैं। व्रज में इन्हीं के कह्यौ, सुन्यौ आदि हो जाते हैं। नरहरि भट्ट की भाषा में जो रूप मिलते हैं वे इन दोनों की मध्यवर्ती अवस्था की सूचना देते हैं। जैसे—

अप० साधिउ > नर० साधेउ > व्रज साध्यौ, अप० अवराधिउ > नर० अवराधेउ > व्रज अवराध्यौ।

§ २३०. कारक विभक्तियों की दृष्टि से भी नरहरि की भाषा में पुराने तत्त्व मिलते हैं। जगदीस कहं (वादु १ > जगदीस को), अप्पु महं (वादु २ > आपु मैं), मोहिं लगि (वादु १०), तिन्ह के (वादु १।६ > तिनकैं), हत्थह (वादु १।७, षष्ठी विभक्ति युक्त), जुगंह (वादु ३।७२ सविभक्तिक षष्ठी), चित्तह गुनिय (वादु ३।७३ सविक्तिक सप्तमी)। इस प्रकार की विभक्तियों के प्रयोग व्रजभाषा में सुरक्षित नहीं दिखाई पड़ते।

§ २३१. परसर्गों के प्रयोग भी काफी पुराने हैं। चतुर्थी लगि रूप आरभिक व्रज में मिलता है (देखिये §२१७) किन्तु परवर्ती व्रज में धीरे धीरे लौं की प्रधानता हो गई है। नरहरि में इस तरह के रूप मिलते हैं। केहि काज लगि (वादु ४) केसव भट्ट पहं (वादु ३।७७) अनाथ नाथ कउ (वा० मासा ११२, व्रज कौ) एकह (बारह मासा ११३ इस को) परसर्गों की दृष्टि से 'न्हे' का प्रयोग अत्यत महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। १४ शताब्दी के पूर्व किसी भी अवहट्ट ग्रंथ में नें का प्रयोग नहीं हुआ है। केवल कीर्तिलता में ही 'न्हे' का प्रयोग मिलते हैं। प्रद्युम्न चरित, हरिचन्द पुराण जैसे पन्द्रहवीं शती के व्रजभाषा ग्रंथ में भी 'ने' का प्रयोग नहीं मिलता। नरहरि भट्ट की भाषा में ने के प्रयोग कोई आश्चर्यजनक नहीं कहे जायेंगे क्योंकि उस काल में सूर आदि की भाषा में भी ये प्रयोग मिलते हैं। प्रयोग का महत्त्व

इसलिए है कि यह 'ने' न होकर 'न्हे' है जैसा कीर्तिलता में है। एण से ने के विकास में संभवतः 'न्हे' मध्यवर्ती स्थिति है। वान्हे लिखी पाती (रु० म०)।

§ २३२. तुअ (वादु २।५) तुँ (वादु १।५) आदि सर्वनाम अपभ्रंश के ही हैं। ब्रज का अति प्रचलित तैं रूप कम मिलता है। तै (वादु १।११)। केहु (वादु ४।३ ब्रज कोउ), जैंइ (फुटकल ११ <जेण), अप्पन (फुटकल १३ <अप्पण, ब्रज अपनों) वो सकर (रु० म० वह), इह (रु० म० यह) सर्वनामों की दृष्टि से नरहरि भट्ट की भाषा पूर्णतः अपभ्रंश की ही पश्चगामिनी दिखाई पडती है। सर्वनामों में परसर्गों के साथ विभक्तियों का भी प्रयोग हुआ है।

§ २३३. विध्यर्थ क्रिया के महत्त्वपूर्ण रूप किजिअ (वादु २।४ ब्रज कीजे) किजिअै (वादु १।६ कीजिये) दिजिअै (वादु १।६ दीजिये)। ईजइ रूप अपभ्रंश का सीधा लगाव सूचित करता है। आज्ञार्थक में करओ (वादु २।५) रूप भी अवहट्ठ की तरह ही है। दीध (फु० छन्द ४) कीध (वादु) लीध (वादु) आदि रूपों में 'ध' प्रकार की कृदन्तज क्रियायें मिलती हैं। ऐसे रूप पुरानी राजस्थानी और रासो की भाषा में प्राप्त होते है। कुछ लोगों का कहना है कि 'ध' प्रकार के रूप ब्रजभाषा में नहीं मिलते, परन्तु नरहरि की भाषा के ये प्रयोग उपर्युक्त मत की पुष्टि नहीं करते। भविष्य के मिलिहहिं (वादु ३।८० ब्रज मिलि हैं) आदि रूप पुरानापन सूचित करते हैं।

§ २३४. आ-कारान्त क्रियाओं को लेकर इतना बडा विवाद होता है। मैंने अवहट्ट वाले प्रसग में ही कहा है कि आकारान्त क्रियायें ब्रज में नहीं मिलतीं ऐसा कहना वहुत उचित नहीं। कृदन्तज रूपों में पदान्त अ का आ रूपान्तर होता था। धारिअ>धारिआ (रु० मगल), छाइअ>छाइआ (रु० मगल), पाइअ>पाइआ (रु० मगल), विचारिअ> विचारिआ (रु० मगल,) धाइअ>धाइआ (रु० मगल) इस तरह के रूप प्राकृत पैंगलम्, कीर्तिलता, रणमल्लछन्द आदि अवहट्ठ रचनाओं में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। जयदेव कवि के गुरु ग्रन्थ वाले पदों मे भी ऐसे प्रयोग मिलते हैं।

मीरांबाई

§ २३५. मीरा का जीवन-वृत्त अद्यावधि जनश्रुतियो के कुहासे मे ही ढका हुआ है। उनके जन्म-काल के विषय में विद्वानों ने काफी खोज-बीन की है, किंतु अब तक कोई अन्तिम निष्कर्ष नहीं निकल सका। मीरा के जीवन-वृत्त की सूचना देने वाला पहला ऐतिहासिक विवरण कर्नल टाड के 'एनल्स एड एटिक्वीटीज़ आव राजस्थान' में उपस्थित किया गया। टाड ने मीरां को राणा कुंभ की पत्नी माना। उन्होंने लिखा कि राणा कुभ ने मेडता के राठौर की लडकी मीरा को, जो भक्ति और सौन्दर्य के लिए ख्यात थी, अपनी पत्नी बनाया।[1] कर्नल टाड ने एक दूसरे स्थान पर राणा कुभ के बनवाये हुए एक मदिर का उल्लेख किया जिसे 'मीरा जी का मदिर' कहते हैं।[2] सभवत. इस जनश्रुतिके आधार पर कर्नल टाड ने मीरा और राणा

---

१ एनल्स एंड एटिक्वीटीज़ आव राजस्थान, जेम्स टाड, जिसे विलियम क्रुक ने सपादित किया। भाग १, पृ० ३३७

२ वही, भाग २, पृ० १८१८

कुंभ को सम्बद्ध मान लिया। टाड के इस निष्कर्ष ने काफी भ्रान्ति फैलाई और बहुत से विद्वानों ने कई प्रकार के साक्ष्यों के आधार पर मीरा को उक्त काल से संबद्ध बताया। गुजराती विद्वान् श्री गोवर्धन राय माधोराय त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक 'क्लैसिकल पोयट्स आव गुजरात' में मीरा का समय १५वीं शताब्दी निर्धारित किया।[1] उसी प्रकार श्री कृष्णलाल मोहन लाल झवेरी ने भी मीरा का जन्म १४०३ ईस्वी के आस-पास तथा उनकी मृत्यु का समय, ६७ वर्ष की उम्र में, १४७० ईस्वी में बताया है।[2] श्री हरविलास सारदा ने अपनी पुस्तक 'महाराणा सांगा' में मीरा को राव दूदा (सन् १४६१–६२) के चौथे पुत्र रतन सिंह की पुत्री बताया है।[3] विलियम क्रुक ने एनल्स आव राजस्थान में जेम्स टाड के मीरा-विषयक मत के साथ सारदा का मत भी टिप्पणी में दिया है। इस प्रकार एक पक्ष के लोग मीरा को १५वीं शताब्दी का मानते हैं। दूसरी ओर डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा और श्री देवीप्रसाद जैसे इतिहासकार बिल्कुल भिन्न धारणा रखते हैं। डा० ओझा ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ राजपूताने के इतिहास में लिखा कि 'लोगों में यह प्रसिद्धि हो गई है कि बडा मन्दिर महाराणा कुम्भ ने और छोटा उसकी राणी मीराबाई ने बनवाया था। इसी जनश्रुति के आधार पर कर्नल टाड ने मीराबाई को महाराणा कुम्भा की राणी लिख दिया। जो मानने योग्य नहीं है। मीराबाई महाराणा संग्राम सिंह के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज की स्त्री थीं।[4] जो मन्दिर मीराबाई का बनवाया हुआ कहा जाता है वह वास्तव में राणा कुम्भ के द्वारा ही संवत् १५०७ में बनवाया गया था। कुम्भ स्वामी और आदि वाराह दोनों ही मन्दिरों की प्रशस्तियाँ इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं।[5] मुंशी देवीप्रसाद ने 'मीराबाई जीवनचरित्र' में एक दूसरे पहलू से टाड वाली मान्यता का प्रतिवाद किया। उन्होंने लिखा कि 'यह बिल्कुल गलत है क्योंकि राणा कुम्भा तो मीराबाई के पति कुँवर भोजराज के परदादा थे। और मीराबाई के पैदा होने के २५ या ३० वर्ष पहले मर चुके थे। मालूम नहीं कि यह भूल राजपूताने के ऐसे बड़े तवारीख लिखने वाले से क्योंकर हो गई। राणा कुम्भा जी का इंतकाल संवत् १५२५ में हुआ था उस वक्त तक मीराबाई के दादा दूदा जी को मेडता मिला ही नहीं था। इसलिए मीराबाई राणा कुम्भ की राणी नहीं हो सकतीं। मुंशी देवीप्रसाद ने मीराबाई का जन्म काल संवत् १५५५ के लगभग माना है।[6] ओझा के अनुसार मीरा का विवाह १८ वर्ष की उम्र में राणा संग्राम सिंह के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज के साथ हुआ। विवाह के बाद संवत् १५८० में भोजराज का देहान्त हो गया। मुंशी देवीप्रसाद ने मीरा का मृत्युकाल संवत् १६०३ माना है।

ऊपर के संक्षिप्त विवरण से मीरा के जीवन-तथा रचना काल के विषय में इतना पता चलता है कि वे १६०० के पहले वर्तमान थीं और उन्होंने १५८० संवत् के आस-पास भक्ति सम्बन्धी कविताओं की रचना शुरू की थी। इस प्रकार यद्यपि मीरा सूर की पूर्ववर्ती नहीं थीं,

---

१ जी० एम० त्रिपाठी, क्लैसिकल पौयट्स आव गुजरात, पृ० १०

२. के० एम० झावेरी, माइलस्टोन्स इन गुजराती लिट्रेचर, पृ० ३०

३. महाराणा सांगा, अजमेर, १९१८, पृ० ९५–९६

४. राजपूताने का इतिहास, दूसरा खंड पृ० ६७०

५ वहीं, पृ० ६२२

६. मीराबाई का जीवन चरित्र, पृ० ३१–३२

जैसा कि टाड, सारदा, ग्रियर्सन, झवेरी, त्रिपाठी आदि विद्वानों ने बतलाया है, फिर भी इनका रचनाकाल सूर से पूर्व ही है क्योंकि अधिक से अधिक परवर्ती बताने पर भी उनका रचना-काल १५८० के आस-पास मानना ही पड़ेगा।

§ २३६. मीरा के गीतों की भाषा पर अभी तक सम्यक् विचार नहीं हुआ है। गुजराती विद्वान् मीरा को गुजराती की कवयित्री मानते हैं। उसी प्रकार राजस्थान के लोग राजस्थानी की। प० रामचन्द्र शुक्ल ने मीरा की भाषा पर विचार व्यक्त करते हुए लिखा है 'इनके पद कुछ तो राजस्थानी मिश्रित भाषा में हैं और कुछ विशुद्ध साहित्यिक ब्रज भाषा में।'[1] डा० धीरेंद्र वर्मा ने मीरा की भाषा के विषय में विचार करते हुए लिखा कि '१६वीं शताब्दी की होने पर यहाँ हिन्दी की प्रसिद्ध कवियित्री मीरा का उल्लेख कर देना आवश्यक है। उनकी मातृभाषा राजस्थानी थी किन्तु वे कुछ समय तक वृन्दावन में भी रहीं थीं। तथा उनके जीवन के अन्तिम दिन गुजरात में बीते थे। मीराबाई के गीतों के उपलब्ध सकलन राजस्थानी तथा गुजराती के मिश्रित रूपों में हैं, इनमें कहीं-कहीं ब्रजभाषा का पुट भी मिलता है। ब्रज से संबन्ध रखने के दृष्टिकोण से मीरा की रचनाओं का पश्चिमी मध्यदेश में वही स्थान है जो विद्यापति पदावली का पूर्वी मध्यदेश में है।'[2]

डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के मत से 'मीरा की रचना इतनी लोकप्रिय बनी कि धीरे धीरे इसकी शुद्ध राजस्थानी भाषा (मारवाडी) परिवर्तित होकर शुद्ध हिन्दी की ओर झुकी और अन्त में शुद्ध हिन्दी ही हो गई।[3] उपर्युक्त तीनों विद्वानों के मतों का विश्लेषण करने से पता चलता है कि वे किसी न किसी रूप में यह स्वीकार करते हैं कि मीरा की रचना में ब्रजभाषा का तत्त्व है। डा० चाटुर्ज्या के निष्कर्ष पर यह आपत्ति की जा सकती है कि मीरा की शुद्ध मारवाडी रचनाओं के हिन्दी रूपान्तर ग्रहण करने की प्रक्रिया में कोई अन्तर्वर्ती स्तर भी मिलता है? कैसे मान लिया जाये कि आज कि शुद्ध हिन्दी में प्राप्त होने वाली उनकी रचनाएँ मौलिक रूप से राजस्थानी में लिखी हुई थीं। यदि महाराष्ट्र के नामदेव, राजस्थान के पीपा, सेन आदि तथा पंजाब के नानकदेव जैसे लोग ब्रजभाषा में काव्य लिख सकते थे तो मीरा की ब्रजभाषा रचनायों को मौलिक मानने में कोई खास आपत्ति तो नहीं होनी चाहिए। वस्तुतः मीरा के सामने भी भाषा के दो आदर्श थे। एक भाषा उनकी मातृभाषा थी जो उन्हें जन्म से ही प्राप्त हुई और दूसरी उस काल की अत्यत प्रचलित सास्कृतिक भाषा थी जो सतों के पदों के रूप में उनके पास पहुँची। मीरा ने इन दोनों ही भाषाओं में काव्य लिखा। राजस्थानी में भी और ब्रजभाषा में भी। यह भी स्वाभाविक है कि इस प्रकार के प्रयत्न में कुछ हद तक भाषा मिश्रण भी हो। यदि मीरा ने शुद्ध राजस्थानी में ही पद लिखे होते तो इतने शीघ्र लोकप्रिय नहीं होते। खास तौर से हिन्दी प्रदेश में, जैसा कि डा० चाटुर्ज्या मानते हैं। मैं इस विषय में प० रामचन्द्र शुक्ल का निष्कर्ष ही उचित मानता हूँ कि उनके पद दो प्रकार की भाषा में लिखे गए थे। राजस्थानी और ब्रज। यदि मीरा की रचनाओं का सम्यक् विश्लेषण किया जाये तो

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, छठाँ सस्करण, काशी, २००७ पृ० १८७
२. ब्रजभाषा, प्रयाग, १९५४, पृ० ५६
३. राजस्थानी भाषा, उदयपुर, १९४९ ईस्वी, पृ० ६७

उसमें खड़ी बोली या पंजाबी का भी कम प्रभाव नहीं दिखाई पड़ेगा, क्योंकि पुरानी हिन्दी की दोनों प्रकार की शैलियों—ब्रज और खड़ी—में लिखी संतवाणी का उनके ऊपर प्रभाव अवश्य पड़ा था।

§ २३७. मीराँ की कही जानेवाली निम्नलिखित रचनाओं की सूचना मिलती है।

(१) नरसी जी रो माहेरो।
(२) गीत गोविन्द की टीका।
(३) सोरठ के पद।
(४) मीरा बाई का मलार।
(५) राग गोविन्द।
(६) गर्वा गीत।
(७) फुटकल पद।

इन रचनाओं की प्रामाणिकता काफी संदिग्ध है। 'नरसी जी रो माहरो' एक प्रकार का मंगल काव्य है जिसमें प्रसिद्ध भक्त नरसी के माहेरा (लड़की या बहन के घर उसके पुत्र या पुत्री की शादी में भाई या बाप की ओर से भेजे गये उपहार) का वर्णन किया गया है। नरसी ने अपनी पुत्री नाना बाई को यह माहेरा भेजा था। इस ग्रंथ की कोई प्रामाणिक प्रति उपलब्ध नहीं होती। गुजराती विद्वानों ने इस ग्रन्थ को गुजराती का बताया है किन्तु भाषा बिलकुल ही गुजराती नहीं बल्कि स्पष्ट ब्रजभाषा है। इस पुस्तक का आरम्भिक अंश नीचे दिया जाता है :

गणपति कृपा करो गुणसागर जन को जस सुभ गा सुनाऊँ।
पच्छिम दिसा प्रसिद्ध धाय सुख श्री रणछोड़ निवासी।
नरसी को माहेरो मंगल गावे मीरां दासी ॥१॥

छत्री वंस जनम भय जानो नगर मेड़ते वासी।
नरसी को जस वरण सुनाऊँ नाना विधि इतिहासी ॥२॥

सखा आपने संग जु लीन्हें हरि मन्दिर ये आये।
भक्ति कथा आरम्भी सुन्दर हरिगुण सीस नवाये ॥३॥

को मंडल को देस बखानूँ संतन के जस वारी।
को नरसी को भयो कौन विध कहो महिराज कुँवारी ॥४॥

भये प्रसन्न मीरां तब भाख्यो सुनि सखि मिथिला नामां।
नरसी की विध गाय सुनाऊँ सामे सब ही कामां ॥

बीच में एक जैजैवन्ती राग का पद इस प्रकार है।

सोवत ही पलका में मैं तो पल लागी पल में पिउ आये।
मैं जु उठी प्रभु आदर देन कूं जाग परी पिण ढूँढ़ न पाये॥
और सखी पिव सोय गमाए मैं जु सखी पिउ जागि गमाए ॥१॥

आज की बात कहाँ कहूँ सजनी सपना में हरि लेत बुलाये।
वस्तु एक जब प्रेम की पकरी आज भये सखि मन के भाये ॥२॥

रचना के अन्त में एक माहात्म्य सूचक पद भी दिया हुआ है।

यो माहरौ सुनेरु गुनिहै बाजे अधिक बजाय।
मीरा कहै सत्य करि मानो भक्ति युक्तिफल पाय।

नरसी जी के माहरों की सूचना 'राजपुताना में हिन्दी ग्रथों की खोज' (सवत् १६६८) में छपी हुई है। मुंशी देवीप्रसाद ने इस खोज रिपोर्ट का निरीक्षण किया था।[1] गीतगोविन्द की टीका नामक कोई रचना मीरा के नाम की प्राप्त नहीं होती, संभवत. किसी ने राणा कुभा की टीका को ही भ्रमवश मीरा-कृत मान लिया हो। राग सोरठ के पद की सूचना नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में छपी है।[2] नीचे की चार रचनाओं में गर्वा गीत को छोड कर बाकी तीन फुटकल पदों के भिन्न-भिन्न सग्रह प्रतीत होते हैं। श्री कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी गुजरात मे प्रचलित कुछ गर्वा गीतों को मीरा का बताते हैं।[3] इस विषय में उन्होंने कोई विस्तृत विवरण नहीं दिया है।

मीरा के फुटकल पदों में बहुत से पद राजस्थानी भाषा के दिखाई पडते हैं किन्तु व्रज-भाषा में लिखे पदों की सख्या भी कम नहीं है। इस तरह के पद मीरा बाई की शब्दावली, (वेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद) अथवा श्री नरोत्तम स्वामी के ग्रन्थ 'मीरा मन्दाकिनी' में काफी सख्या में मिल सकते हैं। नीचे केवल एक पद दिया जाता है, यह सूचित करने के लिए कि मीरा के पद शुद्ध व्रजभाषा में भी प्राप्त होते हैं, वैसे प्रामाणिकता मे सदेह तो तब तक रहेगा ही जब तक ऐसे पदो का कोई प्राचीन और प्रामाणिक हस्तलेख प्राप्त नहीं हो जाता।

मैं तो गिरधर के घर जाऊँ।
गिरधर म्हारो साचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ॥
रैन पड़े ही उठि जाऊँ भोर भये उठि आऊँ।
रैन दिना वाके सग खेलूँ ज्यूँ ज्यूँ वाहि रिझाऊँ॥
जो पहिरावे सोई पहिरूँ जो दे सोई खाऊँ।
मेरी उनकी प्रीति पुरानी उन बिन पल न रहाऊँ॥
जहाँ बैठावें तितही बैठूँ बेचै तो बिक जाऊँ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बार बार बलि जाऊँ॥

संगीतकार कवियों की रचनायें

§ २३८ आरभिक व्रजभाषा को सँवारने, परिष्कृत करने खास तौर से उसमें गीत तत्व और लयनयता का संचार करने में सगीतकार कवियों का बहुत बडा योग रहा है। १२ वीं १४ वीं शताब्दी में उत्तर भारतीय सगीत में ईरानी सगीत के प्रभाव के कारण एक नई चेतना का उदय हुआ जिसने हिन्दुस्तानी सगीत की बुनियाद डाली। मध्यकालीन राजपूत नरेशों के दरबार मे यद्यपि प्राचीन भारतीय सगीत की सुरक्षा होती रही, किन्तु इस्लामी सगीत का प्रभाव

१ राजपूताना में हिन्दी पुस्तकों की खोज, सवत् १६६८, पृ० ६
२ खोज रिपोर्ट, सन् १९०२, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, पृ० ८१
३. माइल्स्टोन्स इन गुजराती लिट्रेचर, बम्बई, १९१४, पृ० ३२

वहाँ भी पडने लगा था। राजपूत राजाओं के शासन काल में संगीत की चरम उन्नति हुई। कैप्टन डे का विश्वास है कि मुसलमानों के आक्रमण के पहले, देशी नरेशों का शासन-काल सगीत के विकास का सुनहरा युग था। वे तो मुसलमानों के आक्रमण को संगीत के ह्रास का कारण भी मानते हैं।[1] यह सत्य है कि मुसलमान आक्रमणकारियों की ध्वंस-नीति के कारण संगीत और कला को बडा आघात पहुँचा किन्तु सभी मुसलमान विनाशकारी स्वभाव के ही नहीं थे। मुसलमानों के भीतर भी बहुत से कलाप्रिय व्यक्ति थे जिनकी उदारता और साधना ने एक नई मिश्रित कला-शैली को जन्म दिया जिसका परिणाम स्थापत्य में ताजमहल, साहित्य मे सूफी प्रेमाख्यानक तथा संगीत में हिन्दुस्तानी पद्धति का सृजन था। श्री भातखण्डे ने हिन्दुस्तानी संगीत की विशिष्टताओ की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि कम से कम मैं व्यक्ति गत रूप से यह मानने को तैयार नहीं हूँ कि विदेशी सपर्क हमारे लिए अभाग्यपूर्ण सिद्ध हुआ है। क्या हमारे दक्षिण के बन्धु अपने अनुभवो के आधार पर यह नहीं कहते कि अपनी शास्त्रीय कमजोरियों के बावजूद हिन्दुस्तानी सगीत इतना भव्य और आह्लादकारी है कि वे प्रसन्नतापूर्वक अपने पेशेवर संगीतकारों को इसे सीखने और अनुकरण करने की सलाह देते हैं।[2]

राजपूत नरेशों के दरबार में संगीत का बहुत संमान था तथा इनमें से कई नरेशों ने भारतीय सगीत के विकास में सक्रिय योग दिया था। इस विषय पर हम पीछे विचार कर चुके हैं (देखिए § ८२) वहीं पर हमने यह भी निवेदन कर दिया है कि ब्रजभाषा के पिंगल-नामकरण के पीछे एक कारण यह सगीत भी था जिसके रागों के बोल प्रायः ब्रजभाषा में ही रचित हुए थे।

खुसरो

§ २३९. भारतीय और ईरानी संगीत मे समन्वय स्थापित करके उसे एक नई पद्धति का रूप देने में अमीर खुसरो का बहुत बडा हाथ है। अमीर खुसरो दोनों संगीत पद्धतियों के मर्मज्ञ विद्वान् थे इसीलिए उन्होंने दोनों के मिश्रण से कुछ ऐसे नये रागो का निर्माण किया जो हिन्दुस्तानी संगीत की अमूल्य निधि है। मज़ीर, साज़गरी, इमन, उश्शाक, मुवाफिक़, ग़नम, जिल्फ, फरगाजा, सरपर्दा, बकहरार, फिरदोस्त, मनमू जैसे रागों की उन्होंने सृष्टि की। यही नहीं वाद्य-यंत्रों के परिष्कार तथा नये रागों के उपयुक्त वाद्य-यंत्रों के निर्माण में भी खुसरो ने विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया।

खुसरो का जन्म एटा जिले के पटियाली ग्राम में संवत् १३१० में हुआ था। नाम यमुनुद्दीन मुहम्मद हसन था। सात वर्ष की उम्र मे पिता का देहान्त हुआ। पालन-पोषण उनकी माँ और इनके नाना एमादुलमुल्क ने किया। बलबन ने इन्हें अपने पुत्र मुहम्मद सुल्तान के मनोरंजनार्थ नौकर रखा। बाद में वे मुहम्मद सुल्तान के राज कवि हुए और सन् १२८४

---

1 The most flourishing age of Indian music was during the period of the native princes, a little before the Mohamedan conquest, with the advent of the Mohamedans it declined Indeed it is wonderful that it survived at all

Capt Day, Music of Southern, India PP 3

२ वी० एन० भातखण्डे, ए शार्ट हिस्टारिकल सर्वे आफ दि म्यूजिक आफ अपर इन्डिया, पृ० २०-२१

ईस्वी में जब दीपालपुर के युद्ध मे सुलतान मारा गया तो ये भी शत्रुओं के हाथ में पड गए। दो वर्ष बाद मुक्ति मिली तो अवध के सूबेदार आलमगीर के नौकर बने। 'अस्फ नामा' तभी लिखा गया था। अपने जीवन काल में खुसरो ने जितनी उथल-पुथल देखी उतनी शायद ही किसी कवि ने देखी हो। आलमगीर के बाद उन्होने कैकुबाद की नौकरी की और गुलाम वश के विनाश के बाद जलालुद्दीन खिलजी के दरबारी बने। अलाउद्दीन गद्दी पर बैठा तब खुसरो की पद-वृद्धि हुई और उन्हें खुसरु-ए-शायरा की पदवी मिली। खिलजी वश के पतन के बाद भी खुसरो राजकवि बने रहे और तुगलक गयासुद्दीन ने उनका पूरा समान किया। इस प्रकार खुसरो ने दिल्ली में ग्यारह बादशाहों का उदय और अस्त देखा। १३२४ ईस्वी में अपने गुरु निज़ामुद्दीन औलिया की मृत्यु के कारण वे बहुत दुःखी हुए और उसी ग्राम में उनका सन् १३२५ ईस्वी में देहान्त हो गया।[1] खुसरो अप्रतिम विद्वान् और अद्भुत देश-भक्त व्यक्ति थे। उन्होंने अपनी रचना 'नुह सिपेहर' में बड़े विस्तार से यह बताया है कि वे हिन्दुस्तान को प्रेम क्यों करते हैं। उन्होंने हिन्दुस्तान के गौरव को बढानेवाले दस कारणों का उल्लेख किया है। सगीत, भाषा, जलवायु, आदमी, रहन-सहन आदि के बारे में विस्तार से बताया है। भाषा के बारे में खुसरो का कहना है कि दिल्ली में हिंदवी भाषा बोली जाती है जो काफी प्राचीन है। हिन्दवी का अर्थ सभवतः ब्रजभाषा है क्योंकि दूसरी भाषाओं के साथ ब्रज का नाम नहीं लिया है जब कि सिंधी, बगला, अवधी आदि का नाम आता है। देशी भाषाओं के उदय की सूचना देनेवाला यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संकेत है। इसी प्रसग में खुसरो ने भारतीय सगीत की भी चरचा की है। उसने स्पष्ट लिखा है कि हिन्दुस्तानी सगीत सुन कर हिरन तद्रा मग्न हो जाते हैं। वे दौडना भूल जाते हैं।[2] गोपाल नायक, बैजू और तानसेन के बारे में, उनके सगीत की प्रतियोगिता मे हिरनों के आने की बात, खुसरो के इस सकेत से पुष्ट होती है।

खुसरो ने अपनी 'आशिका' नामक रचना मे हिन्दी भाषा की बडी प्रशसा की है। यद्यपि उन्होंने उसे अरबी से थोडा हीन माना किन्तु राय और रूम (फारस के नगरों) की भाषा के किसी भी तरह हीन मानने को वे तैयार न थे। हिंदी का अर्थ यहाँ हिन्द की भाषा यानी सस्कृत भी हो सकता है किन्तु यदि हिन्दी का अर्थ हिन्दी भाषा ही मानें तो स्पष्ट है कि उनका सकेत काव्यभाषा यानी ब्रज की ओर था। क्योंकि १३वीं शती में खडी बोली की स्थिति ऐसी नहीं थी कि उसे फारसी भाषा का दर्जा दिया जाता। डा० सैयद महीउद्दीन क़ादरी खुसरो की भाषा को ब्रजभाषा ही कहना चाहते हैं।[3] डा० रामकुमार वर्मा के कादरी साहब के मत का विरोध करते हुए लिखा कि 'खुसरो की जबान ब्रजभाषा नहीं थी जब तक किसी भाषा के क्रिया पद और कारक चिह्नादि व्याकरण की दृष्टि से प्रयुक्त न हों तब तक उस भाषा का प्रयोग पूर्ण रूप से नहीं माना जायेगा। शब्द चाहे ब्रजभाषा के भले ही हों पर

---

१ खुसरो के जीवन-वृत्त के लिए द्रष्टव्य—
एम० वी० मिरजा, लाइफ एंड वर्क आफ अमीर खुसरो

२. खिलजी कालीन भारत, सैयद अतहर अब्बास रिजवी, अलीगढ़, १९५४, पृ० १७६–८०

३ उर्दू शह पारे, प्रथम, भाग पृ० १०

क्रिया और कारक चिह्नादि खड़ी बोली के हैं।'[1] डा० वर्मा का कथन बिल्कुल सही है कि भाषा का निर्णय शब्दों से नहीं व्याकरणिक तत्त्वों यानी क्रियापद, कारक चिह्नादि से होना चाहिए।

§ २४०. नीचे हम खुसरो के कुछ पद्य उद्धृत करते हैं :

१—मेरा मोसे सिंगार करावत आगे बैठ के मान बढ़ावत
वासे चिक्कन ना कोउ दीसा, ए सखि साजन ना सखि सीसा
—हिं० अलोचना० इति० पृ० १३१

२—खुसरो रैन सुहाग की जागी पी के संग।
तन मेरो मन पीउ को दोउ भयो एक रंग॥
गोरी सोवै सेज पर मुख पर डारै केस।
चल खुसरो घर आपने रैन भई चहुँ देस॥

३—मोरा जोबना नवेलरा भयो है गुलाल।
कैसे गर दीनी बकस मोरी लाल॥
सूनी सेज डरावन लागै, बिरहा अगिनि मोहि डस डस जाय।

४—हज़रत निजामदीन चिस्ती जरजरीं बख्श पीर।
जोइ जोइ ध्यावैं तेइ तेइ फल पावैं
मेरे मन की मुराद भर दीजै अमीर

५—री मैं धाउँ पाउँ हजरत ख्वाजदीन
शकरगज सुलतान मशायख महबूब इलाही
निज़ामदीन औलिया के अमीर खुसरो बल बल जाहीं

ये पांच पद्यांश, जो खुसरो की रचनाओं में प्रायः प्रामाणिक माने जाते हैं। भाषा-संबधी विवेचन के लिए पर्याप्त न होते हुए भी, खडी बोली और ब्रज का निर्णय करने के लिए अपर्याप्त नहीं कहे जा सकते। अन्य रचनाओं के लिए 'खुसरो की हिन्दी कविता' शीर्षक निबंध देखा जा सकता है।[2]

सर्वनाम के साधित विकारी रूप मो, वा, तथा मोरो, मोरी (षष्ठी, उत्तम पुरुष) परसर्ग को (पीउ को) से (वा से) तथा सविभक्तिक सर्वनाम रूप मोहिं (कर्म कारक) अनिश्चयवाचक कोउ (खडी बोली का कोई नहीं) नित्य संबधी जोइ जोइ तथा दूरवर्ती संकेतवाची तेइ तेइ आदि सर्वनाम, करावत, बढावत आदि प्रेरणार्थक कृदन्तज रूप जो वर्तमान की तरह प्रयुक्त हुए है, (खडी बोली में इनके साथ सहायक क्रिया का होना अनिवार्य है) भयो (पुलिंग) दीनी, जागी (स्त्रीलिंग) आदि भूतनिष्ठा के रूप सोवै, डारै, लगै, ध्यावैं आदि वर्तमान के तिडन्त रूप (जो केवल ब्रज में चलते हैं, खड़ी बोली में नहीं) क्रियार्थक संज्ञा डरावन (ण प्रत्यय निर्मित खडी बोली का डरावना नहीं) दोउ, चहुँ जैसे संख्यावाचक विशेषण, (दोनों, चारो नहीं) आदि तत्व इस भाषा को ब्रज प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं।

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण पृ० १२७

२ नागरीप्रचारिणी पत्रिका, संवत् १९७८, पृ० २६१।

खुसरो की भाषा का प० रामचन्द्र शुक्ल ने बहुत सही विश्लेषण किया है। उन्होंने लिखा है कि 'काव्यभाषा का ढांचा अधिकतर शौरसेनी या पुरानी ब्रजभाषा का ही बहुत काल से चला आता था अतः जिन पश्चिमी प्रदेशों की बोलचाल खड़ी होती थी, उसमें भी जनता के बीच प्रचलित पद्यों, तुकबंदियों आदि की भाषा ब्रजभाषा की ओर झुकी हुई रहती थी। खुसरो की हिन्दी-रचनाओं में दो प्रकार की भाषा पाई जाती है। ठेठ खड़ी बोल-चाल पहेलियों, मुकरियों और दो सखुनों में ही मिलती है यद्यपि उनमें भी कहीं कहीं ब्रजभाषा की झलक है पर गीतों और दोहों की भाषा ब्रज या मुख-प्रचलित काव्यभाषा ही है।"[1]

गोपाल नायक

§ २४१. गोपाल नायक खुसरो के समकालीन ही माने जाते हैं। 'नायकी कानड़ा' राग के रचयिता इस यशस्वी संगीतकार के विषय में इतिहास प्रायः मौन है। सगीत के इतिहास-ग्रथों में गोपाल नामक दो सगीतकारों का पता चलता है। प्राचीन ध्रुपदों में कहीं कहीं 'कहैं मिया तानसेन सुनो हो गोपाल लाल' जैसी पक्तिया भी मिलती हैं, किन्तु गोपाल लाल नामक कवि तानसेन के समसामयिक और अकबर के दरबारी गायक थे। कप्तान विलिवर्ड की पुस्तक 'ट्रिटीज आन दि म्यूज़िक आव हिन्दुस्तान' में गोपाल नायक के जीवन वृत्त आदि के विषय में विचार किया गया है। उक्त लेखक के अनुसार गोपल नायक सन् १३१० में दक्षिण के देवगिरि से उत्तर दिल्ली गए। उक्त सन् में अलाउद्दीन के सेनापति मलिक काफ़ूर ने दक्षिण पर विजय पाई और देवगिरि के इस प्रसिद्ध राजगायक को दिल्ली आने पर विवश किया। कप्तान विलियर्ड ने लिखा है कि अलाउद्दीन के दरबार में गोपाल नायक ने जब पहली बार अपना सगीत सुनाया तो उनके अद्भुत कठ-माधुर्य और मार्मिक सगीत ने सबको स्तब्ध कर दिया। प्रसिद्ध सगीतज्ञ खुसरो गोपाल के सामने प्रतियोगिता में खामोश रह गए और दूसरे दिन अलाउद्दीन के सिंहासन के नीचे छिपकर उन्होंने गोपाल का गीत सुना तब कहीं वे उसकी शैली का अनुकरण करने में समर्थ हुए।

शारगदेव (१२१०–१२४७ ईस्वी) कृत सगीतरत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ ने ताल अध्याय पर टीका लिखते हुए कडुकताल के प्रसग में गोपाल-नायक का भी नामोल्लेख किया है।

कन्दुकतालवस्तु गोपालनायकेन राग वर्द्धवैरेव गुसवद प्रयुक्तम्

१५वीं शताब्दी के प्रथम चरण में विजयनगर नरेश राजा देवराज के दरबार में कल्लिनायक का होना प्राय. निश्चित है। इस प्रकार १५वीं शती के आरम्भ तक गोपाल नायक एक अत्यन्त प्रसिद्ध सगीतकार माने जाते थे। १६वीं शताब्दी में श्री कृष्णानन्द व्यास ने 'राग कल्पद्रुम' नामक एक सग्रह ग्रन्थ प्रस्तुत किया जिसमें प्राचीन सगीतकारों की रचनायें सकलित हैं। इनमें कतिपय रचनायें गोपाल नायक की भी मिलती हैं। गोपाल नायक की भणिता से युक्त एक रचना में अकबर का नाम आता है :

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, काशी, छठा सस्करण, सवत २००७, पृ० ७४

दिल्लीपति नरेन्द्र अकबर साह जाकों डर डरे धरती पुहुप माल हलायो
दल साजि चतुरंग सेना अगाध जहाँ गुन ठयौ चतु विद्याधर आप-
आय राग भेद गायो ।

ऐसी रचनायें गोपाल नायक की नहीं गोपाललाल की मानी जानी चाहिए जो अकबर के दरबारी गायक थे । हालांकि यह निर्णय करने का कोई आधार प्राप्त नहीं है कि किसे गोपाल नायक की रचना कहें और किसे गोपाललाल की ।

§ २४२. गोपाल नायक के गीत, जो राग-कल्पद्रुममें मिलते हैं, सभी व्रजभाषा में हैं । रचना काव्य की दृष्टि से उच्च कोटि की नहीं है किन्तु उनकी लयमयता और मधुरता अत्यन्त परिष्कृत शब्द सौष्ठव का परिचायक है । कहीं-कहीं प्रयोग प्राकृत पैंगलम् की भाषा का स्मरण दिलाते हैं । नीचे तीन पद उद्धृत किये जाते हैं ।

१—अत गत मत्र गम् नम गंम् मग मम गम मग ममग अत गत मंत्र गाइया
लै लोक भू में कमल रे हरि कौ लरै सन्तो लरै मकरन्द आइया
उदध चन्द्र धरौ मन में अत गत मत्र गाइया
तड तक भुयण जुग लरे हत काल विरत अपार रे अधार दे धरु गावत
नायक गोपाल रे राजा राम चतुर भये ऊइयां, रे अत गत मंत्र गाइया

२—कहावै गुनी ज्यों साधै नाद सवद जाल कर थोक गावै ।
मार्ग देसी कर मूर्छना गुन उपजे मति सिद्ध गुरु साध चावै ॥
सो पचन मध दर पावै,
उक्ति जुक्ति भक्ति युक्ति गुप्त होवै ध्यान लगावै ।
तब गोपाल नायक के अष्ट सिद्ध नव निद्ध जगत मध पावै ॥

३—जय सरस्वती गनेश महादेव शक्ति सूर्य सब देव ।
देहो मोय विद्या कर कठ पाठ ॥
भैरव मालकोस हिंडाल दीपक श्रीमेघ मूर्चित ।
हृदय रहे ठाठ ॥
सप्त स्वर तीन ग्राम अकईस मूर्छना वाइस सुर्त,
उनचास कोट ताल लाग डाट ।
गोपाल नायक हो सब लायक आहत अनाहत शब्द,
सो ध्यायो नाद ईश्वर बसे मो घाट ॥

बैजू बावरा

§ २४३. बैजू बावरा का जीवन-वृत्त भी गोपालनायक की ही भाँति जन-श्रुतियों एवं निजंधरी कथाओं से आवृत्त है । गोपाल नायक के विषय में प्रसिद्ध जनश्रुति में बैजू बावरा को उनका गुरु बताया जाता है । कहा जाता है कि बैजू बावरा से संगीत की शिक्षा प्राप्त करने पर गोपाल नायक की ख्याति ज्यों ज्यों बढ़ने लगी उनमें अहंभावना भी बढ़ने लगी और एक दिन किसी बात पर अपने गुरु से रुष्ट होकर वे चले गए । बैजू बावरा अपने शिष्य को इधर उधर ढूँढते रहे । अलाउद्दीन के दरबार में दोनों की भेंट हुई । अलाउद्दीन

के बार बार पूछने पर भी गोपाल ने अपने गुरु का नाम नहीं बताया था और कहा था कि मेरी प्रतिभा ईश्वर प्रदत्त और जन्मजात है। बादशाह ने रुष्ट होकर चेतावनी दी कि यदि तुम्हारे गुरु का पता लग गया तो तुम्हें फासी दे दी जायेगी। जब अलाउद्दीन को मालूम हो गया कि बैजू ही गोपाल के गुरु हैं तो उन्होंने फिर एक बार पूछा, परन्तु गोपाल ने वही पुरानी बात दुहराई। उस दिन गोपाल के सगीत से आकृष्ट होकर हिरनों का एक झुंड पास आकर खडा हो गया। उसने एक हिरन के गले में अपनी माला पहनाई और गर्व पूर्वक बैजू से बोला : यदि तुम मेरे गुरु हो तो मेरी माला मँगा दो। बैजू के गाने पर हिरन फिर आये, उसने माला उतार कर गोपाल को दे दी। बादशाह ने गोपाल को फासी की सजा दी, बैजू ने अपने शिष्य की रक्षा के लिए बहुत प्रयत्न किया, पर वह सफल न हुआ।

यही कथा कुछ हेर फेर के साथ तानसेन और बैजू की प्रतियोगिता के विषय में भी प्रचलित है। तानसेन और बैजू बावरा दोनों ही स्वामी हरिदास के शिष्य माने जाते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि 'राधाकृष्ण की प्रेम-लीला के गीत सूर के वक्त से चले आते थे। बैजू बावरा एक प्रसिद्ध गवैया हो गया है जिसकी ख्याति तानसेन से पहले देश में फैली हुई थी।'[1] शुक्ल जी ने अपने मत की पुष्टि के लिए कोई आधार नहीं बताया। डा० मोतीचन्द्र ने अपने 'तानसेन' शीर्षक लेख में तानसेन और बैजू बावरा की प्रतियोगिता का जिक्र करते हुए लिखा है कि 'इन सबमें तानसेन की ही पराजय मानी गई है। लेकिन इतिहास इस विषय में सर्वथा चुप है। शायद बैजू बावरा सूफी सन्त बख्शू हो जो तानसेन से एक पीढी पहले हुआ था। शायद परवर्ती गायकों के विभिन्न पक्षपातियों ने अपने अपने पक्ष की पुष्टि के लिए ऐसी कहानियाँ गढ़ी हों। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में लिखित 'राग दर्पण' में फकीरुल्ला ने इसी बात की पुष्टि की है कि मानसिंह के समय में सगीत के ऐसे मर्मज्ञ थे जैसे अकबर के राजत्व-काल में नहीं थे। दरबारी गवैये (तानसेन सहित) केवल गाने में ही कमाल थे लेकिन सगीत के सिद्धान्तों पर उनका अधिकार न था।'[2] डा० मोतीचन्द्र फकीरुल्ला वाले मत को उद्धृत करके सभवत. यह सकेत करना चाहते हैं कि बैजूबावरा मानसिंह के काल में था। या उनके दरबार से सबद्ध था। क्योंकि 'मानकुतूहल' का फारसी में अनुवाद करनेवाले फकीरुल्ला ने लिखा है : मार्गी (सगीत पद्धति) भारत में तब तक प्रचलित रहा जब तक कि ध्रुपद का जन्म नहीं हुआ था। कहते हैं कि राजा मानसिह ने उसे पहली बार गाया था। इसमें चार पक्तिया होती है और सारे रसों में बाँधा जाता है। नायक बैजू, नायक बख्शू और सिंह जैसा नाद करनेवाला महमूद तथा नायक कर्ण ने ध्रुपद को इस प्रकार गाया कि इसके सामने पुराने गीत फीके पड गए।'[3] फकीरुल्ला के इस कथन से दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहली यह कि नायक बैजू और बख्शू दो व्यक्ति थे। इन्हें एक नहीं मानना चाहिए जैसा डा० मोतीचन्द्र का सुझाव है। दूसरी यह कि यदि बैजू ग्वालियर नरेश राजा मानसिह (ई० १४८६–१५१६) के दरबारी गायक थे तो वे गोपाल नायक के गुरु नहीं हो सकते। राग कल्पद्रुम वाले पदों में 'कहै बैजू बावरे सुन हो गोपाल नायक' जैसी उक्तियाँ कई बार आई है। ये पक्तियाँ किस गोपाल नायक को सबोधित करके

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, छठाँ संस्करण, सवत २००७, पृ० १६८

२ तानसेन, नवनीत, अप्रैल १९५६, पृ० ३९–४०

३ मानसिंह और मानकुतूहल, श्री हरिहरनिवास द्विवेदी, ग्वालियर, पृ० ६१

कही गई है इसका निर्णय करने का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं मिलता। नायक बख्शू, बैजू और कर्ण फकीरुल्ला के अनुसार मानसिंह के दरबार के प्रसिद्ध गायक थे। आईने अकबरी मे लिखा है कि राजा मानसिंह ने अपने तीन गायकों से एक ऐसा सग्रह तैयार कराया था जिसमें प्रत्येक वर्ग के लोगों की रुचि के अनुसार पद सगृहीत थे।[1] हालाकि इन तीन गायकों के नामादि का पता नहीं चलता, किन्तु यह सकेत मिलता है कि ये गायक संगीत के आचार्य ही नही कवि और काव्य-प्रेमी भी थे। मानकुतूहल से भी मालूम होता है कि सगीतकार को पद रचयिता होना चाहिए।[2]

§ २४४. बैजू के बहुत से पद रागकल्पद्रुम में मिलते हैं। इस प्रकार के पदों को श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'सगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनायें' में एकत्र सकलित कर दिया है। नीचे हम बैजू बावरा के तीन पद उद्धृत करते हैं।

१—आगन भीर भई ब्रजपति के आज नद महोत्सव आनन्द भयो
हरद दूब दधि अच्छत रोरी ले छिरकत परस्पर गावत मंगल चार नयो
ब्रह्मा ईस नारद सुर नर मुनि हरषित विमानन पुष्प बरस रग ठयो
धन-धन बैजू सतन हित प्रकट नद जसोदा ये सुख जो दयो

२—कहाँ कहूँ उन बिन मन जरो जात है अंगन बरतें कर मन कियो है बिगार
वह मूरत सूरत बिनु देखे भावै न मोहें घर द्वार
इत उत देखत कछू न सोहावत बिरथा लगत संसार
बैर करत है दुरजन सब बैजू न पावै मन पिय के
अचरज भयो हैं व्यौहार।

३—बोलियो न डोलियो ले आऊँ हूँ प्यारी को
सुन हो सुघर वर अबहींपैं जाऊँ हूँ
मानिनी मनाय के तिहारे पास लियाय के
मधुर बुलाय के तो चरण गहाऊँ हूँ
सुन री सुन्दर नार काहे करत एती रार
मदन बारत पार चलत पततुभाऊँ हूँ
मेरी सीख मान कर मान न करो तुम
बैजू प्रभु प्यारे सो बहियाँ गहाऊँ हूँ

बैजू बावरा की रचनायें केवल अपने सगीततत्त्व के लिए ही नहीं बल्कि काव्यत्त्व के लिए भी प्रशसनीय है।

हक़ायके हिन्दी मे प्राचीन ब्रजभाषा के तत्त्व

§ २४५. ईस्वी सन् १५६६ अर्थात् १६२३ संवत् में मीर अब्दुल वाहिद बिलग्रामी ने फारसी भाषा में हक़ायके हिन्दी नामक पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने हिन्दी के लौकिक शृङ्गार

---

१. ग्लेडविन . आईने अकबरी, पृ० ७३०

२. मानसिंह और मानकुतूहल, पृ० १२२

की रचनाओं को आध्यात्मिक रूप में समझाने का प्रयत्न किया है। इस ग्रथ के सम्पादक श्री अतहर अब्बास रिजवी ने लिखा है कि "हकायके हिन्दी के अध्ययन से पता चलता है कि ध्रुपद तथा विष्णुपद को सबसे अधिक प्रसिद्धि प्राप्त थी। श्रीकृष्ण तथा राधा की प्रेम-कथाएँ सूफियों को भी अलौकिक रहस्य से परिपूर्ण ज्ञात होती थीं। इन कविताओं का सभा में गाया जाना आलिमों को तो अच्छा लगता ही न होगा कदाचित् कुछ सूफी भी इन गानों की कटु आलोचना करते होंगे, अतः इन कविताओं का आध्यात्मिक रहस्य बताना भी परम आवश्यक सा हो गया, अब्दुल वाहिद सूफी ने हकायके हिन्दी में उन्हीं शब्दों के रहस्य की गूढ़ व्याख्या की है जो उस समय हिन्दी गानों में प्रयोग में आते थे।"[1]

अब्दुल वाहिद जैसा कि उनके रचना-काल को देखने से पता लगता है, सूरदास के समकालीन थे। उन्होंने अपनी पुस्तक में जो रचनायें उद्धृत की हैं वे उनसे कुछ पहले की या उनके समसामयिक कवियों की होंगी इसमे सन्देह नहीं। रचनाओं की भाषा और वर्णन-पद्धति से अनुमान होता है कि ये राग-रागिनियो के बोल के रूप में रचित ब्रजभाषा गानों से ली गई हैं। गोपाल नायक, बैजू, खुसरो आदि सगीतज्ञ कवियों की जो रचनायें राग कल्पद्रुम में पाई जाती हैं, उनकी शैली और भाषा की छाप इन रचनाओं पर स्पष्ट दिखाई पडती है। उदाहरण के लिए हकायके हिन्दी के कुछ अश नीचे उद्धृत किये जाते हैं। सगीतकार कवियों की रचनाओं के उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं।

(१) खेलत चीर भरक्यो उभर गये थन हार (पृष्ठ ४६)
(२) साजन आवत देखि कै हे सखि तौरो हार।
लोग जानि मुतिया चुनैं हौ नय करौं जुहार ॥ (पृष्ठ ४८)
(३) तुम मानि छाडि दै कत हेत हे मानमती (पृष्ठ ६१)
(४) जब जब मान दहन करे तब तव अधिक सुहाग (पृष्ठ ६०)
(५) तुम न भई भोर की तरैयाँ (पृष्ठ ६५)
(६) रैन गई पीतम कठ लागे (पृष्ठ ६५)
(७) अधर कपोल नैन आनन उर कहि देत रति के आनन्द (पृष्ठ ६७)
(८) हौं पठई तौ लेन सुधि पर तैं रति मानी जाय (पृष्ठ ६८)
(९) कन्हैया मारग रोकी, कान्ह घाट रूँधौ (पृष्ठ ८०)
(१०) काहू की बाँह मरोरी, काहू के कर चूरी फोरी।
काहू की मटकिया ढारी, काहू की कचुकी फारी ॥ (पृष्ठ ८१)
(११) कन्हैया मेरो वारो तुम बाट लगावत खोर (पृष्ठ ८२)
(१२) मोर मुकुट सीस धरे (पृष्ठ ८३)
(१३) जाड लागत मरत कठ लग प्यारी (पृष्ठ ८७)
(१४) हौं बलिहारी साजना साजन मुझ बलिहार।
हौं साजन सिर सेहरा साजन मुझ गलहार ॥ (पृ० ९०)
(१५) कोंची कलियाँ न तोर मुरझ गई डालियाँ (पृष्ठ ९२)

---

[1] हकायके हिन्दी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, भूमिका, पृ० २२

(१६) तुझ कारन मैं सेज सँवारी
तन मन जोवन जिउ बलिहारी (पृष्ठ ६४)
(१७) नन्ह-नन्ह पात जो आँवली सरहर पेड़ खजूर
तिन्ह चढ देखो आलमा नियरै बसैं कि दूर (पृष्ठ ६५)
(१८) उठ सुहागिनि मुख न जोहु छैल खड़ो गलबाहिं
थाल भरी गजमोतिन गोद भरी कलियाहिं (पृष्ठ ६५)

इन पद्यांशों को देखने से लगता है कि लेखक ने तत्कालीन बहुत प्रसिद्ध पदों से या स्फुट रचनाओं से इन्हें उद्धृत किया है। मुसलमान बादशाहों के दरबारों में हिन्दू और मुस्लिम सभी गायक प्रायः ब्रजभाषा के बोल ही कहते थे, इन गानों में राधाकृष्ण के प्रेम प्रसंगों का वर्णन रहता था। ऊपर की पंक्तियाँ ऐसे गीतों की ओर ही संकेत करती हैं।

'हकायके हिन्दी' कई दृष्टियों से एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें प्राचीन ब्रजभाषा की रचनायें संकलित हैं जो सूरदास से पहले की ब्रजभाषा का परिचय देती हैं। सूरदास के पहले के संगीतकार कवियों ने इस भाषा को पुष्ट और परिष्कृत बनाने का कितना महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, इसका पता इन रचनाओं को देखने से चलता है। हकायके हिन्दी का साहित्यिक महत्त्व भी निर्विवाद है। इस रचना को देखने से सूफी साधकों की उदार दृष्टि का भी पता चलता है जिन्होंने हिन्दू धर्म और इस्लाम के बाहरी विभेद और वैषम्य के भीतर उनकी मूलभूत एकता को ढूँढने और प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया। सूफी कवि केवल अवधी भाषा के ही माध्यम से यह कार्य नहीं कर रहे थे बल्कि ब्रजभाषा के विकसित और प्रेम-कथा मूलक काव्य को समझने-समझाने का भी प्रयत्न कर रहे थे। ब्रजभाषा की कोमलता और मृदुता ने सूफियों पर भी अपना अमिट प्रभाव डाल दिया था। एक बार किसी ने १४ मई १४०० ईस्वी शुक्रवार के दिन ख्वाजा गेसू दराज सैयद मुहम्मद हुसेनी (मृत्यु १४२२ ईस्वी) से पूछा : 'क्या कारण है कि सूफियों को हिन्दवी में जितना आनन्द आता है उतना गजल में नहीं आता।' गेसूदराज ने कहा: हिन्दवी बड़ी ही कोमल और स्वच्छ होती है। इसका संगीत बड़ा ही कोमल तथा मधुर होता है। इसमें मनुष्य की करुणा, नम्रता तथा वेदना का बड़ा ही सुन्दर चित्रण होता है।[1] जाहिर है कि यहाँ हिन्दवी का मतलब ब्रजभाषा के पदों से है।

हिन्दीतर प्रान्तों के ब्रजभाषा-कवि

§ २४६. मध्यदेश की बोलियों से उत्पन्न साहित्यिक भाषाएँ समय-समय पर संपूर्ण उत्तर भारत की काव्य-भाषा मानी जाती रही हैं। इस विषय पर विस्तृत विचार हम 'ब्रजभाषा का रिक्थ' शीर्षक अध्याय में कर चुके हैं। दसवीं शताब्दी के बाद काव्य भाषा का स्थान शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी ब्रजभाषा को प्राप्त हुआ और अपने पुराने रिक्थ को सपूर्णतया संपादित करने वाली यह भाषा गुजरात से असम तक के साहित्यिक प्रेमियों के द्वारा परस्पर आदान-प्रदान के सहज माध्यम के रूप में गृहीत हुई। अष्टछापी कवियों की कविता का

---

१. जमावे-उल किलम-ख्वाजा गेसूदराज के वचन, इन्तजामी प्रेस उस्मानगंज—हकायके हिन्दी, भूमिका पृष्ठ २२ पर उद्धृत

माधुर्य परवर्ती काल में हिन्दीतर प्रान्त के लोगों को ब्रजभाषा और उसके काव्य की ओर आकृष्ट करने में सफल हुआ और १७वीं शती में गुजरात, महाराष्ट्र, दक्षिण भारत तथा बगाल-असम के कई कवियों ने इस भाषा में काव्य प्रणयन किया। गुलेरी जी ने ठीक ही लिखा है कि 'कविता की भाषा प्रायः एक ही सी थी। नानक से लेकर दक्षिण के हरिदासों तक की कविता 'ब्रजभाषा' कहलाती थी। पिछले समय में भी हिन्दी कवि सतलोग विनोद के लिए एक आध पद गुजराती या पजाबी में लिखकर अपनी वाणिया 'भाखा' में ही लिखते रहे हैं।[1] सूरदास या अष्टछाप के कवियो के काव्य-माधुर्य से आकृष्ट होने के काफी पहले तक भी हिन्दीतर प्रान्तो के कवि ब्रजभाखा मे काव्य करते रहे हैं। सत कवियों में से कई हिन्दीतर प्रान्तों के कवि थे। नामदेव, त्रिलोचन महाराष्ट्र के, सधना सिंध के, जयदेव बगाल के तथा नानक पजाब के रहने वाले थे। संतों में कई कवि राजस्थान के भी थे। इन सत कवियोंके अलावा भी कई ऐसे कवि हैं जिन्होंने हिन्दीतर प्रान्तों के होते हुए भी ब्रजभाषा में काव्य लिखा है। हम यहा सक्षेप में ऐसे कवियों की रचनाओं का परिचय प्रस्तुत करना चाहते हैं।

असम के कवि—शंकरदेव

§ २४७ शकरदेव असमिया साहित्य के जन्मदाता माने जाते हैं। अहोम वशी नरेंद्र सुनेफा के शासन-काल में १४४९ ईस्वी (१५०६ सवत्) में उनका जन्म नोवगग जिले के वारदोना ग्राम में हुआ। उन्होंने अपने गुरु महेन्द्र कालिन्दी से सस्कृत की शिक्षा पाई।

अपने पिता और प्रथम पत्नी की मृत्यु के बाद उन्होंने एक लम्बी तीर्थ यात्रा की। डा० विरचिकुमार वरुआ ने लिखा है कि शकरदेव १५४१ ईस्वी में १२ वर्ष की लम्बी तीर्थ-यात्रा पर निकले।[2] किन्तु शंकरदेव के जन्म-काल को देखते हुए यह असभव मालूम होता है कि वे ९२ वर्ष की उम्र में इतनी बडी यात्रा पर निकले। मैंने इस विषय में डाक्टर साहब को एक पत्र लिखा था जिसके उत्तर में उन्होंने लिखा है कि शकरदेव ने दो बार यात्रायें की थीं। पहली यात्रा ईस्वी १४८१ में शुरू हुई जो १४९२ में समाप्त हुई। शकरदेव इसी यात्रा में काशी, वृन्दावन और बद्रीनाथ गये थे। इसी यात्रा में उन्होंने वरगीतों की रचना की। पहला वरगीत बद्रिकाश्रम मे लिखा गया। ईस्वी १५४१ में उन्होने केवल पुरी की यात्रा की।[3] शकरदेव अपनी पहली यात्रा में काशी गए थे। उनके कतिपय जीवनी-लेखकों ने बताया है कि काशी में वे कबीर से मिले, कुछेक ने कबीर की पौत्री से मिलने की बात लिखी है।[4] डा० वरुआ का मत है कि शकरदेव काशी मे कबीर के कुछ शिष्यों से मिले और कबीर के चौतीसाँ काव्य से बहुत प्रभावित हुए, परिणामत. उन्होंने असमिया में चतिहा (chatiha) काव्य का निर्माण किया।[5] पहली यात्रा से लौटने के बाद शकरदेव ने कालिन्दी नामक कायस्थ लड़की से शादी की। सन् १५६९ में उनका देहान्त हुआ।

---

१ पुरानी हिन्दी, काशी, प्रथम सस्करण, सवत् २००५, पृ० १२

२ एस्पेक्ट्स आव अर्ली असमीज लिटरेचर, सपादक डा० वानी कान्त काकती, गुवाहाटी, १९५३, पृ० ६६–६७

३ डा० विरचिकुमार वरुआ का ५ फरवरी १९५७ का लेखक के नाम लिखा पत्र

४ श्री श्रीशकरदेव, लेखक डा० महेश्वर नेओग, अनुच्छेद ५८, पृ० १५६–६२

५ असमीज लिटरेचर, पी० ई० एन०, बम्बई १९४१, पृ० २१–२२

शंकरदेव ने व्रजभाषा में वरगीतों की रचना की। अपनी पहली यात्रा में वे वृन्दावन गए थे। व्रजभाषा काव्य की प्रेरणा उन्हें कृष्ण की जन्मभूमि से ही प्राप्त हुई। व्रजभाषा में रचित ये वरगीत सन् १४८१-६३ के बीच लिखे गए जैसा डा० एम० नेयोग ने प्रमाणित किया है।[1] डा० नेयोग का अनुमान है कि व्रजभाषा में लिखा पहला वरगीत बद्रिकाश्रम में लिखा गया। डा० नेयोग ने शकरदेव के वरगीतों को व्रजबुलि का सबसे पुराना उदाहरण बताया है। डा० वरुआ ने लिखा है कि वृन्दावन में शकरदेव ने व्रजभाषा के धार्मिक साहित्य को देखा था। इसी समय उन्होंने इस भाषा को सीखा और इसी की मिश्रित भाषा में वरगीतों की रचना की।'[2]

§ २४८. शकरदेव के वरगीतों की भाषा मिश्रित अवश्य है क्योंकि उसमे कहीं कहीं असमिया के प्रयोग भी आते हैं, किन्तु व्रजभाषा की मूल प्रवृत्ति को आश्चर्यजनक रूप से सुरक्षा दिखाई पडती है। नीचे हम शंकरदेव के दो पद उद्धृत करते हैं। ये पद बद्री हरिनारायण दत्त वरुआ द्वारा संपादित 'वरगीत' से उद्धृत किए गए हैं।

पद संख्या २१ राग धनश्री

१—ध्रु० गोपिनी प्रान काहेनो गयो रे गोविन्द।
हामु पापिनी पुनु पेखवो नाहि आर मोहि वदन अरविन्द।
पद कवन भाग्यवती, भयो रे सुपरभात आजु भेटन मुख चाँदा।
उगत सूर दूर गयो रे गोविन्द भयो गोप वधु आन्धा॥
आजु मथुरा पुरे मिलन महोत्सव माधव माधव मान।
गोकुल के मगल दूर गयो नाहिं बाजत वेनू विषान॥
आजु जत नागरी करत नयन भरि मुख पकज मधुपाना।
हमारि वन्ध विधि हाते हरल निधि कृष्ण किकर रस माना॥

धनश्री पद १८

२—ध्रु० मन मेरि राम चरनहिं लागु।
तइ देख ना अन्तक जागु॥
पद मन आयू छने-छने टूटे।
देखो प्रान कौन दिन छूटे॥
मन काल अजगर गिलै।
जान तिले के मरन मिलै॥
मन निश्चय पतन काया।
तइ राम भज तेजि माया॥
रे मन इ सब विषय धन्धा।
केने देखि न देखत अन्धा॥

---

१. जर्नल आव दि यूनिवर्सिटी आव गुवाहाटी, भाग १ सख्या १, १६५०, नेयोग का लेख

२. असमीज़ लिटरेचर, पी० ई० एन०, १६४१, पृ० २६।

मन सूखे पार के जे निन्द ।
तुम चेति या चित्त गोविन्द ॥
मन जानि या शकर कहे ।
देखो राम बिनै गति न हे ॥

पूर्वी लेखन पद्धति के प्रभाव के कारण कई शब्द परिवर्तित दिखाई पडते हैं । हउँ का हामु तथा ह्रस्व 'उ' का कई स्थानों पर दीर्घ 'ऊ' अनुस्वार का ह्रस्व उच्चारण जैसे चाँदा, आँधा आदि । पूर्वी प्रयोग भी एकाध मिल जाते हैं । जैसे पहले पद में भूत निष्ठा का 'ल' कृदन्त रूप हरल, छन्दानुरोध और पूर्वी उच्चारण के कारण भी कई शब्द कुछ बदले हुए दिखाई पडते हैं । इन प्रभावों के बावजूद भाषा ब्रज है । सूर-पूर्व की ये रचनायें असम जैसे सुदूर पूर्वी प्रदेश में ब्रजभाषा काव्य की लोकप्रियता का प्रमाण उपस्थित करती हैं । ओकारान्त क्रिया पद गयो, भयो, वर्तमान के तिङन्त ऐकारान्त रूप टूटै, छूटै, गिलै, मिलै आदि, वर्तमान कृदन्त का सामान्य वर्तमान की तरह प्रयोग जैसे वाजत, करत, देखत आदि क्रियार्थक सज्ञा देखबो, आज्ञार्थक उकारान्त अथवा ओकारान्त रूप लागु, जागु, देखो आदि सर्वनाम में हों (हामु) तथा मध्यम पुरुष में तइ (तैं) इस भाषा को पूर्णतया ब्रज प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं । ब्रजबुलि ही परवर्ती रचनायें इतनी स्पष्ट और पूर्वी प्रभाव से इतनी कम रगी हुई शायद ही प्राप्त हो सकें ।

माधवदेव

§ २४६. माधवदेव सूरदास के समसामयिक थे । उन्होंने अपने गुरु शंकरदेव की ही तरह ब्रजभापा के पद लिखे थे । शकरदेव वृन्दावन गये थे, ब्रजभूमि में ही उन्होंने ब्रजभाषा में काव्य लिखने की प्रेरणा ग्रहण की । माधवदेव कभी ब्रज नहीं गए फिर भी उन्होंने ब्रजभाषा में रचनायें कीं और आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि माधवदेव के वरगीतों में भाषा अपेक्षाकृत ज्यादा स्पष्ट ब्रजभाषा है । माधवदेव को ब्रजभाषा की प्रेरणा शकरदेव के वरगीतों से मिली इसमें सन्देह नहीं किंतु इन रचनाओं को देखने से ऐसा लगता है कि शकरदेव के वर-गीतों ने ही इतनी बडी प्रेरणा और एक अपरिचित भाषा में लिखने की शक्ति नहीं पैदा कर दी । पूर्वी प्रदेशों में खास तौर से बगाल, बिहार, मिथिला आदि में शौरसैनी अपभ्रश के कनिष्ठ रूप अवहट्ट में लिखी रचनाएँ मिलती हैं । विद्यापति और जयदेव की रचनाओं के विषय में हम पीछे विचार कर चुके है (देखिये §§ १०७, ११०) आरभिक ब्रजभाषा की इन रचनाओं का भी वरगीतों के निर्माण में योग-दान माना जा सकता है ।

माधव देव का जन्म सन १४८६ ईस्वी (१५४६ सवत्) में हुआ था । ये पहले शाक्त थे किन्तु बाद में शकरदेव के संपर्क में आने पर वैष्णव हो गए । शकरदेव के बहुत आग्रह के बावजूद इन्होंने ब्रह्मचारी का जीवन बिताया । इनके आदर्शों को मानने वाले लोग केवलिया (kevalia) अर्थात् आजन्म ब्रह्मचारी कहे जाते है । इनका देहान्त १५९६ ईस्वी में कूच-बिहार में हुआ । नीचे हम उनका एक वरगीत उद्धृत करते हैं ।

माधवदेवेर गीत, सख्या ११
ध्रु०—हरि को नाम निगम कूँ सार ।
सुमरि आदि अन्त्य जाति पावत भव नदी पार ॥

पद—पापी अजामिल हरि को सुमरि नाम-आभास ।
अतये कर्म को बन्ध छाँडि पावल वैकुण्ठ वास ॥
जानि आहे लोक हरि को नामे करु विसवास ।
सकल वेद कों तत्व कहए पुरुख माधवदास ॥

माधवदेव के गीतों की भाषा में भी पूर्वी प्रभाव है । किन्तु मूलतः ब्रज भाषा की प्रवृत्ति ही प्रधान दिखाई पडती है । इ का ए रूपान्तर पूर्वी प्रदेशों में होता था (देखिये कीर्ति० § ६) यहाँ भी कहइ > कहए, अतहिं > अतइ > अतए आदि में यही प्रभाव दिखाई पड़ता है । पावल का भूत 'ल' स्पष्ट ही पूर्वी है । भाषा में कई स्थानों पर संबंधी विभक्ति 'क' का भी प्रयोग है । किन्तु ब्रजभाषा 'की' 'को' का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है ।

महाराष्ट्र के ब्रज-कवि

§ २५०. महाराष्ट्र और मध्यदेश का सास्कृतिक सबध बहुत पुराना है । मध्य-देशीय भाषाओं के विकास में महाराष्ट्र का महत्वपूर्ण योग रहा है । वर्तमान खड़ी बोली का जन्म मेरठ-दिल्ली के प्रदेश में हुआ था, किन्तु उसका आरंभिक विकास तो दक्षिण महाराष्ट्र यानी 'दकन' में ही हुआ । डा० मनमोहन घोष ने महाराष्ट्री प्राकृत को शौरसेनी का कनिष्ठ रूप बताते हुए यह सिद्ध किया है कि मध्यदेश से खास तौर से मथुरा के प्रदेश से महाराष्ट्र को स्थानान्तरण करनेवाले राजपूतों तथा अन्य जातियों के साथ मध्यदेशीय भाषा यानी शौरसेनी प्राकृत महाराष्ट्र पहुँची और बाद में वहाँ की जनता द्वारा भी मान्य होकर उसे महाराष्ट्री नाम मिला । शाह जी भोसले तथा शिवाजी के दरबार में हिन्दी कवियों का सम्मान होता था । नामदेव और त्रिलोचन जैसे संत कवियों के ब्रजभाषा पदों का हम पहले ही विवेचन कर चुके हैं । नीचे कुछ अल्पज्ञात कवियों की ब्रजभाषा कविता का परिचय प्रस्तुत किया जाता है । ये कवि सूरदास के पहले के हैं ।

महाराष्ट्र में लिखी ब्रजभाषा[1] रचना का किंचित् संकेत चालुक्य नरेश सोमेश्वर (११८४ विक्रमी) के मानसोल्लास अर्थात् चिंतामणि नामक ग्रन्थ में मिलता है । इस ग्रन्थ में पन्द्रह विभिन्न विषयों पर विचार किया गया है । भूगोल, सेना, वाद्य, ज्योतिष, छद, हाथी-घोड़े आदि के वर्णन के साथ ही साथ राग-रागिनियों के वर्णन में कई देशी भाषाओं के पदों के उदाहरण भी दिए गए हैं । लाटी भाषा का उदाहरण प्राचीन ब्रजभाषा से मिलता-जुलता है । इस पद्य को देखने से मालूम होता है कि १२वीं शताब्दी मे अपभ्रंश प्रभावित देशी भाषा में काफी उच्चकोटि की रचनायें होने लगी थीं ।

नन्द गोकुल आयो कान्हडो गोवी जणे ।
पढि हिलोरे नयणे जो विधाय दण मरओ ॥

---

१. महाराष्ट्र के हिन्दी कवियों की जानकारी के लिए द्रष्टव्य
हिन्दी साहित्य के इतिहास के अप्रकाशित परिच्छेद, लेखक श्री भास्कर रामचंद्र भालेराव, ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५७ ।

विना दयाणि हक्कारिया कान्हो मरिहा सो।
अम्हण चिति या देउ बुध रूपण जो
दानव पुरा वच उणि वेद पुरुपेण।

चक्रधर महानुभाव पथ के आदि आचार्य माने जाते हैं। इनका आविर्भाव काल ११९४ के आस पास माना जाता है। इनकी बहुत सी रचनायें गुप्त लिपियों में लिखी पाई जाती हैं। मध्यकाल के सत अपनी रचनाओं को अनधिकारी पाठकों से बचाने के लिए इस प्रकार की गुप्त लिपियों का प्रयोग किया करते थे। ऐसी अक-लिपि, शून्य लिपि, परिमाण लिपि, सुभद्रा लिपि आदि प्रसिद्ध है। चक्रधर द्वारा सचालित इस पथ का प्रचार पजाब तक हो चुका था। पद्रहवीं शती में इसी की एक शाखा 'जय कृष्णी' के नाम से पजाब में दिखाई पढती है। चक्रधर का एक ब्रजभाषा पद नीचे दिया जाता है।

सुतो वंशी स्थिर लोई जेणेतुम्ही जाई
सो परौ भोरो वेरी आणता काई
पवन पुरो मनि स्थित करो हो चन्द्रो सेती वा भान
आवागमन हुजै वारौ बुद्धि राख्यौ अपने मान

इन सब रचनाओं में ब्रजभाषा का स्पष्ट रूप नहीं दिखाई पड़ता। बाद में नामदेव आदि कवियों ने ब्रजभाषा के स्पष्ट रूप को अपनाया और उसमें रचनायें प्रस्तुत कीं। नामदेव के बाद महाराष्ट्र के सूर-पूर्व ब्रज कवियों में भानुदास का महत्व निर्विवाद है। यह बहुत बड़े वैष्णव भक्त थे जिनका आविर्भाव काल १५५५ विक्रमी बताया जाता है। श्री एकनाथ महाराज इनके नाती थे। इन्होंने पढरपुर की विट्ठल मूर्ति की स्थापना की थी। इन्होंने ब्रजभाषा की बहुत ही सरस रचनाएँ लिखी है, नीचे इनकी वात्सल्य-सिक्त प्रभाती का एक पद उद्धृत किया जाता है।

उठहु तात मात कहे रजनी को तिमिर गयो
मिलत बाल सकल ग्वाल सुन्दर कन्हाई।
जागहु गोपाल लाल जागहु गोविन्द लाल जननी बलि जाई
सगी सब फिरत बन तुम बिनु नहिं छूटत धनु
तजहु सयन कमल नयन सुन्दर सुखदाई॥
मुँह तै पट दूर कीजौ जननी को दरस दीजौ
दधि खीर मांग लीजो सांढ औ मिठाई॥
झपत झपत स्याम राम सुन्दर मुख तब ललाम
थातो की छूट कछु भानुदास भाई।

गुजरात के ब्रजभाषा-कवि

§ २५१. गुजरात और मध्यदेश के अत्यन्त नजदीकी सम्बन्धों की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं (देखिये §§ ४६–४७)। अपभ्रंश और उसके बाद के संक्रातिकाल (१०००–१४००) में मध्यदेशीय शौरसेनी अपभ्रश अथवा परवर्ती अवहट्ट या पिंगल अपभ्रश में काव्य प्रणयन करने वालों में गुजरात के कई कवियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। हेमचन्द्र,

जिनपद्मसूरि, विजयचन्द्र सूरि तथा अन्य बहुत से कवियों ने परवर्ती विकसित अपभ्रंश के फागु, रास आदि जनप्रिय काव्यरूपों में बहुत सी मार्मिक कृतियाँ प्रस्तुत कीं। कुछ अन्य कवियों की रचनाओं में गुजराती मिश्रित शौरसेनी का प्रयोग हुआ है और भाषा की दृष्टि से शुद्ध व्रज से भिन्नता रखते हुए भी इन रचनाओं की अन्तरात्मा मध्यदेशीय संस्कृति और काव्यपद्धति से भिन्न नहीं है। चौदहवीं शती के बाद भी गुजरात के कई कवियों ने व्रजभाषा में कवितायें लिखीं। श्री जवाहर लाल चतुर्वेदी लिखते हैं 'गुजराती केवल बोलचाल की भाषा थी। यह इतनी प्रौढ नहीं थी कि इसके द्वारा कोई कवि मनोगत भावों को भलीभाँति व्यक्त कर सकता। गुजराती भाषा के प्रथम कवि जूनागढ वासी भक्त प्रवर नरसी मेहता हैं जिनका कविताकाल संवत् १५१२ विक्रमी माना जाता है। इस समय तथा उसके बाद भी गुर्जर देशवासी सभी शिक्षित वर्ग संस्कृत या उस समय के प्राप्त व्रजभाषा साहित्य को ही उलटा-पुलटा करते थे।'[1] श्री चतुर्वेदी का यह कथन न केवल भ्रान्तिपूर्ण है बल्कि व्रजभाषा के अनुचित मोह से ग्रस्त भी। नरसी मेहता के पहले भी गुजराती में रचनायें होती थीं, इसके लिए जैन गुर्जर कवियो के प्रथम और तृतीय भाग, तथा आपणा कवियो खंड १ (नरसिंह युगनी पहेला) देखना चाहिए। यह सही है कि नरसी मेहता के पहले (१०००–१४००) गुजराती काव्य जिस भाषा में लिखा गया, वह शौरसेनी अपभ्रंश से बहुत प्रभावित थी। यद्यपि इसमें प्राचीन गुजराती के तत्त्व प्रचुर मात्रा में प्राप्त नहीं होते हैं और कई दृष्टियों से यह साहित्य पश्चिमी भाषाओं (व्रज, राजस्थानी, गुजराती आदि) की सम्मिलित निधि कहा जा सकता है, फिर भी इस भाषा का परवर्ती विकास गुर्जर अपभ्रंश के सम्मिश्रण के साथ गुजराती भाषा के रूप में पन्द्रहवीं शताब्दी तक पूर्ण रूप से हो चुका था। इसलिए बाद के गुजराती कवियों द्वारा व्रजभाषा में काव्य लिखने का कारण गुजराती भाषा की अनुपयुक्तता कदापि नहीं है। इसका मुख्य कारण सम्पूर्ण उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन की व्यापकता के कारण उत्पन्न पारस्परिक सन्निवेश है। कृष्ण और राधा की जन्मभूमि व्रजप्रदेश की भाषा 'इष्टदेव की भाषा या पुरुषोत्तम भाषा'[2] के रूप में सम्मानित हुई, इसका विस्तार पश्चिमान्त के गुजरात मे ही नहीं सुदूर पूरब के असम और बंगाल में भी दिखाई पडता है। संवत् १५५६ में श्रीनाथ जी की स्थापना के पहले श्री वल्लभाचार्य ने गुजरात के द्वारका, जूनागढ, प्रभास, नरोडा, गोधरा आदि तीर्थ स्थानों का पर्यटन किया था और जनता मे शुद्धाद्वैत प्रतिपादित भक्ति का प्रचार भी किया। यही नहीं पुष्टिमार्ग के संस्थापक श्री विट्ठलनाथ ने संवत् १६१० से १६२८ के बीच गुजरात की छह बार यात्रायें कीं। इन यात्राओं से गुजरात में वल्लभ मत की स्थापना हुई और श्री दुर्गाशंकर केवल राम शास्त्री के शब्दों में गुजरात वल्लभ मत का 'धाम' बन गया।[3] किन्तु गुजरात में भक्ति का आविर्भाव बहुत पहले हो चुका था। भागवत के श्लोक के अनुसार

---

१. जवाहरलाल चतुर्वेदी : गुजरात के व्रजभाषी शुक-पिक, पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० १५४

२ महाप्रभु वल्लभाचार्य व्रजभाषा को इसी नाम से सम्बोधित करते थे।

३. श्री दु० के० शास्त्री कृत 'वैष्णव धर्मनो संक्षिप्त इतिहास', पृ० १८४
टूका मा वल्लभ मत नु धाम ज गुजरात थइ गयु

भक्ति अपनी जीर्णावस्था अर्थात् चरम विकास की अवस्था को प्राप्त हुई।[1] गुजरात सदैव से भक्ति आंदोलन की सर्वाधिक उर्वर भूमि रहा है, इसलिए ब्रजभाषा के प्रति इस भूमि के भक्त कवियों का प्रेम और आग्रह सहज-अनुमेय है। ब्रजभाषा के परिनिष्ठित रूप के प्रचार के पहले भी पिछले अपभ्रंश की रचनायें इस बात का पता देती हैं कि पिंगल या अवहट्ठ का परवर्ती विकास बहुत कुछ ब्रजभाषा से मिलता-जुलता था। यद्यपि इसमें किञ्चित् गुजराती तत्त्व भी दिखाई पड़ते हैं। नीचे केवल दो उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं जिनमें पहले में प्रकृति का चित्रण है, दूसरे में मधुमास-आगम पर कृष्ण-गोपियों के रास का वर्णन किया गया है—

जिमि सुरतरु वर सोहे शाखा, जिमि उत्तम मुख मधुरी भासा।
जिमि वन केतकी महमहए, जिमि भूमिवति भुयवल चमके॥
जिमि जिन मदिर घटा रणके, तिमि गोयम लब्धै गहगह ए।
चउदह से बारोत्तर बरसे, गोयम गणहर केवल दिवसें॥
किउ कवित्त उपगार करो, रिद्धि बुद्धि कल्याण करो।
आदिहिं मगल एह पणवीजे, परव महोच्छव गहिलो लीजे॥
जिमि सहकारे कोयल टहके, जिमि कुसुम वने परिमल महके।
जिमि चन्दन सुगन्ध निधि, जिमि गगाजल लहरें लहकें॥
जिमि कमणाचल तेजे झलकें, तिमि गोयम सौभाग्य निधि।
जिमि मानसरोवर निबसें, जिमि सुखर सिरि लयणेवतसा॥[2]

यह अश श्री उदयमत विजयभद्र सूरि के गौतमरास (१४१२ सवत्) से लिया गया है। दूसरा उदाहरण श्री के० एम० मुशी ने अपने गुजराती साहित्य के इतिहास में उद्धृत किया है जो सवत् १४३६ के एक फागु का अश है।

फागु

आविय मास वसंतक सत करइ उत्साह।
मलयानिल महि वायउ आयउ कामिणि नाह॥

रासक

वनवरि आविय प्रभु वीनवउँ नवि दिसइ रिसारी रे।
माधव माधव भेटने आवइ आवित देव मुरारी रे॥
यात सुनी प्रभु मन अति हरषिय निरषिय गृह परिवार रे।
निज परिपारइ जादव पुहु तु वहु तु वनह मझारि रे॥
थण भरि नमती तरुणी करुणी वरुणी चरणसँचार रे।
चालइ चमकत झमकत नेउर केउर कटक विशाल रे॥

---

१ उत्पन्ना द्राविडे साह वृद्धि कर्णाटके गता।
क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णता गता॥
—श्रीमद्भागवत माहात्म्य १।४८

२ रामचन्द्र जैन काव्यमाला, गुच्छक पहेलो, पानु २८

आन्दोल

नाचइ गोपिय वृंद, वाजइ मधुर मृदंग
मोडइ अंग सुरंग, सारंगधर वाइति महूअरि ए ॥
कुलवण महूअरि ए ॥
करलिय पंकज नाल, सिरवरि फेरइ बाळ ।
छदिहि-वाजइ ताळ, सारग धर वाइइ महूअरि ए ॥
तारा महि जिमि चन्द, गोपिय माहिं मुकुन्द ॥
पणमइ सुर नर इद, सारंगधर वाइति महूअरि ए ।
कुलवण महूअरि ए ॥
गोपी गोपति फागु कीडत हींडत वनह मभारि ।
मारुत प्रेरित वन भर नमइ मुरारि ॥

§ २५२. सन् १६४६ में श्री केशवराय काशीराम शास्त्री ने गुजराती हिन्दुस्तान में 'भालण : व्रजभाषा नो आदि कवि' शीर्षक लेख प्रकाशित कराया ।[1] सूरदास को व्रजभाषा का आदि कवि मानने वालों की स्थापना को तथ्यपूर्ण मानते हुए इन्होंने भालण को सूर का पूर्ववर्ती सिद्ध करके व्रज का आदि कवि बताया है। भालण का तिथिकाल निर्धारित करते हुए उन्होंने लिखा '१४६५-१५६५ नो सौ वर्षों नो समय एना पूर्वार्ध ना अस्तित्व में पुरवार करी सकवानी स्थित मा न होइ। उत्तरकाल में भाटे ओटले के सं० १५५०-१५६५ अथवा विक्रमनीं १६ वीं सदी ना उत्तरार्ध मा परिणत थइ सकै छै खरो।'[2] इस निष्कर्ष में स्पष्टतः भालण के पूर्व निर्धारित समय को सदेहास्पद मानकर उन्हें १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध का बताया गया है, फिर भी शास्त्री जी भालण को सूर पूर्व ही रखना चाहते हैं जैसा कि शीर्षक से ध्वनित है। भालण के प्रसिद्ध काव्य 'दशमस्कंद' के सम्पादक श्री इ० द० कॉंटावाला ने भूमिका में लिखा है कि श्री रा० नारायण भार्थी को भालण के मकान से एक खडित जन्म-कुण्डली प्राप्त हुई थी जिसमें 'सवत् १४७२ वर्ष भाद्रवा, वदी दिने शनी दशोत्तीर्णा एवं जन्मतो गत वर्ष ११ मास २ दिन ८ तदनु सवत् भाद्रवावदी ने बुध दशा प्रवेश' आदि लिखा है।[3] कॉंटावाला का अनुमान है कि १४६१ सवत् जिस पुरुष का जन्म वर्ष है, वह भालण का न होकर उनके पुत्र का हो सकता है क्योंकि भालण के पुत्र विष्णुदास ने रामायण का उत्तरकाड रचा था जो संवत् १५७५ में पूर्ण हुआ था। इस अनुमान को यदि सही माने तो भालण सूर के काफी पूर्ववर्ती प्रतीत होते हैं। श्री भार्थी ने दिशावाल जाति के एक ब्राह्मण से यह भी सुना था कि उसके पूर्वज मीठाराम और भालण संवत् १४५१ में दक्षिण हैदराबाद गये थे। भालण हैदराबाद और औरगाबाद में रहे थे, जहाँ किसी रत्नादित्य राजा के दीवान ने पूजा के लिए चामुंडा देवी की एक मूर्ति भेंट की थी जो भालण के घर में मौजूद है। इस मूर्ति के पृष्ठ-भाग पर लिखा है 'सवत् १५२० वर्ष ठाकुर रत्नादित्य भाउ ही चामुंडा पूजनार्थ रत्नादित्य पूवी

---

१. हिन्दुस्तान गुजराती दैनिक, बवई, ११ नवंबर, १६४६ का अक
२. वही, पृ० ८।
३. भालण कृत दशमस्कद—कविचरित्र, पृ० २, सन १६१५, बड़ौदा

दीवाण याणीया।'[1] इन सब अनुमानों के आधार पर भालण १६वीं के पूर्वार्द्ध के कवि प्रतीत होते हैं।[2] दशमस्कद में प्राप्त उनकी ब्रज कविता में साथ ही साथ सूर, विष्णुदास, मेहा, शीतलनाथ आदि परवर्ती कवियों की रचनायें बड़ी उलझनें पैदा करती है। फिर भी भालण के नाम की ब्रज-रचनायें प्रायः सभी हस्तलिखित प्रतियों में मिलती हैं, जबकि सूर आदि कवियों की रचनाओं में उलट-फेर दिखाई पड़ता है। ये रचनायें बाद की प्रक्षिप्त मालूम होती हैं। भालण कवि के छः पद ब्रजभाषा में प्राप्त होते हैं। उनके पद नीचे दिये जाते हैं।[3]

पद ७७ राग गौडी

कौन तप कीनो री, माइ नद घरणी
ले उछग हरि कुँ पय पावत मुख चुम्बन मुख भीनो री॥
तृप्त भये मोहन जू हसत हैं तब उमगत अधर ही फीनो री।
(यशोमती) लटपट पूछन लागी वदन खेचि तब लीनो री॥
रिदे लगाये वद जू मोंहि तू कुलदेवा दीनो री।
सुन्दरता अंग अग कहा वरनू तेज ही सब जग हीनो री।
अतरिच्छ सुर इद्रादिक बोलत ब्रज जन को दुख खीनो री॥
यह रस सिंधु गान करि गाहत है भालण जन मन मीनो री।

पृ० ५३-५४

पद २५१ राग वैशाख

मैया मोहे भावे दधि भात निद्रा में हरि ऐसो बोले
ठाढ़ी सुनत देवकी मात—मैया०
तब आगे दँतधावन कीनो निकट आय जननी कहे प्रात
दधि ओदन भोजन करो लालन जो मन में रुचि सामल गात
भैया सो तो ग्वाल को खेवो अब मेरे मन ने भात।
कहो गोकुलीउँ ते लालन ऐसो कहे जननी मुसुकात॥
कहां सगी कहा दधि यमुना तट कहां वेरुचि कहां अबुज पात।
भालण प्रभु रघुनाथ वदत है वरस की रही ब्रज में वात॥

पृ० १९९-२००

पद २५३ राग सारग

ब्रज को सुख सुमरत श्याम।
पर्नकुटा को वीसरत नाहीं नाही न भावत सुन्दर धाम॥
वदीर मात्र नवनीत के कारन उखल बाधे ते बहु दाम।

---

१. दशमस्कद, कवि चरित्र, पृ० २

२. क० मा० मुशी भालण का काल १४८२-१५५६ सवत मानते हैं 'गुजरात एड इट्स लिटरेचर'
फनेरी सम्वत् १४६५-१५६५ मानते हैं

चित्त में वे जु कुभी रही है चोर चोर कहेत है नाम ॥
निश दिन फीरतो जु सुरभि के सगे शीर पर परत शीत घनघाम ।
निस फुनि दोहन वधन को सुख करी वैठत नाहि जो काम ॥
मोर पिच्छ गुजाफल ले ले वेख वनावत रुचिर ललाम ।
भालण प्रभु विधाता की गति चरित्र तुम्हारे सब वाम ॥
पृ० २००–२०१

पद २५४ राग सारंग

कहो भैया कैसे सुख पाउं ।
नाहिन सो लोक श्रीदामा खेलन सग कौन में जाउं ॥
नाहिन गृहे वे व्रजवासिन के जहां चोर चोर दधि माखन खाउं ।
नाहिन वृन्दावन अति बल्लभ जा कारन हुं गौ चराउं ॥
नाहिन वृन्द गोपी जन को जा कारन मृदु वेन वजाउं ।
नाहिन जमलार्जुन वृख दोउं जा कारन हुँ आप वधाउं ॥
नाहिन प्रेम ऐसो कोउ कु जा कु मेरी कथा सुनाउं ।
भालण को उस सी कछु नाहीं अहियां के आगे व्रज के गुन गाउं ॥
पृ० २०१

२५५ राग धनश्री

अब पढबे को आयो दिन ।
एते बरस वड़े गने नाहीं कीडा कीनी नंद भुवन
सुत को सुख पायो जशोदा मेरे पूरण नाहीं जु पुन्य
आये दो दिन भये जु नाहीं उठ चले फुन जुग जीवन
अहि वाज कर हरि जु चले फुनि देखन हु कहां वन्दावन
हम पर प्रीति नाहिन मोहन की जैसो व्रज ऊपर है मन
काहां कुमति आनक दुंदुभि की पढय रही सांवर घन
पाछे आये की कहाँ आश राम सग चले पीत वसन
जहाँ सिधारे गिरधर वे अवनी लोक सवंधन
विरह वेदना हरि नहिं जानत जानत है वे भालन जन
पृ० २०१

पद २६४ राग गूजरी

सुत में सुनित लोक में वात ।
मेरे सो तुम सत्य कहो सुन्दर श्यामल गात ॥
संदीपन को सुत मृत्यु भयो उदधि जल में पात ।
वहोत दिवस ता कुं निवढ गए ते राम रहे वे मात ॥
तुम पे गुरुदच्छना मांगी आन दीयो विख्यात ।
करवट सुत कंसे वधे हे मेरे जेष्ट तिहारे भ्रात ॥

सो मो कु को देत सु नाहीं जो कुछ वल्लभ मात ।
भालण प्रभु विरह अति ताते मेरो मन उकलात ॥
—पृ० २०७

भालण की कविता सूर के पदों से कुछ साम्य रखती है, किन्तु यह साम्य वस्तुगत ही ज्यादा है वर्णन की सूक्ष्मताओं और विस्तार में नहीं। भालण की भाषा में पिंगल ब्रज की तरह ओ (अ–उ)–ए (अ–इ) प्रयोगों के रूप ही मिलते हैं। है, मैं आदि के स्थान पर सर्वत्र हे, मे आदि ही लिखा गया है। कों के स्थान पर कुं राजस्थानी प्रभाव है। इन दृष्टियों से यह भाषा सूर की वर्तमान-उपलब्ध रचनाओं की भाषा से पूर्ववर्ती मालूम होती है।

'दशमस्कद' में विष्णुदास, मेहा और शीतलनाथ अथवा रसातलनाथ के भी पद प्राप्त होते हैं, किन्तु उनके तिथिकाल और रचना-स्थान आदि का कोई निश्चित पता नहीं चलता।

§ २५३. दूसरे कवि हैं श्री केशव कायस्थ जिन्होंने १५२६ सवत् में कृष्ण-क्रीडा काव्य लिखा। कवि प्रभास पाटण के रहने वाले थे। कृष्ण क्रीडा-काव्य चालीस सर्गों में विभक्त एक विस्तृत कृति है इसमें लेखक ने एक स्थान पर ब्रजभाषा के दो पदों का प्रयोग किया है। पहले पद में राधा के मान का वर्णन है और दूसरे में यशोदा और गोपी सवाद के रूप में कृष्ण की माखनचोरी आदि की शिकायत की गई है।

त्यज अभिमान गोवाली घरय आओ श्री वन माली ।
याके चरण चतुर्मुख सेवें किंकर होय कपाली ॥
जो वन माली तो फूल वेचिजे सु वे वेल गुलाला ।
सुण्य चतुरी हूँ चक्री तू काण कवण कुलालां ॥
अरे अरे अनग हू अवला नाग तमे हम नारी ।
हूँ हरि हेला हश मदि रखणी तू माकड वन मुरारी ॥
प्रेम कलह येम पस्य पस्य भडे जम होय कोयक कामी ।
वार्डी उघाड़ी मत्यो मथुसूदन केशवदास चो स्वामी ॥

ऊपर के पद में व्रज के साथ गुजराती का भी मिश्रण है। अन्तिम पक्ति में 'चो' परसर्ग पुरानी राजस्थानी का है (देखिए तेसीतोरी § ७३)। दूसरे पद का कुछ अश इस प्रकार है—

कारिका

सुन हो जशोमति माय कृष्ण करत हैं अति अनियाय ।

त्रोटक

कृष्ण करत हैं अनियाय अत लीवल गोपी को कह्यो न माने ।
देखत लोक लाज कछु नाहीं नाट्य वोलावत ही शानें ॥
हम गुनवती सती सुलखणी, यह विध्य रह्यो न जाय ।
कोपहि काल्य सुनेगो कंसासुर सुन हो जसुमति माय ॥

कारिका

अरे अरे वाटरी गोपी, ते लाज हमारी लोपी ।

त्रोटक

लाज हमारी लोपी तुमही सब मिलि बाल भुलायो
जहाँ जहाँ फिर्‍यो गहन वन गोचर तहाँ तहाँ सग आयो
अंजी अखिया कियो तुम अजन कहे हूय माता कोपी
छाडो सब चतुरी चतुराई, अरे अरे बाउरी गोपी

कारिका

कपट करे है तुम आगे, सेज सूये नहीं जागे

त्रोटक

सेज सूये नहि जागे, बालक आय बोलावे
यमुना तीर तरुन सब देखत मोहन वेनु वजावे
लीनो चित चुराई चत्रभुज कहते कछु ना लागे
हम अबला ये धीर धरनिधर कपट करही तुम आगे

पृ० १०६

इन दो कवियों के अलावा कुछ अन्य भी कवियों ने ब्रजभाषा में कवितायें कीं। सत्रहवीं शताब्दी में गुजरात में काफी साहित्य ब्रजभाषा में भी लिखा गया, किंतु सूरोत्तर होने के कारण यहाँ उसकी चर्चा आवश्यक नहीं जान पड़ती। मीराबाई को भी गुजरात के लोग अपना कवि मानते हैं, मीरा का काल सूर के कुछ पहले या सम-सामयिक पड़ता है, किन्तु इनका परिचय ब्रजभाषा की मूल धारा के कवियों के साथ पहले ही किया जा चुका है। १७वीं १८वीं शती के कवियों का संक्षिप्त परिचय श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी ने 'गुजरात के ब्रज भाषी शुक-पिक' शीर्षक लेख में प्रस्तुत किया है।[1]

१ पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ४१३–४०

आरंभिक ब्रजभाषा

भा षा शा स्त्री य वि श्ले ष ण

§ २५४ विक्रमाब्द १००० से १४०० तक की ब्रजभाषा के विकास का अध्ययन पहले ही प्रस्तुत किया जा चुका है। इन चार सौ वर्षों में ब्रजभाषा का संक्रान्तिकालीन पिंगल रूप ही प्रधान था। ब्रजभाषा का वास्तविक विकास १४०० से १६०० के बीच दो सौ वर्षों में पूरा हुआ और इसने १७वीं शताब्दी के आरम्भ में परिनिष्ठित ब्रज का रूप ग्रहण किया। इस अध्याय में १४०० से १६०० की ब्रजभाषा के व्याकरणिक रूप का अध्ययन किया गया है। भाषा की गठन और प्रगति के उचित आकलन के लिए पूर्ववर्ती पिंगल रूप तथा परवर्ती परिनिष्ठित रूप के सम्बन्धों की संक्षिप्त व्याख्या भी की गई है।

§ २५५. भाषा का यह अध्ययन निम्नलिखित तेरह हस्तलेखों पर आधारित है, जिनके रचनाकाल और ऐतिहासिक इतिवृत्त के बारे में पीछे विचार हो चुका है।

(१) प्रद्युम्न चरित	विक्रमी १४११	(प्र० च०)
(२) हरिचन्दपुराण	,, १४५३	(ह० पु०)
(३) महाभारत कथा	,, १४९२	(म० क०)
(४) रुक्मिणी मंगल	,, १४९२	(रु० मं०)
(५) स्वर्गारोहण	,, १४९२	(स्व० रो०)
(६) स्वर्गारोहण पर्व	,, १४९२	(स्व० रो० प०)
(७) लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा	,, १५१६	(ल० प० क०)
(८) वैताल पचीसी	,, १५४६	(वै० प०)
(९) पंचेन्द्रियवेलि	,, १५५०	(पं० वे०)

(१०) रासो लघुतम, वार्ता विक्रमी १५५० (रा० ल०वा०)
(११) छिताई वार्ता ,, १५५० (छि० वा०)
(१२) भागवत गीता भाषा ,, १५५७ (गी० भा०)
(१३) छीहल बावनी ,, १५८४ (छी० बा०)

१४ वीं १६ वीं की पुष्कल सामग्री में से १३ हस्तलेखों को चुनने का मुख्य कारण इनकी प्रामाणिकता और प्राचीनता ही है। लघुतम रासो के एक पुराने हस्तलेख से कुछ वार्तायें श्री अगरचन्द नाहटा ने व्रजभारती के (आश्विन-अगहन, सवत् २००६) अंक में प्रकाशित कराई हैं। गद्य की कोई प्रामाणिक कृति इस युग में प्राप्त नहीं हुई, इस कमी को ये वचनिकाएं दूर कर सकती हैं। इनमें प्राचीन व्रजभाषा गद्य का रूप सुरक्षित है। इनका समय मैंने अत्यन्त पीछे खींचकर १५५० विक्रमाब्द अनुमान किया है। ये इससे पहले की भी हो सकती हैं।

ध्वनि-विचार

§ २५६ प्रा० व्र० में आर्यभाषा के मध्यकालीन स्तर की प्रायः सभी ध्वनिया सुरक्षित हैं। अपभ्रंश की कुछ विशिष्ट ध्वनि-प्रवृत्तियों का अभाव भी दिखाई पडता है। नव्य आर्यभाषा में कई प्रकार की नवीन ध्वनियों का निर्माण भी हुआ।

प्राचीन व्रज में निम्नलिखित स्वर ध्वनियाँ पाई जाती हैं :—

अॅ, अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऍ, ऐ, ओ, ऑ औ।

पिंगल व्रज में सध्यक्षर ऐ और औ के लिए अए, और अओ, जैसे संयुक्त स्वरों का प्रयोग मिलता है (देखिये § १०५) इनका परवर्ती विकास पूर्ण सध्यक्षर औ और ऐ के रूप में हुआ। प्राकृत पैंगलम् की भाषा में क्रिया रूपों में कहीं भी 'औ'कारान्त प्रयोग नहीं मिलते। सर्वत्र 'ओ'कारान्त ही दिखाई पडते हैं। 'औ'कारान्त क्रिया रूप परवर्ती विकास हैं।

प्राचीन व्रज के उपर्युक्त स्वर सानुनासिक भी होते हैं।

§ २५७. अ का एक रूप 'अॅ' पादान्त में सुरक्षित दिखाई पडता है।

व्रजभाषा में मध्य अॅ प्रायः और अन्त्य 'अॅ' का नियमित लोप होता है। (व्रजभाषा § ८६) नव्य आर्य भाषा के विकास के आरभिक दिनों में इस प्रकार की प्रवृत्ति संभवतः प्रधान नहीं थी। बहुत से शब्दों में अन्त्य 'अ' सुरक्षित मालूम होता है। छन्दोबद्ध कविता की भाषा में प्रयुक्त शब्दों में इस प्रकार की प्रवृत्ति को चाहें तो मौलिक न भी मानें, किन्तु वहाँ अन्त्य 'अ' का लोप स्वीकार करना उचित नहीं मालूम होता। अयाण (प्र० च०) सायर (प्र० च० १५) वयण (प्र० च० १३६) अठार (ह० पु० २७ अष्टादश) गेह (म० क० १) इत्यादि शब्दों में अन्त्य अ का उच्चारण एकदम लुप्त नहीं मालूम होता। १२वीं १३वीं शती में मध्यदेशीय भाषा में भी अन्त्य 'अ' सुरक्षित ध्वनि थी। उक्ति व्यक्ति की भाषा में डा० चाटुर्ज्या के मत से अन्त्य 'अ' का उच्चारण असंदिग्ध रूप में सुरक्षित दिखाई पड़ता है। (उक्ति व्यक्ति स्टडी § ५)।

§ २५८. आद्य या मध्यम अक्षर मे कभी कभी अ का इ रूप भी दिखाई पडता है।

<*भवित=भूत) बनी (छि० वा० १२२ *बनिअ<*वनित=शोभित)

§ २६६. ऋ>परिवर्तन कई प्रकार से होता है—

ऋ का इ—किसन (छी० वा० १६।५<कृष्ण) सिंगार (गी० भा० २२<शृगार) सरिस (छी० वा० ७।४<सदृश) हिये (गी० भा० २६>हृदय)

ऋ>ई—दीठ (छि० वा०<दृष्टि) मीचु (प्र० च० ४०६।१<मृत्यु)

ऋ>ऊ—रुख (म० क० ७।१<वृक्ष) बूढौ (म० क० ६।१<वृद्ध)

ऋ>ए—गेह (छी० वा० १४।३<गृह)।

ऋ>र्—अम्रत (गी० भा० २<अमृत) क्रपण (छी० वा० १७।६<कृपण) क्रपाचार्य (गी० भा० ३०<कृपाचार्य) ध्रष्टदमनु (गी० भा० २४ <धृष्टद्युम्न)

ऋ का रि—द्रिढ (गी० भा०<दृढ) म्रिगमद (रा० ल० ३३<मृगमद)

अनुनासिक और अनुस्वार

§ २६७. नव्य आर्यभाषाओं में अनुस्वार का प्रयोग प्रायः अनियमित ढग से होता है। अनुस्वार का प्रयोग वर्गीय अनुनासिक के स्थान पर तथा अनुनासिक स्वर के लिए भी होने लगा। हस्तलेखों में उपर्युक्त दोनों ही स्थानों पर जहाँ अनुस्वार का प्रयोग किया गया है, सर्वत्र प्राय. विन्दु का ही प्रयोग मिलता है, इसलिए दोनों का भेद करना कठिन हो जाता है जैसे प्रद्युम्न चरित में पचमी (११ पञ्चमी) दड (४<दण्ड) मदिर (१<मन्दिर) तथा हँसि हँसि (४०८=हसि हसि) सुणिउँ (७०५) अवहरिउँ (७०५) आदि पदों में अनुनासिक और अनुस्वार दोनों ही विन्दु से ही व्यक्त किये गए है।

अनुस्वार कई स्थलों पर ह्रस्व हो गया है। जैसे :

सँताप (प्र० च० १३८<सताप) सिगार (प्र० च० २६<शृगार) सँवारि (छि० वार्ता० १२६<सस्कार) रँगि (प० वे०<रग) सँसार (हरि० पु०<ससार) सँभोग (छि० वार्ता १२१<सभोग) अँगारू (म० क० ५<अगार) साँरग पाणि (प्र० च० ४०२<सारगपाणि) अँधार (हरि० पु०<अधार<अधकार) इस प्रकार के परिवर्तन छन्दानुरोध के कारण तथा शब्दों में बलाघात के परिवर्तन के कारण उत्पन्न होते हैं। ब्रजभाषा में इस तरह के बहुत से प्रयोग मिलते हैं। कुछ उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं (देखिये §§ १०६, १२६)।

§ २६८. नव्य भाषा मे अनुनासिक को ह्रस्व या सरली कृत बनाने की प्रवृत्ति का एक दूसरा रूप भी दिखाई पड़ता है जिसमें पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ करके अनुस्वार का ह्रस्व कर लेते थे। प्राचीन ब्रज में यह प्रवृत्ति दिखाई पडती है।

सॉभल्यो (हरि० पु०<सभलउ अप० हेम० ४७४) पाँडे (म० क० १<पडिअ< पण्डित) पाँचई (वे० प०<पंचइ<पञ्च) छोडौ (स्व० रो० ५<छुडउ) भाति (प्र० च० १ <भाति प्र० च० १६) काँस (प्र० च० ४१०<कस) आँकुस (प० वे०<अङ्कुश)।

§ २६९. अकारण अनुनासिकता के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं।

आँसु (प्र० च० १३६ <असु प्रा० पैं०<अश्रु) हँसि हँसि (प्र० च० ४०८√हस्) करौंहि (७०६ प्र० च०√कृ) यहाँ तुक के कारण मौंहि के वजन पर सभवतः कराहि किया गया। चहुँदिसि (प्र० च० १८<चउदिसि, इश्रुति, <चतुर्दिशि) साँस (हरि० पु०<श्वास) पुँछि (ह० पु०√पृच्छ्) साँपौ (प० वे० ५३<सर्प)।

§ २७०. सम्पर्कज सानुनासिकता की प्रवृत्ति भी दिखाई पडती है। वर्गीय अनुनासिकों के स्पर्श से या अनुस्वारित स्वरों के साथ में रहने वाले स्वर भी सानुनासिक हो जाते हैं। उक्ति व्यक्ति प्रकरण में अनुनासिकता के विषय में विचार करते हुए इस प्रकार की सम्पर्कज सानुनासिकता के संदर्भ में डा० चाटुर्ज्या ने लिखा है कि उक्ति व्यक्ति की भाषा में यह प्रवृत्ति बगाली और बिहारी के निकट दिखाई पडती है, पश्चिमी हिन्दी के नहीं (देखिये, उक्तिव्यक्ति स्टडी § २१) किन्तु प्राचीन ब्रजभाषा में बहुत से ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें सम्पर्कज सानुनासिक्ता उक्तिव्यक्ति की भाषा की तरह ही दिखाई पडती है। उक्ति व्यक्ति में इस प्रकार के उदाहरणों में विहाणहिं (३४।२३) माम्क (१६।१६) वंणिएं (१४।२०) आदि दिए गए हैं। नीचे प्राचीन ब्रज के कुछ उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं।

कहाँ माइ (हरि० पु०) तुम कौं (स्व० रो०<कउ) परम आपणा (ल० प० क० १३ <आपण) सुजाण (छि० वा०<१२४<सुजाण<सुज्ञान) कवंलिय (पं० वे० २६<कमल) अम्रति (गी० भा० २<अमृत) वाणियो (प्र० च० १८<वणिक) जाणीयो (प्र० च० १८< जाणीयउ√ज्ञा) कुवंर (प्र० च० १२६<कुमार) वाण (प्र० च० ४०२<वाण) पराण (प्र० च० ४०३<प्राण) काणि (प्र० च० ४०२=कानि) पाणि (प्र० च० ४०२<पाणि) सुंणाव (ह० पु०<सुणाउ) जाम (ल० प० क० ६<यावत्)।

§ २७१ पदान्त के अनुस्वार प्रायः अनुनासिक ध्वनि की तरह उच्चरित होते हैं। प्राकृत और अपभ्रंश काल में पदान्त अनुस्वार ह्रस्व और दीर्घ दोनों ही समझे जाते थे। पिशेल के मत से पदान्त अनुस्वार विकल्प से अनुस्वार और अनुनासिक दोनों माने जाते थे (देखिए ग्रमै० § १८०) हेमचन्द्र के दोहों में भी अपभ्रश के पादान्त 'उं', 'हुं' या 'हं' इत्यादि के अनुस्वार प्रायः ह्रस्व उच्चरित होते थे। डा० तेसीतोरी का कहना है कि पदान्त अनुस्वार अपभ्रश में (हेमचन्द्र) ही अनुनासिक में बदल गया था (देखिए पुरानी राजस्थानी § २०) प्राचीन ब्रजभाषा को अपभ्रश की यह प्रवृत्ति और भी विकसित रूप में प्राप्त हुई। यहाँ पर पदान्त अनुसार निश्चय ही अनुनासिक है। इसीलिए प्रायः, इन्हें चन्द्र विन्दु से व्यक्त किया जाता है। हस्तलेखों में चन्द्रविन्दु देने का प्रचलन नहीं था, इसलिए वहाँ विन्दु ही दिया गया है, पर ये है अनुनासिक ही। यथा—

जियउं (प्र० च० १३७) हरउं, परउं (प्र० च० १३८) अवतरिउं (प्र० च० ७०५) पाऊं (रु० मं०) लहहुं (स० रो०) मनावें (वै० प०) होहिं (वै० प०) ताइं (पं०वे० २०) तैसें (गी० भा० ३०) सवरों, करों (गी० भा० ५८) इस प्रकार के पदान्त अनुस्वार के अनुनासिक की तरह उच्चरित होने वाले बहुतेरे उदाहरण इन रचनाओं में भरे पड़े हैं।

§ २७२. मध्यवर्ती अनुस्वार प्रायः सुरक्षित दिखाई पड़ता है।

ठाइ (प्र० च० २६<ठाइ अप०<स्थाने) कुँवर (ह० पु०<कुमार) बाघौ (गी० भा० २७<वघउ)।

व्यंजन

§ २७३. अपभ्रशकालीन सभी व्यजन सुरक्षित हैं। कुछ नये व्यजनो का निर्माण भी हुआ है। निम्नलिखित व्यजन पाये जाते हैं।

क ख ग घ ङ
च छ ज झ
ट ठ ढ ड ढ ड़ ण ड़्ह
त थ त ध न न्ह
प फ ब भ म म्ह
य र ल ल्ह व स ह

§ २७४ ण और न के विभेद को बनाये रखने की प्रवृत्ति नहीं दिखाई पडती। अपभ्रश में न के स्थान पर प्राय· ण का प्रयोग हुआ करता था। किन्तु मूर्धन्य ध्वनि ण १४०० के आसपास ही न के रूप में बदल गई और जिन स्थानों पर मूलतः ण होना चाहिए वहाँ भी न का ही व्यवहार होने लगा। ब्रजभाषा में मूर्धन्य ण का व्यवहार प्रायः लुप्त हो गया है (देखिये उक्ति व्यक्ति स्टडी § २२ तथा ब्रजभाषा § १०५) प्राचीन ब्रज की रचनाओं में ण का प्रयोग मिलता है, इसे राजस्थानी लेखन पद्धति (Orthography) का प्रभाव कह सकते हैं, वैसे भी बुलन्दशहर की ब्रजभाषा में प्राय. न का ण उच्चारण होता है (देखिये ब्रजभाषा § १०५)। राजस्थान में लिखी ब्रज रचनाओं में मूल ण के लिए ण का प्रयोग तो है ही, न के लिए भी ण का प्रयोग किया है।

विणु (प्र० च० ८) पणमेइ (प्र० च० ३) वयणू (प्र० च० ४०४) परदमणु (प्र० च० ४०६<प्रद्युम्न) अलावण (ह० पु० २) सुणि (ह० पु० २५) आपणा (ल० प० क० १३) निणि (ल० प० क० १४) रखवालण (प० वे० ६) कवण (छी० वा० ७) आदि में सर्वत्र न का ण हुआ है।

किन्तु अन्य स्थानों पर प्राप्त होने वाले हस्तलेखों मे प्रायः ण का न रूप हो गया है जैसे—

गनपति (रु० म० १<गणपति) सरन (रु० मं० २<शरण) पोपन (म० क० २६४<पोषण) पुरान (म० क० २६६ <पुराण) मानिक (वै० प० २<माणिक्य) पानि (वि० पु०<पाणि) नरायन (छि० वा० १२३<नारायण) गनेस (छि० वा० १२०<गणेश) बीन (छि० वा० १३२<वीणा) सुवर्न (छि० वा० १३७<स्वर्ण) परवीन (छि० वा० १३६< प्रवीण) गुनी (गी० भा० २<गुणी) पुनहि (गी० भा०<पुण्य) आदि।

§ २७५. ड र और ल इन तीनों ध्वनियों का स्पष्ट विभेद पाया जाता है, किन्तु कई स्थानों पर ये ध्वनियाँ परस्पर विनिमेय प्रतीत होती हैं।

र ड—खरी (प्र० च० १३६ खडी) जोरि (प्र० च० ७०२ जोडि ७ प्र० च० ३२) पर्‌यो (ह० पु० पड्‌यो) वीरा (वै० प०<वीडा<वीटिका) जोरे (वै० प० जोड़े) थोरो (वै० पु०<थोडइ<स्तोक) करोर (गी० भा० १<करोड<कोटि)।

ड र—बाहुडि (ह० पु० ६ बहुरि, छि० वा० १२८) तोडइ (ह० पु० तोरइ) फाडइ (ह० पु० फारइ) पडिखा (प० वे० ४<परिखा)।

ल र—जरै (म० क० २ ज्वलइ) रावर (म० क० ४<रावल<राजकुल) आरसु (म० क० ७<आलस्य) हैवारे (स्व० रो० ३<हिमालय) भुवारा (स्व० रो० ५<भूपाल) जारू (गी० भा० २५<जाल) रखवारू (गी० भा० ३६<रखपाल<रक्षपाल)।

ल का र रूपान्तर प्रायः ब्रज की सभी बोलियों में पाया जाता है (देखिए ब्रजभाषा § १०६)।

§ २७६. न्ह, म्ह और ल्ह इन तीन महाप्राण ध्वनियों का प्रयोग होने लगा था।

न्ह—दीन्हेउ (ह० पु०<दिण्णउ हेम० ४।४३०) न्हाले (प० वे० ६७)

म्ह—ब्रम्ह (हरि० पु० २६<ब्रह्म)

ल्ह—उल्हास (गी० भा० ३२<उल्लास) मेल्है (ह० पु०<मेल्लइ हेम० ४।४३० छोडना) घल्ह (पं० वे० ६६)

इन महाप्राण ध्वनियों का प्रयोग परवर्ती अपभ्रंश काल से ही किसी न किसी रूप में शुरू हो गया था (देखिये § ५३) किन्तु प्राचीन ब्रजभाषा में इनका बहुल प्रयोग नहीं मिलता। मध्यकालीन और परवर्ती ब्रज में अलबत्ता इनका प्रचुर प्रयोग हुआ है। १२वीं शती के उक्ति व्यक्ति प्रकरण में भी ये ध्वनियाँ मिलती हैं (द्रष्टव्य स्टडी §३१) मिर्जाखाँ इन ध्वनियों को संयुक्त ध्वनि नहीं बल्कि एक ध्वनि मानते हैं। (ए ब्रज ग्रामर, इन्ट्रोडक्शन पृ० १८)।

§ २७७ मध्यग क कई स्थलों पर ग हो गया है।

अनेग (रा० ल० ३६<अनेक) इगुणीस (ल० प० क० ७२।१<इकुणीस<एकोनविंशति) उपगार (छी० वा०<उपकार) कातिग (प० वे० ७१<कातिक<कार्तिक) ध्रगु ध्रगु (ह० पु०<धिक् धिक्) प्रगट (रा० ल० वा० १४<प्रकट) मुगति (छी० वा० १८।५<मुक्ति) मर्गज (प्र० च० १६<मरकत)।

§ २७८. क्ष का रूपान्तर प्रायः दो प्रकार से होता है।

क्ष<छ

नछत्र (प्र० च० ११<नक्षत्र) जच्छ (प्र० च० १५<यक्ष) छत्री (प्र० च० ४०८<क्षत्रिय) पतरिछ (प्र० च० ४१०।१<प्रत्यक्ष)

क्ष<ख

खत्तिय (छि० वा० ३१<क्षत्रिय) खान्ति (छि० वा० १३२<क्षान्ति) रखवालण (प० वे० १६८<रक्षपाल) रुख (म० क० ७।१<वृक्ष) लखनौती (ल० प० क० ६३।१<लक्षणावती। कुछ शब्दों में क्ष, का ष रूप भी मिलता है किन्तु वहाँ भी क्ष का उच्चारण ख ही होता है।

§ २७९ त का ज रूपान्तर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

मर्गज (प्र० च० १६<मरकत) त्य का च रूपान्तर अपभ्रंश में होता था। चत्तकुसहं

(हेम० ४।३४५ <त्यक्ताकुश) इसमें त > च परिवर्तन महत्त्वपूर्ण है। सभवतः इसी च का ज रूपान्तर हो गया। तवर्ग और चवर्ग दोनों वर्ण उच्चारण की दृष्टि से अत्यन्त निकटवर्ती हैं। तवर्ग वर्त्स्य ध्वनि और चवर्ग सघर्षी है। इसीलिए इनका परिवर्तन स्वाभाविक है। द > ज का भी एक उदाहरण मिलता है जिजोघन (गी० भा० ३३ <जुर्जोधन <दुर्योधन)।

§ २८०. प्राकृत में मध्यग क ग च ज त द प व के लोप के उदाहरण मिलते हैं (हेम० ८।१।१७७) यही अवस्था अपभ्रशों में रही। अपभ्रश में उच्चारण-सौकर्य के लिए ऐसे स्थलों पर 'य' या 'व' श्रुति का विधान भी था किन्तु सर्वत्र इस नियम का कडाई से पालन नहीं होता था। नव्य आर्य भाषाओं में इस प्रकार के शब्दों में स्वरसंकोच या सधि आदि द्वारा अथवा शब्द को मूलतः तत्सम रूप में उपस्थित करके परिवर्तन लाया जाता है। किन्तु आरम्भिक ब्रजभाषा में ऐसे कई शब्द मिलते हैं जिसमें उपर्युक्त व्यञ्जनों के लोप के बाद किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं दिखाई पडता। कहीं-कहीं 'य' श्रुति का प्रयोग हुआ भी है किन्तु ये शब्द परवर्ती ब्रज में बहुप्रचलित नहीं दिखाई पडते। इनके स्थान पर तत्सम शब्दों का प्रयोग ही ज्यादा उचित माना जाने लगा। यह भाषा की प्राचीनता का एक सबूत है। पआरें (प्र० च० ४०६ < प्रकारेण) पाउस (ह० पु० <प्रावृट्) गुणवइ (प्र० च० ७०५ <गुणवती) हूअ (ल० प० क० <भूत-ब्रजभाषा = हुतो) पयालि (ल० प० क० ६१ <पाताल) सायो (प० वे० < सॉप <सर्प) सयल (ल० प० क० ६८ <सकल) पसाइ (वै० प० <पसाय <प्रसाद) सायर (गी० भा० २६ <सागर)।

§ २८१. य > ज

अजुध्या (वै० प० <अयोध्या) जिजोंधन (गी० भा० ३३ <दुर्योधन) आचारजहि (गी० भा० ३३ <आचार्य)।

संयुक्त व्यंजन

§ २८२. अपभ्रश के द्वित्व व्यजनों का प्राचीन ब्रजभाषा में सर्वत्र सरली-करण किया गया है। इस अवस्था में क्षतिपूर्ति के लिए पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर दिया गया है। अपूठा < प० वे० ४५ <अपुट्ठ <अपुष्ठ) आथमण (छी० वा० ७।५ <अत्थमण <अस्तमान) काजै (प० वे० ४ <कज्ज <कार्य) कीजइ (छि० वा० ७।३ <किज्जइ <क्रियते) घाले (प० वे० <घल्लइ हेम) दीठौ (ह० पु० <दिठ्ठइ <दृष्ट) दीनी (छि० वार्ता० १३१ <दिण्णी हेम०) नीसरइ (ल० प० क० २।१ <निस्सरइ <निस्सरति) पूछइ (रा० वा० २५ <पुच्छइ <पृच्छति) फूलियो (छी० वा० १२।६ <फुल्लियउ) वीध्यो (प० वे० ५२ <विध्यउ) मीठो (प० वे० < मिट्ठ <मिष्ठ) राखनहारा (छी० वा० ४।६ <रक्खण <रक्षण) बूझइ (प्र० च० १। १। बुज्झइ <बुद्धयते) इस प्रकार का व्यजन सरली करण (Simplification) पिंगल काल से ही शुरू हो गया था जिसे पहले ही प्राकृत पैंगलम्, सन्देशरासक आदि की भाषा के सिलसिले में दिखाया गया है। प्राचीन ब्रजभाषा में यह प्रवृत्ति पूर्ण रूप से विकसित दिखाई पडती है। बहुत से शब्दों में यह व्यजक द्वित्व सुरक्षित भी रह गया है। जैसे—

कज्जल (प्र० च० २६।?) दिट्ठ (छि० वा० १६।३) नच्चइ (छी० वा० १८।६) विलग्गि (छी० वा० २) बज्झई (छी० वा० २) सज्ज (रा० वा० वा० ३५) संकल (प० वे० ६)।

इन्हे हम अपभ्रश का अवशिष्ट प्रभाव कह सकते हैं।

§ २८३. ध्य का झ रूपान्तर—अपभ्रंश की तरह ही ध्य का झ रूपा
ाश्चर्य तो यह है कि ध्य>झ को सुरक्षित रखनेवाले तद्भव शब्द बाद की
थलों पर उचित न माने जाकर छोड़ दिये गए किन्तु आरंभिक ब्रज में इस प्रक
ाब्द प्रयोग में आते रहे हैं। उदाहरण के लिए झावहिं (प्र० च० ७०६<
ेम ४।४४०) जूझ (सज्ञा म० क० २<जुज्झ<युध्य)।

§ २८४ मध्यग ट का ड में परिवर्तन—

तोडइ (ह० पुराण<*त्रोटति-पिशेल § ४८६)

जड़े (प्र० च० १६<जटित)

सकडु (छी वा० १०<सकट)

घडन (छी० वा० १३<घट)

यह बहुत पुराना नियम है, जो प्राचीनकाल से चला आ रहा है (हेम

§ २८५. त्स>छ : त्स का च्छ रूपान्तर अपभ्रंश में होता था। आ
भी लुप्त हो गया। इस प्रकार त्स>छ के रूपान्तर मिलते हैं। जो एक क
हैं। उछग (ह० पुराण<उच्छंग<उत्संग) मछि (प० वे० १६<मच्छ<म

§ २८६. स्त>थ-परिवर्तन भी संलक्ष्य है।

थुत (गी० भा० ६<स्तुति) हथनापुर (गी० भा० ७<हस्तिन

वर्ण-विपर्यय

§ २८७. वर्ण विपर्यय की प्रवृत्ति नव्य आर्यभाषाओं में पाई जाती है।
प्राकृत अपभ्रंश में भी इसका किंचित् रूप दिखाई पड़ता है। डा० तेसीतोरी ने
उदाहरणों को चार वर्गों में बाटा है। यह वर्गीकरण काफी हद तक पूर्ण
है। मात्रा विपर्यय, अनुनासिक विपर्यय, स्वर विपर्यय और व्यंजन विपर्यय।

मात्रा विपर्यय

तबोर (गी० भा० २१<ताम्बूल)

सहू (ल० प० क० ३<अप० साहू<शश्वत्, पिशेल § ६४)

कुरवा (गी० भा० ५६<कौरव)

अनुनासिक विपर्यय

कँवलिय (प० वे० २५<कवँल<कमल)

भँवर (प० वे० २५<भवँर<भ्रमर)

कुँवर (ह० पु०<कुवँर<कुमार)

अँकवार (ह० पुराण<अकवाँर<अकमाल)

स्वर विपर्यय

(१) परीछति (स्व० पर्ब०<परीक्षित)

(२) सिमरौं (गी० भा०<समिरउँ<स्मृ)

(४) आथमन (छी० वा०<अस्तमान)
(५) हिव (रा० वार्ता ६<हवि<एहवि पुरानी राजस्थानी § ५०)

व्यंजन विपर्यय

पतरिष्छ (प्र० च० ४१०<परतिछ<प्रत्यक्ष)

स्वरभक्ति

§ २८८ पदमावती (प्र० च० ४<पद्मावती) विघण (प्र० च० ५<विघ्न) परदमण (प्र० च० ४०६<प्रद्युम्न) तिरिया (म० क०<६ त्रिया) मारगि (ल० प० क० ६१<मार्ग) भाराइथ (छि० वा० १२१<भारत) अपछर (छि० वा० १३१<अप्सरा) परवीन (छि० वा० १३६<प्रवीन) भीषम (गो० मा० ३६<भीष्म) सुरग (छी० वा० २८<स्वर्ग) सनमुख (छी० वा० ३<सम्मुख) अगिनि (छी० वा० ४<अग्नि) मुगती (छी० वा० ४<मुक्ति) आयुरवल (छी० वा० ८ आयुर्वल) किसन (छी० वा० १६<कृष्ण) ।

संज्ञा-शब्द

§ २८९. आरम्भिक ब्रजभाषा में केवल दो ही लिंग का विधान दिखाई पडता है। डा० ग्रियर्सन ने ब्रजभाषा के सर्वेक्षण के बाद यह बताया कि प्राचीन ब्रजभाषा में तीन लिंग होते है (देखिये § १५६) । किन्तु इस प्रकार का कोई विधान नहीं दिखाई पडता। नपुसक और पुलिंग में अन्तर बताने वाला चिह्न डॉ ग्रियर्सन के अनुसार अनुस्वार है, जैसे घोडो पुल्लिग, सोनों नपुसक लिंग ।[1] अनुस्वार का प्रयोग प्राचीन हस्तलेखो में कितना अनियमित होता है, इसे बताने की जरूरत नहीं। ऐसी हालत में लिग-निर्णय का यह आधार बहुत प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता। प्राचीन ब्रज में बहुत से स्त्रीलिंग शब्द पुल्लिंग और बहुत से नपुसक लिंग या पुल्लिंग शब्द स्त्रीलिंग मे व्यवहृत हुए हैं। वार (प्र० च० ३२) समय के अर्थ में स्त्रीलिग में प्रयुक्त हुआ है। वियापी पाप (ह० पु० २५) में पाप स्त्रीलिंग है।

प्रातिपदिकों की दृष्टि से व्यञ्जनान्त प्रातिपदिक ही प्रधान है वैसे ऐसे व्यञ्जनों के अन्त में 'अ' रहता है जो प्रत्ययों के लगने पर प्रायः लुप्त हो जाता है। बहुत से दीर्घ स्वरान्त स्त्रीलिग शब्द ह्रस्व स्वर हो गए है। धर (प्र० च० ४०७<धरा) बात (प्र० च० २८<वार्ता) बाम (प्र० च० ३१<वामा) कुमरि (ल० प० क० १०<कुमारी) गवरि (ल० प० क० ७२<गौरी) रेख (प्र० च० २६<रेखा) इस प्रकार की प्रवृत्ति अपभ्रश में भी दिखाई पडती है (दे० हेम ८।४।३३०) ।

वचन

§ २९०. बहुवचन द्योतित करने के लिए 'नि' या 'न' प्रत्यय का प्रयोग होता था। यह प्रत्यय प्राय विकारी रूपो को निर्माण करता है जिनके साथ परसर्गों के प्रयोग के आधार पर भिन्न भिन्न कारकों का बोध होता है।

(१) चितवनि चलनि पुरनि मुस्क्यानि (स्त्रीलिग) बहुवचन छि० वार्ता १३५।
(२) जेहि बम पचन कीय (प० बेलि० ६२) पाचो ने।

---

1 लिंग्विस्टिक सर्वे आव इंडिया, भाग ९, हिस्सा १, पृ० ७४

(३) इन्द्रिन औंगुन भरिया (पं० वे० ६३) इन्द्रिया ओगुन भरी हैं।
(४) संखनि पूरन लागे (गी० भा० ४५) संखो से भरने लगे।

विभक्ति

§ २९१. अधिकांशतः परवर्ती ब्रज की तरह आरंभिक ब्रज में भी निर्विभक्तिक प्रयोग पाये जाते हैं। किन्तु ब्रजभाषा में सविभक्तिक पद भी सुरक्षित हैं। यह ब्रजभाषा की अपनी विशेषता है, कि उसमें खड़ी बोली की तरह केवल परसर्गों का ही नहीं विभक्तियों के भी प्रयोग बचे रहे। कर्ता और कर्म में उपर्युक्त नि या न प्रत्यय विभक्ति चिह्न का भी कार्य करता है।

कर्म हिं

(१) तिन्हहिं चरावति (छि० वार्ता १४१) कर्म० बहुवचन
(२) कैमासहिं अहमिति होइ (रा० वार्ता ५) कर्म, एक वचन
(३) तिन्हहिं कियो प्रणाम (ह० पु० ३२) कर्म बहुवचन

करण 'हि' 'ए'

(१) दोउ पओरें (प्र० च० ४०६) प्रकार से
(२) चितौरे दीनी पीठ कर्मवाच्य, छि० वार्ता० १३१, चितौरे से पीठ दी गई।
(३) अर्धचन्द्र तिहिं साधिउ प्र० च० ४०२ उसने साधा

षष्ठी 'ह'

(१) वणह मझारि (प्र० च० १३७)
(२) पद्‌मह तणउ (प्र० च० १०)

अधिकरण—'हिं', 'इ', एँ

कुरुखेतहि (स्व० ३) मनहिं लगाइ (छि० वार्ता १२८)
मनि च्यते (प० वे० २८) सरोवरि (प० वे० ३२)
रावलि (ह० पु०) आगरे (प्र० च० ७०२) घरहिं अवतरिउं (प्र० च० ७०५)

सर्वनाम

§ २९२. उत्तमपुरुष—प्राचीन ब्रज में उत्तम पुरुष सर्वनाम में दोनों रूप 'में' और 'हौं' पाये जाते हैं। कुछ पुराने लेखों में अपभ्रंश का हउ रूप भी सुरक्षित है, जैसे प्रद्युम्न चरित (७०२) तथापि प्रधानता हउ के विकसित रूप हौं की है। मइँ का प्रयोग भी कई स्थानों पर हुआ है।

(१) हउं मतिहीन म लावउ खोरि (प्र० च० ७०२)
(२) मैं जु कथा यह कही (गी० भा० ३)
(३) हौं न घाउ घालौं (गी० भा० ५६)
(४) फुरमान मइँ दीउगा (रा० वार्ता ४९)
(५) पूर्वजन्म मइँ काहउँ कियउ (प्र० च० १३६)
(६) कि मइँ पुरुष विछोहो नारि (प्र० च० १३७)

यहाँ हउ, हौं, मइ और मैं इन चारों रूपों के उदाहरण दिये गए हैं। प्राचीन ब्रजभाषा की आरंभिक रचनाओं में अपभ्रंश रूप हउ (हेम० ४।३३८) और मइं (हेम० ४।३३०) भी वर्तमान थे किन्तु परवर्ती रचनाओं में इनके विकसित रूप हौं और मैं ही प्राप्त होते हैं।

इन रूपों के अलावा भिन्न-भिन्न कारकों में प्रयुक्त होनेवाले विकारी रूप भी मिलते हैं।

§ २९३. मो और मोहिं

कर्म—सम्प्रदान में प्रयुक्त होने वाले इन रूपों के कुछ प्रयोग नीचे दिये जाते हैं।

(१) तोहि विणु मो जग पालट भयो (ह० पु०)
(२) बुद्धि दे मोंहि (वै० पचीसी)
(३) मोहि सुनावहु कथा अनूप (वै० पचीसी)
(४) जो तुम वाहुडि पूछ्यो मोहि (ह० पु० ६)

मो का विकारी रूप भिन्न-भिन्न कारकों के परसर्गों के साथ प्रयुक्त होता है।

(१) इहि मोसों वोल्यो अगलाइ (प्र० च० ४०२)
(२) मो सम मिलहिं तोहि गुरु कवण (प्र० च० ४०६)
(३) तो यह मो पै होइ है तैसे (गी० भा० ३०)
(४) को मो सो रन जोध्यो आनि (गी० भा० ४५)
(५) सो मो वरइ कुँवरि इमि कहइ (ल० प० क० १०)

डा० तेसीतोरी मू या मो की व्युत्पत्ति अप० महु<स० मह्यम् से मानते हैं। (देखिये पुरानी राजस्थानी § ८३। २) डा० तेसीतोरी इसे मूलतः षष्ठी रूप मानते हैं जिसका सम्प्रदान कारक में प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार मुंहि या मोंहि भी उनके मत से षष्ठी का ही रूप है। जिसका प्रयोग पूर्वी प्रदेश की बोलियों (राजस्थानी से भिन्न, व्रजभाषा आदि) में सम्प्रदान कारक में होता है।[1] इस प्रकार मो के 'मम' अर्थ-द्योतक प्रयोग परवर्ती व्रज में बहुत होने लगे। मो मन हरत (सेनापति ३४) मो माया सोहत है (नन्ददास ४। २९) आदि रूपों में यही प्रवृत्ति पाई जाती है। (देखिये व्रजभाषा § १५८) बीम्स व्रजभाषा के विकारी रूप मो की व्युत्पत्ति संस्कृत मम से मानते हैं।[2] उपर्युक्त प्रयोगों में 'मों जग' का अर्थ मेरा जग है।

§ २९४ मेरो, मोरी, मेरे

उत्तम पुरुष के सम्बन्ध विकारी रूपों के कुछ उदाहरण—

(१) जो मेरे चित गुरु के पाय। (गी० भा० २९)
(२) मेरो रथ लै थापौ तहाँ (गी० भा० ४४)
(३) अगरवाल कौ मेरी जाति (प्र० च० ७०२)
(४) तो विनु और न कोऊ मेरो (ह० म०)

सम्बन्ध वाची पुल्लिग मेरो, मेरे तथा स्त्रीलिंग मोरी, मेरी आदि सर्वनाम अपभ्रंश महारउ संस्कृत-मद्कार्यक · (पिशेल ग्रेमेटिक § ४३४) से व्युत्पन्न माने जा सकते है। डा० तेसीतोरी ने मेरउ और मोरउ रूपों को राजस्थानी का मूल रूप स्वीकार नहीं किया, उनके मत से पुरानी राजस्थानी की रचनाओं में मिलने वाले ये रूप व्रज तथा बुन्देली के विकारी रूप मो,

---

१ डा० एल० पी० तेसीतोरी, पुरानी राजस्थानी § ८३।२

२. बीम्स, कम्परेटिव ग्रैमर आव माडर्न आर्यन लैंग्वेजेज आव इंडिया § ६३

में के सदृश हैं (देखिये पुरानी राजस्थानी § ८३) मेरा आदि की व्युत्पत्ति डा० धीरेन्द्रवर्मा प्राकृत मह्केरो रूप से मानते हैं।[1]

§ २९५ बहुवचन के हम, हमारी आदि रूप भी मिलते हैं।

(१) हम तुम जयो नरायन देव (ह० पु०)

(२) हमार राजा पै वस दयाउ (रा० वार्ता० ४)

(३) ए सब सुहृद हमारे देव (गी० भा० ४८)

(४) इन मारै हमकौ फल कौन (गी० भा० ५६)

'हम' उत्तम पुरुष बहुवचन का मूल रूप है। हमारी, हमार, हमारे आदि इसी के विकृत रूपान्तर हैं। हम का सम्बन्ध प्राकृत अम्हे<स०*अष्मे से किया जाता है। हमारी आदि रूप मह्कारो<स० *अस्मत्कार्यक. से विकसित हो सकते हैं। (देखिये तेसीतोरी पुरानी राजस्थानी § ८४)।

§ २९६. मध्यमपुरुष

इस सर्वनाम के रूप प्राय. उत्तम पुरुष के सर्वनाम-रूपों की पद्धति पर ही होते हैं। मूल रूप तुम, तूँ है जो अपभ्रंश के तुहुँ (हेम० ४।३३०)<संस्कृत त्वम् से निसृत हुआ है।

(१) अब यह राज तात तुम्ह लेहू (स्वर्गारोहण ५)

(२) जसु राखणहारा तूँ दई (छी० वा० ४।६)

(३) तुम जनि वीर धरौ सन्देहू (स्व० पर्व०)

(४) जेहि ठा तुम्ह तँह होइ न हारि (गी० भा० ५२)

तो, तोहिं आदि विकारी रूपों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) तो विणु अवरन को सरण (छी० वा० ३।६)

(२) तो विनु श्रौर न कोऊ मेरो (रु० म०)

(३) तो सम नाही छत्री कमनूँ (प्र० च० ४०८)

(४) तोहिं विनु मो जग पालट भयौ (ह० पुराण)

(५) तोहि विनु नयन ढलइ को नीर (ह० पुराण)

ये उत्तम पुरुष के मो, मोहि के समानान्तर रूप हैं। तो की व्युत्पत्ति अपभ्रंश<तुहुँ <*तुष्मे से सभव है। (देखिये हि० भाषा का इतिहास § २९१) मूलतः ये भी षष्ठी के ही विकारी रूप हैं। 'तो' सर्वनाम षष्ठी में भी प्रयुक्त होता है। तो मन की जानत नहीं। आदि।

सम्बन्धी-सम्बन्ध विकारी रूप

(१) तेरै सनिधान जो रहै (गी० भा० ६४)

(२) न्याय गरुअत्तण तेरउ (छी० वा० १७)

(३) साथ तुम्हारे चलिहो राई (स्व० प०)

(४) निस दिन सुमिरन करत तिहारो (रु० म०)

---

१. डा० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी भाषा का इतिहास § २९२

तेरे, तिहारे, तुम्हारे या तिहारो रूप अप० तुम्हारउ <स० *तुष्मत् + कार्यक : से निसृत हुए हैं (पुरानी राजस्थानी § ८६) षष्ठी के रूपों में एकवचन और बहुवचन का स्पष्ट भेद नहीं दिखाई पड़ता तेरे, तेरी, तिहारा आदि एकवचन में और तुम्हारे आदि बहुवचन के रूप हैं। वैसे प्रयोग में यह भेद कम दिखाई पडता है।

(५) तुम चरनन पर माथो लावै (गी० भा०)

सस्कृत के 'तव' से निस्तृत 'तुव' रूप प्राचीन ब्रज में प्राप्त होता है। इसका प्रचार परवर्ती ब्रज में और भी अधिक दिखाई पड़ता है। (तुलनीय, ब्रजभाषा § १६७)। कर्म-सम्प्रदान के विकारी रूप जो विभक्ति युक्त या परसर्गों के साथ प्रयोग में आते हैं।

(१) तुमै छाडि मो पै रह्यो न जाई (स्व० पर्व०)

(२) अत्र तुमहिं कौ घरी द्वै चारी (स्व० पर्व०)

ये रूप भी उपर्युक्त रूपों की तरह निसृत होते हैं। इस तरह सयोगात्मक वैकल्पित रूप ब्रज में बहुत प्रचलित हैं। (देखिये ब्रजभाषा § १६६)

कर्तृ-करण के, 'तैं' रूप के उदाहरण नहीं मिलते हैं। समवत यह इस काल में बहु प्रचलित रूप न था। और उसके स्थान पर तुम या तू से ही काम चल जाता था। १६वीं शती के बाद की रचनाओं में इसका प्रयोग मिलता है।

§ २९७ अन्य पुरुष, नित्य सम्बन्धी सर्वनाम

इस वर्ग में सस्कृत के प्राचीन तद् 'सः' विकसित सो आदि तथा उसके अन्य विकारी रूप प्राप्त होते हैं। स वाले रूप—

(१) सो सादर पणमइ सरसती (प्र० च० १)

(२) देइ असीस सो ठाढे भयो (प्र० च० २८)

(३) परसण इन्द्रिय परयो सो (प० वे० २)

(४) सो रहे नहीं समझायो (प० वे० ५६)

(५) सो शुत मानस्यघ की करै (गी० भा० ६)

स प्रकार के रूप केवल कर्ता में ही प्राप्त होते हैं। अन्य कारकों में इसी के विकारी रूप प्रयोग में लाए जाते हैं। इन विकारी रूपों में कई मूलतः सर्वनाम की तरह प्रयुक्त होते हैं, कुछ सार्वनामिक विशेषण की तरह। इसी कारण कुछ भाषाविदों ने इन्हें मूलत विशेषण रूप माना है। डा० धीरेन्द्र वर्मा इन्हें अन्यपुरुष सर्वनाम न कहकर नित्य सम्बन्धी कहना पसन्द करते हैं।[1] उक्ति व्यक्ति प्रकरण में डा० चाटुर्ज्या ने इन्हें अन्य पुरुष (Third person) के अन्तर्गत ही शामिल किया है।[2]

§ २९८. कर्तृकरण

तेइ—तिह

(१) तिहि तँवोर येघू कह दयो (गी० भा० २१)

---

१ डा० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी भाषा का इतिहास § २६६

२ उक्ति व्यक्ति प्रकरण, स्टडी § ६६।३

(२) तेइ घणी सही तिस भूषा (पं० वे० ५)

(३) ते सुकृत सलिल समोयौ (पं० वे० ६४)

तेइ संस्कृत तधि* > तहि > तइ > तेइ का रूपान्तर हो सकता है (चाटुर्ज्या, उक्ति व्यक्ति § ६७) तिहि तहि का ही रूप है।

§ २९९ ता, ताकों आदि विकारी रूप—

(१) ताको पाप सैल सम जाई (स्व० रो०)

(२) ताकों रूप न सकौं वखानि (वै० पचीसी ३)

(३) ता मानिक सुत सुत को नंद (वै० प०)

(४) ता घर भान महामरु तिसै (गी० भा० ७)

इन रूपों में 'ता' ब्रजभाषा का प्रसिद्ध साधित रूप है जो भिन्न-भिन्न परसर्गों के साथ कई कारकों में प्रयुक्त होता है। वैसे परसर्ग-रहित रूप से यह मूलतः षष्ठी में ही प्रयुक्त होता है। षष्ठी ताह (अपभ्रंश) से संकुचित होकर ता बना है (उक्ति व्यक्ति § ६३)।

§ ३०० तासु, तिसी, तिहि, तही, ताही आदि सम्बन्ध संबंधी विकारी रूप—

(१) करि कागद मह चित्रो तिसी (छि० वार्ता० १३५)

(२) तिह नेवर सुनि फेरी दीठि (छि० वा० १३१)

(३) नारद रिसि गो तिहि ठाई (प्र० च० २९)

(४) ताही को भावै वैराग (गी० भा० २२)

(५) लिखत ताहि भान गुन ताहि (गी० भा० २०)

(६) तिस कउ अन्त कोइ नहिं लहई (प्र० च० १)

(७) तास चीन्हइ नहिं कोई (छी० वा० १)

स० तस्य > अप० तस्स > तसु > तासु। तिसी, तासु का ही स्त्रीलिंग रूप है जो मध्यकालीन ई प्रत्यय से बनाया गया।

§ ३०१ बहुवचन ते, तिन्ह आदि

(१) ते सुरनर घणा विगूता (पं० वे० १२)

(२) तिन्ह मुनिष जनम विगृते (प० वे० २४)

(३) कुटिल वचन तिन कहे बहूत (गी० भा० ३४)

(४) सास ससुर ते आहि अपार (गी० भा० ५४)

तिन्ह और तिन रूप मूलतः कर्तृकरण के प्राचीन तेण के विकार हैं। डा० चाटुर्ज्या इसकी व्युत्पत्ति ते मध्यकालीन तेणम्+हिं विभक्ति से मानते हैं (उक्ति व्यक्ति § ६७) ते संस्कृत के प्राचीन ते से संबद्ध है।

विकारी रूप—

(१) तिन्हहिं चरावति बाँह उचाइ (छि० वार्ता १४२) कर्म

(२) तैं कैसे बँधिए सग्राम (गी० भा० ५४) कर्म

(३) तिन समान दूजो नहिं आन (गी० भा० ३०) करण

(४) तिन की बात तु सञ्जय भनै (गी० भा० ३२) सम्बन्ध

(५) तिन्ह कौं कैसे सुनू पुराण (ह० पुराण ७) सम्बन्ध
(६) तिन्हि कहुँ बुद्धि होइ (प्र० च० १) कर्म
(७) तेउ न राखि न सकै आपणे (प्र० च० ४०६) कर्म
बहुवचन में तिन या तिण का प्रयोग भी होता है।
(१) तिण ठाई (ल० प० क० १४)
(२) तिण परि (ह० पुराण)

नन्द दास और सूरदास ने भी 'उन' के अर्थ में तिण का ऐसा ही प्रयोग किया है (देखिये व्रजभाषा § १८३)।

दूरवर्ती निश्चयवाचक

§ ३०२. संस्कृत के तद् के विभिन्न रूपों से विकसित नित्यसम्बन्धी सर्वनामों के अलावा अन्यपुरुष में 'व' प्रकार के सर्वनाम भी दिखाई पडते हैं। खडीबोली में अन्य पुरुष में अब वह और उसके अन्य प्रकार ही चलते हैं। वह की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। कुछ लोग इसका सम्बन्ध अपभ्रंश क्रिया विशेषण ओइ (हेम० ८।४।३६४) से जोडते हैं।[1] प्राचीन व्रजभाषा के कुछ रूप नीचे दिये जाते हैं—

(१) वहइ धनुष गयो गुण तोरि (प्र० च० ४०५)
(२) त्यों कि वै सकइ न चालै (प० वे० ८)
(३) पै वै क्यों हू साथ न भयौ (गी० भा० १४)

वहइ रूप १४११ संवत् के प्रद्युम्न चरित में प्राप्त होता है जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इस काल की दूसरी रचनाओं में 'वह' का प्रयोग अत्यन्त दुर्लभ है। वे के कई प्रयोग प्राप्त होते हैं, प्रायः सभी एकवचन के। वे का प्रयोग परवर्ती व्रज में बहुवचन में होता था (देखिये व्रजभाषा § १६८)।

बहुवचन के रूप

(१) तब वै सुन्दरि करहिं कुकर्म (गी० भा० ६१)
(२) दुष्ट कर्म वै करिहै जबहिं (गी० भा० ६१)

विकारी रूप—उन

बहुवचन मे उन का व्यवहार होता है—
(१) अलि ज्यो उन बुटि मूआ (प० वे० ३५)
(२) उन विसवासि बध्यो रण द्रोण (ह० पु० ७)
(३) उनकौ नाहिन सुरति तुम्हारी (स्व० प०)

निकटवर्ती निश्चय वाचक

§ ३०३ इस वर्ग के अन्तर्गत एहि, इहि आदि निकटता सूचक सर्वनाम आते हैं—
एक वचन, मूल रूप—
(१) इहि मोसौं बोल्यो (प्र० च० ४०२)

---

1 ओ० डे० व० लैं० § ५७२

(२) एह बोल न संभल्यो आन (ह० पु० ६)

(३) इह स्वर्गारोहण की कथा (स्व० रो०)

(४) इह रंभा कइ अपछर (छि० वार्ता १२७)

यह के लिए प्रायः इहि रूप का प्रयोग हुआ है। इहि, एह, इह, यह आदि रूप अपभ्रंश के एहु (हेम० ४।३६२) से विकसित हुए हैं। एहु का सम्बन्ध डा० चाटुर्ज्या एत् से जोडते हैं जिसके तीन रूप एषः, एषा और एतद् बनते हैं (वै० लै० § ५६६) कभी कभी इह का सकुचित रूप 'इ' भी प्रयोग में आता है, जैसे 'इ बाद तणु रच्यो ऐसो (प० वे० ५७)।' इ या 'इयि' का प्रयोग परवर्ती ब्रज में भी होता था (देखिए ब्रजभाषा § १७४)

विकारी रूप-या, याहि, आदि। या ब्रज का साधित रूप है जिसके कई तरह के रूप परसर्गों के साथ बनते हैं।

(१) अब या कउ देखियउँ पराण (प्र० च० ४०३)

(२) अब या भयौ मरण को ठाँव (प्र० च० ४०६)

(३) सुनउ कथा या परिमल भोग (ल० प० क० ६७)

(४) या तै समझै सारु असारु (गी० भा० २८)

(५) या ही लगि हौं सेवौं (गी० भा० ५७)

§ ३०४. सम्बन्ध के यासु, इसो आदि रूप—

(१) गीता ज्ञान हीन नर इसो (गी० भा० २७)

इसो रूप स० एत-अस्य > प्रा० एअस्स से सम्बन्धित मालूम होता है। डा० चाटुर्ज्या इसकी व्युत्पत्ति सस्कृत एतस्य से मानते है देखिए (हि० भा० इतिहास § २६३)।

बहुवचन—ये, इन

(१) ये नैन दुवै बसि रापै (प० वे० ४८)

(२) सब जोधा ए मेरे हेत (गी० भा० ३६)

(३) ए दुर्बुद्ध अन्ध के पूत (गी० भा० ४५)

(४) छीहल्ल अकारण ए सवै (छी० वा० ११)

ये की व्युत्पत्ति डा० चाटुर्ज्या के अनुसार प्रा० आ० भाषा के एत् > म० का० एअ > ए से हो सकती है (उक्ति व्यक्ति स्टडी § ६७)।

विकारी रूप—इन—इसके साथ भी सभी परसर्गों का प्रयोग होता है—

(१) येघू इनमें एकै लहै (गी० भा० १७)

(२) इन मारे त्रिभुवन को राज (गी० भा० ५५)

(३) इन मैं को है (रा० वा० २१)

इन सर्वनाम स० एतानाम > एआण > एण्ह अप० > एन्ह > इन्ह > इन।

सम्बन्धवाचक सर्वनाम

§ ३०५ सम्बन्ध वाचक सर्वनाम के निम्नलिखित रूप पाये जाते हैं।

एकवचन—जो,

(१) एकादसी सहस्र जो करे (म० क० १६५)

(२) बिनसे रोगी कुपथ जो करई (म० क० ३)

आदरार्थक का 'रावरे' रूप केवल एक स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। रुक्मिणी मगल में इस शब्द का प्रयोग मिलता है। विष्णुदास की रचना होने से इसका समय १४९२ सवत् माना गया है, किन्तु इस प्रयोग की प्राचीनता पर मुझे सन्देह है। कई कारणों से रुक्मिणी मगल की भाषा उतनी पुरानी नहीं मालूम होती। उदाहरण इस प्रकार है।

(१) जो कोई सरन पड़े हैं रावरे

डा० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार तुलसीदास आदि अवधी कवियों के प्रभाव के कारण इस शब्द का प्रयोग ब्रजभाषा में होने लगा। (ब्रजभाषा § १९६)

सर्वनामिक-विशेषण

§ ३११ आरम्भिक ब्रजभाषा में सर्वनामों से बने विशेषण के निम्नलिखित रूप पाये जाते है।

परिमाणवाचक

(१) कल्प वृक्ष की साखा जिती (गी० भा० १९)

(२) तीन भुवन में जोधा जिते (गी० भा० ४०)

जित, जिते रूप अपभ्रश के जेत्तुलो (हेम० ४। ४३५) से विकसित हुआ है।

सभावित व्युत्पत्ति इस प्रकार होगी—

जेत्तिय > जेती > जिती

(१) गढि कर लेखनि कीजै तिती (गी० भा० १९)

(२) भीषम के नहि सरवर तिते (गी० भा० ४०)

अप० तेत्तिउ (हेम० ४।३९५) > तितो > तिती आदि।

(३) एते दीसे सुहृढ बहूत (गी० भा० २६)

(४) इतौ कपट काहे को कीजै (प० क० ११)

(५) इतने वचन सुने नर नाथा (स्व० रो० ६)

(६) इतनी सुनि कौतौं लखरिया (स्व० पर्व)

(७) एतउ कहि पद्मावती नाइ (ल० प० क० १३)

इतना, एती, एते आदि की व्युत्पत्ति इस प्रकार मानी जाती है।

इयत्तक > प्रा० > एत्तिय > अप० एत्तअ > एता, एते आदि।

(१) गै कत दिन निरपै वारि (छि० वार्ता० १२९)

सं० कियत्तक > प्रा० केत्तिय > अप० केत्तअ > कत, केते आदि।

हेमचन्द्र के बताये हुए एत्तिउ, जेत्तिउ, केत्तिउ (४।३८३) आदि रूपों से ये शब्द विकसित हुए हैं। पिशेल इन्हें सभावित सस्कृत रूप अयत्यः, ययत्य, कयत्य (ग्रेमेटिक § १५३) से विकसित मानते है। एक स्थान पर एतले (छी० वा० ४७) रूप भी मिलता है। एतले ठाँइ। एतले अपभ्रश एत्तुलउ (हेम० ४।४३५) से विकसित रूप है। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में इसका प्रयोग हुआ है, ब्रज में यह नहीं पाया जाता (देखिये पुरानी राजस्थानी § ९३)

§ ३१२ गुणवाचक सर्वनामिक विशेषण

(१) ऐसे नाथ तुम्हारो राजू (म० क० १२)

(२) गीता ज्ञान हीन नर इसौ (गी० भा० २७)

सं० एतादृश > प्रा० एदिस > एइस > अइस > ऐसा, ऐसे आदि।

(१) कइसइ मान भग था होइ (प्र० च० ३४)

(२) देखा सगुन कैसे वरवीर (गी० भा० ५१)

(३) तिन्ह कौ कैसे सुनू पुराण (ह० पु० ७)

कीदृश > कईस > कइस > कैसा

(१) तैसे सन्त लेहु तुम जानि (गी० भा० ३)

(२) तो यह मोपै ह्वैहै तैसें (गी० भा० ३०)

सं० तादृश > प्रा० तादिस > तइस > तैसा–

(१) कह्यो प्रश्न अर्जुन को जैसे (गी० भा० ३०)

(२) सार माहि वसु न्राख्यौ जिसो (गी० भा०)

यादृश > याईस > जइस > जैसा।

परसर्ग

§ ३१३. परसर्गों के विषय में डा० तेसीतोरी का यह निष्कर्ष अत्यन्त उचित प्रतीत होता है कि परसर्ग अधिकरण, करण, या अपादान कारक की सज्ञायें हैं अथवा विशेषण और कृदन्त। जिस सज्ञा के साथ इनका प्रयोग होता है ये उसके बाद आते हैं और उनके लिए उस सज्ञा को संबन्ध कारक का रूप धारण करना होता है। अथवा कभी कभी अधिकरण और करण कारक का भी। इनमें से सिउँ या सौं तथा प्रति अव्यय हैं (पुरानी राजस्थानी § ६८) आरभिक व्रजभाषा में अनेक प्रकार के परसर्गों का प्रयोग हुआ है। अपभ्रंश की तरह केवल द्योतक शब्दों का ही नहीं, बल्कि अन्य पूर्ण तत्सम या तद्‌भव पूर्ण शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।

कर्तृ परसर्ग—नैं

§ ३१४ कर्ता कारक में नैं का प्रयोग कुछ स्थानों पर हुआ है। यद्यपि यह सख्या अत्यल्प है।

(१) राजा नै आइस दीन्हो (रा० ल० वार्ता० १४)

(२) सावत ने स्नान कीयो (रा० ल० वार्ता० १६)

ने परसर्ग का प्रयोग १६वीं शती तक की भाषा में कहीं नहीं दिखाई पडता। ऊपर के उदाहरण रासो लघुतम वार्ता की वचनिकाओं से लिए गए है। इन्हें चाहें तो परवर्ती भी कह सकते है। फिर भी ने का प्रयोग सलक्ष्य है। कीर्तिलता की भाषा को छोडकर १५वीं शती के पहले की शायद ही किसी रचना में 'ने' का प्रयोग मिले। कीर्तिलता में भी ये प्रयोग केवल सर्वनाम के जेन्ने रूप में आते हैं। इस प्रकार सज्ञा के साथ प्रयुक्त 'ने' के ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उदाहरण कहे जा सकते हैं। नरहरि भट्ट की भाषा में एक स्थान पर 'न्हे' आया है (देखिये § २३१)

§ ३१५. कर्म परसर्ग—कहुँ, कौ, को, कों, कुं, कँउ

तिन्हि कहुँ बुद्धि (प्र० च० १) गुणियन कौ है (गी० भा० २)

राखन को अवतरो (गी० भा० ५)

ताहीं को भावैं वैराग (गी० भा०) सायर को तरैं (गी० भा० २६)

चीर (छि० वार्ता १४०) गोर वर्न (छि० वार्ता १४०) गहीर नीर (प० वे० १६) लम्पट लोइन (पं० वे० ७५) झूठा (प० वे० ४८) महान कैवास (रा० वार्ता० २) सेत तुरी (गी० भा० ४२ श्वेत तुरग) दाहिनी दिसि (छी० वा० ३) रीति (छी० वा० १३) भरी (छी० वा० १३) खार जल (छी० वा० ४७) धनवत (छी० वा० ४७) आलसी (छी० वा० ५२) उद्दमी (छी० वा०५२)।

संख्यावाचक विशेषण

§ ३२३. विकारी और अविकारी दोनों ही रूपों के जो भी सख्यावाचक विशेषण प्राप्त हैं उनको देखने से लगता है कि विकारी रूप केवल अधिकरण या करण कारक में ही होते हैं। अर्थात् सख्याएँ या तो °इ° कारान्त हैं या °ए°-ऐ कारान्त। कुछ विकारी रूपों में हूँ, ऊ जैसे पद भी जुडते हैं।

पूर्ण सख्यावाचक—

१—इकु (प्र० च० ३३) एकहि (गी० भा० ६) एक (छी० वा० ६) <अप० एक्क <सं० एक।

२—दऊ पयारे (प्र० च० ४०६) द्वे (स्व० रो० ८) दोइ (ल० प० ५७) <अप० दो <सं० द्वौ।

३—तीनि (प्र० च० ४०८) <अप० त्रिण्णी <सं० त्रीणि

४—चउवारे (प्र० च० १६) चारि (छि० वार्ता० १२३) चहु (गी० भा० १७) च्यारउ (छी० वा० ४) <अप० चारि <चत्वारि।

५—पाँचौ (स्व० रो० ६) पाँचइ (वै० प०) पाँचहु (रा० वार्ता० ६) पचयरे (छी० वा० ८) <अप० पच <स० पच।

६—षट (म० क० १०) छहै (रा० वार्ता २२) अप० छ सं० षष्

७—सत्त (ल० प० क० ४) <अप० सत्त <स० सप्त।

८—अठ दल कमल (प्र० च० २) अप० <अट्ठ <स० अष्ट।

१०—दस (छी० वा० १०) अप० <दस <स० दश।

११—एगाहरह (प्र० च० ११) <अप० एगारह <सं० एकादश

१२—वारह जोजन कौ (प्र० च० १५) <अप० वारह <स० द्वादश।

१४—चउदह (प्र० च० ११) <अप० चउदह <स० चतुर्दश

१५—पनरह (ल० प० ४) <अप० पण्णरह <स० पचदश

१८—अष्टादस (छी० वा० ६) अठारह (छी० वा० १६) <अप० अट्ठारह <स० अष्टादश।

२५—पचीस (वै० पचीसी) <पणवीस <पचविंशति।

३३—त्रेतीसउ (ल० प० ५६) तेतीस (वै० प० २)

४६—छियाल (वै० पचीसी)

५३—तिरपनै (ह० पुराण ४)

५७—सत्तावनि (गी० भा० ४)

८४—चौरासी (प्र० च० ३१०)

१००—सौ (प्र० च० ११) सै (ह० पुराण)

१०१—एकोत्तर सइ (ल० प० क० ११)

कोटि (म० क० २६६,) करोर (गी० भा० १)

§ ३२४. क्रम वाचक

१—प्रथम (छी० वा० १५)

२—दूजो (गी० भा० ११)

५—पचमी (प्र० च० ११) स्त्रीलिंग

८—अष्टमी (छी० वा० ५३)

९—नवमी (ल० प० क० ४) स्त्रीलिंग

अपूर्ण सख्यावाचक

½ अर्ध (प्र० च० ४०३)

§ ३२५ आवृत्ति संख्यावाचक—

चौगुनो (गी० भा० १३)

क्रियापद

सहायक क्रिया

§ ३२६. ब्रजभाषा में सयुक्त क्रिया का बहुल प्रयोग होता है। संयुक्त क्रिया में सहायक क्रिया का अपना अलग महत्व है। सहायक क्रिया अस्तिवाचक क्रिया के रूपों से निर्मित होती है। ब्रजभाषा में √ भू और √ *अच्छ (अछई ल० प० क० ९ अहै आदि रूप) धातु से बनी सहायक क्रियाये होती है। नीचे भू धातु से बनी सहायक क्रिया के विविध काल के रूप दिये जाते हैं।

सामान्यवर्तमान

होइ, हुइ, हो, होय, होहि (बहु)

कवित न होइ (प्र० च० १) सो होइ (प्र० च० ५)

होय थान (म० क० २६६) सबन्धी है (गी० भा० ५५)

होहिं, बहुवचन (वै० प०) देत हइ (रा० वा० ४८)

होइ, हुई, होय<अप० होइ<सं० भवति से बने हैं। होहि बहुवचन का रूप है। है रूप<अहइ<अछइ<*अच्छति से विकसित माना जाता है।

विधि आज्ञार्थक रूप का कोई उदाहरण इन रचनाओं में नहीं मिला। सभवतः यह रूप होइजे, हूजै, हूजो, रहा होगा, ऐसे ही रूप अन्य क्रियाओं के आज्ञार्थक में होते है। इसी से मिलते जुलते रूप पुरानी राजस्थानी में उपलब्ध होते है (देखिये तेसीतोरी पु० रान० § ११४)

भूत कृदन्त

§ ३२७ हुअउ, भयउ, भई (स्त्रीलिंग) भौ, भये, भयौ, हुउ

सो ढाढे भयऊ (प्र० च० २८) भई चितकाणि (प्र० च० ४०२) भौ ताम (प्र० च० ४०३) भयौ मीचु को (प्र० च० ४०६) खह द्वे भयऊ (स्व० रो० ८) हजूर हुउ (रा० वा० ४८) हुअ उछाह (ल० प० क० ५।१) भई (छि० वार्ता १२७) भो जिमि खीर (छि० वार्ता

१३७) हुआ (प० वे० ३५) भये (रा० वा० १७)। ये सभी रूप भू के बने कृदन्त से ही विकसित हुए हैं। हुअउ<अप० हुअउ<स० भूतकः। स्त्रीलिंग में हुई और बहुबचन में भई रूप महत्वपूर्ण हैं।

§ ३२८ पूर्वकालिक कृदन्त—भइ, हुइ, हो, होय, ह्वै, होइ—

हो आगे सरइ (ह० पु०) ह्वै दीजै दान (ह० पु०) हुइ (रा० ल० वा० १४) उर्द्ध होई दुइचरण (छी० वा० १०)।

अपभ्रंश में इ प्रत्यय से पूर्वकालिक कृदन्त का निर्माण होता था। भइ, हुइ, होइ, में (भू>हु में) इसी प्रत्यय का प्रयोग हुआ है। ह्वै<हुइ का ही विकास है।

§ ३२९. भविष्यत् काल—ह्वैहैं—

ह्वैहैं कैसे (गी० भा० ३०)

भविष्य में 'स' और 'ह' दोनों प्रकार के रूप अपभ्रंश में चलते थे। ब्रज में केवल 'ह' वाले रूप ही मिलते हैं। 'गा' वाले रूपों का अभाव है।

मूल क्रिया-पद

§ ३३०. सामान्य वर्तमान—आरम्भिक ब्रजभाषा में सामान्य वर्तमान की क्रियायें प्राचीन तिङन्त (प्रायः शौरसेनी अपभ्रंश की ही तरह) होती हैं किंचित् ध्वन्यात्मक परिवर्तनों के साथ। प्रद्युम्न चरित और हरिश्चन्द्र पुराण की भाषा में ऐसे तिङन्त रूपों में उद्वृत्त स्वर सुरक्षित दिखाई पडता है, किन्तु बाद की रचनाओं में अपभ्रंश से काफी भिन्नता (ध्वनि सबन्धी) दिखाई पड़ती है।

उत्तम पुरुष—मारउ (प्र० च० ४०२) हरउ (प्र० च० १३८) परउँ (प्र० च० १३८) देपिअउ (प्र० च० ४०३) विनवउ (प्र० च० ७०२) समरू (ह० पु० १) पयडों (ह० पु०) करू (ह० पु० ३) लावों (ह० पु० ३) सुणु (ह०पु० ७)लागौं (स्व०रो० १) कहहूँ(स्व०रो०२)।

इस प्रकार उत्तम पुरुष एक वचन में-उ, ऊँ, ओ, औं तथा हूँ विभक्तियाँ लगती है। अपभ्रंश में केवल उँ-जैसे करउँ रूप मिलता है बाकी रूप प्राचीन ब्रज में विकसित हुए।

बहुवचन के उदाहरण नहीं मिले हैं किन्तु परवर्ती ब्रज और अपभ्रंश को देखते हुए इस वर्ग के रूपो का निर्धारण आसान बात है। बहुवचन में एँ कारान्त रूप चलें, करैं आदि होते है। अपभ्रंश में करइँ, चलइँ आदि।

§ ३३१ मध्यम पुरुष—

एकवचन—करइ (छी० वा० १७) सहइ (छी० वा० १७) एकवचन का अइ सध्यक्षर ऐ में बदल जाता है और इस प्रकार सहै, करै आदि रूप भी मिलते हैं। बहुवचन में ओ, औ, हु विभक्तियां लगती है।

देहु (स्व० पर्व०) लेहु (स्व० प०) प्रतिपालो (स्व० प०) यही प्रवृत्ति परवर्ती ब्रज में भी है (देखिए ब्रजभाषा § २११)।

§ ३३२ अन्य पुरुष—

एकवचन की क्रिया में अपभ्रंश का पदान्त अइ कहीं सुरक्षित है, कही ए हो गया है और कहीं ऐ।

एकवचन—सोइड़ (प्र० च० १६) चलइ (प्र० च० ३३) भींजइ (प्र० च० १३६) रोवइ (प्र० च० १३६) फाडै (ह० पु०) मुरै (ह० पु०) मेल्है (ह० पु०) विनसै (म० क० १) करै (म० क० २६५) हींडइ (ल० प० क० ७) देषै (छि० वार्ता १२६) चलावइ (छि० वा० १३६)।

वहुवचन की क्रिया में हिं विभक्ति अपभ्रंश मे चलती थी, कुछ स्थानों पर हिं विभक्ति सुरक्षित है। अहिं>अइं>ऐ के रूप में परिवर्तन भी हुआ है।

हि—कराहि (प्र० च० ७०६) जाहिं (गी० भा० ३८) गुंजहिं (छी० वा० १७)
इं—लागइं (ह० पुराण २) जाइं (छि० वा० १२४) देषइं (छि० वा० १२४) पीवइं (छी० वा० १७)।
एँ—मनावें (वै० प० २)
ऐं—राखैं (स्व० रो० ६) आवैं (छि० वार्ता १२४)

वर्तमान कृदन्त से वना सामान्य वर्तमान काल

§ ३३३ वर्तमान कृदन्त के अत वाले रूप किंचित् परिवर्तन के साथ सामान्य वर्तमान में प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों का प्रचलन मध्यकाल में ही आरम्भ हो गया था। सस्कृत अन्तकः>अप० अन्तउ>अत, अती के रूप में इनका विकास हुआ। पठन्त>पठन्तउ> पठत पढती या पढ़ति। डा० तेसीतोरी का विचार है कि सभवतः अपभ्रंश में ही दन्त्य अनुनासिक व्यजन दुर्वल हो कर अनुनासिक मात्र रह गया था जैसा कि सिद्ध हेम ४।३८८ में उद्धृत करतु और प्राकृतपैंगलम् १।१३२ में उद्धृत जात से अनुमान किया जा सकता है। (पुरानी राजस्थानी § १२२) अन्त वाले रूप भी अवहट्ठ में सुरक्षित हैं। किन्तु अन्त>अत की प्रवृत्ति ज्यादा प्रवल दिखाई पड़ती है। वाद में व्रजभाषा में अन्त वाले रूप प्रायः अत-अती वाले रूपों में वदल गए। कहीं कहीं अन्त वाले रूप मिलते है उन्हें अपभ्रंश का प्रभाव ही कहना चाहिए जैसे—

(१) जे यहि छन्द सुणन्तु (ह० पु० ३०)
(२) घोर पाप फीटन्तु (ह० पु० ३०)

१४११ वि० के प्रद्युम्न चरित और हरिश्चन्द्र पुराण में अवहट्ठ की तरह अन्त वाले रूप ही मिलते हैं। वाद में १५वीं शती के उत्तरार्ध से अत वाले रूप मिलने लगे। उदाहरण–

(१) दुष सुख परत न दीठि (रु० मं० १)
(२) देवी पूजन कर वर मागत (रु० म०)
(३) मोहन महलन करत विलास (विष्णुपद)
(४) देखति फिरति चित्र चहुँपासि (छि० वार्ता १३२)
(५) तिन्हहिं चरावति वाह उचाइ (छि० वार्ता १४२)
(६) आवति सपइ वार वार (छी० वा० ७)

इन रूपों में इ कारान्त अर्थात् ति वाले रूप स्त्रीलिंग में है। छीहल वावनी में अपभ्रश के प्रभाव के कारण कुछ अतउ वाले रूप भी मिलते हैं।

चित चिन्ता चिन्तउ हरिण (३)

§ ३३४. वर्तमान कृदन्त का प्रयोग प्रायः विशेषण की तरह भी होता है। वर्तमान कृदन्त असमापिका क्रिया की तरह भी प्रयुक्त होता है। सप्तमी के प्रयोग भी काफी महत्त्वपूर्ण हैं। नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं। ये रूप अन्त और अत दोनों ही प्रकार के हैं।

(१) काल रूप अति देखत फिरई (प्र० च० ३०)
(२) पढ़त सुनत फल पावे जथा (स्व० रो०)
(३) तो सुमिरन्त कवित हुलसै (वै० प० २)
(४) यों नाद सुणन्तो सौंपों (प० वे० ५२)
(५) लिखत ताहि भानु गुन (गी० भा० २०)
(६) ततषिण घन वरसंत (छी० वा० ५)

आज्ञार्थ

§ ३३५ वर्तमान आज्ञार्थ के रूप कभी भी शुद्ध रूप में प्राप्त नहीं होते। इसकी रचना अशतः प्राचीन विधि (Potential) अशतः प्राचीन आज्ञार्थ और अन्तत. प्राचीन निश्चयार्थ से होती है (पुरानी राजस्थानी §११६)। उत्तमपुरुष के रूपों में यह कथन और भी लागू होता है क्योंकि शुद्ध उत्तम पुरुष के आज्ञार्थक रूप एकदम नहीं मिलते। मध्यम पुरुष में प्राचीन व्रजभाषा में एकवचन में उ, ओ, व तथा कभी-कभी 'इ' विभक्तियों के रूप मिलते हैं बहुवचन में प्रायः हु या उ विभक्ति लगती है। व्युत्पत्ति के लिए (देखिये उक्तिव्यक्ति § १०४)।

मध्यमपुरुष

एकवचन—लावउ खोरि (प्र० च० ७०२) संभाल्यो (ह० पु० ६) करउ पसाइ (ह० पु० १) सुणो (ह० पु० ८) सुन्नाव (ह० पु० २६) करो (रु० म०) लेहु, देउ (स्व० रो० ५) सुनावो (गी० भा० ३२) सुनो (गी० ३६) थापो (गी० भा० ४४) सुनि (गी० भा० ५८)

बहुवचन—निसुणहु चरित (प्र०च० १०) दुरावो (रा० वार्ता १५) आवउ (रा० वा० १४) देहु (छी० वा० ७)

अन्यपुरुष

एकवचन—जयो (ह० पुराण)

विध्यर्थ

इसके रूप प्राचीन व्रज में मिलते है। ये रूप प्रायः अन्यपुरुष में मिलते हैं। आदरार्थक। ये दो प्रकार के है।

इज्जइ > ईजे—(१) गुरु वचन कोजो परमाण (ह० पु०)
(२) परजा सुखी कीजै आपणी (ह० पु०)
(३) इतनो कपट काहे को कीजै (म० क० ११)
(४) विनय कीजइ (छी० वा० ७)

इज्जइ > ईये—(१) गौरी पुत्र मनाइये (रु० म०)
(२) ध्यान लगाइये (रु० म०)
(३) लै रथ थापियै तहा (गी० भा० ४६)
(४) बुल्लियइ (छी० वा० ७) विलसिये (छी० वा० ७)

क्रियार्थक-संज्ञा

§ ३३६ परवर्ती व्रज की ही तरह आरम्भिक व्रज में भी क्रियार्थक संज्ञा के दो रूप प्राप्त होते हैं। एक 'व' वाला रूप और दूसरा 'न' वाला। डा० धीरेन्द्र वर्मा का मत है कि साधारणतया पूर्व में धातुओं में 'नो' लगाकर भी इस तरह के रूप बनते हैं (देखिये व्रजभाषा § २२०) नीचे प्राचीन व्रजभाषा की रचनाओं से इस तरह के रूप उद्धृत किये जाते हैं।

'न'—करन (प्र० च० ३१) पोषन (म० क० २६४) रचन (छि० वा० १२०)
देखन (छि० वा० १२४) राखन (गी० भा० ५) भाजन (छी० वा० १३)
घडन (छी० वा० १३) करण (छी० वा० १३)।

'नि'—स्त्रीलिंग रूपों मे 'नि' लगता है।
चितवनि, चलनि, मुरनि, मुसक्यानि (छि० वा० १३५)

'व'—चलिवे को (रा० वार्ता ८) होइव (गी० भा० १६)
कहिवे (गी० भा० २७)।

§ ३३७ **भूत कृदन्त**—भूतकाल में भूत कृदन्त के बने रूपों का निश्चयार्थ में प्रयोग होता है। ये रूप कर्ता के अनुसार लिंग-वचन के अनुसार परिवर्तित भी होते हैं। भूतकाल के उत्तमपुरुष के रूप—

(१) रचिउ पुराण (प्र० च० ७०५)
(२) अवतरिउँ (प्र० च० ७०५)
(३) सुमिरयो आदीत (ह० पु० ४)
(४) कियौ कवीत (ह० पुराण ४)
(५) हउ सहिउँ सब (छी० वा० १५)
(६) पावी मति (स्त्रीलिंग हरि० पु० ३)

भूतकाल में उत्तमपुरुष, मध्यमपुरुष और अन्यपुरुष के रूपों में कोई अन्तर नहीं होता। प्रायः ये रूप एकवचन में ऊ, ओ, औ, ओ-कारान्त, बहुवचन में ए-अथवा ऐ-कारान्त तथा सभी पुरुषों में स्त्रीलिंग रूपों में एकवचन मे ईकारान्त तथा बहुवचन में ईं-कारान्त होते हैं। उत्तमपुरुष का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। बाकी के उदाहरण नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं।

मध्यम पुरुष के रूप

सीख्यो पोरिस (प्र० च० ४०६) मारिउ कास (प्र० च० ४१०)
भुजिउ राज (प्र० च० ४१०)
फूलियौ मूढ अब पत्त तजि (छी० वा० १२)
ये अजुत्त कीयउ घणो (छी० वा० १२)
एह बोल म सभल्यो आन (ह० पुराण ६)

अन्य पुरुष के रूप

ऊकारान्त ओकारान्त तथा औकारान्त होते हैं।

ऊपर भयौ (प्र० च० ११) विरूप देषियउ (प्र० च० ३०) रनिवासहिं गयऊ (प्र० च० २८) कियउ कुताल (प्र० च० ३१) भौ ताम चढायेउ (प्र० च० ४०२) कियो सिंगार (ह० पु० २) कथ्यो (ह० पु० ३) भेट्यौ राउ (ह० पु० ६) मार्यो कर्ण (ह० पु० ७)

बहुवचन—पाडव गये (स्व० रो० ३) जदुकुल में भये (स्व० रो० ५)

पाचो वधु चले (स्व० रो० ६) गै कत दिन

बहुवचम के रूप प्राय· एकारान्त कभी कभी ऐ कारान्त होते हैं। स्त्रीलिंग में प्राय· ई कारान्त क्रियापद मिलते हैं।

हँस चढी कर लेखनि लेइ (प्र० च० ३) तिनसौं कही बात (स्व० रो० ६) दीठी लखनउती (ल० प० क० ६२) परणी धीय (ल० प० क० ६६) कथा कही (वै० प०) दीनी पीठ (छ० वार्ता १३१) फेरी दीठि (छि० वा० १३१) चित्री तिसी (छि० वार्ता १३५) कीन्ही काम (छि० वा० १०१) तेइ सही (प० वे० ५) इन कीनीं कुमति (गी० भा० ४५) कीनीं बहुवचन का रूप है।

कुछ रचनाओं में कई स्थानों में दीधउ और कीधउ का प्रयोग भी हुआ है।

(१) दीधउ जाय (ल० प० क० ६)

(२) लिद्धउ (छी० वा० १)

लक्ष्मण सेन पद्मावती कथा में दीधउ के साथ ही दीन्हो (ल० प० क० ५८) तथा दीयो (२) भी प्रयुक्त हुये हैं। पृथ्वीराज रासो की भाषा में दीधउ, कीधउ आदि के प्रयोग पर विचार किया गया है। लगता है कि इस तरह के रूप बाद में अनावश्यक समझे जाकर छोड दिये गए।

भूतकाल के कृदन्त रूपों में अधिकाशतः औ–कारान्त रूप पाये जाते हैं किन्तु परवर्ती रचनाओं में –यौ–कारान्त की प्रवृत्ति भी बढती दिखाई पडती है जैसे सक्यौ (प० वे० २६) चूर्‌यौ (प० वे० १०)। ऐसे स्थानों पर परवर्ती वर्ण में स्वरलोप भी हो जाता है। कुछ स्थानों पर चपियो (प० वे० ३३) कहियौ जैसे रूप भी मिलते हैं। वस्तुत· ये दोनों ही प्रकार अपभ्रंश के देखियउ, कहिउ के मध्य इ के य परिवर्तन के कारण बनते हैं।

ई कारान्त स्त्रीलिंग के रूप अपभ्रंश से ही शुरू हो गए थे (देखिए § ६५) अपभ्रंश में दिण्णी आदि रूप मिलते हैं। ब्रजभाषा में इन रूपों में कुछ के दो तरह के रूप होते हैं। जैसे देना के दई और दीन्ही तथा करना के करी और कीन तथा कीन्ही। आरम्भिक ब्रज में ये सभी प्रकार के रूप मिलने लगते हैं।

पूर्वकालिक कृदन्त

§ ३३८. अपभ्रंश में पूर्वकालिक कृदन्त बनाने के लिए आठ प्रकार के प्रत्ययों का प्रयोग होता था (देखिए हेम० ४।४३६ तथा ४।४४०) इन आठो प्रत्ययों में 'इ' प्रत्यय की प्रधानता रही, बाकी प्रत्यय अवहट्ट या परवर्ती अपभ्रंश काल मे ही लुप्त होने लगे थे (देखिये कीर्तिलता § ७२) ब्रजभाषा मे 'इ' प्रत्यय की ही प्रधानता है। कुछ स्थानों पर 'इ' दीर्घ भी हो गया है। दीर्घ स्वरान्त पदों में कभी कभी इ > य में बदल जाता है कहीं-कहीं इ > ए भी होता है।

१—इ—लेखिनि लेइ (प्र० च० ४) लहरि (प्र० च० १८) निसुणि वयन (प्र० च० २८) जोडि (प्र० च० ३२) छाडि नीसर्यो (ह० पु० ५) विसवासि (ह० पु० ७) रस रूढ़ि (प० वे० २५) त्रुटि मूत्रा (पं० वे० ३५) पिक्खि (छी० वा० ३) तजि (छी० वा० १२)।

२—ई—खरी विलखाइ (ह० पु०) देख्यो मूढ विचारी (प० वे० २४)

३—अ—धर ध्यान (रु० म०)

४—य—बन जाय (ह० पुराण २२) विदा होय (रु० मगल)

५—ए—दे करउ पसाउ (ह० पुराण १) लै उपदेशा (स्व० रो० ४)
लै थापो तहाँ (गी० भा० ४४)

कुछ स्थानों पर अपभ्रश का पुराना 'अवि' प्रत्यय भी सुरक्षित दिखाई पडता है।

सुवणि (ह० पु० २५)
मारवि (छी० वा० ४)

ब्रजभाषा के पूर्वकालिक कृदन्त की सबसे बडी विशेषता पूर्वकालिक द्वित्व का प्रयोग है। 'इ' प्रत्यय से बने हुए पूर्वकालिक कृदन्त में √कृ का पूर्वकालिक कृदन्त सहायक रूप में सयुक्त होता है। इस प्रकार ब्रजभाष में पूर्वकालिक सयुक्त कृदन्त का प्रयोग होता है। इसका आरम्भ अवहट्ठ काल में हो गया था (देखिये § १२०) आरंभिक ब्रज में इस प्रकार के बहुत से रूप पाये जाते हैं।

(१) जो रचि करि धरी (प्र० च० १५)
(२) गढि करि लेखनि कीजै (गी० भा० १६)
(३) दे करि लत्त प्रहार (छी० वा० १५)
(४) आधीन हुई कै (रा० वा० १४)

भविष्यत् काल

§ ३३६ भविष्यत् काल में केवल–ह–वाले रूप ही मिलते हैं। शौरसेनी अपभ्रश में-ह– और –स–दोनों प्रकार के रूप मिलते हैं। परवर्ती ब्रजभाषा और खडी बोली में एक तीसरा प्रकार –ग–वाले रूपों का भी है। आरम्भिक ब्रजभाषा (१६०० ई के पूर्व) में ग वाले रूप प्रायः नहीं मिलते। दो एक स्थानों पर मिलते हैं किन्तु वे कितने प्राचीन हैं इसका निश्चित निर्णय कर सकना कठिन है। –ह–प्रकार के रूप नीचे दिये जाते हैं।

(१) मो सम मिलिहि तोहि गुरु कवण (प्र० च० ४०६)
(१) कलि में ऐसी चलिहै काई (स्व० रोहण प०)
(३) दुष्ट कर्म वै करिहैं जबहि (गी० भा० ६१)
(४) पढिहैं वैताल पुरान (वै० प०)

इन रूपों में 'मिलिहि' तथा 'चलिहै' अन्यपुरुष के एकवचन के रूप हैं। जबकि करिहै बहुवचन का। मिलिहिं प्राचीन रूप है। लगता है १५वीं के आरम्भ तक 'हि' का 'है' रूपान्तर नहीं हुआ था। अपभ्रश में भी हि-अन्त वाले रूप मिलते हैं।

(१) कियेन भारत कहिहौ तोहि (ह० पु० ८)
(२) निसुणिहौ आव (ह० पु० २५)

(३) साथ तुम्हारे चलिहौ राई (स्व० रो० पर्व)

(४) बहुरि करिहौ निज कुकृत (छी० वा० १०)

उत्तमपुरुष का निम्नलिखित उदाहरण महत्त्वपूर्ण है।

अब या कउ देखिअउँ पराण (प्र० च० ५०३)=अब इसकी शक्ति देखूँगा।

डा० धीरेन्द्र वर्मा ने इस प्रकार के मध्यग ह लोप वाले रूपों पर विचार किया है। उनके निरीक्षण के अनुसार इटावा, शाहजहाँपुर आदि की बोली में इसी प्रकार के रूप पाये जाते हैं (देखिए ब्रजभाषा § ३२६)

ग—वाले रूप—साध लोग छोड़ेंगे जासी (स्व० प०)

फुरमान मई दिउँगा (रा० वार्ता ४८)

इन दो प्रयोगों में एक तो विष्णुदास के स्वर्गारोहण पर्व से है दूसरा रासो वार्ता से। स्वर्गारोहण पर्व का रचनाकाल १४९२ विक्रमी माना गया है। ऐसी स्थिति में ग-का प्रयोग प्राचीन कहा जायेगा। किन्तु केवल दो प्रयोगों के देखते हुए कोई निश्चित निर्णय देना कठिन है।

एक –स– प्रकार के रूप का भी उदाहरण मिला है जिसे राजस्थानी प्रभाव कह सकते हैं।

रस लेस्यों आइ वहोडि (प० वे० ३०)

§ ३४०. संयुक्त काल

वर्तमान—साधारणतया वर्तमान में प्राचीन तिङन्तों से विकसित क्रिया पद ही व्यवहृत होते है किन्तु वर्तमान में अपूर्ण निश्चयार्थ व्यक्त करने के लिए वर्तमान कृदन्त और सहायक क्रिया के वर्तमान कालिक तिङन्त रूपों के योग से सयुक्तकाल का निर्माण होता है। हौं चलत हौ, तू करत है आदि। इस तरह के रूप प्रद्युम्न चरित और हरिश्चन्द्र पुराण जैसी १५वीं शती के पूर्वार्ध की रचनाओं में नहीं मिलते।

१—अस्तुति कहत हौं (रु० मगल)

२—चद सू कहतु है (रा० वार्ता ११)

३—या जानियतु है (रा० वा० १७)

४—तारतु है (रा० वा० ३५)

इस प्रकार के प्रयोग आरभिक ब्रजभाषा में बहुत ही कम दिखाई पडते हैं।

१—सुरनर मुनि जन ध्यान धग्त रहै गति किनहू नहीं पाई (रु० म०)

२—सदा रहै भय भीति (भीत रहता है [प० वे० ४९)

इस प्रकार का नैरन्तर्य सूचित करने वाले पदों मे प्राय. रह् धातु सहायक क्रिया की तरह प्रयुक्त होती है। इस तरह के कुछ उदाहरण पुरानी राजस्थानी में भी प्राप्त होते हैं (पुरानी राजस्थानी § १२५)।

निरन्तर रुदन करती रहइ।

केलाग ने इस प्रकार के प्रयोगों पर विचार करते हुए बताया है कि नैरन्तर्य सूचक सयुक्त क्रिया (Continuative compound verb) में अपूर्ण कृदन्त और रह् सहायक क्रिया का प्रयोग होता है (हिंदी ग्रैमर § ४४२ और § ७५४ डी)

§ ३४१. भूत कृदन्त निर्मित संयुक्त काल

पूर्ण भूत— भूत कृदन्त + वर्तमान सहायक क्रिया।

(१) खड्यो रहै हैरानि (पं० वे० ५१)—खडा रहे
(२) सो रहै नहीं समझायौ (प० वे० ५६)—समझाया है
(३) यह आयो है (रा० वार्ता० २४)—आया है
(४) कयमास परयो है (रा० वार्ता० ५)—कयमास पडा है

पूर्वकालिक कृदन्त के साथ सहायक क्रिया के वर्तमान और भूत दोनो कालों के रूपों के संयोग से भी सयुक्त कालिक क्रिया का निर्माण होता है।

पूर्वकालिक + सहायक क्रिया का वर्तमान कालिक रूप

(१) चित्र तन रहइँ भुलाइ (छि० वार्ता० १२४)
(२) पडि होइ जहाँ (प० वे० ४०)
(३) मारवि सकै (छी० वा० ४)
(४) जल जल पूरि रहै अति (छी० वा० १३)

इस प्रकार के रूप बहुत नहीं मिलते।

संयुक्त क्रिया

(१) पूर्वकालिक कृदन्त के बने क्रिया रूपों का प्रयोग। इस वर्ग के दोनों ही क्रियाएँ मूल क्रिया ही होती है।

(१) हुइ गयौ (प्र० च० ११)
(२) ठाढे भयऊ (प्र० च० २८)
(३) तूटि गो नाम (प्र० च० ४०४)
(४) दे करउ पसाउ (ह० पुराण १)
(५) गरि गए हेवारे (स्व० रो० ३)
(६) होइ गई मति मटो (वै० वे० ३)
(७) मन देष्यो मूढ विचारी (प० वे० ३४)
(८) मोसे रन जोधो आनि (गी० भा० ४१)

डा० तेमीतोरी पूर्वकालिक कृदन्त को अपभ्रश 'ई' <सस्कृत य से उत्पन्न नहीं मानते। इसे वह वस्तुत. भूत कृदन्त के 'भावे सप्तमी' का रूप मानते हैं। इस सिलसिले में उन्होंने रामचरितमानस की अर्धाली 'कछुक काल बीते सब भाई' उद्धृत की है और बताया है कि इसमें 'बीते' भावे कृदन्त रूप है जो पूर्वकालिक कृदन्त का कार्य करता है उन्होंने शक्ति बोधक तथा तीव्रता-बोधक 'सकना' क्रिया के साथ पूर्वकालिक कृदन्त का प्रयोग पुरानी राजस्थानी में लक्षित किया था। (पुरानी राजस्थानी § १३१–१३२)। ऐसे प्रयोग आरम्भिक ब्रज में भी मिलते हैं।

(१) उपनो कोप न सक्यो सहारि (प्र० च० ३२)
(२) तेउ न रापि सके आपने (प्र० च० ४०६)

(२) वर्तमान कृदन्त + भूतकालिक क्रिया

(१) काल रूप अति देखत फिरई (प्र० च० ३०)

(२) मोहि जूझत गयऊ (स्व० रो० ८)

(३) फल खात फिर्यो (प० वे० १)

§ ३४२. **क्रिया विशेषण**—डा० तेसीतोरी क्रिया विशेषणों को चार वर्गों में बाँटते है। करण मूलक, अधिकरण मूलक, विशेषण मूलक और अव्यय मूलक। करण मूलक क्रिया विशेषण रीति का बोध कराते हैं। अधिकरण मूलक काल और स्थान का। विशेषण मूलक परिमाण या मात्रा का तथा अव्यय मूलक क्रिया विशेषण कई प्रकार के अनिश्चित कार्यों का बोध कराते हैं (पुरानी राजस्थानी § ६६) नीचे आरम्भिक ब्रजभाषा के क्रिया विशेषणों को उनके अर्थबोध की दृष्टि से निम्नलिखित विभागों में रखा गया है।

१—कालवाचक

अब (प्र० च० ४०२) जाम (प्र० च० ४०४ <यावत्) ताम (प्र० च० ३१ <तावत्) तब (प्र० च० ४०७) विन (प्र० च० ४०८) वेगि (ह० पु० २२ वेगेन = शीघ्र) नितु (ल० प० क० ६८) ततष्णा (ल० प० क० ५६) जब जब (छि० वार्ता० १२८) तवलूँ (रा० वार्ता तब तक)

फुनि (प्र०च० २८) बडी बार (प्र० च० ३२) नित-नित (प्र० च० १३६) फुरि-फुरि (वै० प० ४) वहुरि (छि० वार्ता १२८) कवहीं (छि० वार्ता १२८) आजु (गी० भा० ५५) तब हीं (गी० भा० ६१) जब हीं (गी० भा० ६१) अतर (छी० वा० १) जब-पुनि (छी० वा० ३) ततपिण (छी० वा० ४) अति (छी० वा० ६)

२—स्थानवाचक

तँह (प्र० च० २६) नीरालौ (ह० पु० = अलग) भीतर (ह० पुराण) पास (म० क० ४) तिहाँ (ल० प० क० ८) ढिग (ह० पु० ६) आगे (प० वे० १०) ठौर ठौर (रा० वार्ता ७) ऊपर (गी० भा० २३) कहाँ (गी० भा० ३२) तहाँ (गी० भा० ३२)।

३—रीतिवाचक

भाँति (प्र० च० १७) जिमि (ह० पुराण) ऐसे (म० क० १२) ज्यूँ (छि० वार्ता १२७) जनु (छि० वार्ता १४२) नीकै (गी० भा० = अच्छी तरह) तैसे (गी० भा० ३०) जैसे (गी० भा० ३०) कहीँ धुँ (छि० वार्ता १३६)।

४—निषेधवाचक

नहिं (प्र० च० २) ण (प्र० च० ३३) नाहीं (प्र० च० ४०८) म (प्र० च० ७०२) ना (गी० भा० २६) जिन (गी० भा० २६)।

५—विभाजक

की (प्र० च० १३७) कइ तू परणी कइ कुमारि (ल० प० ६) कै (गी० भा० ५)

६—समुच्चय बोधक

अरु (प्र० च० १३६) अर (ल० प० क० ६४ <अपर)

७—केवलार्थ

एकै (गी० भा० १७ = एकही) किण ही (छी० वा० १)

८—विविध

वरु (गी० भा० = वरन्) = वरु भल वास (तुलसी)

९—परिमाण वाचक

मकु (प्र० च० १ = थोडा) वहु (ह० पु०) घणै (ह० पु० = अधिक) घणी (प० वे० ६) इतनी (गी० भा० ४६) कछू (गी० भा० ५८)।

१०—निमित्तवाचक

तो (प्र० च० १३८) तउ (ल० प० क० ११) पै (गी० भा० १४) तौ (गी० भा० ३०)।

११—उद्देश्यवाचक

ज्यु (ह० पु० १ = जो) तइ (पं० वे० ४) जौ (गी० भा० १९)

१२—घृणासूचक

धिक धिक (छी० वा० १३)

१३—करुणाद्योतक

हा भ्रिग, हा भ्रिग (ह० पुराण) हा हा दैव (छी० वा० ३)

रचनात्मक प्रत्यय—

§ २४२. इस प्रकरण में हम उन रचनात्मक प्रत्ययों पर विचार करना चाहते हैं जो प्राचीन व्रजभाषा में मध्यकालीन आर्यभाषा स्तर से विकसित होते हुए आये अथवा जो इस भाषा में नवीन रूप से निर्मित हुए। पिछले प्रकार के रचनात्मक प्रत्यय वस्तुतः कुछ टूटे-फूटे (Decayed) शब्दों से बनाए गए।

अन— प्रत्यय प्रायः क्रियार्थक संज्ञाओं के निर्माण में प्रयुक्त होता है। करण, गमन आदि। उदाहरण के लिए देखिये § ३६, लावण (ल० प० क० ३)

–अनिहार–राखणिहारा (छी० वा० ४) इस प्रत्यय की व्युत्पत्ति मध्यकालीन अनिय प्रा० ची० <अनिक + हार < प्रा० धार से हुई है। (देखिये उक्ति व्यक्ति स्टडी § ४९)

–आर– अंधिआर (ह० पु० < अंधकार) जूझारु (गी० भा० ३९ < युद्धकार)

–कार– झुणकार (ल० प० ५५)

–ई– नयनी (ल० प० क० १२ < नयनिका) गुनी (गी० भा० २ < गुणिक) इक या इका > ई। स्त्रीलिंग और पुल्लिंग दोनों प्रकार के विशेषण रूपों में प्रयुक्त होता है।

–वाल-वार–भुवाल (वै० प० < भूपाल) रखवालण (पं० वे० ६ < रक्षपाल) रखवारु (गी० भा० ३९ < रक्षपाल) पाल > वार।

–वाल– अगरवाल (प्र० च० ७०२)।

वाल या वाला परवर्ती प्रत्यय है जिसका विकास संस्कृत-पाल से ही माना जाता है किन्तु यह प्रत्यय जातिबोधक शब्दों में लगने के कारण प्राचीन अर्थ से किंचित् भिन्न हो गया है।

—ली— अकली (ह० पुराण) पाछली (रा० वार्ता १४) पहली (स्त्रीलिंग) (रा० वार्ता ४०) ।

—वान— अगवाण (ल० प० क० ५६) ।

—वो—ओ— वधावउ = (वधावो, ल० प० ६२)

—एरो— चितेरौ (छि० वार्ता १२७)

—नी— गुर्विनी (१३८<गर्विणी)

—अप्पण— मित्तप्पण (छी० वा० १२) विधवापणउ (छी० वा० ४७) यह अपभ्रंश का पुराना प्रत्यय है । इसी से परवर्ती ब्रज का पन प्रत्यय बनता है ।

—वे— क्रियार्थक संज्ञा बनाने में इस प्रत्यय का प्रयोग होता है । भरिवै (रा० वार्ता १७) देवै (रा० वार्ता २७) ।

—यर<कर—गुनियर (गी० भा० २१ गुणकर) डा० भायाणी ने सन्देशरासक मे इस यर प्रत्यय के विवरण के प्रसंग में यह लिखा है कि इसी से ब्रजभाषा का एरो प्रत्यय जो चितेरो में दिखाई पडता है, विकसित हुआ (सन्देशरासक §६३) ।

प्राचीन व्रज-काव्य

प्रमुख काव्य धाराएँ

§ ३४४. व्रजसाहित्य के अनुसन्धित्सु और विचारवान पाठक के सामने अष्टछाप के भक्त कवियों से लेकर रीतिकाल के स्वच्छन्दतावादी घनानन्द-द्विजदेव तक के कवियों की रचनाओं में अन्तःप्रवाहित मूल-काव्य-चेतना के पारम्परिक विकास और उनके उद्‌गम स्रोतों के अन्वेषण का प्रश्न प्रायः उठता है। यह प्रश्न केवल व्रज-साहित्य तक ही सीमित नहीं है। मध्यकाल की दूसरी विभाषाओं अवधी, मैथिली, राजस्थानी आदि के साहित्य-विवेचन के लिए भी ऐसे प्रश्नों का समाधान आवश्यक हो जाता है। बहुत दिनों तक हिन्दी के आलोचक भक्ति, रीति तथा ऐतिहासिक स्तुतिपरक काव्यों की अन्तश्चेतना की तलाश करते आ रहे हैं और हिन्दी के भक्ति-रीति साहित्य की प्रवृत्तियों के विकास की सारी प्रेरणा संस्कृत साहित्य से ही प्राप्त हुई, ऐसा समझते रहे हैं। भागवत, गीतगोविन्द भक्ति के विकास के लिए उपजीव्य ग्रन्थ माने जाते हैं, उसी प्रकार रीतिकालीन अलंकृत शृङ्गार-मुक्तकों के लिए प्राचीन शृङ्गार शतकों की शरण लेनी पड़ती रही है। दसवीं शताब्दी तक के संस्कृत साहित्य को सोलहवीं शताब्दी में उद्‌भूत हिन्दी साहित्य से जोड़ते समय बीच के काल व्यवधान को नज़रअन्दाज कर जाने में उन्हें कभी चिन्ता नहीं होती थी।

अपभ्रंश साहित्य के प्रकाश में आने के बाद इस मध्यन्तरित व्यवधान को मिटाने का प्रयत्न अवश्य हुआ। राजस्थानी, व्रज, अवधी आदि भाषाओं में लिखे साहित्य की प्रवृत्तियों और उनमें गृहीत काव्य रूपों को अपभ्रंश की काव्य-धाराओं और शैली-विधियों से जोड़ने का प्रयत्न होने लगा। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपभ्रंश काव्य को हिन्दी की 'प्राणधारा' कहा बहुत से आलोचक अपभ्रंश काव्य का प्रभाव केवल आदिकाल के साहित्य तक ही सीमित कर

की तो कौन कहे हमें उसकी पूरी जानकारी भी नहीं है' उक्त लेखक ने हिन्दी वालों की इस अकर्मण्यता के लिए बहुत कोसा है जो उचित भी है। यह सत्य है कि हिन्दी के विद्वानों ने जैन साहित्य को उसका प्राप्य गौरव प्रदान नहीं किया। स्वयभू के पउमचरिउ के कुछ स्थलों की तुलना तुलसी-मानस के उन्हीं अशों से करके, इन दोनों के साहित्य के परस्पर संबन्धों की चर्चा करते हुए राहुल साकृत्यायन ने इस दिशा में काम करने वालों को प्रेरणा दी थी किन्तु आज भी जैन-साहित्य का अध्ययन ऊपरी स्तर पर काव्य रूपों छन्द, कडवक, पद्धडिया, चरित कथा आदि तक ही सीमित दिखाई पडता है। प० रामचद्र शुक्ल ने बहुत पहले जैन साहित्य को अपने इतिहास से यह कह कर बहिष्कृत कर दिया था कि 'इसमें कई पुस्तकें जैनों के धर्म तत्व निरूपण सम्बन्धी हैं जो साहित्य कोटि में नहीं आतीं।'[1] शुक्ल जी का प्रभाव और व्यक्तित्व इतना आच्छादक था कि उनकी इस मान्यता को बहुत से विद्वान् आज भी श्रद्धापूर्वक स्वीकार करने में सकोच का अनुभव नहीं करते। शायद ऐसी ही मान्यता से किंचित् रुष्ट होकर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाई पडने लगी है कि धामिक रचनायें साहित्य में विवेच्य नहीं हैं। कभी कभी शुक्ल जी के मत को भी इस मत के समर्थन में उद्धृत किया जाता है। मुझे यह बात उचित नहीं मालूम होती। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए।'[2] आदिकाल की यत्किंचित् प्राप्त सामग्री में उस काल के जैन लेखकों की रचनायें हमारे लिए अत्यन्त मूल्यवान प्रमाणित हो सकती हैं किन्तु ये रचनायें केवल तत्कालीन भाषा के समझने या कुछ प्रसिद्ध काव्य रूपों के लक्षण-निर्धारण आदि मे ही सहायक नहीं हैं, जैसा कि प्राय. माना जाता है, बल्कि यदि इस साहित्य की अन्तर्वर्ती भावधारा को भी ठीक से समझा जाये तो तत्कालीन-जन-जीवन को समझने और उससे अनुप्राणित होने में सहायता मिलेगी, जिसका अत्यत मार्मिक, विशद और यथार्थ चित्रण इन तथाकथित धार्मिक रचनाओं मे बडी पूर्णता के साथ हो सका है। यही नहीं इस साहित्य में चित्रित उस मनुष्य को, जिसने अपनी साधना से, कष्टों और कठिनाइयों को झेलते हुए, अपने शरीर को तपश्चर्या से सुखाकर, नाना प्रकार की अग्नि-परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर तत्कालीन मानव जाति के सासारिक और पारलौकिक सुख के लिए अपने को होम कर दिया, हम अपनी पृथ्वी पर चलते फिरते और हँसते-रोते भी देख सकते हैं।

§ ३४६. अपभ्रश भाषा में लिखा जैन साहित्य बहुत महान् है। जिस साहित्य ने स्वयभू, पुष्पदन्त और हेमचन्द्र जैसे व्यक्तित्वों को उत्पन्न किया वह अपनी महत्ता की स्वीकृति के लिए कभी परमुखापेक्षी नहीं हो सकता। राहुल जी ने तो स्वयभू की अभ्यर्थना करते हुए यहाँ तक लिख दिया है कि हमारे इसी युग में (सिद्ध-सामन्त युग) नहीं बल्कि हिन्दी कविता के पाँचों युगों—सिद्ध सामन्त युग, सूफी युग, भक्त युग, दर्बारी युग और नव जागरण युग के जितने भी कवियों को हमने यहाँ सग्रहीत (काव्यधारा पाँच भागों में निकलने वाली है) किया है उनमें यह नि सकोच कहा जा सकता है कि स्वयभू सबसे बड़ा कवि था।[3] जैन साहित्य के

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रथम सस्करण का वक्तव्य, पृ० ४

२ हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पटना, १९५४ ईस्वी, पृ० ११

३ हिन्दी काव्य धारा, प्रथम सस्करण, १९४५, प्रयाग, पृ० ७० ।

विषय में कुछ विद्वानों ने एक अजीब पूर्वाग्रहीत धारणा बना ली है कि यह साहित्य स्थूल, धर्माचार, स्तवन-आराधना, विरागोपदेश तथा नग्नकाय जनों के रूढ़ आचरणों से आक्रान्त है। इसीलिए न इसमें रस है न भाव न जीवन का स्पन्दन। उनकी यह धारणा तो स्वयंभू और पुष्पदन्त जैसे अतिप्रसिद्ध कवियों की एकाध रचनाओं से या उनके अंशों से ही, कम से कम जिन्हें देखने की आशा अवश्य की जाती है, पूर्णतः निर्मूल प्रमाणित हो जानी चाहिए। जिसने स्वयभू रामायण में पति द्वारा मिथ्या लाछनों से प्रताडित सीता की अद्‌भुत करुणा—दर्प-मिश्रित मूर्ति को देखा है जिसने सीता के मुख से सुना है :

> पुरिस णिहीण होंति गुणवंत वि
> तियहे ण पत्तिज्जति मरत वि
> खड्डु लक्कड्डु सलिल वहतिहे पउराणियहे कुलग्गयहे
> रयणायरु खार इ देत्तउ तो वि ण थक्कइ ण णइहे

'पुरुष गुणवान् होकर भी कितना हीन होता है, वह मरती हुई पत्नी का भी विश्वास नहीं करता। वह उस रत्नाकर की तरह है जो नदियों को केवल क्षार देता है, किन्तु उनसे छोडा नहीं जाता।'

इस सीता को कौन भूल सकता है ! 'राम के हाथों मुक्ति पाने वालों का जब हमारे देश में नाम भी नहीं रह जायेगा, तब भी तुलसी की कद्र होगी, स्वयभू के जैन धर्म का अस्तित्व भी न रहने पर वह नास्तिक भारत का महान् कवि रहेगा। उसकी वाणी में हमेशा वह शक्ति बनी रहेगी कि कहीं अपने पाठकों को हर्षोत्फुल्ल कर दे, कहीं शरीर को रोमाचित कर दे और कहीं आँखों को भींगने के लिए मजबूर कर दे।'[1]

स्वयभू का यह प्रसंग केवल इस परितोष के लिए उद्‌धृत किया गया कि जैन काव्य में केवल धर्मोपदेश नहीं है, केवल निर्ग्रन्थ-आचरण का सन्देश नहीं है, वहाँ काव्य भी है तथा मर्म को छू देने वाली पीडा भी।

§ ३४७. हमारे विवेच्य काल के अन्तर्गत केवल वे ही जैन रचनायें परिगृहीत की गई हैं जो परवर्ती शौरसेनी अपभ्रश यानी अवहट्ट तथा व्रजभाषा में लिखी गई हों। दूसरे वर्ग की रचनाओं की सख्या ज्यादा नहीं है क्योंकि इसका बहुत बडा भाग ज्ञात-अज्ञात भाडारों में दबा पडा है। फिर भी जितनी रचनाओं की चर्चा इनके ऐतिहासिक कालानुक्रम और तिथिकाल आदि के परिचय के सिलसिले मे हमने पिछले अध्याय में की है, वे भी कम नहीं है। आरम्भिक व्रजभाषा में लिखे जैन काव्य की मुख्य प्रवृत्तियों और काव्योपलब्धियों का पूरा सकेत तो इनमे मिलता ही है।

जन-जीवन का चित्रण

व्रजभाषा—जैन काव्य की सबसे बडी विशेषता है जीवन के यथार्थ चित्रण की। लोगों को भ्रम है कि जैन-साहित्य केवल प्राचीन पौराणिक कथाओं के जैनोद्देश्य-परक रूपान्तरों के साथ ही सामन्त और श्रेष्ठी जीवन से सम्बन्धित व्रत-उपवासादि की कहानियों तक ही सीमित है। सामन्तवादी सस्कृति के प्रभावों से तो इस काल का कोई भी साहित्य मुक्त नहीं हो सका

---

1 वही पृ० ५४

है। १४वीं १५वीं के किसी भी साहित्य में सामन्तवादी संस्कृति का प्रभाव किसी न किसी रूप मे वर्तमान रहा है, किन्तु सामन्ती या श्रेष्ठी जीवन के बाह्य वैभव और प्रदर्शन के भीतर सामान्य मनुष्य के जीवन की अजस्र बहने वाली धारा को जैन कवियों ने कभी अवरुद्ध नहीं किया। सामन्ती जीवन में भी वे सामान्य जन-जीवन के व्यवहृत आदर्शों, विचार-पद्धतियों, विश्वासों और मान्यताओं को प्रभावशाली रूप में चित्रित करने में सफल हुए हैं। राजों महारानों की कहानियाँ लिखते हुए भी जैन कवि पुष्पदत को याद रख सकते थे जिन्होने बड़े गर्व से कहा था कि वल्कल धारण करके गिरिकदराओं में निवास करते हुए, वन के फल-फूल खाकर, दारिद्रय से शरीर को कष्ट देकर जीवन बिता देना श्रेयस्कर है किन्तु किसी राजा के सामने नतमस्तक होकर अभिमान का खण्डन कराना नहीं।

> वक्कल णिवसणु कदर मदिरु, वणहल भोयण वर त सुन्दर
> वर दालिद्द सरीरह दण्डणु, णहु पुरिसह अहिमान विहडणु ।

आचार्य शुक्ल ने जायसी के विरह वर्णन की इतनी प्रशसा इसलिए की थी कि रानी नागमती विरह दशा में अपना रानीपन बिल्कुल भूल जाती हैं और अपने को केवल साधारण स्त्री के रूप मे देखती हैं। इसी सामान्य स्वाभाविक वृत्ति के बल पर उसके विरह-काव्य छोटे-बड़े सबके हृदय को सामान्य रूप से स्पर्श करते है। 'प्रद्युम्न चरित' के कवि सधार अग्रवाल ने भी वियोग का एक चित्रण प्रस्तुत किया है। किन्तु यह पति-वियोग नहीं पुत्र-वियोग है। रानी रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्न को एक दैत्य चुरा कर ले जाता है। पुत्र-वियोग से विक्षिप्त माँ के हृदय की वेदना को कवि आत्मग्लानि के दर्द से और भी घनीभूत कर देता है। रानी सोचती है कि यह पुत्र वियोग मुझे क्यों हुआ ·

> नित नित झाजइ, विलखी खरी, काहे दुषी विधाता करी।
> इकु धाजइ अरु रोवइ वयण, आसू बहत न थाके नयण॥
>
> की मइ पुरिप विछोही नारि, की दव घाली वणह मझारि।
> की मइँ लोग तेल-घृत हरयउ, पूत सताप कवण गुण परयउ॥

तेल-घी चुराकर बच्चे का पालन-पोषण करनेवाली नारी के पुत्र-वियोग की जनश्रुति रानी के हृदय को विदीर्ण कर देती है। वह सोचती है कि क्या उसने किसी पुरुष को उसकी पत्नी से अलग किया था, किसी वन में आग लगा दी थी, आखिर यह पुत्र-वियोग का संताप उसे क्यों मिला। अपनी जीविका के लिए किसी के बच्चे की सेवा-शुश्रूषा करने वाली गरीब नौकरानी तेल-घी मे से कुछ काट-कपट करके अपने बच्चे का पालन-पोषण करे और अचानक किसी कारणवश उसके बच्चे की मृत्यु हो जाये तो कितनी बड़ी आत्मग्लानि और पीडा उसके मन में होती होगी।

प्रद्युम्न-चरित में लेखक ने और भी कई स्थलों पर सामान्य जीवन को बड़ी गहराई से चित्रित किया है। वे समाज के प्रकाश-पूर्ण और कलुष दोनों ही पक्षों का चित्रण समान भाव से करते है। प्रद्युम्न को पुत्र की तरह पालनेवाली कालसवर की रानी कनकमाला उसके तरुण होने पर कामान्ध होकर उसकी तरफ आकृष्ट होती है। रानी की आखों में चमकने वाले इस गर्हित रूप को पहचानने में कवि नहीं चूकता।

कवि ठक्कुरसी ने अपनी गुणवेलि अथवा पचेन्द्रिय वेलि में पाँचों इन्द्रियों के अति व्यापारों से उत्पन्न आचरण की ओर सकेत करते हुए बड़े व्यगपूर्ण ढग से इनकी निन्दा की है। स्वाद के वशीभूत होकर आदमी क्या नहीं करता—

केलि करन्तो जन्म जलि गाल्यो लोभ दिपालि
मीन मुनिष संसार सर मां काढ्यो धींवर कालि
मछि नीर गहीर पईठै, दिठि जाइ नहीं तह दीठै
इहि रसना रस के घालै, थल आई मुवै दुप सालै
इहि रसना रस के लीयो, नर कौन कुकर्म न कीयो
इहि रसना रस के ताईं, नर मुएँ बाप गुरु भाई
घर फोडै मारै वाटा, नित करै कपट धन घाटा
मुपि झूठ साच वहु बोलै, घरि छाँडि देसाडर डोलै
कवलिय पइठौ भवर दलि घ्राण गध रस रूढ़
रैनि पडी सो सकुचौ सो नीसरि सक्यो न मूढ़

अलकरण को ही काव्य मानने वाले लोगों को शायद ठक्कुरसी की इस रचना में उतना रस न मिले किन्तु सीधी सी बात को सहज किन्तु प्रभावशाली ढग से व्यक्त करना भी साधारण कौशल नहीं है। वैसे भी जो अलकारप्रेमी हैं वे 'मीन-मुनिष' के साग रूपक को अवश्य सराहेंगे। तीव्र प्रभाव उत्पन्न करने के लिए सीधे अभिधात्मक शब्दों के चयन से भी ताक़त पैदा की जा सकती है। इन छोटे छोटे साधारण वाक्यों में सत्य की गहराई उतर गई है।

छीहल कवि इस ससार की विचित्र गति को देखकर अपना क्षोभ दबा नहीं पाते। उन्होंने सपत्तिवान् व्यक्ति के चतुर्दिक् मडराने वाले मिथ्या प्रदर्शन को देखा था, धन के प्रभाव से उस निकृष्ट व्यक्ति में चाहे जितने भी गुणों की प्रतिष्ठा देखी जाये किन्तु असलियत कभी छीहल से छिपी न रह सकी।

होइ धनवत आलसी ताहु उद्दमी पयपइ
क्रोधवत अति चपल तउ थिरता जग जपइ
पत्त कुपत्त नहिं लखइ कहइ तसु इच्छाचारी
होइ बोलण असमत्थ ताह गुरुअत्तण भारी
श्रीवत रूप्प अवगुण सहित ताहि लोग गुणकिरि ठवइ
छीहल्ल कहै सम्मार महि सपति को सहु को नवइ

इन वाक्यांशों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि जैन कवि न तो अपने पौराणिक कथानकों में ही बँधे रहे और न तो उन्होंने सामन्ती सस्कृति के चित्रण में जन-सामान्य को भुला ही दिया। जैन काव्य में विराग और कष्टसहिष्णुता पर बहुत बल दिया गया है, यह भी सच है कि इस प्रकार सदाचरण के नीरस उपदेश काव्य को उचित महत्त्व नहीं प्रदान करते किन्तु यह केवल एक पक्ष है, अपने आध्यात्मिक जीवन को महत्त्व देते हुए भी, पारलौकिक सुखों के लिए अति सचेष्टा दिखाते हुए भी जैन कवि उन लोगों को नहीं भुला सका जिनके बीच वह जन्म लेता है। उसके मन में अपने आस-पास के लोगों के सुखी जीवन के लिए अपूर्व सदिच्छा भरी हुई है, वह सृष्टि की सारी सम्पत्ति जनता के द्वार पर जुटा देना चाहता है।

धन कन दूध पूत परिवार बाढ़े मगल सुपक्खु अपार
मेदिनि उपजहु अन्न अनन्त, चारि मासि भरि जल वरसत
मंगल बाजहु घर घर द्वार, कामिनि गावहि मगलचार
घर घर संत उपजहु सुक्ख, नासे रोग आपदा दु ख

शृंगार और प्रेम-भावना

§ ३४८ जैन कवियों पर जो दूसरा आरोप लगाया जाता है, वह है उनकी जीवन-विरक्ति। डा० रामकुमार वर्मा ने इसी ओर सकेत करते हुए लिखा है कि 'साधारणतया जैन साहित्य में जैन धर्म का ही शान्त वातावरण व्याप्त है सन्त के हृदय में शृगार कैसा ?'[1] जैन काव्य में शान्ति या शम की प्रधानता है अवश्य किन्तु वह आरम्भ नहीं परिणति है। सम्भवतः पूरे जीवन को शम या विरक्ति का क्षेत्र बना देना प्रकृति का विरोध है। जैन कवि इसे अच्छी तरह जानता है इसीलिए उसने शम या विरक्ति को उद्देश्य के रूप में मानते हुए भी सासारिक वैभव, रूप, विलास और कामासक्ति का चित्रण भी पूरे यथार्थ के साथ प्रस्तुत किया है। जीवन का भोग-पक्ष इतना निर्बल तथा सहज आक्राम्य नहीं होता। इसका आकर्षण दुर्निवार्य है, आसक्ति स्वाभाविक, इसीलिए साधना के कृपाण-पथ पर चलनेवाले के लिए तो यह और भी भयकर हो जाते है। भिक्षुक वज्रयानी बन जाता है, शैव कापालिक। राहुल जी ने लिखा है कि इस युग में तन्त्र मन्त्र भैरवीचक्र या गुप्त यौन स्वातन्त्र्य का बहुत जोर था। बौद्ध और ब्राह्मण दोनों ही इसमें होड लगाये हुए थे 'भूत-प्रेत, जादू-मतर और देवी-देवता-वाद में जैन भी किसी से पीछे नहीं थे। रहा सवाल वाममार्ग का, शायद उसका उतना जोर नहीं हुआ, लेकिन यह विल्कुल ही नहीं था यह भी नहीं कहा जा सकता। आखिर चक्रेश्वरी देवी यहाँ भी विराजमान हुई और हमारे मुनि कवि भी निर्वाण-कामिनी के आलिंगन का खूब गीत गाने लगे।'[2] सिद्ध साहित्य की अपेक्षा जैन साहित्य मे रूप-सौन्दर्य का चित्रण कहीं ज्यादा बारीक और रंगीन हुआ है, क्योंकि जैन धर्म का सस्कार रूप को निर्वाण प्राप्ति के लिए योग्य नहीं मानता, रूप अदम्य आकर्षण की वस्तु होने के कारण निर्वाण में बाधक है—इस मान्यता के कारण जैन कवियों ने शृंगार का बडा ही उद्दाम वासनापूर्ण और क्षोभकारक चित्रण किया है, जड पदार्थ के प्रति मनुष्य का आकर्षण जितना घनिष्ठ होगा, उससे विरक्ति उतनी ही तीव्र। शमन की शक्ति की महत्ता का अनुमान तो इन्द्रिय-भोग-स्पृहा की ताकत से ही किया जा सकता है। नारी के शृंगारिक रूप, यौवन तथा तज्जन्य कामोत्तेजना आदि का चित्रण उसी कारण बहुत सूक्ष्मता से किया गया है।

मुनि स्थूलभद्र पाटलिपुत्र में चौमासा विताने के लिए रुक जाते है। उनके रूप और ब्रह्मचर्य से तेजोदीप्त शरीर को देखकर एक वेश्या आसक्त हो जाती है—अपने सौन्दर्य के अप्रतिम नमार से मुनि को वशीभूत करने के लिए तत्पर उस रमणी का रूप कवि इन शब्दो में साकार करता है—

१, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १००
२ हिन्दी काव्य धारा, पृ० ३०

कन्नजुयल जसु लहलहंत किर मयण हिंढोला
चञ्चल चपल तरग चग जसु नयण कचोला
सोहइ जासु कपोल पालि जणु गालि मसूरा
कोमल विमल सुकठ जासु वाजइ सखतूरा
तुग पयोहर उल्लसइ सिंगार थवक्का ।
कुसुम वाण निय अमिय कुभ किर थापण मुक्का ॥

प्रकम्पित कर्णयुगल मानो कामदेव के हिंडोले थे, चञ्चल ऊर्मियों से आपूरित नयन कचोले, सुन्दर विपैले फूल की तरह प्रफुल्लित कपोल-पालि, शख की तरह सुडौल सुचिक्कण निर्मल कंठ—उसके उरोज श्रृंगार के स्तवक थे, मानो पुष्पधन्वा कामदेव ने विश्वविजय के लिए अमृत कुम्भ की स्थापना की थी ।

नव यौवन से विहसती हुई देह वाली, प्रथमप्रेम से उल्लसित वह रमणी अपने सुकुमार चरणों के आशिंजित पायल की रुनझुन से दिशाओं को चैतन्य करती हुई जब मुनि के पास पहुँची तो आकाश में कौतुक-प्रिय देवताओं की भीड़ लग गई । वेश्या ने अपने हाव-भाव से मुनि को वशीभूत करने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु मुनि का हृदय उस तप्त लौह की तरह था जो उसकी बात से विंध न सका । जिसने सिद्धि से परिणय कर लिया और सयम श्री के भोग में लीन है, उसे साधारण नारी के कटाक्ष कहाँ तक डिगा सकते हैं—

मुनिवइ जंपइ वेस सिद्धि रमणी परिणेवा ।
मनु लीनउ सयम सिरि सों भोग रमेवा ॥

यह है जैन कवि की अनासक्त रूपासक्ति । वह तिल तिल जुटा कर सौन्दर्य के जिस ऐन्द्रजालिक माया-स्तूप का निर्माण करता है, उसी को एक ठेस से बिखरा देने में उसे कभी सकोच नहीं होता । प्रेम के प्रसगों में ऋतुवर्णन का प्रयोग प्रायः होता है । यह वर्णन उद्दीपन के रूप में प्रस्तुत किया जाता है । उद्दीपनगत प्रकृति-चित्रण प्रायः प्रथा-प्रथित रूढ़ियों से आक्रान्त होता है । उपकरण प्रायः निश्चित हैं । उन्हीं के आधार पर प्रकृति को इतना आकर्षक और रुचिकर बनाना है कि वह निश्चित भाव को उद्दीप्त कर सके । ऐसी अवस्था में प्रायः वस्तुओं की नामपरिगणना तो हो जाती है, किन्तु उद्दीपन का कार्य भी पूरा नहीं होता यानी यह प्रकृति-वर्णन सहृदय के मन को रच-मात्र भी नहीं छू पाता । जिनपद्मसूरि ने थूलिभद्द फागु में वर्षा का वर्णन किया है । यह वर्णन वस्तु-परिगणना पद्धति का ही है इसमें सदेह नहीं, किन्तु शब्दों का चयन कुछ इतना उपयुक्त है कि प्रकृति का एक सजीव चित्र खडा हो जाता है । ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग प्रकृति के कई उद्दाम उपकरणों को रूपाकार देने में सहायक हुए हैं ।

झिरि झिरि झिरिमिर झिरिमिर ए मेहा वरसंति ।
खलहल खलहल खलहल ए वादला वहंत ॥
झब झब झब झब झब झब ए वीजुलिय झबकइ ।
थर हर थर हर थर हर ए विरहिणि मणु कंपइ ॥६॥
महुर गभीर सरेण मेह जिमि जिमि गाजन्ते ।
पच वाण निज कुसुम वाण तिम तिम सांजन्ते ॥

जिमि जिमि केतकि महमहत परिमल विगसावइ
तिमि तिमि कामिय चरण लग्गि निज रमणि मनावइ ।७।

उसी प्रकार नेमिनाथ चौपई में नेमि और राजमती के प्रेम का अत्यत स्वाभाविक और सवेद्य चित्रण किया गया है । पारिवारिक प्रेम की इस पवित्र वेदना से किस सहृदय का मन द्रवीभूत नहीं हो जाता । मधुमास के आगमन पर पवन के झकोरो से वृक्षों के जीर्ण पत्ते टूट कर गिर पडते है मानो राजल के दुःख के वृक्ष भी रो पडते हैं । चैत में जब नव वनस्पतिया अकुरित हो जाती है, चारो ओर कोयल की टहकार गूंजने लगती है, कामदेव अपने पुष्पधनु से राजल के हृदय को बेंधने लगता है ।

फागुण वागुणि पन्न पडन्त, राजल दुक्ख कि तरु रोयन्त
चैतमास वणसइ पंगुरइ, वणि वणि कोयल टहका करइ
पंच वाण करि धनुष धरेइ, वेभइ माडी राजल देइ
जुइ सखि मातेउ मास वसन्त, इणि खिल्लिजइ जइ हुइ कन्त

किन्तु माधवी क्रीडा के लिए लालायित राजल का पति नहीं आता । ज्येष्ठ की उत्तप्त पवन धू धू कर जलने लगती है, नदिया सूख जाती हैं, चपा-लता को पुष्पित देख कर नेह-पगी राजल वेहोश हो जाती है—

जिट्ठ विरह जिमि तप्पइ सूर, छण वियोग सूखिउ नइ पूर
पिक्खिउ फुल्लिउ चपइ विल्लि, राजल मूर्छी नेह गहिल्लि

जैन कवि पौराणिक चरित्रों में भी सामान्य जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों की ही स्थापना करता है । उसके चरित्र अवतारी जीव नहीं होते इसीलिए उनके प्रेमादि के चित्रण देवत्व के आतक से कभी भी कृत्रिम नहीं हो पाते । वे एक ऐसे जीवात्मा का चित्रण प्रस्तुत करते हैं जो अपनी आतरिक शक्तियों को वशीभूत करके परमेश्वर पद को प्राप्त करने के लिये निरन्तर सचेष्ट है । उसकी ऊर्ध्वमुखी चेतना आध्यात्मिक वातावरण में सास लेती है, किन्तु पक से उत्पन्न कमल की तरह उसकी जड सत्ता सासारिक वातावरण से अलग नहीं है । इसीलिए ससार के अप्रतिम सौन्दर्य को भी तिरस्कृत करके अपने साधना-मार्ग पर अटल रहने वाले मुनि के प्रति पाठक अपनी पूरी श्रद्धा दे पाता है ।

व्यंग-विनोद तथा नीति-वचन

§ ३४६. कष्ट, दु ख, विरक्ति के तथाकथित आतक से पीडित कहे जाने वाले जैन-काव्य में जीवन के हल्के पक्षों से सम्बद्ध हास्य व्यग-विनोद की अवतारणा भी बहुत ही सफलता से की गई है । नारद हास्य के प्राचीन आलम्बन हैं । सधार अग्रवाल ने अपने प्रद्युम्नचरित में नारद का जो भव्य रूप खींचा है वह तुलसी के नारद-मोह से तुलनीय हो सकता है । नारद रनिवास में पहुँचे तो सत्यभामा शृङ्गार कर रही थी, रूपगर्विता नारी के दर्पण में नारद की छाया प्रतिबिम्बित हो गई, वैसे उन्होंने पीठ-पीछे खडे होकर अपने को छिपाने की बहुत कोशिश की थी ।

तह सिंगार सतभाम करेइ, नयण रेख कज्जल सवरेइ
तिलक लिलाट ठवइ मसिलाई, पण नारद रिसि गो तिह ठाई

नारद हाथ कमण्डल धरई, काल रूप अति देखत फिरई
सो सतिभामा पोछे ठियउ, दरपन माहि विरूप देखियउ
देखि कुडीया कियउ कुताल, मात करना आयेउ वैताल

रूपगर्विता सत्यभामा के इस व्यंग्य से नारद तिलमिला उठे। बड़े-बड़े ऋषीश्वर जिन्हें शीश झुकाते, सुरेश इन्द्र जिनके चरणों को नन्दन-पुष्पों से अर्चित करता उसी को एक नारी ने वैताल कह दिया। नारद क्रोध के मारे पागल हो गए :

विणहु तूर जु नाव न चलई, ताकों तूर आणु जु मिलई
इकु स्याली इकु वीछी खाइ, इक नारद इकु चल्यो रिसाइ

एक तो स्याली (शृगालिनी) ऐसे ही चिल्लाने वाली, दूसरे यदि उसे विच्छू डस ले, एक तो नारद ऐसे ही वाचाल, दुसरे कहीं क्रोध में हों तो क्या कहना। श्रीगिरिपर बैठ कर उस मानिनी नारी के गर्व को ध्वस्त करने के उपाय सोचने लगे। बदला ले लिया और कृष्ण का विवाह रुक्मिणी से कराकर सत्यभामा के सिर पर सौत ला दी।

प्रद्युम्न चरित्र में व्यंग्य का एक दूसरा स्थल भी देखने योग्य है। प्रद्युम्न अपनी माँ से मिलकर कृष्ण को छकाने के लिए षड्यत्र करता है। यादवों की सभा में जाकर उसने पाडव और यादव वीरों से रक्षित कृष्ण को ललकारा—अरे यादवों और पाण्डवों से सुरक्षित कृष्ण। मैं तुम्हारी प्रियतमा को लिए जा रहा हूँ, शक्ति हो तो छुडाओ। कृष्ण और प्रद्युम्न की लडाई रुक्मिणी के मन में भय और आशंका का कारण बन रही थी, उधर प्रद्युम्न के बाणों से कृष्ण के सभी अस्त्र-शस्त्र व्यर्थ हो रहे थे। प्रद्युम्न व्यंग्य से कह रहा था—

हँसि हँसि बात कहै परदमनू, तो सम नाहीं छत्री कमनू
का पहं सीख्यो पौरिस ठाउण, मो सम मिलिहिं तोहि गुरु कउण
धनुप वाण छीने तुम तणे, लेउ रापि सके न आपणे
तो पतरिछ में दीठेउँ आज, इहि पराण तेइ भुजिउ राज
पुनि परदमनू जपइं तास, जरासंध क्यो मारिउ कांस

इस विचित्र और आत्मघाती युद्ध को चरम विन्दु पर पहुँचने के पहले नारद ने बीच बचाव करके कृष्ण को प्रद्युम्न का परिचय कराया—कृष्ण अवसर कहाँ चूकने वाले थे, बोले! हाँ-हाँ रुक्मिणी को ले जाओ, मैं नहीं रोकता। प्रद्युम्न ने गरदन झुका ली। ऐसे प्रसगों पर कवि ने भारतीय मर्यादानुकूल विनोद का बड़ा सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया है।

§ ३५०. जैन काव्य नीति-वचनों का भी आगार है। इस प्रकार के विषयों पर लिखे हुए दोहे तथा अन्य मुक्तकोचित छन्द उस काल में अवश्य ही बहुत लोकप्रिय रहे होंगे। परवर्ती अपभ्रंश में लिखे हुए कुछ उपदेशात्मक मुक्तकों का संकलन जैन गुर्जर कवियों में श्री देसाई ने किया है ऐसे कुछ दोहे नीचे उद्धृत किये जाते हैं। परवर्ती व्रजभाषा तथा हिन्दी की अन्य बोलियों में प्रचलित नीतिपरक दोहों से इनकी तुलना की जा सकती है।

१—दिट्ठो जे नवि आलवइ पुच्छइ कुपल न वत्त
ताहं तणइ किमि जाईये रे हीयडा नीसत्त

अवढ कथानक

देखत ही हरसे नहीं नयनन भरे न नेह
तुलसी वहां न जाइये कचन बरसे मेंह

तुलसी

२—साहसीय लच्छी लहइ नहु कायर पुरसाण
काने कुडल रयण भइ कज्जल पुनु नयणाण
सीह न जोई चदवल, नवि जोई घण ऋद्धि
एकलडो वहु भाभिडइ जह साहस तहँ सिद्धि

अवह कथानक

३—उत्तर दिशि न उन्हई उन्हइ तो वरसइं
सुपुरुप वयन न उच्चरहिं, उच्चरइ तु करइ
उत्तर दिशा में बादल नहीं उठते, उठते हैं तो अवश्य बरसते हैं
सज्जन बात नहीं बोलते, बोलते हैं तो उसे अवश्य करते हैं

विशालराज सूरि के शिष्य जिनराज सूरि ने अपने सस्कृत ग्रथ 'रूपचन्द कथा' में कुछ अवहट्ठ की रचनायें दी हैं। उनमें से कुछ दोहे नीचे दिये जाते हैं—

जीभइ सांचु बोलियइ राग रोस करि दूरि
उत्तम सिउ संगति करे लाभइ जिम सुख भूरि ।७।
जहा सहाय हुइ बुद्धिवल, हुइ न तिहां विणास
सूर सबे सेवा करइ रहइ अगलि जिमि दास ।।६८।।

नीति वचनों के लिए डूँगर और छीहल कवि की बावनियों को देखना चाहिए। इनके प्रत्येक छप्पय में अत्यत मार्मिक ढग से किसी न किसी सत्य की व्यजना की गई है। जैनियों के नीति-साहित्य ने ब्रजभाषा के नीति साहित्य (गिरधर, वृन्द आदि के कुडलिया-साहित्य) को बहुत प्रभावित किया है।

भक्ति-काव्य

§ ३५१ ईस्वी सन् की सातवीं शताब्दी से अद्यतन काल तक अजस्र रूप से प्रवाहित हिन्दी-काव्य धारा में भक्ति का प्रवाह मन्दाकिनी की तरह अपनी शुभ्रता, निष्कलुप तरगावलि और अनन्त जनता के मनको नैसर्गिक शान्ति प्रदान करने वाली दिव्य जल-धारा की तरह पूजित है। रवि बाबू ने लिखा है कि 'मध्य युग में हिन्दी के साधक-कवियों ने जिस रस-ऐश्वर्य का विकास किया उसमें असामान्य विशिष्टता है। वह विशेपता यह है कि एक साथ कवि की रचना में उच्चकोटि की साधना और अप्रतिम कवित्व का एकत्र मिलित सयोग दिखाई पड़ता है जो अन्यत्र दुर्लभ है।'[1]

भक्तिकाल के इस अप्रतिम और ऐश्वर्य मडित काव्य को विदेशी प्रभाव की छाया मे पला हुआ, ईसाइयत का अनुकरण बताने वाले लोगों पर भारतीय मन का क्षोभ स्वाभाविक था। डा० ग्रियर्सन, वेबर, केनेडी यहाँ तक भारतीय पडित डा० भाण्डारकर तक ने यह प्रमाणित

---

1 पुरोहित हरिनारायण शर्मा द्वारा सम्पादित सुन्दर ग्रन्थावली का प्राक्कथन, स० १९९३।

करने का प्रयत्न किया कि वैष्णव भक्ति आन्दोलन ईसाई-संसर्ग का परिणाम है। डा० ग्रियर्सन ने नेष्टोरियन ईसाइयों के धर्ममत का भक्ति आन्दोलन पर प्रभाव दिखाते हुए हिन्दुओं को उनका ऋणी साबित किया।[1] वेबर ने कृष्ण जन्माष्टमी के उत्सव की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए कृष्ण जन्म की कथा को ईसा मसीह की जन्म-कथा से जोड़ दिया।[2] केनेडी ने 'कृष्ण, ईसाइयत और गूजर' शीर्षक निबन्ध में यह बताने का प्रयत्न किया कि गूजरों से कृष्ण का घनिष्ठ सम्बन्ध है और चूँकि गूजर सीथियन जाति के हैं इसलिए उनमें प्रचलित बालकृष्ण की पूजा की प्रेरणा उनके मूल प्रदेश के किसी धर्म-मत से मिली होगी।[3] डा० भाण्डारकर ने इन्हीं सब मतों का जैसे एकत्र संयोग प्रस्तुत करते हुए लिखा कि आभीर ही शायद बाल देवता की जन्म-कथा तथा उसकी पूजा अपने साथ ले आये। उन्होंने भी क्राइष्ट और कृष्ण शब्द के कृष्टधृष्ट साम्य को प्रमाणित करने का घोर प्रयत्न किया और बताया कि नन्द के मन में यह अज्ञान कि वह कृष्ण के पिता है तथा कंस द्वारा निरपराध व्यक्तियों की हत्या के विवरण क्राइष्ट जन्म की तत्संबन्धित घटनाओं से पूर्णतः साम्य रखते हैं। यह सब कुछ भाडारकर के मत से आभीर अपने साथ भारत में ले आये।[4]

इन मतों को पढने पर किसी भी विवेकवान् पुरुष को लगेगा कि इनकी स्थापना के पीछे निश्चित पूर्वग्रह और न्यस्त अभिप्राय थे उनके कारण सत्य को आच्छन्न बनाने में इन विद्वानों ने संकोच नहीं किया। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने बड़े खेद के साथ लिखा है कि 'भारतवर्ष का यह परम अपराध रहा है कि वह परम सहिष्णु और आश्रितवत्सल रहा है दुर्दिन में दुरवस्था की मार से जब एक दल के ईसाई भारत के दक्षिण हिस्से में शरणापन्न हुए उस समय शरणागतवत्सल भारत ने उन्हें बिना विचारे आश्रय दिया। उस दिन उसने सोचा भी नहीं था कि इन दुर्गत आश्रितों के सहधर्मा इस मामूली से सूत्र से भारतवर्ष के सारे गौरवों का दावा पेश करने लगेंगे।'[5] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उपर्युक्त विद्वानों की धारणाओं का उचित निरास करते हुए राधा-कृष्ण के विकास का बड़ा संतुलित सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है। उन्होंने स्वीकार किया है कि 'कृष्ण का वर्तमान रूप नाना वैदिक, अवैदिक, आर्य-अनार्य धाराओं के मिश्रण से बना है। इस प्रकार शताब्दियों की उलट फेर के बाद प्रेम-ज्ञान वात्सल्य दास्य आदि विविध भावों के मधुर आलंबन पूर्णब्रह्म श्री कृष्ण रचित हुए। माधुर्य के अतिरिक्त उद्रेक से प्रेम और भक्ति का प्याला लबालब भर गया। इसी समय ब्रजभाषा का साहित्य बनना शुरू हुआ।'[6]

---

१. जर्नल आव् रायल एशियाटिक सोसाइटी, सन् १९०७ में प्रकाशित, हिन्दुओं पर नेष्टोरियन ईसाइयों का ऋण शीर्षक निबन्ध।

२ इंडियन ऐंटिक्वेरी भाग ३–४ में उनका 'कृष्ण जन्माष्टमी' पर लेख

३. जर्नल आव् रायल एशियाटिक सोसाइटी सन् १९०७ में प्रकाशित उनका कृष्ण, क्रिश्चियानिटी और गूजर शीर्षक निबन्ध।

४. वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर सेक्ट्स, पृ० ३८–३९

५. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के सूर साहित्य की भूमिका, पृ० ७

६ सूर साहित्य, संशोधित संस्करण १९५६, बम्बई, पृ० ११ तथा १६

§३५२ भक्ति-आन्दोलन के पीछे ईसाइयत के प्रभाव की बात की गई है उसी प्रकार कुछेक विद्वानों की धारणा है कि यह आन्दोलन मुसलमानों के आक्रमण के कारण इतने आकस्मिक रूप में दिखाई पडा। इस धारणा का भी प्रचार करने में विदेशी विद्वानों का हाथ रहा है। प्रो० हैवेल ने अपनी पुस्तक 'दि हिस्ट्री आव आर्यन रूल' में लिखा कि मुसलमानी सत्ता के प्रतिष्ठित होते ही हिन्दू राज-काज से अलग कर दिए गए। इसलिए दुनिया की झंझटों से छुट्टी मिलते ही उनमें धर्म की ओर जो उनके लिए एक-मात्र आश्रय-स्थल रह गया था स्वाभाविक आकर्षण पैदा हुआ।'[1] हिन्दी के भी कुछ इतिहासकारों ने इसी मत को स्वीकार किया है। प० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास मे भक्ति-आंदोलन की सास्कृतिक पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए लिखा है कि 'देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। इतने भारी राजनीतिक उलट फेर के पीछे हिन्दू जन-समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था।'[2] बहुत से लोग सोचते है कि शुक्ल जी ने भक्ति के विकास का मूल कारण मुसलमानी आक्रमण को बताया, किन्तु ऐसी बात नहीं है। शुक्ल जी ने भक्ति आन्दोलन के शास्त्रीय और सैद्धान्तिक पक्षों का भी विश्लेषण किया है, उनके निष्कर्ष कितने सही हैं, यह अलग बात है, इस पर आगे विचार करेंगे। शुक्ल जी ने सिद्धों और योगियों की साहित्य साधना को 'गुह्य रहस्य और सिद्धि' के नाम से अभिहित किया है और उनके मत से भक्ति के विकास मे इनकी वाणियों से कोई प्रभाव नहीं पडा। प्रभाव यदि पड सकता था तो यही कि जनता सच्चे शुद्ध कर्मों के मार्ग से तथा भगवद्भक्ति की स्वाभाविक हृदय-पद्धति से हटकर अनेक प्रकार के मत्र, तत्र और उपचारों मे जा उलझे।'[3] अतः स्पष्ट है कि शुक्ल जी के मत से ऐसी रचनाओं का भक्ति के विकास में कुछ महत्त्वपूर्ण योग दान नहीं था। भक्ति का सैद्धान्तिक विकास 'ब्रह्म सूत्रों पर, उपनिषदो पर, गीता पर भाष्यों की जो परम्परा विद्वन्मण्डली के भीतर चल रही थी, उसमें हुआ।'[4] भक्ति के विकास मे सहायक तीसरा तत्त्व शुक्ल जी के मत से 'भक्ति का वह सोता है जो दक्षिण की ओर से उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पडते हुए जनता के हृदय-क्षेत्र में फैलने के लिए पूरा स्थान मिला।'[5] भक्ति जैसे लोक चित्तोद्भूत और लोकप्रिय मत की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि भाष्य और टीका ग्रन्थों मे ढूँढना बहुत उचित नहीं कहा जा सकता क्योंकि सभी टीका ग्रन्थ भारतीय मनीषा की मौलिक उद्भावना और जीवन्त बुद्धि का परिचय नहीं देते। शुक्ल जी के प्रथम और तृतीय कारण भी परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। यदि मुसलमानी आक्रमण के कारण जनता में दयनीयता का उद्भव हुआ जिससे भक्ति के विकास मे सहायता

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका में डा० द्विवेदी द्वारा उद्धृत, पृ० १५
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, छठाँ सस्करण, पृ० ६०
३. वही, पृ० ६१
४. वही, पृ० ६२
५. वही, पृ० ६२

मिली तो मुसलमानों के आक्रमण से प्रायः सुरक्षित दक्षिण में यह 'भक्ति का सोता' कहा से पैदा हो गया जो उत्तर में भी प्रवाहित होने लगा था।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भक्ति के विकास की दिशाओं का सकेत देने वाले तत्वोंका संधान करते हुए बताया है कि[1] बौद्धमत का महायान संप्रदाय अतिम दिनों में लोक मत के रूप में परिणत हिन्दू धर्म में पूर्णतः घुलमिल गया, पूजा-पद्धति का विकास इसी महायान मत के काल मे होने लगा था। हिन्दी भक्ति-साहित्य में जिस प्रकार के अवतार वाद का वर्णन है, उसका संकेत महायान मत में ही मिल जाता है। सिद्धो और नाथ योगियों की कविताएँ हिन्दी सत साहित्य से पूर्णतया सयुक्त हैं, इस प्रकार सत मत का उद्भव मुसलमानों के आक्रमण के कारण नहीं, बल्कि भारतीय चिन्ता के स्वाभाविक विकास का परिणाम है। इस प्रकार द्विवेदी जी की यह स्थापना है कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।[2]

§ २५३ वस्तुतः इन सभी प्रकार के वाद-विवाद का मूल कारण है भक्ति सम्बधी प्राचीन-साहित्य का अपेक्षाकृत अभाव। हम भक्ति के आन्दोलन को बहुत प्राचीन मानते हुए भी जयदेव के गीत गोविन्द से प्राचीन कोई साहित्य न पा सकने के कारण अपने सिद्धान्तो की पुष्टि के लिए ऐतिहासिक ऊहापोह में ही लगे रह जाते हैं। व्रजभाषा-भक्ति-साहित्य का आरभ सूरदास के साथ मानते हैं, राम भक्ति काव्य तुलसी के साथ शुरू होता है। प्राचीन सत काव्य ही ले देकर कुछ पुराना प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था में मुसलमानी आक्रमण के साथ भक्ति आन्दोलन का आरभ मानने वाले लोग इसे 'मुसलमानी जोश' का साहित्य कह कर गोटी बिठा देते है। इस दिशा में एक भ्रान्त धारणा यह भी बद्धमूल हो गई है और जो हमें भक्ति काव्य के सर्वागीण विश्लेषण में बाधा पहुँचाती है कि भक्ति के सगुण और निर्गुण मतवाद परस्पर विरोधी चीजें है। इस प्रकार के विचार वाले आलोचक सगुण काव्य को तो भारतीय परम्परा से सम्बद्ध मान लेते हैं और निर्गुण काव्य को विदेशी कह देते है। परिणाम यह होता है कि निर्गुण काव्य को धारा-च्युत कर देने पर सगुण भक्ति काव्य को १६वीं शती में उत्पन्न मानना पडता है और सूर तथा अन्य वैष्णव कवियो के लिए १२वीं शती के जयदेव और १४वीं के विद्यापति एक मात्र प्रेरणा-केन्द्र बन जाते हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने मध्यदेश में भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात खास तौर से व्रजभाषा-प्रदेश में वल्लभाचार्य के आगमन के बाद माना है।[3] डा० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है कि १६वीं शताब्दी के पहले भी कृष्ण-काव्य लिखा गया था लेकिन वह सब का सब या तो सस्कृत में है जैसे जयदेव कृत गीत गोविन्द या अन्य प्रादेशिक भाषाओं मे जैसे मैथिल-कोकिल कृत पदावली। व्रजभाषा मे लिखी हुई १६वीं शताब्दी से पहले की रचनाएँ उपलब्ध नहीं है।[4]

---

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका का 'भारतीय चिन्ता का स्वाभाविक विकास' शीर्षक अध्याय

२ वहीं, पृ० २

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १५२

४. नाम माहात्म्य, श्री ब्रजांक, अगस्त सन् १६४०, ब्रजभाषा नामक लेख

मेरा नम्र निवेदन है कि सूरदास के पूर्व ब्रजभाषा में कृष्णभक्ति सम्बन्धी साहित्य प्राप्त होता है और यह साहित्य जयदेव के गीतगोविन्द से कम पुराना नहीं है। मैं सूर और अन्य ब्रजभाषा कवियों पर गीत गोविन्द के प्रभाव को अस्वीकार नहीं करता बल्कि मैं तो यह मानता हूँ कि सगुण भक्ति विशेषतः कृष्ण भक्ति के विकास में गीतगोविन्द का अप्रतिम स्थान है। यह हमारे भक्ति कालीन काव्य का सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त प्रेरणा-ग्रन्थ रहा है। मेरा निवेदन केवल इतना ही है कि ब्रजभाषा में कृष्ण काव्य की परम्परा काफी पुरानी है, कम से कम उसका आरम्भ १२वीं शताब्दी तक तो मानना ही पड़ता है। इस अध्याय मे मैं ब्रजभाषा में लिखी रचनाओं में सन्त काव्य की निर्गुण मतवादी रचनाओं का विश्लेषण नहीं करूँगा क्योंकि इसके बारे में काफी लिखा जा चुका है जिसे पुनः दुहराने की कोई जरूरत नहीं मालूम होती। निर्गुण मतवाले कवियों की उन्हीं रचनाओ पर विशेष ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ जो सगुण मत के ब्रजभाषा कवियों के काव्य को किसी न किसी रूप में प्रभावित करती है। इसलिए आरम्भिक ब्रज के सगुण भक्तिपरक काव्य खास तौर से कृष्ण भक्ति के काव्य पर ही अपने विचार प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

भागवत कृष्ण काव्य का उपजीव्य ग्रन्थ माना जाता है। और भी कई पुराणों में कृष्ण के जीवन तथा उनके अलौकिक कार्यों का वर्णन किया गया है। ईस्वी सन् के पूर्व ही कृष्ण वासुदेव भगवान् या परम दैवत के रूप में पूजित होने लगे थे। सस्कृत साहित्य में कई स्थानों पर कृष्ण की अवतार के रूप में अभ्यर्थना की गई है। भागवत के अलावा हरिवंश-पुराण, नारद पचरात्र, आदि धार्मिक ग्रन्थों में कृष्ण लीला का वर्णन आता है। भास कवि के सस्कृत नाटकों में, जो कुछ विद्वानों की राय में ईसा पूर्व लिखे गए थे, कई ऐसे हैं जिनमें कृष्ण के जीवन-चरित्र को नाट्य-वस्तु के रूप में ग्रहण किया गया है। परवर्ती सस्कृत काव्यों शिशुपाल वध आदि में कृष्ण के जीवन और कार्यों का वर्णन किया गया है। जयदेव का गीतगोविन्द तो कृष्ण भक्ति का अनुपम काव्य ग्रन्थ है ही।

§ २५४. ब्रजभाषा की जननी शौरसेनी अपभ्रंश भाषा में श्रीकृष्ण सम्बन्धी काव्य लिखे गए। इनमें सर्वाधिक महत्त्व की रचना पुष्पदन्त कवि का महापुराण है जिसमें कृष्ण-जीवन का विशद चित्रण किया गया है। इस ग्रन्थ में कृष्ण-भक्ति के निश्चित रूप का तो पता नहीं चलता किन्तु कृष्ण-जीवन से सम्बन्धित घटनायें नि.सन्देह भागवत के आधार पर ली गई हैं। गोपियों के साथ कृष्ण का विहार (उत्तर पुराण पृ० ६४।६५), (पूतना लीला उ० पुराण ८), ओखल बन्धन, गोवर्धन धारण (उ० पु० १६), कालिय-दमन आदि की घटनायें भागवत की कथा से पूर्ण साम्य रखती है। पुष्पदन्त ने कथा के लिए जिन सम्बोधनों का प्रयोग किया है उनमें गोपाल, मुरारि, मधुसूदन, हरि, प्रभु आदि शब्द आते हैं। रास के वर्णन में पुष्पदन्त ने गोपियों की उत्सुकता, प्रेमविह्वलता और असामान्य व्यवहारों का वैसा ही जिक्र किया है जैसा भागवत में है अथवा परवर्ती सूरदास आदि में। कोई-कोई आधी बिलोई दही को वैसे ही छोड़कर भागीं, किसी की मथानी टूट गई। कोई कहती है कि तुमने मथानी तोड़ दी, उसका दाम चुकाओ एक आलिंगन देकर। कहीं गोरी की पाण्डुर रग की चोली कृष्ण की छाया से काली हो जाती है, इस प्रकार धूलिधूसर कृष्ण गोपियों को क्रीडा-रस से वशीभूत कर लेते हैं।

धूली धूसरेण वर मुक्क सरेण तिणा मुरारिणा
कीला रस वसेन गोवालय गोवी हियय हारिणा
मदीरउ तोडिवि आवट्टिउं, अद्ध विरोलिउ दहिउं पलोट्टिउ
कावि गोवी गोविन्दहु लग्गी, एण महारी मंथानि भग्गी
एयहि मोल्ले देहु आलिंगणु, ण तो मा मेल्लहु मे प्रंगणु
काहिं वि गोविहि पंडरु चेल्लउ, हरि तणु छाइहि जायउं कालउ

उत्तर पुराण पृ० ६४

भागवत से अत्यत प्रभावित होते हुए भी पुष्पदत की कथा में कृष्ण-भक्ति का स्फुट स्वरूप नहीं दिखाई पडता फिर भी रास-क्रीडा आदि के वर्णन यह तो प्रमाणित करते हैं कि कृष्ण के रास का महत्व १०वीं शती के एक जैन कवि के निकट भी कम नहीं था। यह याद रखना चाहिए कि पुष्पदंत का यह वर्णन गीत गोविन्द से दो सौ वर्ष पहले का है। बाद में भी कई जैन कवियो ने कृष्ण सबंधी काव्य लिखे परतु कृष्ण को भगवान् के रूप में चित्रित नहीं किया गया। वे एक महाप्राणवान पुरुष के रूप में ही चित्रित हुए। प्रद्युम्न चरित काव्यों में तो उनकी कहीं कहीं दुर्गति भी दिखाई गई है। जैन कथा के कृष्ण-काव्य पर अगरचन्द नाहटा का लेख द्रष्टव्य है।

§ ३५५. १२वीं शताब्दी में हेमचन्द्र के द्वारा सकलित अपभ्रश के दोहों में दो ऐसे दोहे हैं जिनमें कृष्ण सबंधी चर्चा है। एक में तो स्पष्ट रूप से कृष्ण और राधा के प्रेम की चर्चा की गई है। मेरा ख्याल है कि ये दोहे एतत्सबंधी किसी पूर्ण काव्य ग्रंथ के अंश हैं। दोहे इस प्रकार हैं।

हरि नच्चाविउ पंगणहिं विम्हइ पाडिउ लोउ
एम्वहिं राह पओहरह जं भावइ तं होउ

हरि को प्रागण में नचाने वाले तथा लोगों को विस्मय में डाल देने वाले राधा के पयोधरों को जो भावे सो हो। समवतः यह किसी हास्यप्रगल्भा सखी के वचन राधा के प्रति कहे गए हैं। इस पद में राधा कृष्ण के प्रेम का संकेत तो मिलता है, किन्तु उस प्रेम को भक्ति-सयुक्त मानने का कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। दूसरा दोहा अवश्य ही स्तुतिमूलक है।

मइ भणियउँ वलिराय तुहुँ केहउ मग्गण एहु
जेहु तेहु न वि होइ वढ सइँ नारायण एहु

इस पद्य में नारायण और वलि की कथा का सकेत मिलता है, इसमें भी हम बहुत अंशों तक भक्ति के मूल भावों का निदर्शन नहीं पाते। फिर भी ये दोहे आरम्भिक ब्रजभाषा के अज्ञात कृष्ण काव्यों की सूचना तो देते ही हैं, इस तरह का न जाने कितना विपुल साहित्य रहा होगा जो दुर्भाग्यवश आज प्राप्त नहीं होता। प्रबंध चिन्तामणि मे भी एक दोहा ऐसा आता है जिसमें राजा वलि की कथा को लक्ष्य करके एक अन्योक्ति कही गई है।

अम्हणिओ सन्देसडो तारय कन्ह कहिज्ज
जग दालिद्दिहिं डुब्बिउ वलि बंधणह मुहिज्ज

मेरा सदेशा उन तारक कृष्ण से कहना कि संसार दारिद्रय में डूब रहा है अब तो वलि को बंधन-मुक्त कर दीजिए। इस दोहे का 'तारक' शब्द महत्त्वपूर्ण है। उद्धारक या तारक विशेषण से कृष्ण के प्रति परमात्मबुद्धि का पता चलता है।

§ ३५६. कृष्ण भक्ति काव्य का वास्तविक रूप पिगल ब्रजभाषा में १४वीं शती के आस-पास निर्मित होने लगा। प्राकृत पैंगलम् का रचना काल १४वीं शती के पहले का माना जाता है। यह एक सकलन ग्रन्थ है जिसमें १४वीं शती तक के पिंगल ब्रजभाषा के काव्यों से छन्दों के उदाहरण छाटे गए हैं। इसमें कृष्णभक्ति सम्बंधी कई पद्य सगृहीत हैं। कृष्ण के अलावा शकर, विष्णु आदि की स्तुति के भी कई पद दिखाई पडते हैं। एक पद में तो दशावतार का वर्णन भी मिलता है। इन पद्यों का विश्लेषण करने पर भक्ति के कई तत्त्वों का सधान मिलता है। प्रेमभक्ति का बडा ही मधुर और मार्मिक चित्रण हुआ है। स्तुतिपरक पद्यों में भी आत्मनिवेदन तथा प्रणति का रूप स्पष्ट दिखाई पडता है। शिव सम्बन्धी स्तुति में शकर के रूप का चित्रण देखिए—

जसु कर फणवइ वलय तरुणि वर तणुमइं विलसइ
नयन अनल गल गरल विमल ससहर सिर णिवसइ
सुरसरि सिर मँह रहइ सयल जण दुरित दमण कर
हरि ससिहर हरउ दुरित वितरहु अतुल अभय वर (१६०, १११)

राम सम्बन्धी स्तुति का एक पद :

वप्पअ उक्कि सिरे जिणि लिज्जिउ तेज्जिय रज्ज वणत चले विणु
सोहर सुदर सगहि लग्गिय मारु विराध कवंध तहाँ हणु
मारुइ मिलिलय वालि विहडिय रज्ज सुग्गीवह दिज्ज अकंटक
वध समुद्द विणासिय रावण सो तुव राहव दिज्जउ विब्भय (५७६।२२१)

स्तुतिपरक पद्यों में राम, शिव या कृष्ण की वन्दना परमात्मा के रूप में की गई है और वे दीनों पर कृपा करने वाले तथा अभय देने वाले इष्टदेव के रूप में चित्रित किए गए है किन्तु सर्वाधिक महत्व के कृष्ण सम्बन्धी वे पद्य हैं जिनमें कृष्ण को परमात्मा के रूप में मानते हुए भी गोपी या राधा के साथ उनके प्रेम का वर्णन किया गया है। ऐसे पद्यों में कवि ने बड़े कौशल से लौकिक प्रेम का पूरा रूप प्रस्तुत करते हुए भी उसमें चिन्मय सत्ता का आरोप किया है। सूरदास की कविता में गोपियों के सामान्य लौकिक प्रेम के धरातल से चिदोन्मुख प्रेम का जैसा उन्नत रूप उपस्थित किया गया है, वैसा ही चित्रण इन पदों में भी मिलता है। इनमें से कई पद्य जयदेव के गीतगोविन्द के श्लोकों से भाव-साम्य रखते हैं इस प्रसग पर पीछे काफी चर्चा हो चुकी है।

नदी पार करते समय कृष्ण अपनी चचलता के कारण नाव को हिला डुला कर गोपी को भयभीत करना चाहते हैं। कृष्ण के ऐसे कार्यों के पीछे छिपे मन्तव्य को पहचान कर भय का बहाना बनाती हुई प्रेम विह्वल गोपी कहती है।

अरे रे वाहहि काण्ह णाव छोडि डगमग कुगति ण देहि
तइ इत्थि णइहि सतार देइ जो चाहइ सो लेहि (१२।६)

यह स्वतत्र मुक्तक पद्य भी हो सकता है किन्तु सदर्भ को देखते हुए लगता है कि नौका-लीला सबधी किसी बडी कविता का एक स्फुट पद्य है। एक दूसरे पद्य में कृष्ण के जीवन की विविध लीलाओं का सकेत करते हुए उनकी स्तुति की गई है। यह पद्य वैसे मूलतः स्तुतिपरक ही है किन्तु एक पक्ति में कृष्ण और राधा के प्रेम-सबधों पर भी प्रकाश

पड़ता है। कृष्ण को नारायण के रूप में स्मरण करते हुए भी कवि ने उनके राधा-प्रेम का जो चित्र प्रस्तुत किया है उसमें प्रेमरूप भक्ति के तत्त्व दिखाई पड़ते हैं। मधुर भाव की भक्ति का यह संकेत ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। राधा तत्त्व के क्रमिक विकास का अत्यंत वैज्ञानिक और व्यापक अध्ययन प्रस्तुत करने वाले डा० शशिभूषण दास गुप्त ने लिखा है कि 'संस्कृत और प्राकृत वैष्णव कविता के बाद पहले पहल देश भाषा में ही राधा कृष्ण की प्रेम-सम्बन्धी वैष्णव पदावली १५वीं सदी के मैथिल कवि विद्यापति और बँगला के कवि चण्डीदास जी की रचनाओं में पाते हैं।'[1] प्राकृत काव्य से डा० दासगुप्त का मतलब गाथा सप्तशती आदि में पाये जाने वाले उन शृंगारपरक प्रसंगों से है जिसका सम्बन्ध वे राधा कृष्ण प्रेम से अनुमानित करते हैं।[2] उन्होंने इसी प्रसंग में प्राकृतपैंगलम् की एक गाथा भी उद्धृत की है जिसके बारे में उन्होंने लिखा है कि परवर्ती काल में गाथा सप्तशती से संगृहीत प्राकृत पिंगल नामक छन्द के ग्रन्थ में जो प्राकृत गाथायें उद्धृत मिलती हैं उसके कितने ही श्लोकों और परवर्ती काल की वैष्णव कविता के वर्णन और स्वर में समानता लक्षणीय है, जैसे .

फुल्ला णीवा भम भमरा दिट्ठा मेहा जले सामला
णच्चे विज्जु पिय सहिया, आवे कंता कहु कहिया ॥[3]

(वर्णवृत्त ८१)

जाहिर है कि डा० दासगुप्त ने इस ग्रन्थ को अत्यत शीघ्रता से देखा अन्यथा उन्हें परवर्ती वैष्णव पदावली से प्राकृतपैंगलम् के कुछ छन्दों की शैली का साम्य दिखाने के लिए उपर्युक्त प्रकृत-वर्णन सम्बन्धी सामान्य वर्णन से संतोष न करना पड़ता। प्राकृतपैंगलम् में कृष्ण राधा के प्रेम सम्बन्धी कई अत्यत उच्चकोटि की कवितायें संकलित हैं। एक छन्द पहले दे चुके हैं दूसरा इस प्रकार है :

जिणि कंस विणासिअ कित्ति पयासिअ
 मुट्ठि अरिट्ठ विणास करे गिरि हत्थ धरे
जमलज्जुण भंजिय पय भर गंजिय
 कालिय कुल संहार करे, जस भुवण भरे
चाणूर विहंडिअ, णिय कुल मंडिअ
 राहा मुख महु पान करे, जिमि भमर वरे
सो तुम्ह णरायण विप्प परायण
 चित्तह चिंतिय देउ वरा, भयभीअ हरा (३२४।२०७)

स्पष्ट है कि इस पद में नारायण के रूप में कृष्ण को परम दैवत या परमात्म बुद्धि से स्मरण किया गया है। ऐसे परमात्मा का राधा के मुख-मधु का भ्रमर की तरह पान करने का वर्णन इस बात का संकेत है कि १४ वीं शताब्दी में यानी विद्यापति और चण्डीदास

---

१. राधा का क्रम विकास, हिन्दी संस्करण सन् १९५६, काशी, पृ० २७६-७७
२. देखिये वही पुस्तक, पृ० १९६
३. वही, पृ० १७७

के पूर्व देशी भाषाओं में मधुर भाव की भक्ति का कोई न कोई रूप अवश्य ही प्रचलित था। इस ग्रन्थ में पाये जानेवाले अन्य कृष्णस्तुति परक पद्यों को उद्धृत कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

(१) परिणअ,ससिहर वअण विमल कमल दल नयण
विहिअ असुर कुल दलणं पणयह सिरि महुमहण (४२।१०६)

(२) भुवन अणंदो तिहुअण कन्दो
भँवर सवण्णो स जअइ कण्हो (३६५।४६)

प्राकृत पैंगलम् मे एक पद्य ऐसा भी प्राप्त होता है जिसमें शकर और कृष्ण की साथ-साथ स्तुति की गई है। हालांकि शिव और कृष्ण की युगपत्-भाव की स्थिति का या सम-भाव की स्थिति का यह चित्रण नहीं है जैसा विद्यापति के एक पद में मिलता है जिसमें शिव और कृष्ण को एक ही ईश के दो रूप कहा गया है, फिर भी एक ही श्लोक में दोनों देवताओं के उपासना-वर्णन का महत्त्व है।

जअइ जअइ हर वलइअ विसहर
तिलइअ सुन्दर चन्द मुनि आणन्द जन कन्द
वसह गमन कर तिसुल डमरु धर
णयणहिं डाहु अणंग सिर गग गोरि अधग
जयइ जयइ हरि भुअ जुअ धरु गिरि
दहमुह कस विणासा, पिय वासा सुन्दर हासा
छलि छलि यहि हरु असुर विलय करु
मुणि जण मानस सुह भासा, उत्तम वसा
(५६८।२१५)

नवीं-दसवीं शताब्दी में शैव और वैष्णव दोनों ही मतों के बहुत से तत्त्व एक दूसरे में घुल मिल गए थे। यह सत्य है कि उस काल में तथा उसके बाद तक शैवों और वैष्णवों में बहुत भयकर कलह हुआ। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि समूचा उत्तर भारत प्रधान रूप से स्मार्त था, शिव के प्रति उसकी अखड भक्ति बनी हुई थी, किन्तु उसमें अपूर्व सहनशीलता का विकास हुआ था और विष्णु को भी वह उतना ही महत्त्वपूर्ण देवता मानता था। शिव सिद्धिदाता थे, विष्णु भक्ति के आश्रय।[1] विद्वानों की धारणा है कि शैवों और वैष्णवों का कलह गोस्वामी तुलसीदास के काल तक भी किसी न किसी रूप में चलता रहा इसीलिए उन्होंने शैव और वैष्णव मतों के समन्वय की बहुत कोशिश की। सेन वशीय विजयसेन ने प्रद्युम्नेश्वर का मन्दिर बनवाया था जिसके एक लेख में शकर और विष्णु की मिश्रमूर्ति का बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है।

लक्ष्मीवल्लभ शैलजादयितयोरद्वैत लीला गृह
प्रद्युम्नेश्वरशब्दलाञ्छनमिधिष्ठान नमस्कुर्महे

---

१ हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० २६

इस प्रकार हम कह सकते है कि शैव और वैष्णव मतों में समन्वय का प्रयत्न सेन-वशीय राजाओं के काल में आरम्भ हो गया था। प्राकृत पैंगलम् के पद्य में यद्यपि इस श्लोक में वर्णित शिव और विष्णु की मिश्रमूर्ति का वर्णन नहीं किया गया है और न तो विद्यापति की तरह :

धन हरि धन हर धन तव कला
खन पीत वसन खनहिं वघछला

वाली मूलतः एक, किन्तु प्रतिक्षण दोनों ही रूपों में दिखाई पड़नेवाली अलौकिक मूर्ति का वर्णन है फिर भी एक ही पद मे 'जयति शकर' और 'जयति हरि' कहने वाले लेखक के मन में दोनों के प्रति समान आदर की भावना अवश्य थी ऐसा तो मानना ही पड़ेगा।

§ २५७. व्रजभाषा में कृष्ण भक्ति सम्बन्धी काव्य का अगला विकास सन्त कवियों की रचनाओं में हुआ। सन्त कवि प्रायः निर्गुण मत के माने जाते है इसीलिए उनकी सगुण भावना की कविताओं को भी निर्गुणिया वस्त्र पहनाया जाना हमने आवश्यक मान लिया है। परिणाम यह होता है कि सहज अभिव्यक्तिपूर्ण कविताओं के भीतर रहस्य और गुह्य की प्रवृत्ति का अनावश्यक अन्वेषण आरम्भ हो जाता है। निर्गुण और सगुण दोनों बिल्कुल भिन्न धारायें मान ली जाती हैं। वस्तुतः ये दोनों मूलतः एक ही प्रकार की साधनायें हैं। जैसा आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि 'जहाँ तक ब्रह्म हमारे मन और इन्द्रियो के अनुभव में आ सकता है वहाँ तक हम उसे सगुण और व्यक्त कहते हैं, पर यहीं तक इसकी इयत्ता नहीं है। इसके आगे भी उसकी अनन्त सत्ता है इसके लिए हम कोई शब्द न पाकर निर्गुण, अव्यक्त आदि निषेधवाचक शब्दों का आश्रय लेते हैं।'[1] ब्रह्म की पूर्णता की अनुभूति सगुण मत वालों का भी ध्येय है, किन्तु व्यक्ति इस अनुभूति के लिए जिस साधना का प्रयोग करता है वह सीमित है, ब्रह्म का दर्शन इसी सीमित क्षेत्र में होने पर सगुण की सज्ञा पाता है। सूरदासादि अष्टछाप के कवियो ने निर्गुण निराकार ब्रह्म में विश्वास करने वालों की बड़ी कड़ी आलोचना की है। कुछ लोग इस प्रकार के प्रमाणों के आधार पर दोनों मतो को एक दूसरे का द्रोही सिद्ध करना चाहते हैं किन्तु यह याद रखना चाहिए कि सूर आदि भक्त कवि ब्रह्म की निराकार स्थिति को अस्वीकार नहीं करते थे, वे निराकार ब्रह्म की प्राप्ति के ज्ञानमार्गी साधन को ठीक नहीं मानते थे। श्रीमद्भागवत के एक श्लोक में बताया गया है आनन्द स्वरूप ब्रह्म के तीन रूप होते है—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्। ब्रह्म चिन्मय-सत्ता है, जो भक्त ब्रह्म के इन चिन्मय स्वरूप के साक्षात्कार का प्रयत्न करते है वे ब्रह्म के एक अंश को जानना चाहते हैं या जान पाते है, इस मत के अनुसार 'केवल ब्रह्म' 'ज्ञान स्वरूप ब्रह्म' ज्ञाता और ज्ञेय के विभाग से रहित होता है। परमात्मा उसे कहते हैं जो सम्पूर्ण शक्ति का अधिष्ठाता है। इस रूप के उपासकों में शक्ति और शक्तिमान का भेद ज्ञात रहता है। किन्तु तीसरा रूप सर्वशक्तिविशिष्ट भगवान् का है, इसकी सम्पूर्ण शक्तियों का ज्ञान केवल सगुण भाव से भजन करनेवाले भक्त को ही हो सकता है।

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते
(भा० १।२।११)

इस प्रकार के भगवान् के प्रेम की प्राप्ति हिन्दी के दोनों सम्प्रदायों-निर्गुण और सगुण मत वाले भक्तों का उद्देश्य रही है। भक्त के जीवन की परम साधना है भगवान् की लीला। 'भक्तों में अपनी उपासना-पद्धति के अनुसार इस लीला के रूप में भेद हो सकता है। पर सबका लक्ष्य यह लीला ही है। जो निर्गुण भाव से भजन करता है वह भी भगवान् की चिन्मय सत्ता में विलीन हो जाने की इच्छा नहीं रखता बल्कि अनन्त काल तक उसमें रमते रहने की कामना करता है। कबीरदास, दादूदयाल तथा निर्गुण मतवादियों की नित्यलीला और सूरदास, नन्ददास आदि सगुण मतवादियों की नित्यलीला एक ही जाति की है।'[1] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सगुण और निर्गुण मतों की साम्य-सूचक कुछ और विशेषताओं का भी उल्लेख किया है। दोनों ही मतों में भगवान् और भक्त को समान बताया गया है अर्थात् प्रेम के क्षेत्र में छोटे बड़े का कोई प्रश्न नहीं है। प्रेम की महिमा का वर्णन दोनों प्रकार के भक्तों ने समान रूप से किया है। प्रेमोदय के जो क्रम सगुणोपासक भक्तों ने निश्चित किये हैं वे सभी भक्तों में समान रूप से समादृत हैं। अत में द्विवेदी जीने लिखा है 'और भी बहुत सी ऐसी बातें हैं जिनमें सगुण और निर्गुण मतवादी भक्त समान हैं। सभी भक्त अपनी दीनता पर जोर देते हैं। आत्मसमर्पण में विश्वास रखते हैं और भगवान् की कृपा से ही मुक्ति मिल सकती है, इस बात पर सम्पूर्ण रूप से विश्वास करते है।'[2]

§ ३५८ सगुण और निर्गुण मतों के साम्य की यह किञ्चित् विस्तृत चर्चा इसलिए करनी पड़ी कि भ्रमवश ऐसा मान लिया गया है कि सूरदास तथा अन्य अष्टछापी कवियों के साहित्य में निर्गुण की जो विडम्बना की गई है वह इस बात का सबूत है कि ये कवि निर्गुण मत के कवियों से प्रभावित नहीं हुए और उनका भक्ति काव्य बीच के इन सन्त कवियों से सम्बन्धित न होकर जयदेव और विद्यापति से जोड़ा जाना चाहिए। मैं यह कदापि नहीं कहता कि जयदेव विद्यापति का प्रभाव नहीं पड़ा किन्तु सन्त कवियों ने सगुण मतवादी कृष्ण काव्य के निर्माण में जो महत्त्वपूर्ण योग दिया है उसे कभी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इन कवियों की भक्ति सम्बन्धी कविताओं की बहुत सी बातें सीधे निर्गुण मतवादी कवियों की परम्परा से प्राप्त हुई। नीचे मैं कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी कविताओं की ही चर्चा करना चाहता हूँ, दूसरे अन्य साम्य सूचक पक्षों पर काफी विचार होता रहा है।

नामदेव अपने कृष्ण-प्रेम का परिचय देते हुए कहते है 'कामी पुरुष कामिनी पियारी, ऐसी नामे प्रीति मुरारी' इस प्रकार के प्रेमास्पद को ऐसो अनन्य प्रीति करने वाले नामदेव ही कह सकते थे कि माधव मुझसे होड न लगाओ, यह स्वामी और जन का खेल है:

> बदहु किन होड़ माधव मोसिउ
> ठाकुर ते जन जन ते ठाकुर खेल परिउ हे तो सिउ[3]

कविता हालाँकि निराकार उपासना से ही सम्बन्ध रखती है किन्तु भक्त के मन का यह अटूट विश्वास, स्वामी के प्रति यह अनन्य भक्ति क्या हमें सूर की कही जाने वाली इन पंक्तियों को याद नहीं दिलाती?

---

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ८८-८९

२ वही, पृष्ठ ९४

३ श्री परशुराम चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित सन्त काव्य संग्रह, पृ० १४९

वांह छुडाये जात हो निवल जानि के मोहिं
हिरदय तैं जव जाहुगे सवल वदौंगे तोहि

प्रेम की अनन्त व्यापिनी पीड़ा से जिसका चित्त आपूरित हो जाता है, वही वेदना की इतनी वडी पुकार सुनाई पडती है।

मोकउ तू न विसारि तू न विसारि तू न विसारे रामईआ[1]

कबीर को अपने गोविन्द पर पूरा विश्वास है पर उन्हें पास जाने में डर लगता है। नाना प्रकार के मतवादों के चक्कर में पढ कर जीव कष्टों की गठरी ही बांधता रह जाता है। धूप से उत्तप्त होकर किसी तरु-छाया में विश्राम करना चाहे तो तरु से ही ज्वाला निकलने लगती है। इन प्रपंचों को कबीर समझते हैं इसलिए वे विश्वास से कहते हैं मैं तो तुझे छोडकर और किसी की शरण में नहीं जाना चाहता—

गोविन्दे तुम थे डरपौं भारी
सरणाइ आयो क्यूँ गहिए यह कौनु वात तुम्हारी
धूप दाझ तैं छाह तकाई मति तरवर सचु पाऊँ
तरवर माहे ज्वाला निकसै तो क्या लेइ बुझाऊँ ॥१॥
तारण तरण तरण तू तारण और न दूजा जानौं
कहै कबीर सरनाई आयौ आन देव नहि मानौं ॥२॥

कबीर के पदों, साखियों तथा अन्य स्फुट रचनाओं में भगवान् के प्रति उनके अनन्य प्रेम की बडी ही सहज और नैसर्गिक अभिव्यक्ति हुई है। मधुर भाव का बीजाकुर कबीर की रचनाओं में मिलता है। यह सत्य है कि ये रचनायें रहस्य की प्रवृत्ति से रगी हुई हैं और इनमें निराकार परमात्मा और जीवात्मा के मिलन या वियोग के सुख-दुःख का चित्रण है किन्तु भाव की गहराई और प्रेम की व्यजना का यह रूप सगुण मत के कवियों को अवश्य ही प्रभावित किये होगा क्योंकि उनकी रचनाओंमें इसी भाव की समानान्तर पक्तियाँ मिल जाती हैं।

१—नैना अतर आव तूँ ज्यूँ हों नैन झपेउँ
ना हौं देखौं और कूँ ना तुझ देखन देउँ (कबीर)

इसी प्रकार की पंक्तियाँ मीरा के एक पद में भी आती है। प्रेम की वेदना से तप्त जलहीन मीन की तरह यह आत्मा व्याकुल है। विरह का भुजंग इस शरीर को अपनी गुजलक में लपेटे है, राम का वियोगी कभी जीवित नहीं रह सकता—

विरह भुवंगम तन वसै मन्त्र न लागै कोइ
राम वियोगी ना जिवै, जिवै त वौरा होइ
(मीरा)

तुम विनु व्याकुल केसवा नैन रहे जल पूरि
अन्तरजामी छिप रहे हम क्यों जीवे दूरि
आप अपरछन होइ रहे हम क्यो रैन विहाइ
दादू दरसन कारने तलफि तलफि जिय जाइ
(दादू)

---

१. वही, पृ० १५०

तुम्हरी भक्ति हमारे प्रान
छूटि गए कैसे जन जीवत ज्यों पानी विनु प्रान
(सूरदास)

रैदास मोह-पाश में बाँधने वाले ईश्वर को चुनौती देते हुए कहते हैं कि तुम्हारे बन्धन से तो हम तुम्हीं को याद करके छूट जायेंगे किन्तु माधव हमारे प्रेम-बन्धन से तुम कभी न छूट सकोगे।

जउ हम बाँधे मोह फास हम प्रेम बँधनि तुम बाँधे
अपने छूटन को जतन करहु हम छूटे तुम आराधे
माधवे जानत हहु जैसी तैसी। कहा करहुगे ऐसी॥

रैदास उस अनन्त सौन्दर्य-मूर्ति पर निछावर हैं। यदि उनका प्रिय विशाल गिरिवर है तो वे उसके अन्तराल में निवास करने वाले मयूर हैं, यदि वह चाँद है तो ये चकोर। रैदास कहते हैं कि माधव, यदि तुम प्रेम के इस बन्धन को तोड भी दो तो हम कैसे तोड सकते हैं, तुमसे तोड कर और किससे जोड़ें।

जउ तउ गिरिवर तउ हम मोरा
जउ तुव चन्द तउ हम भये हैं चकोरा
माधवे तुम तोरहु तउ हम नहि तोरहि
तुम सिउ तोरि कवन सिउ जोरहिं

रैदास की इस प्रकार की कविताओं में प्रेम की जिस सहज अनुभूति और पीडा की विवृति हुई है क्या वह परवर्ती काल में सूर की विरहिणी गोपियों की अनुभूतियों से मेल नहीं खाती? सूर की गोपियाँ भी इस प्रकार की परिस्थिति में यही कहती हैं.

तिनका तोर करहुँ जनि हमसों एक बार की लाज निवाहियो
तुम विनु प्रान कहा हम करि है यह अवलम्ब न सुपनेहु लहियो

§ ३५९. कृष्ण-भक्ति-काव्य के विकास में सगीतकार कवियों ने भी कम योग नहीं दिया। सगीतज्ञ कवियों ने न केवल अपनी स्वर-साधना से भाषा को परिष्कार और मधुर अभिव्यञ्जना प्रदान की, उन्होंने न केवल अप्रतिम नाद-सौन्दर्य से कविता को अधिक दीर्घायुषी वनाया वल्कि अपनी सम्पूर्ण सगीत-प्रतिभा को आराध्य कृष्ण के चरणों पर लुटा भी दिया। इसी कारण सगीतज्ञ कवियों के पद गेयता के लिए जितने लोकप्रिय हुए उतने ही उनमें निहित भक्ति भाव के लिए भी। गोपाल नायक और वैजू वावरा के पदों में आत्मनिवेदन, गोपीप्रेम तथा भक्ति के विविध पक्षों का वडा ही विशद और मार्मिक चित्रण हुआ है। गोपाल नायक की वहुत कम रचनायें प्राप्त हुई हैं। अपने एक पद में वे रास का चित्रण इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं·

काधे कामरी गो अलाप के नाचे जमुना तीर नावे जमुना तीर
पीछे रे पावरे लेति नाचि लोई मागवा
भुज आली मृदग वासुरी वजावै गोपाल वैन वतरस ले अनट
ले मुराट मालवा।

(रागकल्पद्रुम)

वैजू की कवितायें कृष्ण-लीला के प्रायः सभी पक्षों को दृष्टि में रख कर लिखी गई हैं। नटवर, रूप-मोहिनी, गोपी-प्रेम, विरह, रास, मान-मनुहार आदि सभी पक्षों पर लिखी गई इन कविताओं में कवित्व शक्ति का बहुत अच्छा प्रस्फुटन दिखाई पड़ता है। विरह के वर्णन में वैजू ने उद्दीपनों तथा अन्य कवि-परिपाटी-विहित उपकरणों का प्रयोग नहीं किया है, बड़ी सहज और निरंलकृत भाषा में उन्होंने प्रिय-वियोग की वेदना को व्यक्त किया है—

> प्यारे विनु भर आए दोउ नैन
> जवते श्याम गवन कीनो गोकुल तें नाहीं परत री चैन
> लगे न भूख न प्यास न निद्रा मुख आवत नहिं वैन
> वैजू प्रभु कोई आन मिलावै वाको बलिहार चरन रैन

§ ३६०. विष्णुदास, वैधनाथ आदि कवियों ने कृष्ण के जीवन-चरित्र से सम्बद्ध महाभारत, गीता आदि के भाषानुवाद भी प्रस्तुत किये हैं। इन अनुवादों की परंपरा बाद में और भी अधिक विकसित हुई। सूरदास, नन्ददास, कृष्णदास आदि वल्लभ सप्रदाय के कवियों ने भागवत का पूरा या खडशः अनुवाद किया। विष्णुदास का रुक्मिणी मगल विवाहलो की पद्धति में लिखा हुआ सुन्दर भक्ति-काव्य है।

इस प्रकार हमने देखा कि ब्रजभाषा में कृष्ण भक्ति काव्य की परंपरा काफी पुरानी है। सूरदास के समय में अचानक कृष्ण भक्ति के काव्य का उदय नहीं हुआ और न सूरदास इस प्रकार के प्रथम कवि हैं। ब्रजभाषा के कृष्ण-काव्य का आरभ जयदेव और विद्यापति से पुराना नहीं तो कम से कम उनके समय से तो मानना ही पड़ेगा। प्राकृत पैंगलम् की रचनाओं को देखते हुए यह कहना भी शायद अत्युक्ति न हो कि हिन्दी प्रदेश की किसी भी बोली में इतना प्राचीन कृष्ण-काव्य नहीं मिलेगा, जैसा ब्रजभाषा में है। अष्टछाप के कवियों की प्रतिभा बेजोड़ थी, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु उनकी कविता में जो शक्ति, परिस्फूर्ति तथा मृदुता है वह केवल उन्हीं की साधना का परिणाम नहीं है बल्कि दसवीं शताब्दी से इस भाषा में कृष्ण-काव्य की जो अविच्छिन्न साहित्य-परपरा रही है, उसके अप्रतिभ योग-दान का भी परिणाम कहना चाहिए।

शृंगार-शौर्य तथा नीतिपरक काव्य

§ ३६१. भक्ति और शृगार दोनों ही मध्यकालीन साहित्य की अत्यत प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। भक्त कवियों के शृङ्गारिक वर्णनों को लेकर आलोचकों ने बहुत निर्मम आक्षेप किये हैं। आचार्य शुक्ल जैसे अपेक्षाकृत उदार और सिद्ध आलोचक ने भी सूर के बारे में विचार करते हुए उनके शृगारिक प्रेम के विषय में यही शिकायत की है। उन्होंने लिखा है कि 'समाज किधर जा रहा है इस बात की परवाह ये नहीं रखते थे। यहाँ तक कि अपने भगवत्प्रेम की पुष्टि के लिए जिस शृगारमयी लोकोत्तर छटा और आत्मोत्सर्ग की अभिव्यञ्जना से इन्होंने जनता को रसोन्मत्त किया उसका लौकिक स्थूल दृष्टि रखने वाले विषय वासना पूर्ण जीवों पर कैसा प्रभाव पड़ेगा इसकी ओर इन्होंने ध्यान न दिया। जिस राधा और कृष्ण के प्रेम को इन भक्तों ने अपनी गूढ़ातिगूढ़ चरम भक्ति का व्यजक बनाया उसको लेकर आगे के कवियों ने शृंगार की उन्मादकारिणी उक्तियों से हिन्दी काव्य को भर दिया।' शुक्ल जी के इस कथन से दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहली तो यह कि वे कृष्णभक्ति में शृगार की अतिवर्णना को समाज की दृष्टि से कल्याणकारी नहीं मानते, दूसरी यह कि रीतिकाल के कामोद्दीपक चित्रणों की

अतिशयता का कारण भक्त कवियों के शृंगारिक चित्रणों को ही मानते हैं। इस प्रकार के मत दूसरे कतिपय आलोचकों ने भी व्यक्त किये हैं। प्रश्न उठता है कि क्या हिन्दी साहित्य में विशेषतः ब्रज भाषा साहित्य में, सूरदास के पहले शृंगारपूर्ण चित्रणों का अभाव है? क्या भक्त कवियों ने शृंगारिक चित्रण की शैली को आकस्मिक रूप से उद्भूत किया, क्या इस प्रकार के वर्णनों की कोई परिपाटी उनके पहले के साहित्य में नहीं थी? ऐसे प्रश्नों के उत्तर के लिए हमें मध्यकालीन संस्कृति, समाज और उसमें प्रचलित विश्वासों का पूर्व विश्लेषण करना होगा। हमें यह देखना होगा कि शृंगार की तत्कालीन कल्पना क्या थी। शृंगार की मर्यादा क्या थी, उसके किस स्वरूप को समाज में स्वीकार किया गया।

§ ३६२ जयदेव जैसे कवि ने शृंगार और भक्ति को परस्पर समन्वित भाव धारा के रूप में ग्रहण किया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि यदि हरि स्मरण में मन सरस हो और यदि विलास-कला में कुतूहल हो तो जयदेव की मधुर कोमलकान्त पदावली को सुनो :

यदि हरिस्मरणे सरस मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्
मधुरकोमलकान्तपदावलीं शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्

वह कौन सी सामाजिक परिस्थिति थी जो जयदेव जैसे विख्यात रससिद्ध कवि को यह निःसंकोच कहने को प्रेरित करती थी कि काम कला और हरिस्मरण एकत्र उनकी पदावली में सुलभ है। यह केवल जयदेव जैसे कवि के मन की ही बात नहीं है। काव्य तो व्यक्ति के मन की अभिव्यक्ति है इसलिए उसमें निहित सत्य को हम वैयक्तिक धारणा भी कह सकते हैं। उस काल के धार्मिक ग्रन्थों में जो भक्ति के नियामक तत्त्वों का विश्लेषण करते हैं, शृंगार और भक्ति की इस समन्वय-धर्मिता के बारे में विशद रूप से विचार किया गया है। भक्ति की चरमोपलब्धि के लिए साधक को कई सीढियाँ पार करनी पडती हैं। भागवत के एक श्लोक में श्रद्धा तथा रति को भक्ति का क्रमिक सोपान बताया गया है।

सतां प्रसंगान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धारतिभक्तिरनुक्रमिष्यति
(भागवत ३।२०।२२)

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'स्त्रीपूजा और उसका वैष्णव रूप' शीर्षक निबन्ध में इस विषय पर काफी विस्तार के साथ विचार किया है।[1] उन्होंने लिखा है कि 'वस्तुतः भारतवर्ष में परकीया-प्रेम बहुत पुराने जमाने से एक खास संप्रदाय का धर्म-सा था। कहा जाता है कि ऋग्वेद (१०।१२६।२५) से इस परकीया प्रेम का समर्थन होता है। अथर्व वेद (६-५-२७-२८) में इसका स्पष्ट वर्णन पाया जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् (२।१३।१) के 'काचन परिहरेन्' मन्त्रांश का अर्थ आचार्य शंकर ने इस प्रकार किया है 'जो वामदेव सायन् को जानता है उसे मैथुन की विधि का कोई बन्धन नहीं है—उसका मत है किसी स्त्री को मत छोड़ो अवश्य ही इस मतवाद को वैदिक युग में बहुत अच्छा नहीं समझा जाता होगा।'[2] कथावस्तु

१ सूर साहित्य, संशोधित संस्करण, १९५६, बंबई, पृ० २०-६०
२ वही, पृ० २३-२४

जातक (२३।२) और मज्झिम निकाय (भाग १ पृ० १५५) से भी यह सिद्ध होता है कि बुद्ध-काल में भी यह प्रथा प्रचलित थी। भगवान् बुद्ध ने कई स्थलों पर इसकी निन्दा की है।[1]

§ ३६३ बौद्ध धर्म के अन्तिम दिनों में वज्रयान का बड़ा जोर था। उसके प्रभाव से 'पञ्चमकार सेवन' का बहुत प्रचार हुआ। महासुख की प्राप्ति के लिए त्रिपुरसुन्दरी को पराशक्ति के रूप में निरन्तर साथ रखना आवश्यक माना जाने लगा। तन्त्रवाद में रति और शृंगार की भावना को एक नये रहस्य और आध्यात्मिकता का रंग मिला। वैष्णव धर्म मे नारी पुरुष की पूरक दिव्य शक्ति के रूप में अवतरित हुई। उज्ज्वल नीलमणि में राधा को कृष्ण की स्वरूपा-ह्लादिनी शक्ति बताया गया जिनके सहवास के बिना कृष्ण अपूर्ण रहते हैं।[2] चैतन्यदेव ने परकीया प्रेम को भक्ति का मुख्य साधन बताया। नारी-पुरुष के सामान्य प्रेम के विविध पक्षों का ज्यों का त्यों भक्ति के विविध पक्षों के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया।

यह सैद्धान्तिक पक्ष है। सूरदास को तथा अन्य ब्रजकवियों को इससे वैचारिक प्रेरणा ही मिली। शृंगार के वर्णनों की व्यावहारिक प्रेरणा उन्हें गीतगोविन्द तथा प्राचीन भागवतादि संस्कृत ग्रंथों से तो मिली ही, किन्तु सीधा प्रभाव उनके ऊपर प्राचीन ब्रजभाषा के काव्य का पड़ा इसमें संदेह नहीं। संक्षेप में प्राचीन ब्रज भाषा के शृंगार काव्य के विविध पक्षों का विवेचन यहा प्रस्तुत किया जाता है।

§ ३६४. ऐहिकतापरक शृंगारिक रचनाओं का आरंभ छठवीं-सातवीं शताब्दी के संस्कृत वाङ्मय में दिखाई पड़ता है। ऐसा नहीं कि इस प्रकार की रचनायें पहले के साहित्य में प्राप्त नहीं होतीं। वैदिक साहित्य में भी इस प्रकार की रचनाओं का संकेत मिलता है किन्तु वहाँ मानव मन में दैवी शक्तियोंका आतंक तथा आध्यात्मिक प्रवृत्तियों का प्रभाव उग्ररूप में वर्तमान है। संस्कृत-काव्य देवताओं के स्तुति गान की वैदिक परंपरा की पृष्ठभूमि में विकसित हुआ इसलिए उसमें पौराणिकता और नैतिक रूढ़िवादिता की सर्वदा प्रधानता बनी रही। विद्वानों की धारणा है कि लौकिक शृंगारपरक काव्यों का आरंभ प्राकृत काल से हुआ खास तौर से चौथी-पांचवी शताब्दी में विभिन्न जातियों के मिश्रण और उत्तर-पश्चिम से आई हुई विदेशी जातियों की संस्कृति के कारण। हूणों और आभीरों के भारत आगमन के बाद मध्यदेशीय प्राकृत भाषा इनके संपर्क और प्रभाव से एक नये रूप में विकसित हुई और इनकी स्वच्छन्द शौर्य और रोमांस की प्रवृत्ति ने इस भाषा के साहित्य को भी प्रभावित किया। मध्यकालीन संस्कृत में निजंधरी कथाओं का सहारा लेकर रोमांस लिखने की परिपाटी भी—जिसका चरम विकास बाणभट्ट की कादम्बरी में दिखाई पड़ता है—शुद्ध रूप से भारतीय शैली नहीं कही जा सकती। अपभ्रंश की रचनायें तो इस मध्यकालीन संस्कृत-रोमांस की पद्धति से भी भिन्न हैं क्योंकि इनमें आमुष्मिकता का आतंक बिल्कुल ही नहीं दिखाई पड़ता। हाल की गाथा सत्तसई के वर्ण्य-विषय की नवीनता की ओर संकेत करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'प्रेम और करुणा के भाव, प्रेमियों की रसमयी क्रीडायें, उनका घात-प्रतिघात इस ग्रंथ में अतिशय जीवित रूप में

---

१ दि कलकत्ता रिव्यू जून १९२७, पृ० २६२–३ तथा मनीन्द्र मोहन बोस का 'पोस्ट चैतन्य सहजीया कल्ट' पृ० १०१

२ उज्ज्वल नीलमणि, कृष्ण वल्लभा, ५

अतिशयता का कारण भक्त कवियों के शृंगारिक चित्रणों को ही मानते हैं। इस प्रकार के मत दूसरे कतिपय आलोचकों ने भी व्यक्त किये हैं। प्रश्न उठता है कि क्या हिन्दी साहित्य में विशेषतः ब्रज भाषा साहित्य में, सूरदास के पहले शृंगारपूर्ण चित्रणों का अभाव है? क्या भक्त कवियों ने शृंगारिक चित्रण की शैली को आकस्मिक रूप से उद्भूत किया, क्या इस प्रकार के वर्णनों की कोई परिपाटी उनके पहले के साहित्य में नहीं थी? ऐसे प्रश्नों के उत्तर के लिए हमें मध्यकालीन संस्कृति, समाज और उसमें प्रचलित विश्वासों का पूर्व विश्लेषण करना होगा। हमें यह देखना होगा कि शृंगार की तत्कालीन कल्पना क्या थी। शृंगार की मर्यादा क्या थी, उसके किस स्वरूप को समाज में स्वीकार किया गया।

§ ३६२ जयदेव जैसे कवि ने शृंगार और भक्ति को परस्पर समन्वित भाव धारा के रूप में ग्रहण किया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि यदि हरि स्मरण में मन सरस हो और यदि विलास-कला में कुतूहल हो तो जयदेव की मधुर कोमलकान्त पदावली को सुनो :

> यदि हरिस्मरणे सरस मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्
> मधुरकोमलकान्तपदावलीं शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्

वह कौन सी सामाजिक परिस्थिति थी जो जयदेव जैसे विख्यात रससिद्ध कवि को यह निःसंकोच कहने को प्रेरित करती थी कि काम कला और हरिस्मरण एकत्र उनकी पदावली में सुलभ है। यह केवल जयदेव जैसे कवि के मन की ही बात नहीं है। काव्य तो व्यक्ति के मन की अभिव्यक्ति है इसलिए उसमें निहित सत्य को हम वैयक्तिक धारणा भी कह सकते हैं। उस काल के धार्मिक ग्रन्थों में जो भक्ति के नियामक तत्त्वों का विश्लेषण करते हैं, शृंगार और भक्ति की इस समन्वय-धर्मिता के बारे में विशद रूप से विचार किया गया है। भक्ति की चरमोपलब्धि के लिए साधक को कई सीढ़ियाँ पार करनी पड़ती हैं। भागवत के एक श्लोक में श्रद्धा तथा रति को भक्ति का क्रमिक सोपान बताया गया है।

> सतां प्रसंगान्मम वीर्यसंविदो भवति हृत्कर्णरसायनाः कथाः
> तज्जोषणदाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धारतिभक्तिरनुक्रमिष्यति
> (भागवत ३।२०।२२)

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'स्त्रीपूजा और उसका वैष्णव रूप' शीर्षक निबंध में इस विषय पर काफी विस्तार के साथ विचार किया है।[1] उन्होंने लिखा है कि 'वस्तुतः भारतवर्ष में परकीया-प्रेम बहुत पुराने जमाने से एक खास संप्रदाय का धर्म-सा था। कहा जाता है कि ऋग्वेद (१०।१२६।२५) से इस परकीया प्रेम का समर्थन होता है। अथर्व वेद (६–५–२७–२८) में इसका स्पष्ट वर्णन पाया जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् (२।१३।१) के 'काचन परिहरेत्' मन्त्रांश का अर्थ आचार्य शंकर ने इस प्रकार किया है 'जो वामदेव सायन् को जानता है उसे मैथुन की विधि का कोई बन्धन नहीं है—उसका मत है किसी स्त्री को मत छोड़ो अवश्य ही इस मतवाद को वैदिक युग में बहुत अच्छा नहीं समझा जाता होगा।'[2] कथावस्तु

---

१ सूर साहित्य, संशोधित संस्करण, १९५६, बंबई, पृ० २०–६०

२ वही, पृ० २३–२४

जातक (२३।२) और मज्झिम निकाय (भाग १ पृ० १५५) से भी यह सिद्ध होता है कि बुद्ध-काल में भी यह प्रथा प्रचलित थी। भगवान् बुद्ध ने कई स्थलों पर इसकी निन्दा की है।[1]

§ ३६३. बौद्ध धर्म के अन्तिम दिनो में वज्रयान का बडा जोर था। उसके प्रभाव से 'पचमकार सेवन' का बहुत प्रचार हुआ। महासुख की प्राप्ति के लिए त्रिपुरसुन्दरी को पराशक्ति के रूप में निरन्तर साथ रखना आवश्यक माना जाने लगा। तन्त्रवाद में रति और शृ गार की भावना को एक नये रहस्य और आध्यात्मिकता का रग मिला। वैष्णव धर्म मे नारी पुरुष की पूरक दिव्य शक्ति के रूप में अवतरित हुई। उज्ज्वल नीलमणि में राधा को कृष्ण की स्वरूपा-ह्लादिनी शक्ति बताया गया जिनके सहवास के बिना कृष्ण अपूर्ण रहते है।[2] चैतन्यदेव ने परकीया प्रेम को भक्ति का मुख्य साधन बताया। नारी-पुरुष के सामान्य प्रेम के विविध पक्षों का ज्यों का त्यों भक्ति के विविध पक्षों के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया।

यह सैद्धान्तिक पक्ष है। सूरदास को तथा अन्य ब्रजकवियों को इससे वैचारिक प्रेरणा ही मिली। शृगार के वर्णनों की व्यावहारिक प्रेरणा उन्हें गीतगोविन्द तथा प्राचीन भागवतादि संस्कृत ग्रंथों से तो मिली ही, किन्तु सीधा प्रभाव उनके ऊपर प्राचीन ब्रजभाषा के काव्य का पडा इसमें सदेह नहीं। संक्षेप में प्राचीन ब्रज भाषा के शृंगार काव्य के विविध पक्षो का विवेचन यहा प्रस्तुत किया जाता है।

§ ३६४. ऐहिकतापरक शृगारिक रचनाओं का आरंभ छठवीं-सातवीं शताब्दी के सस्कृत वाङ्मय में दिखाई पडता है। ऐसा नहीं कि इस प्रकार की रचनायें पहले के साहित्य में प्राप्त नहीं होतीं। वैदिक साहित्य में भी इस प्रकार की रचनाओं का सकेत मिलता है किन्तु वहाँ मानव मन में दैवी शक्तियोंका आतक तथा आध्यात्मिक प्रवृत्तियो का प्रभाव उग्ररूप में वर्तमान है। सस्कृत-काव्य देवताओं के स्तुति गान की वैदिक परंपरा की पृष्ठभूमि में विकसित हुआ इसलिए उसमें पौराणिकता और नैतिक रूढिवादिता की सर्वदा प्रधानता बनी रही। विद्वानों की धारणा है कि लौकिक शृंगारपरक काव्यों का आरंभ प्राकृत काल से हुआ खास तौर से चौथी-पाचवी शताब्दी में विभिन्न जातियों के मिश्रण और उत्तर-पश्चिम से आई हुई विदेशी जातियो की सस्कृति के कारण। हूणों और आभीरो के भारत आगमन के बाद मध्यदेशीय प्राकृत भाषा इनके सपर्क और प्रभाव से एक नये रूप में विकसित हुई और इनकी स्वच्छन्द शौर्य और रोमास की प्रवृत्ति ने इस भाषा के साहित्य को भी प्रभावित किया। मध्यकालीन सस्कृत में निजंधरी कथाओं का सहारा लेकर रोमास लिखने की परिपाटी भी—जिसका चरम विकास बाणभट्ट की कादम्बरी में दिखाई पडता है—शुद्ध रूप से भारतीय शैली नहीं कही जा सकती। अपभ्रश की रचनायें तो इस मध्यकालीन सस्कृत-रोमास की पद्धति से भी भिन्न है क्योंकि इनमें आमुष्मिकता का आतक बिल्कुल ही नहीं दिखाई पड़ता। हाल की गाथा सत्तसई के वर्ण्य-विषय की नवीनता की ओर संकेत करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'प्रेम और करुणा के भाव, प्रेमियो की रसमयी क्रीडायें, उनका घात-प्रतिघात इस ग्रथ में अतिशय जीवित रस में

---

१ दि कलकत्ता रिव्यू जून १९२७, पृ० ३६२–३ तथा मनीन्द्र मोहन बोस का 'पोस्ट चैतन्य सहजीया कल्ट' पृ० १०१

२ उज्ज्वल नीलमणि, कृष्ण वल्लभा, ५

प्रस्फुटित हुआ है। अहीर और अहीरिनियों की प्रेम गाथाए, ग्राम-वधूटियों की शृंगार चेष्टायें, चक्की पीसती हुई या पौधों को सींचती हुई सुन्दरियों के मर्मस्पर्शी चित्र, विभिन्न ऋतुओं का भावोत्तेजन, आदि बातें इतनी जीवित, इतनी सरस और इतनी हृदय-स्पर्शी हैं कि पाठक बरबस इस सरस काव्य की ओर आकृष्ट होता है। यहाँ वह एक अभिनव जगत् में प्रवेश करता है जहाँ आध्यात्मिकता का झमेला नहीं है। कुश और वेदिका का नाम नहीं सुनाई देता, स्वर्ग और अपवर्ग की परवाह नहीं की जाती, इतिहास और पुराण की दुहाई नहीं दी जाती। द्विवेदी जी ने बड़े ही सूक्ष्म ढंग से मध्यकालीन शृंगार की इस नई धारा और प्राचीन सस्कृत काव्यों की परपरा का प्रभाव बताया है। वह लोक साहित्य परंपरा क्या थी, इसका निर्णय देना कठिन है, किन्तु उस लोक साहित्य परपरा के अग्रिम विकास का विवरण अवश्य दिया जा सकता है क्योंकि वह अपभ्रश में सुरक्षित है।

§ ३६५. हाल की गाथासप्तशती में ही शृङ्गार के दोनों पक्षों का जो मिश्रण प्रस्तुत किया गया है, वह इतना मार्मिक है कि परवर्ती काल के कवियों ने—विद्यापति सूरदास आदि ने—उन अनूठी उक्तियों को बिल्कुल अपना बना लिया। इस तरह के दो एक उदाहरणों को देखने से ही इस काव्य की चेतना और परवर्ती काव्य को प्रभावित करने की शक्ति का पता चलता है।

परदेशी प्रिय लौट कर आता नहीं। नायिका उसके प्रेम की अतिशयता के कारण आज ही गया है, आज ही गया है ऐसा कह कर जो रेखा खींच देती है उनसे दीवाल भर गई किन्तु वह आया नहीं।

> अज्ज गओत्ति अज्ज गओत्ति अज्ज गओत्ति गण्णीए।
> पढम व्विअ दिअहद्धे कुड्डो रेहाहिं चित लियो॥ (३।२)

विद्यापति की नायिका तो दिवस की रेखा खींचते-खींचते अपने नाखूनों को ही खो चुकी किन्तु श्याम मथुरा से लौटने का नाम नहीं लेते—

> कत दिन माधव रहब मथुरा पुर कबे घुचब विहि बाम।
> दिवस लिखि लिखि नखर खोयाओल विछुरल गोकुल नाम॥

हेमचन्द्र संकलित दोहों में भी एक में यही भाव व्यक्त किया गया है:

> जो मइ दिण्णा दिअहडा दइएँ पवसतेण।
> ताण गणन्तिएँ अगुलिउ जज्जरिआउ नहेण॥

गाथा सप्तशती की एक दूसरी गाथा में नायिका अपने प्रिय के आगमन पर कहती है कि तुम्हारे आने पर सभी प्रकार के मगल आयोजन करके तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूँ। नयनोत्पल से मैंने पथप्रकीर्ण किया है और कुचों का कलश बनाकर हृदय के द्वार पर स्थापित कर दिया है—

> रच्छापइण्ण णअणुप्पला तुम सा पडिच्छये एन्तम।
> दारणि हियेहिं दोहिं वि मगलकलसेंहि व थणेहिं॥ (२।४०)

सूर की गोपी कृष्ण के आने पर अपनी हृदय की कमल-कुटी में आसन ठीक करती है और मगल कलश की तरह उसके स्तन चोली के बन्धन तोड कर स्वय ही प्रकट हो जाते है।

करत मोंहि कछुवै न वनी ।
हरि आये चितवत ही रही सखि जैसें चित्र धर्नी ॥
अति आनन्द हरष आसन उर कमल कुटी अपनी ।
हृदय उमगि कुच कलस प्रकट भये तूटी तरकि तनी ॥ (सूर सागर १८८०)

प्रिय से मिलने को उत्सुक नायिका अभिसार के लिए जाने से पहले इतनी प्रेम-विह्वल हो गई है कि वह निमलिताची अपने घर में ही चहलकदमी कर रही है—

अज्ज मए गन्तव्य धणअन्धारे वि तस्स सुहस्स
अज्जा निमीलिअच्छी पअ परिवाडि घरे कुरइ (३।४६)

सूर की राधा की भी तो अभिसार की उत्सुकता के कारण यही हालत हो जाती है—

आप उठी आँगन गई फिरि घरहीं आई
कवधौं मिलिहौं स्याम कौं पल रह्यो न जाई
फिरि फिरि अजिरहिं भवनहिं तलवेली लागी ।
सूर स्याम के रस भरी राधा अनुरागी (सूरसागर १६६६)

§ ३६६. सकान्तिकालीन अपभ्रंश में लिखे हुए दोहों मे मुंजराज और मृणालवती के प्रेम पर लिखे हुए दोहे अपनी रसमयता और सांकेतिकता के लिए प्रसिद्ध है । आरम्भिक व्रजभाषा में लिखे ये दोहे शृगार-काव्य के 'मुक्ताहल' हैं । इनमें सहज प्रेम और नैसर्गिक माधुर्य की एकत्र पराकाष्ठा दिखाई पडती है ।

मुंज भणइ मुणालवइ जुव्वण गयुं न झूरि
जो सक्कर सय खण्ड थिय सोवि स मीठी चूरि

शर्करा का सौवाँ खंड भी क्या मिठास में कम होता है । मुंज अपनी प्रौढ़ा नायिका को हर प्रकार से आश्वस्त करना चाहता है ।

हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में सकलित दोहों में प्रेम और शृंगार की अत्यत स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है । विरह की निगूढ वेदना को व्यक्त करने वाले एक-एक दोहे में परवर्ती व्रजभाषा के विरह वर्णनों का पूरा इतिहास भरा पडा है । प्रिय-विश्लेष दु.ख से पीडित नायिका पी-पी पुकारने वाले चातक से कहती है, हे निराश, चातक क्यों व्यर्थ की 'पिउ-पिउ' पुकार रहा है । इतना रोने से क्या होगा । तेरी जल से और मेरी वल्लभ से कभी आशा पूरी न होगी ।

वप्पीहा पिउ-पिउ भणवि कित्तिउ रुअहि हयास
तुम जलि महु पुणु वल्लहइँ विहुँ वि न पूरिअ आस

पपीहे के वार-वार पुकारने पर वेदना-विजड़ित चित्त से वह निराशा को स्वाभाविक मानती हुई, आक्रोश भी व्यक्त करती है : चिल्लाने से कुछ न होगा, विमल जल से सागर भरा है किन्तु अभागे को एक बूँद भी नहीं मिलता—

वप्पीहा कहँ वोल्लिएण निग्घिण वारइ वार
सायर भरिअइ विमल जल लहइ न एक्कइ धार

सूर की गोपियों के विरह-वर्णन को जिन्होंने पढा है वे जानते हैं कि पपीहा के प्रति प्रेम-आक्रोश, सहानुभूति के कितने शब्द गोपियों ने नाना प्रकार के करुणापूर्ण भावोच्छ्वास के साथ सुनाये हैं ।

(१) सखी री चातक मोंहि जियावत
जैसे हि रैनि रटत हौं पिव-पिव तैसेहि वह पुनि गावत (३३३४)
(२) अजहु पिय-पिय रजनि सुरति करि झूठैं ही मुख मागत वारि (३३३५)
(३) सब जग सुखी दुखी तू जल विनु तउ न उर की विथा विचारत(३३३५)

मिलन या सयोग शृङ्गार में जडता या अचेतना की स्थिति का वर्णन किया जाता है। अपभ्रश दोहे में एक नायिका कहती है कि अग से अग न मिले, अधरों से अधर न मिले, मैंने तो प्रिय के मुख-कमल को देखती ही रात बिता दी—

अगहि अंग न मिलिउ हलि अहरें अहर न पत्तु
पिय जोअन्तिहे मुह कमल एवम्इ सुरउ समत्तु

प्रिय के सौन्दर्य का ऐसा ही अप्रतिम चित्रण सूरदास की रचनाओं में भरा पडा है।

कमल नैन मुख बिनु अवलोकैं रहत न एक घरी
तब तैं अग-अग छवि निरखत सो चित तैं न टरी (सूर २२८६)

§ २६७. इन दोहो में कुछ तो सहज शृगार और प्रेम के दोहे हैं, कुछ शृगारिक उक्तियों और उत्तेजन भाव के भी हैं जिनका अतिवादी विकास बाद में बिहारी आदि रीतिकालीन कवियों के काव्य में दिखाई पडता है। इनमें शृंगार का गभीर रूप नहीं दिखाई पडता, ऊहात्मक अथवा अत्यत सस्ते कोटि की कामुक और शृगारिक चेष्टाओं की विवृत्ति दिखाई पडती है। रीतिकालीन कविता को सस्ते किस्म के शृगार की प्रेरणा भी यहीं से मिली, इसे भक्ति-काल के शृगार का ही विकास नहीं कहना चाहिए वैसे सूर तथा अन्य भक्त कवियों ने शृंगार का कहीं कहीं बडा उद्दाम और विक्षोभक चित्रण भी किया है जो मर्यादित नहीं है, ऐसे चित्रणों ने भी रीतिकालीन कविता को शृगार की अश्लील कोटि तक पहुँचने में मदद दी। इसके लिए कुछ अंशों में सूर आदि के रति और सयोग के शृगारिक वर्णन भी उत्तरदायी हो सकते हैं। इस प्रकार अष्टछाप के भक्त कवि अथवा रीतिकालीन कवियों की घोर शृगारिक चेष्टाओं वाले काव्य की प्रेरणा प्राचीन व्रज के इन दोहों में वर्तमाम थी। जैसे—

विट्टीए मइ भणिय तुहुं या कुरु वकी दिट्ठि
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिवँ मारइ हियइ पइट्ठि

हे पुत्री मैंने तुझसे कहा था कि दृष्टि बाकी मत कर। यह अनीदार भाले की तरह हृदय में पैठकर चोट करती है।

नखशिख तथा रूप-चित्रण

§ २६८ रीतिकाल की शैली को यदि एकदम सकुचित अर्थ में कहना चाहें तो नखशिख चित्रण और नायिका भेद की शैली कह सकते है। परवर्ती सस्कृत साहित्य में ही इस प्रकार की शैली का प्रादुर्भाव हो गया था। एकदम रूढ अर्थ में उसे ऐसा न भी मानें तो भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि भवभूति, माघ, श्रीहर्ष आदि की कृतियों में नखशिख वर्णन अथवा मानव रूप चित्रण ज्यादा अलकरण-प्रधान और विलक्षणता-बोधक होने लगा था। आचार्य शुक्ल ने नखशिख वर्णनों की अतिवादी परिणति की निन्दा करते हुए, मनुष्य के सहज रूप के चित्रण की विशेषता बताते हुए कहा है कि 'आकृति चित्रण का अत्यत उत्कर्ष वहीं समझना

चाहिए जहाँ दो व्यक्तियों के अलग-अलग चित्रों में हम भेद कर सकें।[1] शुक्ल जी ने इसी प्रसंग में रीतिकालीन कवियों की शैली को अत्यत निकृष्ट बताते हुए लिखा है कि 'यहाँ हम रूप चित्रण का कोई प्रयास नहीं पाते केवल विलक्षण उपमाओ और उत्प्रेक्षाओं की भरमार पाते है इन उपमानों के योग द्वारा अगों की सौन्दर्य-भावना से उत्पन्न सुखानुभूति मे अवश्य वृद्धि होती है, पर रूप निर्दिष्ट नहीं होता।'[2]

नखशिख-वर्णन सूर तथा उनके अन्य समसामयिक व्रजभाषा कवियो में मिलता है। कहीं-कहीं तो इस चित्रण में वस्तुतः रूढियों के प्रयोग की इयत्ता हो जाती है। सूरदास के 'अद्भुत एक अनूपम बाग' वाले प्रसिद्ध नखशिख चित्रण को लक्ष्य करके शुक्ल जी ने लिखा था कि इस स्वभाव सिद्ध (तुलसी के) अद्भुत व्यापार के सामने 'कमल पर कदली कदली पर कुड, शंख पर चन्द्रमा' आदि कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध रूपकातिशयोक्ति के कागजी दृश्य क्या चीज़ हैं।'[3] हमे यहाँ यह विचार करना है कि सूरदास आदि की कविताओं में जो इस प्रकार के कविप्रौढोक्ति रूपकातिशयोक्ति की अधिकता दिखाई पडती है, उसका कारण क्या है। मैंने ऊपर निवेदन किया है कि सस्कृत के परवर्ती काव्यों में भी इस प्रकार के अलकरण की प्रवृत्ति दिखाई पडती है। किन्तु नखशिख-वर्णन की इस शैली का विकास—इस अतिशयतावादी शैली का—परवर्ती जैन अपभ्रश काव्यों तथा आरभिक व्रजभाषा की रचनाओं में भी दिखाई पडता है। मैंने पीछे थूलिभद्दफागु से वेश्या के रूप वर्णन का प्रसग उधृत किया है (देखिये § ३४८) इस प्रसग में यद्यपि शैली रूढ है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु लेखक ने उसे विलक्षणता प्रदर्शन के लिए नहीं अपनाया है। यौवन-संपन्न उरोजों की उपमा वसन्त के पुष्पित फूलों के स्तवक से देना एक प्रकार का अलकरण ही कहा जायेगा किन्तु यह अलंकरण रूप चित्रण में बाधक नहीं है, बल्कि उसे और भी अधिक उद्भासित करने के लिए प्रयुक्त हुआ है। पुष्पदन्त ने नारी सौन्दर्य का जो चित्रण किया है वह अभूतपूर्व है। पुष्पदन्त के चित्रण शुक्ल जी द्वारा प्रतिष्ठापित मानदण्ड के अनुकूल हैं, उसने न केवल दो नारियों के रूप में अन्तर को स्पष्ट अंकित किया है बल्कि भिन्न-भिन्न प्रदेशों की नारियों के रूप, स्वभाव तथा व्यवहारों का ऐसा सूक्ष्म वर्णन किया है जैसा पूर्ववर्ती काव्यों में कम मिलेगा। हिन्दी काव्यधारा में पृष्ठ २०० पर दिए गए पद्यांश में नारी-सौन्दर्य का चित्रण देखा जा सकता है। हेमचन्द्र-संकलित अपभ्रश दोहों मे भी इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं। स्फुट मुक्तक होने के कारण इनमें सर्वागीणता नहीं दिखाई पडती। किन्तु सूक्ष्मता का स्पर्श तो है ही। जैसे नेत्रों का वर्णन देखिए—

> जिवँ जिवँ वकिम लोअणहु निरु सामलि सिक्खेइ।
> तिवँ तिवँ वम्महु निअय सर खर पत्थर तिक्खेइ॥

ज्यों ज्यों गोरी अपनी बाकी ऑखों को भगिमा सिखाती है, वैसे ही वैसे मानो कामदेव अपने बाणों को पत्थर पर तीखा करता जाता है।

---

१. चिन्तामणि, भाग २, काशी २००२, पृ० ३

२. वही, पृ० २८

३. देखिए शुक्ल जी का 'तुलसीदास की भावुकता' शीर्षक निबंध

नखशिख वर्णन का और अधिक प्राधान्य परवर्ती रचनाओं में दिखाई पड़ता है। प्राकृतपैंगलम् की व्रजभाषा-रचनाओं में ऐसे वर्णन विरल नहीं हैं जो किसी काव्य के नखशिख चित्रण के प्रसंग से छाँटे गए हैं।

रासो काव्यों में वर्णित नखशिख शैली का भी प्रभाव सूर आदि पर कम न पड़ा। सदेश रासक में नायिका के रूप का चित्रण रूढ़ शैली का ही है, किन्तु उसमें उपमानों के चयन में कवि की अन्तर्दृष्टि और सूझ का पता चलता है। पथिक से अपने विदेश-स्थित पति को सदेश भेजते समय उसके रूप की क्षण-क्षण परिवर्तित दशा का कवि ने स्थान-स्थान पर बड़ा मार्मिक चित्रण किया है।

छायंती कह कहव सलज्जिर णिय करहीं
कणक कलस झंपंती ण इन्दीवरहीं
तो आसन्न पहुत्त सगग्गिर गिर वयनी
कियउ सद्द सविलासु करुण दीहर नयनी

(सदेश रासक २६)

अपने कनक कलश सदृश उरोजो को इन्दीवरों से (हाथो से) ढँकती हुई वह पथिक के सामने किसी-किसी तरह सलज्ज भाव से पहुँची।

§ ३६६. चन्दवरदाई के वर्णनों की अलकरणप्रियता और रूढ़ निर्वाहधर्मिता की आलोचकों ने बहुत निन्दा की है। कुछ लोग तो इन्हीं आलोचनाओं के कारण पृथ्वीराज रासो को केवल युद्धबहुल वर्णनात्मक काव्य मात्र मानते हैं, उसमें काव्य-गुणों की सभावना पर भी विचार करना नहीं चाहते। हम यह मानते हैं कि रासोकार ने सर्वत्र काव्य का ऊँचा आदर्श ही नहीं रखा है किन्तु कई स्थलों पर चन्दबरदाई का काव्य-कौशल उच्चकोटि का दिखाई पड़ता है और निःसदेह ऐसे चित्रणों ने परवर्ती काव्य को बहुत अधिक प्रभावित किया है। शशिव्रता समय में कवि नायिका की वयःसन्धि का चित्रण इन शब्दों में करता है—

जल सैसव मुद्ध समान भय रवि वाल वहिक्रम लै अथय
वर सैसव जौवन सधि अर्ता सु मिलै जनु पित्तह वाल जती
जु रही लगि सैसव जुव्वनता सु मनो ससि रतन राज हिता
जु चलै मुरि मारुत झकुरिता, सु मनो सुर वेस सुरी मुरिता

मारुत के झकोरे से इधर-उधर झुक-झुक पड़ने वाली लता की तरह उसकी वय कभी शैशव कभी यौवन की ओर झुक जाती थी। विगत शैशव वालारुण सूर्य की तरह अस्तमान था, और नवीन कान्ति से शरीर को उद्भासित करने वाला यौवन पूर्ण चन्द्र की तरह उदित हो रहा था—इस वय.सन्धि में शशिव्रता का शृङ्गार सुमेरु पर्वत की तरह देदीप्यमान हो रहा था। पर्वत के दोनों तरफ अस्त होते सूर्य और उदीयमान चन्द्र के प्रकाश का सम्मिलन-वय.सन्धि के लिए कितनी उचित और आकर्षक उत्प्रेक्षा है.

राका अरु सूरज विच उदय अस्त दुहुँ वेर
वर सस्त्रिवृत्ता सोहई, मनो शृङ्गार सुमेर

स्पष्टतः इस वर्णन में कवि ने प्रौढोक्ति सिद्ध उपमानो और उत्प्रेक्षाओं का ही सहारा लिया है, किन्तु इस चित्रण से कवि पाठक के मन में सौन्दर्योद्भूत आनन्द को प्रकट करने में भी सफल हुआ है। नखशिख वर्णन में भी कवि यदि रुचि-सपन्न हुआ, नारी रूप के प्रति उसके मन में मात्र विक्षोभकारी आकर्षण ही नहीं, यदि वस्तुतः सौन्दर्य के प्रति अनासक्त जागरूकता और सस्कारी चेतना हुई तो ऐसे रूढिग्रथित वर्णनों में भी ताज़गी और जीवन दिखाई पडता है। छिताई वार्ता में कवि नारायण दास सौन्दर्य का ऐसा ही चित्रण प्रस्तुत कर सकने में सफल हुए है। छिताई का रूप पद्मिनी की तरह ही पारस-रूप है, जड चेतन को अपनी अपूर्व प्रभावकारिता से स्पन्दित कर देने वाला। यद्यपि कवि प्रतीपालकार के आधार पर नायिका के अंग-प्रत्यग के सौन्दर्य-चित्रण में उपमानों या अप्रस्तुतों का पराभव दिखाता है, किन्तु इसी के साथ-साथ छिताई के सौन्दर्य की सार्वभौम प्रभुता भी प्रकट होती है।

> तैं सिर गुर्थी तु वेनी माल, लाजनि गए भुंयंग पयालि
> वदनि जोति चै ससिहर हरी, तूँ सुख क्यों पावहि सुन्दरी
> हरे हरिण लोचन तैं नारि, ते म्रिग सेवै भजौ उजारि ॥५४५।
> जे गज कुम तोहि कुच भए, ते गज देस दिसाउर गए
> तैं केहरि मक्रस्थल हन्यौ, तौ हरि म्रेह कंदल नीसर्‌यौ ।५४६।
> दसन ज्योति तैं दारिउँ भए, उदर फूटि ते दाँरिउ गए
> कमल वास लइ अंग छिनाइ, सजल नीर तैं रहे लुकाइ ॥५४७॥

सौन्दर्य का स्थूल चित्रण वर्ण्य-वस्तु को साकार करने की दृष्टि से कठिन और कौशल-साध्य व्यापार है किन्तु इससे भी कठिन इस तरह के रूप के चित्रों या छायाकनों को पुनः चित्रित करने का कार्य है। ऐसे स्थलों पर कवि को सौन्दर्य को सजीव बनाने वाले गुणों, हाव भाव, अगों के मोड, चाल-ढाल आदि का बडा सूक्ष्म ज्ञान रखना अनिवार्य हो जाता है। अलाउद्दीन द्वारा देवगिरि नरेश को उपहार में दिए गए चित्रकार ने एक दिन चित्रशाला में छिताई को देख लिया। उसने छिताई की एक छवि कागज पर चित्रित कर ली। नारायण दास चित्र की शोभा का वर्णन यों करते हैं :

> चतुर चितोरै देखी जिसी, करि कागज मँह चित्री तिसी
> चितवनि चलनि मुरनि मुसक्यानि, चतुर चितेरे चित्री वानि ॥१३५॥
> सुन्दरि सुघर, सुघर परवीन, जोवनि जानि बजावइ बीन
> नाद करत हरि को मन हरइ, नर वापुरा कहा धुं करइ ॥१३६॥
> इक सुन्दर अरु सुवन शरीर, मिश्री मिश्रित भो जिमि पीर
> इकु सोनौं इकु होइ सुगन्ध, लहइ परस प्रिया गहि कध ॥१३७॥
> चित्र देपि वहुरी चित्रिनी, आलस गति गयंद गुर्वनी

छीहल कवि की पंच सहेली में शृंगार का बहुत ही सूक्ष्म और मार्मिक वर्णन हुआ है। वियोग शृङ्गार में विरहिणी नायिकाओं के अनुभावों का चित्रण उन्हीं के शब्दों में इतना सवेद्य और अनुभूतिपरक है कि कोई भी सहृदय विरह की इस दशकारी वेदना से व्याकुल हुए बिना नहीं रहता। छीहल की पच सहेली के दोहे पीछे दिए हुए हैं (देखिए § १६७)।

वीरता और शौर्य

§ ३७०. मध्यकालीन ब्रजभाषा काव्य में शौर्य और शृङ्गार की प्रवृत्तियों का अद्भुत संमिश्रण दिखाई पडता है। मध्यकालीन रोमेण्टिक काव्य चेतना में शौर्य और शृङ्गार दोनों ही सहगामी भाव हैं। यद्यपि भक्ति–रीति काल में शौर्य और वीरता-परक काव्य कम लिखे गए, इस काल की मूल धारा शृङ्गार और भक्ति की ही रही परतु इस युग में भी भूषण, सूदन, सोमनाथ, लाल जैसे अत्यत उच्चकोटि के वीर-काव्य प्रणेता भी उत्पन्न हुए।

बहुत से आलोचक रासो काव्यों में चित्रित वीरता की प्रवृत्ति को बहुत सहज और स्वस्थ नहीं मानते। एक आलोचक ने लिखा है कि उस काल का वीर काव्य उन थोड़े से सामन्तों की वीरता की अतिशयोक्ति पूर्ण गाथाओं पर आश्रित है, जिनकी हार-जीत से जनता को कोई चिन्ता-प्रसन्नता नहीं होती थी, इसलिये ऐसे काव्यों को वीर काव्य नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि पाडित्य के चमत्कार पर पुरस्कार का विधान ढीला पड गया था। उस समय तो जो भाट या चारण किसी राजा के पराक्रम विजय, शत्रुकन्या-हरण आदि का अत्युक्तिपूर्ण आलाप करता या रण क्षेत्रों में जाकर वीरों के हृदय में उत्साह की उमगें भरा करता था वही समान पाता था। शुक्ल जी ने रासो काव्यों की मूल प्रवृत्ति वीरता की ही बताई वैसे उनके मत से 'इन काव्यों में शृङ्गार का भी थोडा मिश्रण रहता था, पर गौण रूप में। प्रधान रस वीर ही रहता था।'[1] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृथ्वीराज रासो की प्रेम-कथा की पृष्ठभूमि में वर्तमान तुमुल सघर्ष और युद्ध के वर्णनों की अधिकता को देखते हुए लिखते हैं कि 'वीररस की पृष्ठभूमि में यह प्रेम का चित्र बहुत ही सुन्दर निखरता है, पर युद्ध का रग बहुत गाढा हो गया है। प्रेम का चित्र उसमें एकदम डूब गया है। या तो युद्ध का इतना गाढा रग बाद के किसी अनाडी चित्रकार ने पोता है, या फिर चद बहुत अच्छे कवि नहीं थे।'[2] मध्यकालीन ऐतिहासिक अथवा अर्ध ऐतिहासिक काव्यों में प्रायः अधिकाश में प्रेम तथा शौर्य का ऐसा ही असतुलित, कहीं फीका कहीं अतिरजित, वर्णन सभी कवियों ने किया है। ऐसे स्थलों पर जब हम वर्तमानयुगीन दृष्टि से वीर-काव्यों का निर्णय करने लगेंगे तो निराशा स्वाभाविक है। बख्तियार खिलजी ने केवल दो सौ घोडो से समूचे अग–वग के राजाओं को एक लपेट में सर कर लिया और जनता के कानों पर जू नहीं रेंगी–इसलिए यह वीर काव्य जनता से कोई सबन्ध नहीं रखते इसलिए इन्हें 'बैलेड काव्य' मानना शुक्ल जी के अतीत प्रेम का प्रमाण मात्र है–इस तरह की धारणा वाले आलोचक शायद यह भूल जाते हैं कि पृथ्वीराज ने सपूर्ण मध्येशिया और पश्चिमोत्तर भारत की शान्ति को नष्ट करने वाले महमूद गोरी को सत्रह बार पराजित भी किया था। हल्दीघाटी के युद्ध में राणा प्रताप ने जो शौर्य दिखाया, वह तत्कालीन जनता के लिए धर्म-गाथा बन गया था। यह सही है कि इन काव्यों में शौर्य का चित्रण बहुत ही अति-रजना पूर्ण और कृत्रिम है, यह भी सही है कि इनमें प्रेम की प्रधानता है किन्तु यह एकदम 'क्षीयमाण मनोवृत्ति' का ही प्रतिबिंब है ऐसा कहना बहुत उचित नहीं है।

§ ३७१ हेमचन्द्र–संकलित अपभ्रंश दोहों में शौर्य के नैसर्गिक रूप की बहुत ही मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। इस शौर्य-काव्य की सबसे बडी विशेषता है इसके भीतर सामान्य

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, छठां संस्करण, पृ० ३१–३२

२. हिन्दी-साहित्य का आदि काल, पृष्ठ सख्या ८८

जीवन की स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता की प्रेरणा। आलोचकों को रासो काव्यों के रूढ़ि-वादिता, अतिरंजना और अतिशयोक्ति पूर्ण उन वर्णनों से शिकायत रही है, जिनमें युद्धका निश्चित उपकरणोंके आधार पर वर्णन कर दिया जाता है, घोड़ों की जाति गिनाकर, अस्त्र-शस्त्रों के नामों की एक लम्बी सूची बनाकर तथा भयकरता और दर्प को सूचित करने के लिए तोड़े-मरोड़े शब्दों की विचित्र पलटन खड़ी करके कवि युद्ध का वातावरण उपस्थित करने का कृत्रिम प्रयत्न करता है, हेमचन्द्र के अपभ्रंश-दोहों में इस प्रकार के शब्द-जालिक युद्ध का वर्णन नहीं है। यहाँ युद्धोन्माद 'तडातड-भडाभड' वाले शब्दों की ध्वनि में नहीं, सैनिक के रक्त में दिखाई पड़ता है जिसके लिए युद्ध दिनचर्या है, तलवार जीविका का साधन।

स्वतंत्रता-प्रिय उन्मुक्त जीवन व्यतीत करने वाली जातियों के जीवन के दोनों ही पक्ष शृंगार और शौर्य इन दोहों में साकार हो उठे हैं। यह शौर्य ऐसा है जिसमें शृङ्गार सहयोग देता है। नायिका को अपने प्रिय के अपूर्व त्याग पर श्रद्धा है, वह जानती है अपनी आज़ादी के लिए वह सब कुछ निछावर कर देगा—बस बच रहेगी घर में प्रिया और हाथ में तलवार :

महु कन्तहु बे दोसड़ा हेल्लि म झखहि आलु
देन्तहो हउ पर उव्वरिअ जुज्झतहो करवालु (४।३७९)

एक ओर प्रिया अपने प्रिय की मृत्यु पर सखियों से सतोष व्यक्त करती हुई कह सकती है कि अच्छा हुआ जो वह युद्ध भूमि में मारा गया, कहीं भाग कर आता तो मेरी हँसाई होती वहीं अपने बाहुबली और निरन्तर युद्धोद्यत प्रिय के लिए चिन्तित होकर नि.श्वासें भी लेती है। सीमा-प्रदेश का निवास, सकोची प्रिय, स्वामी की कृपा और उसका 'बाहु बलुल्लडा' पति—भला शान्ति कैसे रह सकती है :

सामि पसाउ सलज्जु पिउ सीमा सधिहि वासु
पेक्खिवि बाहु बलुल्लडा धण मेल्लइ नीसासु (४।४३०)

निरन्तर युद्ध में लिप्त, रणक्षेत्र को ही सुहाग-शैया मानने वाली प्रियतमा शान्ति के दिनों में उदास हो जाती है। भला वह भी कोई देश है जहाँ लडाई-भिडाई न हो। वह अपने प्रिय को दूसरे देश में जाने का सलाह देती है जहाँ युद्ध होता हो, यहाँ तो बिना युद्ध के स्वस्थ रहना कठिन है :

खग्ग विसाहिउ जहिं लहहु पिय तहिं देसहिं जाहु
रण दुब्भिक्खे भग्गाइँ विणु जुज्झे न वलाहु (४।३८६)

§ ३७२ प्राकृतपैंगलम् की चारण शैली की रचनाओं में शौर्य का रूप यद्यपि हेमचन्द्र-सकलित दोहों में अभिव्यक्त शौर्य की तरह उन्मुक्त और स्वाभाविक नहीं है, किन्तु इसे हम परवर्ती रासो काव्यों की तरह नितान्त रूढ और भाव-शून्य नहीं कह सकते। ये रचनायें न केवल भाषा की दृष्टि से ही प्राचीन अपभ्रंश और चारण शैली की ब्रजभाषा के बीच की कड़ी कही जा सकती हैं बल्कि काव्य-वस्तु और कौशल में भी इन्हें हम उपर्युक्त दोनों प्रकार की रचनाओं का मध्यन्तरित विकास कह सकते हैं। इन रचनाओं में वे सभी रूढ़ियाँ दिखाई पड़ने लगती हैं जिनका परवर्ती विकास रासो काव्यों में तथा आगे चलकर भूषण, सूदन, लाल आदि कवियों की ब्रजभाषा-रचनाओं में दिखाई पड़ता है। हम्मीर युद्ध के लिए चले, युद्ध प्रयाण के समय की परिस्थिति का चित्रण कवि-शब्दों में इस प्रकार है :

पअ भर दरमरु धरणि तरणि रह धुल्लिअ झंपिअ
कमट्ठ पिट्ठ हर परिअ मेरु मंदर सिर कंपिअ
कोह चलिअ हम्मीर वीर गअजूह सजुत्ते
कियउ कट्ठ हा कंद मुच्छि मेच्छह के पुत्ते

—पृष्ठ ६२ पद्य संख्या १५७

इस प्रकार नायक के शौर्य और दर्प का अतिरञ्जना-पूर्ण वर्णन पृथ्वीराज रासो आदि में बहुत हुआ है।

नीति-काव्य

§ ३७३. नीतिपरक काव्य-रचना की पद्धति काफी प्राचीन है। संस्कृत में लिखे हुए ऐसे काव्यों की सख्या बहुत बडी है। नीति मुक्तकों और सुभाषितों का आरम्भ पञ्चतन्त्र से ही माना जा सकता है। वैसे स्मृतिग्रन्थ, महाकाव्यों, पुराणों, नाटकों तथा परवर्ती निजधरी कथाओं में भी स्फुट नीतिपरक श्लोक उपलब्ध होते हैं। इन मुक्तकों में जीवन की अनुभूतियाँ, विचारों की गहराई और अर्थवत्ता तथा अत्यत उच्चकोटि की सस्कारी कवित्वपूर्ण भाषा का प्रयोग किया गया है। भर्तृहरि का नीति शतक, अमरुशतक, तेरहवीं शती के श्रीधरदास का सदुक्तिकर्णामृत, चौदहवीं शती का शार्गधर पद्धति, वल्लभदेव का सुभाषितावली, अमितगति का सुभाषित सदोह सस्कृत में लिखे नीति-श्लोकों के भाडार हैं। प्राकृत भाषाओं में भी इस प्रकार के काव्य का बहुत विकास हुआ। गाथा सप्तसती में एक ओर जहाँ प्रेम और श्रृङ्गार के सरस वर्णनों से युक्त गाथायें सकलित हैं, वहीं नीतिपरक गाथाओं का भी सुन्दर सग्रह हुआ है।

§ ३७४. व्रजभाषा के नीति-काव्य का आरम्भ हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के दोहों को देखते हुए १० वीं शती से ही मानना चाहिए। नीति-काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है, वह सूक्ष्म दृष्टि जो मनुष्य के सघर्षरत जीवन को गहराई से देखती है, मानसिक उथल-पुथल और नाना प्रकार के परस्पर विरोधी विचार-धाराओं के उद्वेलन में, किंकर्तव्य विमूढ़ता की परिस्थिति में फसे हुए मनुष्य को सतुलित जीवन का सही रास्ता दिखाती है। इस स्पष्ट जीवन—दृष्टि के लिए कवि का अत्यत सस्कारी होना भी आवश्यक है। विचार-मथन से उत्पन्न सार तत्व को कविता की भाषा मे आबद्ध करना भी एक अत्यंत कठिन कौशल का कार्य है। जो इन दोनों ही गुणों को अर्थात् विचारों की स्पष्टता और कवित्त पूर्ण अभिव्यक्ति को एकत्र समुपस्थित कर सके, वही उच्चकोटि का नीतिपरक काव्य लिख सकता है। हेमचन्द्र-सकलित दोहों में इन दोनों पक्षों का सुन्दर सामजस्य दिखाई पडता है। इन दोहों में दो प्रकार की शैली का प्रयोग किया गया है। कुछ मुक्तक तो सीधे नीतिपरक हैं, कुछ में अन्योक्ति का सहारा लेकर कथ्य की अभिव्यक्ति का प्रयत्न दिखाई पडता है। जीवन किसे प्यारा नहीं होता, धन किसे इष्ट नहीं होता, किन्तु समय पडने पर जो इन दोनों को तृण के समान त्याग सकता है, वही श्रेष्ठ है—

जीविउ कासु न वल्लहउ धणु पुणु कासु न इट्ठु
दोण्णि वि अवसर निवडियइं तिण सम गणइ विसिट्ठु (४।३५८)

अन्योक्ति वाले दोहों में भ्रमर, गज, धवल (बैल), सागर, आदि को लक्ष्य करके बड़ी अपूर्व अन्योक्तियाँ कहीं गई है। इस प्रकार की अन्योक्तियो की पद्धति परवर्ती काल के गिरधर दास, वृन्द तथा रहीम आदि में दिखाई पडती हैं। एक दोहे में कवि हाथी को संबोधित करते हुए कहता है कि हे कुंजर, सल्लकियो को याद करके लम्बी सांसें न लो, विधिवश जो कुछ प्राप्त है उसे चर कर सतोष करो, मान मत छोडो।

कुंजरि सुमरि म सल्लइउ सरला सास म मेल्लि
कवलजि पाविय विहि वसिण ते चरि माणु म मेल्लि (४।३८७)

दूसरे पद्य में भ्रमर को सम्बोधित करके कहा गया है—हे भ्रमर नीम पर कुछ दिन विरम रहो, जब तक घने पत्तों वाला छायाबहुल कदम्ब नहीं फूल जाता।

भमरा एत्थु वि लिम्बडइ केवि दियहडा विलम्बु
घण पत्तलु छाया बहुलु फुल्लइ जाम कयम्बु (४।३८७)

परवर्ती ब्रज में भी इन दोनों प्रकार की शैलियों में सूक्तिकाव्य लिखे गए। ठक्कुरसी का गुण वेलि या पञ्चेन्द्रिय वेलि मुख्यतया नीतिपरक काव्य ही है। उसी प्रकार डूँगर कवि की बावनी में भी प्रत्येक छप्पय में किसी न किसी नीति का सदेश दिया गया है। ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि विष्णुदास ने सवत् १४९२ में महाभारत कथा की रचना की थी, इस ग्रन्थ के आरम्भ में नीतिपरक बहुत ही उच्चकोटि के पद्य दिए हुए हैं। कवि ने बड़े तीखे शब्दो में धर्मध्वजों, पाखडियों, याचकों आदि की निन्दा की है :

विनसै धर्म किये पाखड्ड, विनसै नारि गेह परचड्ड।
विनसै राँड पढ़ाये पाडे, विनसै खेले ज्वारी डाँड़े ॥१॥
विनसै नीच तनै उपजारू, विनसै सूत पुराने हारू।
विनसै मांगनो जरै जु लाजै, विनसै जूझ होय बिनु साजै ॥२॥
विनसै मदिर रावर पासा, विनसै काज पराई आसा।
विनसै विद्या कुसिखि पढाई, विनसै सुन्दरि पर घर जाई ॥४॥
विनसै खेती आरसु कीजै, विनसै पुस्तक पानी भीजै ॥७॥
विनसै देह जो रौंचे वेस्या, विनसै नेह मित्र परदेसा ॥८॥

छीहल कवि की बावनी के एक-एक छप्पय नीति के रत्न हैं जो अपनी प्रभा से उद्भासित और प्रकाशित हैं। परिशिष्ट मे ऐसे बहुत से छप्पय संलग्न हैं। इनमें लेखक ने बडी सूक्ष्मता से मर्यादा, नीति और न्याय के पक्ष का समर्थन करते हुए पाखडियों, धनकुबेरों, स्वार्थियों की खबर ली है। उदाहरण के लिए केवल एक छप्पय नीचे दिया जाता है :

अमृत जिमि सुरसाल चवति धुनि वदन सुहाई
पखिन महि परसिद्धि लहै सो अधिक वडाई
अंब वृष मनि वसइ असइ निर्मल फल सोई
ए गुण कोकिल माहि पेपि वन्दइ नहि कोई
पापिष्ट नीच खञ्जन सुकर करत सदा कृमि मल भुगति
छीहल ताहि पूजइ जगत करम तणी विपरीत गति

§ ३७५. आरम्भिक ब्रजभाषा में वर्तमान इन मुख्य प्रवृत्तियों के इस विश्लेषण से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि परवर्ती ब्रज की सभी मुख्य धारायें किसी न किसी रूप में इन्हीं के विकसित रूप हैं। भक्ति काव्य, जैन काव्य, वीर, शृङ्गार अथवा नीति काव्य का विकास ब्रजभाषा में आकस्मिक रूप से नहीं हुआ और न तो इसकी पृष्ठभूमि में केवल सस्कृत काव्य की प्रेरणा ही थी, बल्कि १००० से १६०० सवत् तक के ब्रजभाषा साहित्य में इनके बीजविन्दु वर्तमान थे, इनका विकास इसी काव्य की पृष्ठभूमि पर आगे सपन्न हुआ।

प्राचीन ब्रज के काव्य रूप

उद्गम-स्रोत और विकास

§ ३७९. रूप और पदार्थ दोनों ही सापेक्ष्य शब्द हैं। आकार या रूप के बिना वस्तु की और वस्तु के आधार के बिना आकार की कल्पना नहीं हो सकती। अशरीरी वस्तुओं के भी रूप होते हैं जो केवल बोधगम्य हैं, वे स्थूल इंद्रियों के विषय नहीं हो सकते। इसीलिए अरस्तू ने रूप या आकार (Form) की परिभाषा बताते हुए कहा था कि किसी वस्तु के अस्तित्व का बोध कराने वाले चार कारणों में रूप या आकार प्रथम कारण है। दो कारण वस्तु से बहिर्भूत (Extrinsic) हैं अर्थात् उसका स्रष्टा और प्रयोजन। दो वस्तु में अंतर्निहित होते हैं, एक वस्तु का उपादान कारण और दूसरा उसका रूपाकार कारण। भौतिक कारण वस्तु के उपकरण का परिचय देता है और आकार उसे 'वह' बनाता है जो वह है। इस प्रकार अरस्तू के मत से रूप केवल बाहरी ढाँचे या ऊपरी आकार का नाम नहीं है बल्कि वह निर्माण-प्रक्रिया के नियमों को व्यक्त करता है। कला के क्षेत्र में इस रूप या फार्म का अर्थ बाहरी आकार-प्रकार नहीं है बल्कि रूप में वह सब कुछ शामिल है जो किसी वस्तु को स्पष्ट करने, उसकी अभिव्यक्ति कराने तथा उसके अस्तित्व का स्पष्ट बोध कराने में समर्थ हो।[1] इस प्रकार काव्य-रूप का मतलब छन्द, अलंकरण या सजावट नहीं बल्कि भाव या व्यक्तव्य वस्तु को स्पष्ट करने की एक निश्चित प्रणाली है। यह शैली नहीं है, इसी कारण यह कवि की व्यक्तिगत विशिष्टता नहीं है। काव्य मीमांसा में राजशेखर ने काव्य-पुरुष का वर्णन किया है, वह कई दृष्टियों से प्राचीन होते हुए भी, आजकल प्रचलित अर्थ को भलीभाँति व्यक्त करता है। 'शब्दार्थ इस पुरुष का शरीर है, संस्कृत

---

1 Dictionary of world literary terms, Ed J T Shipley London, 1955 p p 161

(भाषा) मुख है—सम, प्रसन्न, मधुर, उदार, ओजस्वी इसके गुण हैं, रस आत्मा है, छन्द रोम हैं, प्रश्नोत्तर, पहेलिया, समस्या आदि वाग्विनोद हैं, अनुप्रास, उपमा आदि उसे अलंकृत करते हैं।'[1] रस और गुण को छोडकार वाकी सभी वस्तुयें काव्यपुरुष के बाहरी रूप को व्यक्त करनेवाली बताई गई है। इसमें शब्द, भाषा, अलकरण, वाग्विनोद, पहेलियाँ, प्रश्नोत्तर आदि रूप-तत्व (फारमल एलीमेन्ट्स) मिलकर काव्य के कलेवर की सृष्टि करते हैं।

§ ३७७. काव्य रूपों का निर्माण, उनके उद्भव और विकास की प्रक्रिया देश-काल की सामाजिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों से परिचालित होती हैं। भाषा और कवि की कारीगरी पर भी इन परिस्थितियों का प्रभाव पडता है। काव्यरूप तो किसी भाषा की बहुत वर्षों की साधना से उपलब्ध होते हैं इसलिए इनमें परिवर्तन शीघ्र नहीं होता किन्तु जब सामाजिक परिस्थितियों में कोई बहुत बडी उथल पुथल या परिवर्तन होता है तब काव्य-रूपों के भीतर भी परिवर्तन अवश्यम्भावी हो जाता है। मेलमें वस्तु और रूप की समस्या पर विचार करते हुए कहते हैं "कवि के लिए कविता-निर्माण का सबसे बडा उपकरण भाषा है जो कवि को उसके देश और काल के अनुसार प्राप्त होती है। किन्तु भाषा कभी भी पूर्णतः रूप-आकारहीन उपकरण नहीं है, यह मनुष्य की युगोंकी साधना की उपलब्धि है जिसमें हजारों प्रकार के काव्य-रूप निर्मित होते रहते हैं।'[2] वस्तुतः कवि की सबसे बड़ी परीक्षा यहीं पर होती है कि वह अपनी व्यक्तव्य भाव-वस्तु के लिए किस प्रकार का रूप चुनता है। यदि उसके चुनाव में सामनस्य और औचित्य हुआ तो उसकी सफलता निःसदिग्ध है। टी० यस० इलियट ने इसी तथ्य की ओर सकेत करते हुए कहा है कि 'कुछ काव्य रूप ऐसे होते हैं जो किसी निश्चित भाषा के लिए ही उपयुक्त होते हैं और फिर बहुत से उस भाषा में भी किसी काल-विशेष में ही लोकप्रिय हो पाते हैं।'[3] इसी को थोडा बदल कर कह सकते हैं कि भाषाओं के परिवर्तन के कारण काव्यरूपों में भी परिवर्तन अनिवार्यतः होता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'जब जब कोई जाति नवीन जातियों के सम्पर्क में आती है तब तब उसमें नई प्रवृत्तियाँ आती है, नई आचार-परम्परा का प्रचलन होता है, नये काव्य-रूपों की उद्भावना होती है, और नये छन्दो में जनचित्त मुखर हो उठता है, नया छन्द नये मनोभाव की सूचना देता है।'[४] इस प्रकार काव्यरूपों का पूरा इतिहास नाना प्रकार के तत्वो के मिश्रण से बना हुआ है। सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश और हिन्दी के काव्य रूपों का विश्लेषण किया जाये तो इनमें न जाने कितने प्रकार के विदेशी तत्व दिखाई पडेंगे। सस्कृतियो के समिश्रण का प्रभाव केवल भाषा, आचार-व्यवहार, धर्म-सस्कारों में ही नहीं दिखाई पडता, बल्कि अत्यन्त सूक्ष्म कलाओं, सगीत, स्थापत्य, साहित्य आदि मे भी दिखाई पडता है।

---

१. शब्दार्थों ते शरीर, संस्कृत मुख सम. प्रसन्नो मधुरोदार ओजस्वी चासि। रस आत्मा, रोमाणि छन्दासि। प्रश्नोत्तरप्रहेलिकादिक च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलङ्कुर्वन्ति। तृतीय अध्याय, राजशेखर, काव्य मीमांसा, पटना १९५४ ईस्वी, पृ० १४

२ जोजेफ शिप्ले के साहित्य कोश में उद्धृत, पृ० १६८

३ टी०यस० इलियट केर् मेमोरियल लेक्चर्स : पैरटिसन रिव्यू, खण्ड ९, पृष्ठ ४६३

४. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पटना, १९५२, पृ० ९०

§ ३७८. संस्कृत के लक्षणकारों ने बहुत से अभिजात काव्यरूपों का अध्ययन किया था। महाकाव्य, कथा, आख्यायिका, मुक्तक, रूपक आदि काव्य-प्रकारों पर सविस्तर विवेचन किया गया है, किन्तु बहुत से ऐसे काव्य रूप, जो प्राकृत-अपभ्रंश आदि भाषाओं में लोक-प्रचलित काव्य प्रकारों से लिए गए, संस्कृत लक्षण ग्रन्थों में विवेचित नहीं हो सके हैं। आरम्भिक व्रजभाषा में दोनों प्रकार के काव्य रूप मिलते हैं, प्राचीन अभिजात काव्य रूप जो समय के अनुसार बदलते और विकसित होते रहे हैं साथ ही लोकात्मक काव्य रूप जिन्हें कवियों ने जन-काव्यों में प्रयुक्त देखा और इनकी लोकप्रियता से आकृष्ट होकर इन्हें किंचित् परिष्कृत करके साहित्यिक भाषा में भी अपना लिया। इस प्रकार के काव्य रूपों की संख्या काफी बड़ी है। हम केवल थोड़े से अत्यंत प्रसिद्ध प्रकारों पर ही विचार करना चाहते हैं। आरम्भिक व्रजभाषा में निम्नलिखित काव्य रूप महत्वपूर्ण हैं :

(१) चरित काव्य—प्रद्युम्न चरित (१४११ संवत्), हरिचन्द पुराण (१४५३ संवत्), रैदास कृत प्रहलाद चरित (१५ वीं शती का अन्त) रणमल्ल छन्द (संवत् १४५७)।

(२) कथा-वार्ता—लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा (संवत् १५१६), छिताई वार्ता (संवत् १५५० के लगभग), मधुमालती (संवत् १५५० तक)।

(३) रास और रासो—संदेसरासक (११ वीं शती), पृथ्वीराज रासो, खुमान-रासो, विजयपाल रासो, बिसलदेव रासो आदि।

(४) लीला काव्य—स्नेह लीला (विष्णुदास १४९२ विक्रमी) तथा परशुराम देव की कई लीलासंज्ञक रचनाएं।

(५) षड्ऋतु और बारहमासा—संदेस रासक का षड्ऋतु वर्णन, पृथ्वीराज रासो का षड्ऋतु वर्णन, नेमिनाथ चउपई तथा नरहरि भट्ट का बारहमासा।

(६) बावनी—डूँगरबावनी (१५४८ संवत्), छीहलबावनी (१५८४ संवत्)।

(७) विप्रमतीसी—परशुराम देव की विप्रमतीसी, कबीर-बीजक की विप्रमतीसी।

(८) वेलि काव्य—कवि ठक्कुरसी की पञ्चेन्द्रिय वेलि (१५५० विक्रमी) तथा नेमि राजमति वेलि।

(९) गेय मुक्तक—विष्णुदास, सन्त-कवियों तथा संगीतज्ञ कवियों आदि के गेय पद।

(१०) मंगल काव्य—रासो का विनय मंगल, विष्णुदास का रुक्मिणी मंगल, नरहरि भट्ट का रुक्मिणी मंगल तथा मीराबाई का नरसी का माहेरो।

इन रूपों के उद्गम-स्रोत इनका ऐतिहासिक विकास तथा इनकी शैलीगत विशेषताओं का अध्ययन आवश्यक है। सूरोत्तर व्रजभाषा के काव्य-रूपों के साथ इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। परवर्ती व्रज के बहुत से काव्य-रूपों के विकास की एकसूत्रता बताने के लिए अनुमान से काम लेना पड़ता था। नीचे हम इन काव्य-रूपों के शास्त्रीय और लौकिक दोनों पक्ष प्रस्तुत करते हैं।

चरित-काव्य

§ ३७९. चरित काव्य मध्यकालीन साहित्य का सबसे प्रसिद्ध साथ ही सर्वाधिक गुम्फित और उलझा हुआ काव्य रूप है। संस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा को अग्रसरित करने वाला

यह काव्य-रूप न जाने कितने प्रकार के देशी-विदेशी काव्य-रूपों से प्रभावित हुआ है। इसमें कितना तत्त्व संस्कृत महाकाव्यों का है, कितना परवर्ती प्राकृत-अपभ्रंश के धार्मिक काव्यों का। यह निर्णय करना भी कठिन है। चरित काव्य की शैली में विदेशी ऐतिहासिक काव्यों की शैली का प्रभाव पड़ा है। यही नहीं चरित काव्य लोकचित्तोद्भूत नाना प्रकार की निजधरी-कथाओं, रोमांचक तथा काल्पनिक घटनाओं के ऐन्द्रजालिक वृत्तान्तों से इतना रंगा हुआ है कि उसमें ऐतिह्य का पता लगा सकना भी एक दुस्तर कार्य है। मध्य काल में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा नवोदित देशी भाषाओं में चरित नाम के सैकड़ों काव्य लिखे गए। सब समय चरित नाम से अभिहित रचना, जो इस काव्य रूप की शैली से युक्त होती है, इसी नाम से नहीं पुकारी गई है। प्रकाश, विलास, रूपक, रासो[1] आदि इसके विभिन्न नाम रहे हैं जिनमें शुद्ध रूप से इसी शैली को नहीं अपनाया गया है। फिर भी इसके रूपतत्त्व के जाने कितने उपकरण, कौशल और तरीके उन काव्यों में भी अपनाये गए हैं। कथा, आख्यान, वार्ता, आदि नामों से संकेतित आख्यानक काव्यों में भी इस शैली का तथा इसके काव्य-रूप का घोर प्रभाव दिखाई पड़ता है। यही नहीं सभी चरित काव्यों ने अपने को कथा भी कहा है। चरित काव्य को कथा कहने की प्रणाली बहुत बाद तक चलती रही। तुलसीदास जी का रामचरित मानस 'चरित' तो है ही कथा भी है। उन्होंने कई बार इसे कथा कहा है।'[2] स्पष्ट है कि चरित काव्य की अत्यंत-शिथिल परिभाषा प्रचलित थी जिसके लपेट में कोई भी पद्यबद्ध इतिवृत्तात्मक काव्य आ सकता था। इस प्रकार की परिभाषा क्यों और कैसे निर्मित हुई, चरित-काव्य का पूरा इतिहास क्या है—आदि प्रश्न न केवल इस साहित्यिक प्रकार (फार्म) को समझने में सहायक होंगे, बल्कि इनसे मध्यकालीन साहित्य के अनेक काव्य रूपों के स्वरूप-निर्धारण में भी सहायता मिल सकती है।

§ ३८०. संस्कृत महाकाव्यों के लक्षणों के बारे में काफी विस्तार से विचार हुआ है।[3] संस्कृत आचार्यों के महाकाव्य-विवेचन का पूर्ण विश्लेषण करने पर निम्नलिखित लक्षण सर्वमान्य रूप से निर्धारित हो सकते हैं।

---

१ श्री मोतीलाल मेनारिया ने 'रास, विलास, प्रकाश और रूपक संज्ञक रचनाओं में चरित काव्यों की गणना की है :

(१) रासो—रायमल रासो, राणा रासो, जगतसिंघ रासो, रतन रासो आदि।
(२) प्रकाश—राज प्रकाश, सूरज प्रकाश, भीमप्रकाश, कीरत प्रकाश
(३) विलास—राज विलास, जग विलास, विजै विलास, रतन विलास
(४) रूपक—राजरूपक, राव रणमल्ल रो रूपक, महाराज गजसिंघ रो रूपक आदि। राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० ५०

२ हिन्दी साहित्य का आदिकाल, १९५२, पटना, पृ० ५२

३. महाकाव्य के लक्षणों के लिए द्रष्टव्य : भामह, काव्यालंकार १।१९–२१, दण्डी काव्यादर्श १।१४–१९, रुद्रट, काव्यालंकार १६।२–१९, हेमचन्द्र काव्यानुशासन आठवां अध्याय तथा कविराज विश्वनाथ के साहित्य दर्पण का षष्ठ परिच्छेद

(१) कथानक की दृष्टि से महाकाव्य किसी अतिप्रसिद्ध घटना पर अवलम्बित होता है जिसका स्रोत पुराण या इतिहास हो सकता है। कथा ख्यात और उत्पाद्य या काल्पनिक दो प्रकार की होती है किन्तु महाकाव्य की कथा का अधिकाश ख्यात रहना चाहिए, साथ ही रोमाचक, निजधरी, लोक-कथा आदि का भी सहारा लिया जा सकता है। .

(२) महाकाव्य का नायक सस्कारी और धीरोदात्त होना चाहिए ताकि उसके चरित्र के प्रति लोगों का आकर्षण हो। सत्यासत्य के संघर्ष के लिए, जो जीवन में अनिवार्यतः होता है, प्रतिनायक का होना भी अनिवार्य है।

(३) प्रकृति और परिस्थितियों का विशद वर्णन देश-काल की स्थिति के अनुरूप होना चाहिए, वातावरण के चित्रण के बिना कथा को समुचित आधार प्राप्त नहीं होता।

(४) महाकाव्य की शैली के बारे में आचार्यों ने बहुत बारीकी से विचार किया है। सर्ग, छन्द, आरंभ-अन्त, मंगलाचरण, सज्जन-प्रशसा तथा दुर्जन-निन्दा, रस, अलंकार भाषा आदि का समुचित प्रयोग और निर्वाह होना चाहिए। ये सक्षिप्त में महाकाव्य के सर्वमान्य लक्षण हैं। परवर्ती सस्कृत महाकाव्य कला-सौन्दर्य पर अधिक ध्यान देने तथा लाक्षणिक रूढियो से पूर्णतः आबद्ध हो जानेके कारण अलकरण-प्रधान काव्य कोटि में रखे जाते हैं।

§ ३८१ सस्कृत के परवर्ती काव्यो में ऐतिहासिक व्यक्तियों के जीवन को भी कथा-वस्तु के रूप में ग्रहण किया गया। इस प्रकार सस्कृत महाकाव्यों की निम्नलिखित श्रेणियाँ दिखाई पडती हैं।

१—शास्त्रानुशासित महाकाव्य, २—पौराणिक शैली के महाकाव्य तथा ३—ऐतिहासिक महाकाव्य। प्रथम प्रकार के महाकाव्यो का विकास अत्यन्त रूढिवादी रीतिबद्ध महाकाव्यों के रूप में होने लगा। यह विकास रामायण-रघुवश से आरम्भ होकर शिशुपाल वध और नैषधचरित में पूर्णता या अत्यन्त आलकारिता को प्राप्त हुआ। पौराणिक शैली के महाकाव्यों का विकास प्राकृत-अपभ्रश तथा परवर्ती भाषाओं में चरित काव्य के रूप में हुआ। तीसरी शैली के महाकाव्य चरित काव्यो तथा मध्यकालीन अलकृत कथाओं (कादम्बरी आदि) की शैली से प्रभावित होकर अर्ध ऐतिहासिक तथा रोमाचक काव्यो (रासो आदि) में परिवर्तित हो गए।

चरित-काव्य के मध्यकालीन रूप का आरम्भ और विकास प्राकृत अपभ्रश के 'चरित' काव्यों में दिखाई पडता है। चरित काव्योंके कथानक मूलतः पौराणिक होते हैं। कभी-कभी पुराण नाम से भी चरित काव्य लिखे गए। हमारे आलोच्य काल में जाखू मणियार का 'हरिचन्द पुराण' ऐसा ही चरित काव्य है जिसमें हरिश्चन्द्र की पौराणिक कथा को प्रस्तुत किया गया है। छन्द और शैली की दृष्टि से भी चरित काव्य और पुराण-सज्ञक काव्यों में कोई अन्तर नहीं दिखाई पडता। पउमसिरि चरिउ की भूमिका में इस समता की ओर सकेत करते हुए डा० हरिवल्लभ भायाणी ने लिखा है कि 'स्वरूप (फार्म) की दृष्टि से अपभ्रंश के पुराण काव्यों और चरित काव्यों में कोई खास अन्तर नहीं है। पौराणिक काव्यों में विषय-विस्तार होने से सन्धियों की सख्या पचास से सवा सौ तक होती है जब कि चरित काव्यों में विषय विस्तार मर्यादित होता है। सधि, कडवक, तुक तथा पक्तियुगल आदि में कोई भेद नहीं है। सभी चरित-काव्य कडवक बद्ध हों ऐसी भी बात नहीं, हरिभद्र कृत'णेमिणाह चरिउ'

आद्यन्त रड्डा छन्द में है ।'[1] चरित काव्य और पुराण को कुछ लोग भिन्न भी बताते हैं। 'अइहास एकपुरुषाश्रिता कथा' अर्थात् एक व्यक्ति के जीवन पर आधारित कथा को चरित कहेंगे जब कि पुराण का अर्थ 'त्रिषष्टिपुरुषाश्रिता कथा' अर्थात् तिरसठ पुरुषों के जीवन पर आधारित कथा है ।[2] यह भेद चरित और पुराण काव्यों की शैली के उचित विश्लेषण पर आधारित नहीं प्रतीत होता । यह विभेद वस्तु-गत है, इसलिए इस मान्यता से पुराण और चरित के शैली साम्य का विरोध नहीं दिखाई पडता । हिन्दी में रामचरित मानस को भी बहुत से लोग पुराण शैली का काव्य मानते हैं ।

§ ३८२ ब्रजभाषा के प्रद्युम्नचरित और हरिचन्द पुराण की शैली निःसन्देह जैन पौराणिक चरित काव्यों की शैली का विकसित रूप है। हरिचन्द पुराण का लेखक हिन्दू है इसीलिए हरिश्चन्द्र की कथा हिन्दू पुराणों की कहानी का अनुसरण करती है । प्रद्युम्न चरित में कवि ने हिन्दू पुराणों की कहानी को काफी परिवर्तित कर दिया है । प्रद्युम्न चरित नामक कई काव्य अपभ्रंश में मिलते हैं। इस ग्रन्थ की शैली पर विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इससे जैन और परवर्ती हिन्दी के चरित काव्य रूपों के बीच की कडी का संधान लग सकता है । ग्रन्थ आरम्भ इस प्रकार होता है :

सारद विणु मति कवितु न होइ, मकु आखर णवि बूझइ कोइ
सो सधारु पणयइ सुरसती, तिन्ह कह बुधि होइ कत हुती ।१।
सब कोइ सारद सारद कहई, तिस कउ अन्त कोइ नहिं लहई
अठ दल कमल सरोवर वास, कासमीर पुर मांहि निवास ।२।
हंस चढ़ी कर लेखनि लेइ, कवि सधार सारद पणमेइ ।
सेत वस्त्र पदमावतीण, करइ अलावणि वाजइ वीण ॥३॥

हिन्दी के रासो और चरित काव्यों में आदि में सरस्वती वन्दना का प्रायः यही रूप दिखाई पड़ता है । वीसलदेव रास के आरम्भ की सरस्वती वन्दना देखें

हंस वाहणि देवी कर धरइ वीण
झूणहउ कवित कहइ कुलहीण
वर दीज्यो माता सारदा भुलउ अचर आनि वहोढि
तइ तूठी अषर जुडइ, नाल्ह वखाणइ वे कर जोडि

हरिचन्द पुराण के आरम्भ में नारू मणियार-कृत सरस्वती वन्दना उपर्युक्त दोनों स्तुतियों से कितना साम्य रखती है ।

ब्रह्म कुँवरि स्वामिनी स्वर माय, सुर किन्नर मुनि लागइ पाँय
कियो सिंगार अलावण लेइ, हंस गमणि सारद वर देइ

---

१. धाहिल रचित 'पउमसिरीचरिउ' भूमिका (गुजराती में) विद्याभवन, बम्बई २००५ संवत्, पृ० १५ ।

२. पुष्पदन्त कृत महापुराण की भूमिका में डा० पी० एल० वैद्य द्वारा उद्धृत महापुराण, भाग १, पृ० ३२ ।

उसी प्रकार कवि की हीनता का वर्णन भी साहश्य-सूचक दिखाई पडता है ।

हौं अति हीण बुद्धि अयाण, मइ सामि को कियो वखाण
मन उछाह मइ कियउँ विचित्त, पढित जन सोहउ दे चित्त
पढित जन विनवउँ कर जोरि, हऊँ मति हीन म लावउ खोरि
(प्रद्युम्न चरित ७०१–२)

भाषा भनिति मोरि मति भोरी, हँसिबे जोग हसे नहिं खोरी
कवि न होउँ नहिं वचन प्रवीनू, सकल कला सब विद्या हीनू
(तुलसी)

इस प्रकार के वर्णन निःसदेह रूढ़िगत और मान्य परिपाटी के निर्वाह के प्रयत्न की ओर सकेत करते हैं, किन्तु ऐसे प्रसगो से इनकी शैली के सादृश्य का कुछ न कुछ पता तो चलता ही है ।

§ ३८३. चरित काव्यों की शैली की सबसे बडी विशेषता उनमें कथानक-रूढ़ियो के प्रयोग की है । ये कथानक-रूढ़िया हिन्दी के परवर्ती काव्यों पद्मावत, रामचरित मानस तथा किंचित् पूर्ववर्ती पृथ्वीराज रासो आदि में भी मिलती हैं । इस प्रकार के कथाभिप्रायों (Motifs) के प्रयोग मध्यकालीन सस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रश की कथाओं में भी मिलते हैं । बृहत्कथा, कादम्बरी, दशकुमारचरित आदि में इस प्रकार की कथा-रूढियों की भरमार है । हमारे विवेच्य काल के अन्तर्गत लिखी गई कथाओं—छिताई वार्ता तथा लक्ष्मण सेन पद्मावती कथा में भी इस प्रकार की रूढिया मिलती हैं । ऐतिहासिक अथवा ऐतिहासिक व्यक्तियों से संबद्ध निजंधरी कथाओं मे रूढ़ियों का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है । क्योंकि ऐतिहासिक चरित के लेखक सभावनाओं पर अधिक बल देते है । 'सभावनाओ पर बल देने का परिणाम यह हुआ कि हमारे देश के साहित्य मे कथानक को गति और घुमाव देने के लिए कुछ ऐसे अभिप्राय बहुत दीर्घ-काल से व्यवहृत होते आए हैं जो बहुत थोडी दूर तक यथार्थ होते है और जो आगे चलकर कथानक रूढि में बदल जाते है ।'[1] इसी सत्य की ओर सकेत करते हुए विन्टरनित्स ने लिखा है कि भारत में पुराण तत्व (Myths) निजंधरी कथाओं तथा इतिहास में भेद करने का कभी प्रयत्न नहीं किया गया । भारत में इतिहास-लेखन का मतलब महाकाव्य लिखने से भिन्न नहीं माना गया ।[2] रासो काव्यो मे इतिहास और कल्पना का अद्भुत समिश्रण पाया जाता है । ये कल्पनायें अपनी लम्बी उडानें भर कर थक गई और यथार्थ के अभाव में कल्पना के काव्य-प्रयोग दूसरे लेखकों के लिए अनुकरणीय विषय हो गए । इस प्रकार कथानक रुढियों का जन्म होता रहा । मध्यकालीन काव्यो की कथानक रुढियों के बारे मे श्री एम० ब्रूमफिल्ड ने सन् १९१७–२४ के बीच जर्नल आव अमेरिकन ओरियटल सोसाइटी में प्रकाशित अपने निबंधों में तथा पेंजर ने कथासरित्सागर के नए सस्करण की टिप्पणियों मे विस्तार से विचार किया है । श्री एम० एन० दासगुप्त और श्री एस० के० डे ने अपने सस्कृत साहित्य के इतिहास मे संस्कृत काव्यों में प्राप्त

1. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ७४
2. As it has never been the Indian way to make clearly defined distincton between myth, legend and history historiography in India was never more than a branch of epic poetry-A History of Indian Literature by Winternitz, calcutta, 1933, Vol II, pp 208

होनेवाली कथानक रूढियों का परिचय और अध्ययन प्रस्तुत किया।[1] हिन्दी में इस तरह का पहला कार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किया। आदिकाल के रासो के वस्तु-विवेचन के सिलसिले मे उन्होंने कथानक रूढ़ियों का विस्तृत विवेचन किया है। डा० द्विवेदी ने जिन २१ रूढियों का परिचय दिया है वे इस प्रकार हैं।[2]

(१) कहानी कहनेवाला सुग्गा, (२) स्वप्न में प्रिय का दर्शन, चित्र देखकर भिक्षुकों आदि से सौन्दर्य-वर्णन सुनकर किसी पर मोहित होना (३) मुनि का शाप, (४) रूप परिवर्तन (६) परकाय प्रवेश, (७) आकाशवाणी, (८) अभिज्ञान या सहदानी, (६) परिचारिका का राजा से प्रेम और अन्त में उसका राजकन्या या रानी के बहन के रूप में अभिज्ञान (१०) नायक का औदार्य, (११) षड्ऋतु या बारहमासा के माध्यम से विरह वर्णन, (१२) हस कपोत आदिसे सदेश भेजना, (१३) घोड़े का आखेट के समय निर्जन वन में पहुँचना, (१४) सरोवर पर पहुँचना, सुन्दरी स्त्री का दिखाई पडना, प्रेम और प्रयत्न, (१५) विजन वन में सुन्दरी से साक्षात्कार, (१६) कापालिक की वेटी से, या युद्ध से सुन्दरी स्त्री का उद्धार, (१७) गणिका द्वारा दरिद्र नायक का स्वीकार और उसकी माता द्वारा तिरस्कार, (१८) भरुण्ड और गरुण आदि के द्वारा प्रिय युगलों का स्थानान्तरकरण, (१२) प्यास और जल की खोज में जाते समय असुर दर्शन और प्रिया-वियोग, (२०) ऊजड नगर, (२१) दोहद पूर्ति के लिए असाध्य साधन का सकल्प और (२२) शत्रु-सन्तापित सरदार को शरण देना और फिर युद्ध।

पृथ्वीराज रासो की कथानक-रूढियों पर विचार हो चुका है। द्विवेदीजी ने तो कथा-रूढियों के आधार पर रासो के प्रामाणिक कथांशों के निर्णय का भी प्रयत्न किया है। हम अपने विवेच्य काल की कृतियों में आनेवाले कथाभिप्रायों का सक्षिप्त परिचय देना चाहते हैं। सधार अग्रवाल के प्रद्युम्न चरित, दामो कवि की लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा और नारायणदास की छिताई वर्ता में आने वाली कुछ महत्त्वपूर्ण कथानक-रूढियाँ इस प्रकार हैं।

प्रद्युम्न चरित की रूढ़ियाँ :

(१) बालक प्रद्युम्न को एक दैत्य उठाकर ले जाता है और एक शिला-खड के नीचे दबाकर रख देता है। मृगया के लिए निकले हुए कालसवर नरेश को यह बच्चा मिलता है और वे अपनी रानी के गूढ गर्भ की बात प्रचारित करके इसे अपना पुत्र बताते हैं।

(२) पुत्र वियोग से विकल रुक्मिणी को सान्त्वना देकर नारद बालक प्रद्युम्न को ढूँढने निकलते हैं। जैन मुनि से मालूम होता है कि प्रद्युम्न पिछले जन्म में मधु नाम का राजा था। उसने वटुपुर के राजा हेमरथ की रानी चन्द्रवती का अपहरण किया था। हेमरथ पत्नी-वियोग में पागल होकर मर गया उसी ने इस जन्म में उक्त दैत्य के रूप में जन्म लिया है। यह पुनर्जन्म की अत्यत प्रचलित कथानक रूढि है।

(३) प्रद्युम्न के अन्य भाइयों के मन मे उसकी बढ़ती देखकर ईर्ष्या होती है। उसे नाना प्रकार से परेशान करने के लिए प्रयत्न किये जाते है। पहाड से गिराना, कुएँ में

1 A History of Samskrit Literature Vol 1 pp 28-29

२. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ७२-७५

डालना, जंगल में छोड़ना, प्रद्युम्न हर स्थान पर किसी दैत्य, गंधर्व को पराजित करके कई मायास्त्र तथा विद्यायें प्राप्त करता है।

(४) विपुल वन में प्रद्युम्न की अचानक एक अति सुन्दरी तपस्विनी से भेंट होती है, वह उससे प्रेम करता है और दोनों का गन्धर्व विवाह हो जाता है।

(५) यादवों की सेना को प्रद्युम्न अपने मायास्त्रों से पराजित करता है।

(६) दुर्योधन की पुत्री से बलपूर्वक विवाह करता है।

लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा की रूढ़ियाँ

§ ३८५. (१) सिद्धनाथ नामक कापालिक योगी आकाश मार्ग से उड़ कर जहाँ चाहे वहाँ पहुँचता है और भयंकर उत्पात मचाता है।

(२) पद्मावती को प्राप्त करने के लिए उसने एक सौ राजाओं के शिरच्छेदन का संकल्प किया और सबको मंत्र-शक्ति से अपहृत करके एक कुएँ में डाल दिया।

(३) लक्ष्मणसेन को भी छल से योगी ने उसी कुए में ढकेल दिया। सभी बन्दी राजाओं को मुक्त करके लक्ष्मणसेन थका—प्यासा सामोर नगर के पास स्वच्छ जल के सरोवर पर पहुँचा, वहीं पद्मावती का रूप देखकर वह उसके प्रति आकृष्ट हुआ।

(४) स्वयवर में ब्राह्मणवेषधारी लक्ष्मणसेन ने सभी राजाओं को पराजित किया और पद्मावती से विवाह किया।

(५) स्वप्न में सिद्धनाथ की भयंकर मूर्ति का दर्शन और पानी का मागना। राजा दूसरे दिन योगी को ढूंढकर उससे मिला तो उसने स्वप्न वाली बात बताकर पद्मावती से उसके उत्पन्न प्रथम-पुत्र की याचना की। राजा यथावसर जब बच्चे को लेकर योगी के पास पहुँचा तो उसने लडके को टुकड़े—टुकड़े काट देने की आज्ञा दी। लाचार लक्ष्मणसेन को वैसा ही करना पड़ा। वे कटे हुए टुकड़े खग, धनुष वाण, वस्त्र और कन्या में बदल गए। मन्त्र शक्ति और शाप तथा जादू-टोना की कथानक रूढ़ि कई काव्यों में इसी ढग की प्राप्त होती है।

(६) राजा का पागल होकर जगल में चला जाना। डूबते हुए एक लडके की रक्षा करके वह उसके धनकुबेर पिता का कृपाभाजन बना। धारानगर की राजकुमारी से प्रेम और विवाह।

छिताई वार्ता की कथानक-रूढ़ियाँ

§ ३८६. (१) दिल्ली का चित्रकार देवगिरि की राजकन्या छिताई का चित्र बादशाह अलाउद्दीन को दिखाता है। छिताई के रूप से पराभूत अलाउद्दीन उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होता है।

(२) छिताई का पति सुरसी मृगया में मृग के पीछे घोड़ा दौड़ाते हुए मुनि भर्तृहरि के आश्रम पर पहुँचता है। हिंसा से विरत कराने वाले मुनि का अपमान करने के कारण उसे पत्नी-वियोग का शाप मिलता है।

(३) देवगिरि के किले को अलाउद्दीन घेर लेता है, पर तोड नहीं पाता। राघव चेतन अपनी अद्भुत मंत्र-शक्ति से हंसारूढ़ पद्मावती का दर्शन करके क़िले के गुप्त भेद प्राप्त करता है।

(४) सन्यासिनी के वेष में अलाउद्दीन की दूतियाँ छिताई को बादशाह के रूप-यश का वर्णन सुनाती हैं।

(५) गौरी पूजा के समय छिताई का अपहरण।

(६) सुरसी का सन्यासी होना तथा मार्मिक पीडा की अवस्था में उसके द्वारा अद्भुत वीणा वादन जिसके मधुर स्वर को सुनकर पशु-पक्षी तक भी विकल हो जाते हैं।

(७) दिल्ली में गायक जयगोपाल, जो छिताई के आदेशानुसार उसके सगीतज्ञ पति का पता लगाना चाहता है, सुरसी को छिताई की वीणा बजाने के लिए देता है। अपनी प्रियतमा की वीणा को पहचान कर सुरसी प्रेम-विह्वल होकर विचित्र जादूभरे स्वरों मे गा उठता है। यह सहिदानी या अभिज्ञान की पुरानी रूढ़ि है।

इन काव्यों की बहुत सी रूढियाँ समान हैं। जैसे मुनि या योगी का शाप, मत्र-शक्ति, सुन्दरी-दर्शन आदि। किन्तु कई स्थानोंपर भिन्न-भिन्न रूढियों के प्रयोग हुए हैं। इनमें से कई रूढियाँ रासो आदि की रूढ़ियों से साम्य रखती है। रामचरितमानस, पद्मावत आदि में भी ऐसी रूढियाँ मिलती हैं।

कथा और वार्ता

§ ३८७. कथा शब्द का प्रयोग बहुत ही शिथिल ढग से होता है। हम किसी भी रचना को जिसमें कथानक या कथा तत्व का प्रयोग किया गया हो, कथा कह देते है। किन्तु सस्कृत के लक्षणकारों ने सस्कृत-प्राकृत में प्रचलित गद्य और पद्य की कथानक-तत्व से सयुक्त रचनाओं को, उनकी शैली और काव्य रूप को ध्यान में रखकर कई श्रेणियों में विभाजित किया है। कादम्बरी भी कथा है दशकुमार चरित भी। प्राकृत में बहुत-सी रचनाओं को, जो मूलतः पद्य मे या नाममात्र के गद्य सहित पद्य में लिखी गई है, कथा कहा गया है, लीलावई कहा (केवल एक गद्य-खंड मिलता है) समराइच्च कहा, भविसयत्त कहा आदि। कथा को कुछ लोग आख्यायिका भी कहते हैं किन्तु सस्कृत में सभी कथा-काव्यों को आख्यायिका नहीं कहा जा सकता। सस्कृत के आचार्यों ने इन भेदों को बडी बारीकी के साथ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। रुद्रट ने अपने काव्यालकार में सस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में प्रचलित कथाओं को दृष्टि में रखकर लिखा कि कथा के आरभ में देवता और गुरु की वन्दना होनी चाहिए, फिर ग्रथकार को अपना और अपने काव्य का परिचय देना चाहिए, कथा लिखने का उद्देश्य बताना चाहिए, सभी शृङ्गारों से आभूषित कन्या लाभ ही इस कथा का उद्देश्य है।

श्लोकैर्महाकथायामिष्टान् देवान् गुरुन्नमस्कृत्य।
सक्षेपेण निज कुलमभिध्यात् स्व च कर्तृतया॥
सानुप्रासेन ततो लघ्वक्षरेण गद्येन।
रचयेत् कथाशरीर पुरेव पुरवर्णकप्रभृतीनि॥
आदौ कथान्तर वा तस्या न्यस्येत् प्रपचित सम्यक्।
लघु तावत् सधान प्रकान्तकथावताराय।
कन्यालाभफला वा सम्यग् विन्यस्य सकलशृङ्गारम्।
इति सस्कृतेन कुर्यात कथामगद्येन चान्येन॥

(रुद्रट—काव्यालकार १६।२०-२३)

रुद्रट संस्कृत कथा का गद्य में लिखा जाना आवश्यक मानते है, हालांकि अन्य भाषाओं की कथाए भी उनके सामने थीं जो अगद्य में होती थीं। भामह ने इस गद्य और पद्य में लिखी जाने वाली कथाओं की शैली को दृष्टि में रख कर कथा के लक्षण और प्रकार का निर्णय किया। उन्हों ने लिखा कि सुन्दर गद्य में लिखी सरस कहानी वाली रचना को आख्यायिका कहा जाता है। यह उच्छ्वासों में विभक्त होती है, वक्ता स्वय नायक होता है, उसमें बीच बीच में वक्त्र और अपवक्त्र छन्द आ जाते हैं। कन्याहरण, युद्ध तथा अन्त मे नायक की विजय का वर्णन होता है।'[1] भामह कथा को आख्यायिका से भिन्न मानते हैं। कथा के लक्षण बताते हुए उन्होंने लिखा है कि कथा में वक्त्र और अपवक्त्र छन्द नहीं होते और न तो उसके अध्यायों का विभाजन उच्छ्वासों में किया जाता है। कथा की कहानी भी नायक स्वय नहीं कहता बल्कि दो व्यक्तियों के बीच वार्तालाप की पद्धति पर निर्मित होती है। इसमें भाषा का भी कोई बन्धन नहीं होता।[2] दण्डी ने भामह द्वारा निर्धारित इन नियमों को तथा इनके आधार पर किये गये इस श्रेणी-विभाजन को अनुचित बताया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि चाहे वक्त्र अपवक्त्र छन्दों के प्रयोग हों या न हों इससे कथा या आख्यायिका के रूप मे कोई अतर नहीं आता।[3] इन आचार्यों के मतों के विवेचन करने के बाद डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कथा संस्कृत से भिन्न भाषाओं (प्राकृतादि) में पद्य में लिखी जाती थी। प्राकृत-अपभ्रंश में उन दिनों निश्चय ही पद्य में लिखा हुआ ऐसा साहित्य वर्तमान था जिन्हें कथा कहा जाता था।'[4] संस्कृत के आचार्य इस गद्य-पद्य के माध्यम वाले प्रश्न पर एक मत नहीं दिखाई पडते। दण्डी की ही तरह विश्वनाथ ने भी संस्कृत की कथा-आख्यायिका को मूलतः गद्य-कृति माना जिसमें कभी-कभी छन्दों का भी प्रयोग होता था।'[5] किन्तु रुद्रट की तरह हेमचन्द्र ने स्पष्टतया स्वीकार किया कि संस्कृतेतर भाषाओं में कथाख्यायिकायें पद्य बद्ध भी होती हैं।[6] प्राकृत और अपभ्रंश कथाओं में अधिकांश पद्य ही में हैं इसलिए ऐसा लगता है कि मध्यकाल में पद्यबद्ध कथाओं के लिखने का प्रचलन हुआ। संस्कृत के लेखकों ने इस लोकप्रिय काव्यरूप को लेकर संस्कृत में भी कथाओं में पद्य का प्रयोग आरम्भ किया।

संक्षेप में कथा के प्रधान लक्षण इस प्रकार रखे जा सकते हैं।

(१) कथा संस्कृत में गद्य मे होती है, प्राकृत अपभ्रंशादि में पद्य में भी।

(२) कथा में कन्यालाभ-अर्थात् प्रेम, अपहरण, विवाह आदि वर्णन अनिवार्यतः होते हैं। रुद्रट ने स्पष्ट कहा कि कथा का उद्देश्य ही शृङ्गार-सज्जित कन्या का लाभ है।

(३) कथानक सरस और प्रवाह युक्त होना चाहिए। कुछ कहानियों में जो विशिष्ट व्यक्तियों के चरित्रों पर लिखी जाती हैं उनमें कल्पना के प्रयोग पर कुछ अंकुश हो सकता है

---

१. भामह, काव्यालंकार, १।२५-२८

२. वही, २।२५-२८

३. काव्यादर्श १।२३-२८

४. हिन्दी साहित्य का आदिकाल पृ० ५४

५ कथायां सरसवस्तु गद्यैरेव विनिर्मितं—साहित्यदर्पण ६।३३१

शैली को देखते हुए, जो निःसन्देह पाठ्य-काव्य की शैली है, रासो और जैन रास काव्यों में जो गेय रूपक माने जाते हैं, सम्बन्ध स्थापित करना भी कठिन कार्य था। पिछले कुछ वर्षों में रास-संज्ञक कई रचनायें प्रकाशित हुई हैं और इनसे कई गुनी अधिक अप्रकाशित रचनाओं की सूचनायें मिली हैं। इन रासकों में सन्देशरासक की स्थिति कुछ भिन्न है। वह पहली रचना है जो अहिन्दू-जैन लेखक ने लिखी, जिसमें धार्मिक-नैतिकता या आमुष्मिकता का आतंक नहीं है। लेखक ने लौकिक प्रेम-व्यापार का चित्रण प्रस्तुत किया है। रास रचनाओं में इस प्रकार की जैन धर्म कथाओं के अलावा पौराणिक, ऐतिहासिक तथा लौकिक प्रेम-प्रधान कथानकों को स्वीकार किया गया है। इस विपुल और अत्यत महत्वपूर्ण काव्य-प्रकार की शैली तथा वस्तु दोनों का ही अध्ययन परवर्ती मध्यकालीन हिन्दी-ब्रज साहित्य को समझने के लिए अनिवार्यतः अपेक्षित है।

रासक काव्यों के बारे में संस्कृत के लक्षण-ग्रंथों में यत्र-तत्र कुछ स्फुट विचार दिये हुए है। सभवत. रासक काव्य के विषय में सबसे पुराना उल्लेख अभिनवगुप्त की अभिनव-भारती में प्राप्त होता है।[1] गेय रूपकों के डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, भाणिका, रामाक्रीड, हल्लीसक और रासक आदि भेद बताये गए हैं। यहा रासक की परिभाषा इस प्रकार बताई गई है।

अनेक नर्तकी योज्य चित्रताललयान्वितं
आचतुष्षष्ठियुगलाद्रासकं मसृणोद्धतम्

इस परिभाषा से मालूम होता है अभिनवगुप्त के समय (ईस्वी दसवीं शती) में न केवल गेय रूपों में रासक भी शामिल किया जाता था, बल्कि यह भी मालूम होता है कि इसके अभिनय में अनेक नर्तकियाँ भाग लेती थीं, यह विचित्र प्रकार के ताल और लय से समन्वित होता था तथा इसमें चौसठ नर्तक-युग्म भाग लेते थे। मसृण और उद्धत इसके दो प्रकार होते थे। परवर्ती आचार्यों ने इसी विभाजन और लक्षण को स्वीकार किया है। हेमचन्द्र ने इसी स्थान पर 'चिरन्तनैरुक्तानि' पद से यह भी संकेत कर दिया है कि पहले के आचार्यों ने भी ये लक्षण बताये हैं। हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में पूर्वकृत-विभाजन को ही प्रस्तुत किया है। उनके मत से गेय काव्य के कई भेदों में एक रासक भी है।

गेय डोम्बिका भाण प्रस्थान शिङ्गक भाणिका प्रेरण रामाक्रीड
हल्लीसक रासकगोष्ठी श्रीगदित राग काव्यादि (काव्यानुशासन ८।४)

हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र ने अपने नाट्य-दर्पण में रासक का लक्षण इस प्रकार बताया है[2] :—

षोडश द्वादशाष्टौ वा यस्मिन्नृत्यन्ति नायिका.।
पिण्डीबन्धादिविन्यासैः रासक तदुदाहृतम् ॥
पिण्डनात् तु भवेत् पिंडी गुम्फनाच्छृङ्खलाभवेत।
भेदनाद् भेद्यको जातो लताजालापनोदत.॥

---

1 Quoted by Dr B J Sandesara in his book Literary circle of Mahamatya Vastupala and its contribution to Samskrit literature in the Chapter on Apabhramsa Rasa S J S No 33

२ नाट्य-दर्पण, ओरियंटल इन्स्टिट्यूट, बड़ौदा, ई० १९२९, भाग १ पृ० २१४-१५

कामिनीभिर्भुवो भर्तुश्चेष्टित यत्तु नृत्यते ।
रामाद् वसन्तमासाद्य स ज्ञेयो नाट्यरासकः ॥

रामचन्द्र ने अभिनव भारती वाले भेद को स्वीकार किया है। रासक की परिभाषा में अवश्य कुछ अन्तर दिखाई पडता है किन्तु गीत-नृत्य आदि का तत्व पूर्णतः स्वीकार किया गया है। वाग्भट्ट द्वितीय ने अपने काव्यानुशासन में उपर्युक्त विभाजन और लक्षण को पूर्णत. अपनाया है। 'डोम्बिका-भाण-प्रस्थान-भाणिका-प्रेरण-शिंगक-रामाक्रीड-हल्लीसक-श्रीगदित-रासक गोष्ठी प्रभृतीनि गेयानि' (काव्यानुशासन, पृष्ठ १८)। रासक की परिभाषा वही है जो अभिनव भारती या हेमचन्द्र में प्राप्त होती है। रासक के बारे में विचार करनेवाले चौथे आचार्य विश्वनाथ कविराज है जिन्होंने साहित्य दर्पण में 'रासक' का लक्षण इस प्रकार बताया है।

रासकं पञ्चपात्र स्यान्मुखनिर्वहणान्वितम् ।
भाषा विभाषा भूयिष्ट भारती कैशिकीयुतम् ॥
असूत्रधारमेकाक सवीथ्यगकलान्वितम् ।
श्लिष्टनान्दीयुत ख्यातनायिक मूर्खनायकम् ॥
उदात्त भाव विन्यास सश्रित चोत्तरोत्तरम् ।
इह प्रतिमुख सधिमपि केचित्प्रचक्षते ॥

रासक को नाटक के रूप में मानते हुए विश्वनाथ ने उपर्युक्त लक्षण बताये, सामान्य रूप से गेय रूपकों का विभाजन और लक्षण[1] अभिनव गुप्त वाला ही रहा।

साहित्य-दर्पण मे नाट्यरासक और रासक दोनों के भेदक तत्वों पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि रासक मूलतः लोक गेय रूपक (Folk opera) ही था और आरम्भिक दिनों मे इसका प्रचार अभिजात साहित्य के प्रकार के रूप में नहीं था। यह शैली जनता में अवश्य ही बहुत लोकप्रिय थी, जिससे पठित वर्ग भी आकृष्ट होता था, बाद में इसी लोक-प्रचलित रूप को परिष्कृत और सशोधित करके 'नाट्यरासक' का रूप दे दिया गया।

§ ३६१. कुछ लोग रासक की व्युत्पत्ति रास से करते है। रास शब्द का प्रयोग सस्कृत के प्राचीन ग्रन्थो में मिलता है। रास का विस्तृत वर्णन भागवत पुराण मे मिलता है। भागवतकार ने कृष्ण-गोपी राम का वर्णन करते हुए लिखा है :

तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रत.
स्त्रीरत्नैरन्वित. प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभि.
रासोत्सव सप्रवृत्तो गोपी मण्डलमण्डित.
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयो
(भागवत १०।३३।२)

गोपियों और कृष्ण की इस 'रासक्रीडा' को लेकर नाना प्रकार के वाद-विवाद हुए है। बहुत से विद्वानों ने इस प्रकार के स्वच्छन्द विहार-विनोद को आभीर-सन्कृति का प्रभाव बताया है। इसी प्रकार के प्रमाणो के आधार पर दो कृष्णों की कल्पना भी की जाती है। इस स्थान

---

१ साहित्य दर्पण, डा० काणे द्वारा सपादित, पृ० १०४-५

पर विवाद को उठाना प्रासंगिक नहीं मालूम होता, इससे हमारा सीधा प्रयोजन भी नहीं है, किन्तु रास और आभीरों के संबंध को एकदम असंभव भी नहीं कहा जा सकता। अपभ्रंश भाषा आभीरों की प्रिय भाषा थी, इसे कुछ आचार्यों ने तो 'आभीरवाणी' ही नाम दे दिया। रास ग्रंथ प्रायः अपभ्रंश में लिखे गए, कृष्ण और गोपियों के नृत्य का नाम रास क्रीडा रखा गया इन चक्करदार संबंधों को देखते हुए यह मानना अनुचित न होगा कि रास नृत्य आभीरों में प्रचलित था, उनके संपर्क में आने के बाद, उनके नृत्य की इस लोकप्रिय शैली को यहा के लोगों ने भी अपनाया और बाद में यही नृत्य शैली गेय नाट्य के रूप में विकसित होकर रासक के नाम से अभिहित हुई। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इन आभीरो के सम्पर्क तथा भारतीय संस्कृति पर उनके प्रभाव की चर्चा करते हुए लिखा है कि 'इन आभीरों का धर्ममत भागवत-धर्म के साथ मिलकर एक अभिनव वैष्णव मतवाद के प्रचार का कारण हुआ। बहुत से पडितो का विश्वास है कि प्राकृत और उससे होकर संस्कृत में जो यह ऐहिकतापरक सरस रचनायें आई उसका कारण आभीरों का संसर्ग था।'[1] अपभ्रंश पर आभीरों के प्रभाव तथा मध्यदेशीय संस्कृति से उनके संपर्क का विवरण हम पीछे प्रस्तुत कर चुके हैं (देखिए § ४६) ये आभीर एक जमाने में सौराष्ट्र और गुजरात के शासक थे। १२ वीं शताब्दी में शारंगदेव ने संगीत-रत्नाकर की रचना की। इस ग्रन्थ में लोकनृत्य के उद्भव और विकास को बडी मनोरंजक कहानी दी हुई है। भगवान् शिव ने जब ताण्डव नृत्य का सृजन किया तो उनके उग्र नृत्य और प्रलयंकर ताल से सारी सृष्टि आन्दोलित हो उठी। उस समय उनके क्रोध को शमित करने के लिए पार्वती ने लास्य नृत्य का सृजन किया। इस लास्य नृत्य को कलान्तर में अनिरुद्ध-पत्नी उषा ने पार्वती से सीखा। उषा ने यह नृत्य द्वारावती की गोपिकाओं को सिखाया। इन गोपियों के द्वारा यह नृत्य सारे सौराष्ट्र और गुजरात में फैल गया।[2] शारंगदेव के इस संकेत से भी प्रतीत होता है कि लोकनृत्य लास्य का प्रचार सौराष्ट्र के गोपालों यानी आभीरों में था। संभव है इसी लास्य से रास की उत्पत्ति हुई हो।

रास शब्द के बारे में अभिधान कोशों में जो विचार मिलते हैं, उनसे भी आभीर-प्रभाव की पुष्टि होती है।

(१) रासः क्रीडासु गोदुहाम् भाषा शृंखलके (अनेकार्थ संग्रह, हेमचन्द्र)
(२) भाषा शृंखलके रास क्रीडायामपि गोदुहाम् (त्रिकाण्डशेषे पुरुषोत्तम)

यहाँ रास के दो अर्थ बताए गए हैं ग्वालों की क्रीडा तथा भाषा में शृंखलाबद्ध रचना। दूसरे अर्थ का संकेत स्पष्ट ही रासक-काव्य से है। पहले अर्थ का संबंध आभीरों से स्पष्टतया प्रकट होता है।

§ ३६२. रास काव्य की शैली के दो भेद दिखाई पडते है। आरंभिक शैली का रासक गेय रूपक था इसका परवर्ती विकास रासो काव्यो के रूप में हुआ जो बहुत अंशों में गेय होते हुए भी मध्यकालीन चरित काव्यों के कारण पाठ्य काव्य की तरह विकसित हुए। पहली शैली के रास ग्रन्थों में संदेशरासक प्रमुख है और दूसरी में पृथ्वीराज रासो।

---

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका, बंबई, सन् १९४० ई०, पृ० ११३–११४
२ संगीत रत्नाकर (७१४–८)

पहली शैली के गेय रूपकों के अभिनय या गाये जाने का संकेत संस्कृत और प्राकृत-अपभ्रंश के कई ग्रन्थों में मिलता है। संस्कृत के लक्षणकारों के विचार हम आरंभ में उद्धृत कर चुके हैं। अभिनवभारती में रासक को 'मसृणोद्धतम्' कहा गया है। विचित्र लय ताल समन्वित इस प्रकार की रचनाओं को नर्तक-युग्म गाते हुए नाचते थे। रेवन्तगिरि रास के अंतिम पद्य में रासक के अभिनयात्मक प्रयोग के बारे में कहा गया है :[1]

रंगिहि ए रमइ जो रासु सिरि विजयसेन सूरि निम्मविउए।
नेमि जिणु तूसइ तासु अंबिक पूरइ मणि रली ए॥

जिन नेमिनाथ उन्हें संतुष्ट करेंगे तथा अम्बिका उन अभिनेताओं के मन की आशा को पूरी करेंगी जो श्री विजयसेनसूरि-रचित इस रास को उत्साह से अभिनीत (रंगमञ्चित) करेंगे। गेय रूपकों की पद्धतियों की चर्चा करते हुए बारहवीं शती के शारदातनय ने अपने भावप्रकाशन ग्रन्थ के दसवें अधिकार में तीन प्रकार के रासक बताये हैं। लतारासक, दण्डरासक तथा मण्डल रासक :

लतारासक नाम त्रे स्याल्त्रेधा रासक भवेत्।
दण्डकरासकमेकन्तु तथा मण्डलरासकम्॥

प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में संकलित सप्तक्षेत्रि रासु में लतारास और लकुट रास का प्रसंग आता है।[2]

§ ३६३. हमारे विवेच्य काल के अन्तर्गत इस शैली में लिखी व्रजभाषा की रचनाओं में सन्देशरासक (अवहट्ठ में) प्रमुख है। इसी शैली का विकास बाद में रास-लीला के रूप में हुआ। व्रजभाषा में बहुत से लीला-काव्य लिखे गए। इस प्रकार के काव्यों के बारे में आगे विचार किया गया है (देखिए § ३९५) यहाँ हम संक्षेप में संदेश रासक के बारे में कुछ विचार करना चाहते हैं। द्विवेदी जी ने सन्देश रासक को मसृण गेय रासक बताया है। सन्देशरासक और पृथ्वीराज रासो के काव्य रूप का तुलनात्मक अध्ययन करके वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं 'सन्देश रासक जिस ढंग से आरम्भ हुआ है उसी ढंग से रासो भी आरम्भ होता है। आरम्भ की कई कविताएँ बहुत अधिक मिलती हैं। सन्देशरासक में युद्ध का प्रसंग नहीं है। पर उद्धत प्रयोग प्रधान गेय रूपक में युद्ध का प्रसंग आना प्रयोगानुकूल ही होगा। और युद्धों के साथ प्रेम-लीलाओं का मिश्रण भी प्रयोग और वक्तव्य विषय के अनुकूल ही होगा। इससे लगता है कि पृथ्वीराज रासो आरम्भ में ऐसा कथा काव्य था जो प्रधान रूप से उद्धत-प्रयोग प्रधान मसृण-प्रयोग युक्त गेय-रूपक था।'[3] इस प्रकार की मान्यता को रासो के विकसनशील स्वरूप तथा उसके लघुतम, लघु और बृहत् रूपों की कल्पना से सहायता मिलती है, किन्तु रासो के वर्तमान रूप को देखते हुए इसे मसृण या

---

१ प्राचीन गुर्जर काव्य में संकलित, गायकवाड ओरियंटल सीरिज़ नंबर १३, १९२६ बड़ोदा

२ प्राचीन गुर्जर काव्य में संकलित, गायकवाड ओरियंटल सीरिज नम्बर १३, १९१६, पृ० ५२

३. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ६०

उद्धृत गेय रूपक की परम्परा में रखना बहुत उचित नहीं मालूम होता। क्योंकि मसृणोद्धत रासक का जहाँ वर्णन आता है वहाँ 'चित्रताललयान्वित' तथा 'अनेकनर्तकीयोज्य' की शर्त भी दिखाई पडती है। रासो अपने वर्तमान रूप में पूरा गेय भी नहीं है 'नर्तकीयोज्य' होना तो दूर। वस्तुतः रासक काव्य-परम्परा पर मध्यकालीन चरित काव्यो खास तौर से संस्कृत के ऐतिहासिक चरित काव्यो का इतना व्यापक प्रभाव पडा कि इसका रूप ही बदल गया। परवर्ती रासक जैन कथाओं को खास तौर से ऐतिहासिक कथाओं को स्वीकार करके लिखे जाने लगे थे।[1] इस तरह के जैन ऐतिहासिक रास काव्यों की सूची जैन गुर्जर कवियो तथा श्री अगरचन्द नाहटा सम्पादित ऐतिहासिक जैन काव्य[2] में मिलती है। इन ऐतिहासिक रासकों को देखने से मालूम होता है कि धार्मिक कथाओ को रासक रूप में ढालने की शैली मात्र बच गई थी, वस्तु बिल्कुल ही इतिवृत्तात्मक और घटना प्रधान होने लगी थी, परवर्ती जैन ऐतिहासिक रास शुद्ध रासक नहीं रह गए थे। गाये ये अब भी जा सकते थे किन्तु रासकोचित ताल, लय, नृत्य का इनमें अभाव ही दिखाई पडता है। रासो काव्य भी ऐतिहासिक काव्य है। पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो, हम्मीर रासो तथा अन्य कई ऐतिहासिक रासो-काव्य रासक की दूसरी शैली यानी पाठ्य शैली में लिखे गए जिनका मुख्य प्रयोजन राजाओं की स्तुति तथा उनके सामने इनका सस्वर पाठ रह गया।

पृथ्वीराज रासो की पद्धति के ग्रन्थों में बहुत-सी ऐसी बातें दिखाई पडती हैं जो आरम्भिक गेय रासकों में नहीं हैं। कथा तत्व की व्यापकता तथा उलझनें, कथानक रूढियों का प्रयोग, राजस्तुति की अतिशयोक्ति, लम्बे लम्बे वस्तु वर्णन जो मूलत. अभिधात्मक होने के कारण नीरस और कवि-समयों से आक्रान्त अथच मौलिक निरीक्षण और उद्भावनाओं से रहित है। ये चीजें आरम्भिक गेय रासकों में नहीं दिखाई पडतीं, इनका आरम्भ ऐतिहासिक जैन रास ग्रन्थों में तथा विकास और अवाछित चरम परिणति ब्रजभाषा के हिन्दू रासो ग्रन्थों में दिखाई पडता है। पृथ्वीराज रासो तथा अन्य रासो काव्यों की उपर्युक्त विशिष्टताओं के बारे में जो इनमें चरित-काव्यों की शैली के प्रभाव के कारण आईं, हम पहले विचार कर चुके हैं (देखिए § ३८३)।

इस प्रकार रासक और रासो यद्यपि एक ही उद्गम से विकसित हुए हैं, उनकी मूल प्रवृत्तियाँ भी बहुत कुछ एक जैसी ही रहीं, किन्तु परवर्ती काल में उनकी शैलियो के बीच काफी व्यवधान और अन्तर दिखाई पडता है।

लीला काव्य

§ ३६४ ऊपर रास काव्यों की दो परंपराओं का संकेत किया गया है। गेय रास की परंपरा काफी विकसित हुई। राजस्थानी में गेय रासक लिखे गए यद्यपि संख्या वैसे रासो-काव्यों की भी ज्यादा है जो इतिवृत्तात्मकता और नीरस वर्णनो से भरे हुए हैं। ब्रजभाषा मे भी रास नामक गेय रचनायें लिखी गई। ये रचनाएँ जैन कवियो ने ही लिखीं क्योंकि रास काव्य की जैन परंपरा उन्हें सहज सुलभ थी। वाचक सहजसुन्दर के ब्रजभाषा मे लिखे रतनकुमार रास

१. जैन गुर्जर कवियो, श्री देसाई द्वारा सम्पादित, बम्बई
२ जैन ऐतिहासिक काव्य, अगरचन्द और भंवरमल नाहटा, कलकत्ता

का विवरण पीछे प्रस्तुत किया गया है (देखिये § १६६)। इस रचना मे गेयता और भाव-प्रवणता अपनी चरम सीमा पर दिखाई पड़ती है।

हँस पपइ जिमि मान सरोवर राज पपइ जिमि पाट रे
सांभर को जल जिमि विनु लोयण गरत्र पपइ जिमि हाट रे
विन परिमल जिमि फूल करडी सील पपइ जिमि गोरी रे
चन्द कला पपइ जिमि रगणी ब्रह्म जिसय विण वेद रे
मारग पुण्य पवित्र तिमि गुरु विनु कोई न बूझे भेद रे

इस प्रकार की रचनायें जैन धर्मानुमोदित भक्ति-भावना से पूर्णतः ओत-प्रोत है। रास शैली में लिखी रचनायें व्रजभूमि में भी लिखी गईं। शैली, रूपाकार करीब करीब वही है किन्तु इन रचनाओं का काव्य रूप रास न कहा जाकर लीला कहा गया है। लगता है ये रचनायें रास-लीला कही जाती थीं क्योंकि गेय रूपक होने के कारण इनका अभिनय होता था, जिसे साधारणत' लोग रास-लीला कहा करते थे क्योंकि ऐसी रचनाओं में गोपी-कृष्ण प्रेम के प्रसग ही रखे जाते थे। पश्चिमी प्रदेशों में १५वीं शती के पहले कृष्णभक्ति का बहुत व्यापक प्रचार नहीं था। जैन धर्म के प्रभाव के कारण रास-लीला सबंधी कृष्ण काव्य राजस्थानी-गुजराती में कुछ दूसरे ही रग में उपस्थित हुए उनमें जैन-प्रभाव अत्यत तीव्र दिखाई पडता है। उन दिनों कृष्ण भक्ति का प्रचार व्रज से बगाल तक के प्रदेश में बडी तीव्रता से हो रहा था। बंगाल में जयदेव का गीतगोविन्द अभिनय के साथ गाया जाता था। डा० दशरथ ओझा ने व्रजभाषा के लीला काव्यों के विकास का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'बारहवीं शताब्दी में श्री बोपदेव रचित श्रीमद्भागवत में कृष्ण रास लीला के प्रमाण से तथा राजस्थानी रास की उपलब्धि से तत्कालीन कृष्ण रास-लीला की रास पद्धति का अनुमान किया जा सकता है।'[1]

१४वीं शताब्दी में संकलित पिंगल-ग्रन्थ प्राकृतपैंगलम् में एक ऐसा पद्य आता है जो प्राचीन अपभ्रंश की किसी कृष्ण लीला से लिया हुआ प्रतीत होता है। इस पद्य में रास लीला की शैली की विशेषताएँ पाई जाती है। रास लीला मे रूपकत्व या अभिनेयता लाने के लिये वर्णन सम्भाषण-शैली में होते हैं। यह पद्य इस प्रकार है ·

अरे रे वाहहि काण्ह णाव छोडि डगमग कुगति ण देहि
तइ इत्थि णईहिं संतार देइ जो चाहइ सो लेहि
(प्राकृतपैंगलम् पृ० १२ छन्द ६)

स्पष्ट ही यह पद्य नौका-लीला का है जिसमें गोपी नाव को डगमग करने वाले कृष्ण से कहती है कि अरे रे ऐसा मत करो। इस नदी को पार तो करा दो फिर जो चाहते हो वही मिलेगा।

§ ३६५. व्रज-मंडल मे अष्टछापी कवियों के समय में रास-लीला का बहुत व्यापक प्रचार हुआ। ये कवि स्वय बहुत बडे सगीतज्ञ थे। कृष्ण और गोपियों के प्रेम तथा मधुर आमोद-प्रमोद से बढ़कर इस प्रकार के लीला काव्यों के लिए दूसरा विषय भी क्या हो सकता है। परिणामत १६वीं शताब्दी के अन्त में व्रज-प्रदेश कृष्णलीला के मधुर गेय रूपकों का केन्द्र

---

१. हिन्दी नाटक · उद्भव और विकास, दिल्ली १६५४, पृ० १०१

बन गया। हित-हरिवंश, वल्लभाचार्य, गदाधरभट्ट आदि वैष्णव महात्मा रास-लील के संस्थापक माने जाते हैं। ब्रजभाषा के अष्टछापी कवियों में से अनेक ने लीला काव्य लिखे। ध्रुवदास (१६६० संवत्) ने दानलीला, मानलीला तथा वृन्दावनदास ने चालीस लीलाएँ लिखीं। नन्ददास ने स्याम सगाई लिखी। हमारे आलोच्य काल के अन्दर विष्णुदास की स्नेह-लीला (१४६२ संवत्) तथा परशुराम देव की अमरबोध लीला, नाथ लीला, नन्दलीला, आदि रचनाएँ लिखी गईं। यदि विष्णुदास की स्नेहलीला प्रामाणिक कृति मानी जाये तो लीला काव्य का आरंभ अष्टछापी कवियों से बहुत पहले का साबित होता है। सनेह लीला में केवल कवि का नाम विष्णुदास दिया है, प्रति उनकी रचनाओं की प्रतियों के साथ ही मिली है, तिथिकाल आदि कुछ ज्ञात नहीं है। लीला काव्यों की शैली की मुख्य विशेषताएँ :

(१) छन्दोबद्धता तथा गेयता प्रधान गुण-धर्म।

(२) मधुर प्रेम-विरह और संयोग दोनों ही लीला काव्य के विषय हो सकते हैं।

(३) लीला काव्य अभिनय की दृष्टि से लिखे जाते थे इसलिए इनके कथोपकथन अर्थात् संभाषण-शैली का प्रयोग होता है।

(४) जैन रास की तरह लीला काव्य में भी नृत्य, गीत आदि की प्रधानता रहती है।

(५) ब्रजभाषा के लीला काव्यों में भक्ति और शृङ्गार का अद्भुत समिश्रण दिखाई पड़ता है। यह जैन रासों में नहीं है। जैन रास एकदम नैतिकता-वादी तथा धर्ममूलक हैं। जो गृहस्थ जीवन को लेकर लिखे गये हैं उनमें आमुष्मिकता का घोर आतंक दिखाई पड़ता है। लीला काव्य इस दृष्टि से सदेस रासक आदि मसृण लय-ताल-युक्त गेय रूपकों की कोटि के बहुत नजदीक हैं।

षड्ऋतु और बारहमासा

§ २६६. प्रकृति मनुष्य की चिर सहचरी है। मानव जीवन को नाना रूपों में प्रभावित करने वाली, उसे प्रेरणा और चेतना प्रदान करने वाली माया-शक्ति के रूप में प्रकृति की भारतीय वाङ्मय में अभूतपूर्व अभ्यर्थना हुई है। प्रकृति और पुरुष के युगनद्ध रूप में, दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों के संतुलन तथा सहयोग से जीवन की सफलता बताई गई है। मनुष्य अपने व्यक्ति-निष्ठ स्वार्थ के वशीभूत होकर जब जब प्रकृति को पराजित करने के उद्देश्य से परिचालित हुआ है तब तब उसकी शान्ति और समृद्धि का ह्रास हुआ है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि काव्य का चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत कराके अनुभव कराना है, उसके साधन में अहंकार का त्याग आवश्यक है, जब तक इस अहंकारसे पीछा न छूटेगा तब तक प्रकृति के सबरूप मनुष्य की अनुभूति के भीतर नहीं आ सकते। भारतीय कवियों ने इस सत्य को सदा स्वीकार किया था। परिणामतः ऋग्वैदिक मन्त्रों से लेकर वर्तमान युग के गीतिकाव्यों में इस प्रकृति की शान्ति, समृद्धि और शक्ति का मनोरम चित्रण भरा हुआ है।

षड्ऋतु और बारहमासा इसी प्रकृतिचित्रण के रूढ-प्रकार हैं जो छठवीं-सातवीं शताब्दी में अलग काव्य रूप (Poetic form) की भाँति विकसित हुए। इसके पहले ऋतुओं

का विवरण प्रकृति के समष्टिगत विवरण में प्रासंगिक रूप से किया जाता था। वैदिक मंत्रों
ऋतु या प्रकृति का चित्रण आलम्बन के रूप में ही होता था वह स्वयं वर्ण्य थी, आकर्षण औ
सौन्दर्य की अधिष्ठात्री होने के कारण। यह बात दूसरी है कि सर्वत्र वैदिक ऋषि आह्लाद-यु
भाव से ही उसका चित्रण नहीं कर पाता था। उसे प्रकृति के उग्र रूप का भी अनुभव
और इस प्रचण्डभीमा प्रकृति की उग्रता से भयातुर होकर भी वह उसकी स्तुति करता था
वाल्मीकि के काव्य में भी प्रकृति प्रधान रही। कालिदास तो निसर्ग के कवि ही कहे जाते हैं
कालिदास के ऋतु संहार काव्य को देखने से ऐसा लगता है कि यद्यपि प्रकृति उनके लि
मानवीय रति या शृंगार के उद्दीपन भाव का साधन बनकर ही नहीं रह गई है, फिर
उसमें स्वाभाविता और यथार्थ का अभाव दिखाई पड़ने लगता है। वस्तुओं के विवरण
रूढ़ियों का प्रभाव गाढ़ा होने लगा था। शुक्लजी का अनुमान है कि उद्दीपन के रूप
प्रकृति के चित्रण की परिपाटी तभी से आरम्भ हुई है। उन्होंने लिखा कि ऐसा अनुमा
होता है कि कालिदास के समय से या उसके कुछ पहले ही से दृश्य वर्णन के सम्बन्ध
कवियों ने दो मार्ग निकाले। स्थल-वर्णन में तो वस्तुवर्णन की सूक्ष्मता कुछ दिनों तक वै
ही बनी रही, पर ऋतु-वर्णन में चित्रण उतना आवश्यक नहीं समझा गया जितना कुछ इन
गिनी वस्तुओं का कथन-मात्र करके भावों के उद्दीपन का वर्णन। जान पड़ता है कि ऋतु वर्ण
वैसे ही फुटकल पद्यों के रूप में पढ़े जाने लगे जैसे 'बारहमासा' पढ़ा जाता है।[1]

अभाग्यवश मध्यकालीन काव्य में प्रकृति चित्रण का रूप अत्यंत कृत्रिम और रूढ़िग्र
हो गया। षड्ऋतु के वर्णन में कवि की दृष्टि प्रकृति के यथार्थ स्वरूप पर आधारित न होक
आचार्यों द्वारा निर्मित नियमों और कवि-समयों से परिचालित होने लगी। कवियों के लि
बना-बनाया मसाला दिया जाने लगा, उनका कार्य केवल घरोंदे बना देना रह गया। काव
मीमांसा में काल-विभाग के अंतर्गत इस प्रकार का पूरा-विवरण एकत्र मिल जाता है
राजशेखर ने तो यहाँ तक कह दिया कि देश-भेद के कारण पदार्थों में कहीं कहीं अन्त
आ जाता है किन्तु कवि को तो कवि-परंपरा के अनुसार ही वर्णन करना चाहिए। देश
अनुसार नहीं।[2]

> देशेषु पदार्थाना व्यत्यासो दृश्यते स्वरूपस्य।
> तन्न तथा बध्नीयात्कविबद्धमिह प्रमाण न ॥

(काव्यमीमांसा, १८वां अध्याय)

अर्थात् कवि की अपनी अनुभूतियों और निरीक्षण-उपलब्धियों का कोई मूल्य नहीं।

हमारे विवेच्य काल के अंतर्गत इस काव्य-प्रकार में कई रचनायें लिखी गई है
ब्रजभाषा की अवहट्ट या पिंगल शैली में भी और आरंभिक शुद्ध ब्रजभाषा में भी। इनमें संदेश
रासक का षट्ऋतु वर्णन, प्राकृतपैंगलम् के स्फुट ऋतु वर्णन के पद, पृथ्वीराज रासो का षड्ऋ
वर्णन, नेमिनाथ चौपई का बारहमासा तथा नरहरि भट्ट का बारहमासा आदि अत्यंत महत्वपूर
रचनायें है।

---

१ चिन्तामणि, दूसरा भाग, काशी, संवत् २००२, पृ० २१

२. काव्य मीमांसा, पटना, १९५४, पृ० २६२

§ ३६७. सदेश-रासक और पृथ्वीराज रासो के षड्ऋतु वर्णन उद्दीपन के रूप में ही दिखाई पडते है। सदेश रासक का ऋतु-वर्णन विरहिणी नायिका के हृदय के दग्ध उच्छ्वासों से परिपूर्ण है। पथिक उस प्रोषितपतिका से उसको दिनचर्या पूछता है वह जानना चाहता है कि कब से नूतन मेघ-रेखा से विनिर्गत चद्रमा के समान नायिका का निर्मल वदन इस प्रकार विरह धूम से श्यामल हो रहा है और तब नायिका एक वर्ष पहले ग्रीष्म ऋतु में विदा होने वाले प्रियतम के वियोग की सविस्तर वर्णना सुना जाती है। सदेश रासक का ऋतु-वर्णन कवि-प्रथा के अनुसार निश्चित वस्तुओं की सूची उपस्थित करता है, इसमें शक नहीं, किन्तु जैसा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है 'कि जायसी की भाँति अद्दहमाण के सादृश्यमूलक अलंकार और बाह्य वस्तु निरूपक वर्णन बाह्य वस्तु की ओर पाठक का ध्यान न ले जाकर विरह-कातर मनुष्य के मर्मस्थल की पीडा को अधिक व्यक्त करता है।'[1]

रासो का ऋतु-वर्णन यद्यपि विरहाशकिता नायिकायों के हृदय की पीडा को व्यजित करने के उद्देश्य से प्रस्तुत किया गया है किन्तु इन पदों में सयोगकालीन स्मृतियों की विवृति दिखाई पडती है, इसीलिए इसे हम सयोगकालीन उद्दीपक ऋतु वर्णन की प्रथा का ही निदर्शन कहेंगे। सयोगिता से मिलने के लिये उत्सुक पृथ्वीराज जयचन्द के यज्ञ में उपस्थित होना चाहते हैं, वे प्रत्येक रानी के पास विदा लेने के लिए जाते हैं, किन्तु रानियों का ऐसे ऋतु में बाहर न जाने का मधुर आग्रह वे टाल नहीं पाते और रुक जाते है। रासो के ऋतु वर्णन की विशेषताओं पर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने विस्तार से विचार किया है।[2] प्राकृत पैंगलम् एक सग्रह काव्य है, छन्दो के उदाहरण के लिए पद्य सकलित हैं इसलिए उसमें पूर्णता के साथ षड्ऋतु वर्णन का मिलना कठिन है। किन्तु इस काव्य में स्थान-स्थान पर प्रकृति का जो चित्रण मिलता है, खास तौर से ऋतुओं का चित्रण, वह निश्चय ही किसी अज्ञात-ज्ञात काव्य के ऋतु-वर्णन प्रसग से लिया गया है। उदाहरण के लिए वसन्त ऋतु का एक चित्रण देखिए :

फुल्लिअ केसु चन्द तँह पअलिअ मजरि तेज्जिअ चूआ
दक्खिण वाउ सीअ भइ पवहइ कम्म विओइणि हीआ
केअइ धूलि सब्ब दिसि पसरइ पीअर सब्बउँ भासे
आउ वसन्त काइ सहि करिअइ कन्त ण थक्कइ पासे

(प्राकृत पैंगलम् पृ० २१२)

प्राकृतपैंगलम् का एक और ऋतु-वर्णन सम्बन्धी पद हम पीछे उद्धृत कर चुके हैं (देखिए § ११०) इस पद में शिशिर के बीतने और वसन्त के आगमन का बडा ही सुन्दर चित्रण किया गया है। प्राकृतपैंगलम् में ऐसे ऋतु-वर्णन की विशेषता यह है कि ये वर्णन उद्दीपन के रूप में चित्रित होते हुए भी कालिदास के ऋतु सहार की परम्परा में हैं अर्थात् केवल उद्दीपन-मात्र ही नहीं है, प्रकृति के सौंदर्य का चित्रण भी अभीष्ट रहा है।

---

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, १९५२, पटना, पृ० ८४
२. वही, पृ० ८२-८३

नेमिनाथ चतुष्पदिका[1] और नरहरि भट्ट के ऋतु-वर्णन बारहमासा-पद्धति में लिखे हुए है। नेमिनाथ चौपई में राजमती के विरह का सविस्तर वर्णन मिलता है। नेमिनाथ के वियोग मे उनकी परिणीता राजमती आषाढ से आरंभ करके ज्येष्ठ तक के बारह महीनों की अपनी विरह-पीडा तथा नेमि की कठोरता का विवरण अपनी सखी को सुनाती है। नेमिनाथ चतुष्पदिका के प्रसंग पीछे दिये हुए है (देखिए § १२३) नरहरि भट्ट के बारहमासे भी विरह काव्य ही हैं। आरंभ आषाढ से होता है। वर्णन रासोकार की पद्धति पर उद्दीपन-प्रधान ही है, भाषा भी प्रायः ऐसी ही है। रासो के वर्षा-वर्णन और नरहरि का सावन मास का चित्रण मनोरंजक तुलना का विषय है। नरहरि भट्ट का श्रावण और भाद्र का वर्णन देखिये[2] :

> विज्जु तरक्कि चमक्कि पपीहा चहक्किकत स्याम सुहर्ष सुहावन
> भुम्मि हरित्त सरित्त भरित्त दिगन्त रहित्त जित्तितिय आवन
> नरहरि स्वामि समीप जहां लगि रचहि हिंडोल सखी सुख गावन
> वे आदर विलपत्तहि न कह विन विट्ठल विलपति हे सावन ?
> जल जंगल महिय गान गृजत दादुर मोर रोर घन मादव
> जदपि मघा मेघ झरि मंडि झुक्कि विरह विकल तिन कादव
> नरहरि निरपि जात जोवन वन प्रगटित प्रेम वृथा विन जादव
> अब तक परती विकल ब्रज सुंदरि दुब्भर नयन भरति भरि भाद्व

§ ३६८. षड्ऋतु और बारहमासा संबंधी रचनाये गुजराती, राजस्थानी तथा हिन्दी की विभिन्न बोलियो में प्राप्त होती हैं। इन रचनाओं की वस्तु तथा भावधारा का विश्लेषण करने पर मालूम होता है कि इसमें षड्ऋतु वर्णन मूलतः सयोग शृंगार का काव्य है जब कि बारहमासा विरह या विप्रलभ का। वैसे सदेश रासक में षड्ऋतु का वर्णन विरह प्रधान है जो इस मान्यता के विरुद्ध में दिखाई पडता है, किन्तु अधिकाश रचनाओं से उपर्युक्त मत की पुष्टि ही होती है। षड्ऋतु का चित्रण रासो में सयोग काव्य की प्रथा में ही हुआ है। पद्मावत में षड्ऋतु और बारहमासा दोनों ही के प्रसग आते है। षड्ऋतु वर्णन खड में पद्मावती और रतनसेन के सयोग-शृङ्गार का चित्रण हुआ है। ठीक उसी के बाद आने वाले नागमती वियोग खड मे नागमती के विरह का वर्णन बारहमासे की पद्धति पर प्रस्तुत किया गया है। इसी को सलक्ष्य करके प० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा कि 'प्राप्त प्रथा के अनुसार पद्मावती के सयोग सुख के सम्बन्ध में षड्ऋतु और नागमती की विरह वेदना के प्रसग में बारहमासे का चित्रण किया गया है।'[3] नेमिनाथ चतुष्पदिका तथा नरहरि भट्ट के बारहमासे में भी वियोग-वेदना की अभिव्यक्ति की गई है। विद्यापति ने भी विरह का चित्रण बारहमासे की पद्धति पर किया है।

> मोर पिया सखि गेल दुर देस
> जौवन दए गेल साल सनेस

१. गायकवाड ओरियंटल सीरिज़ नंबर १३, १९२६ बड़ोदा
२. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृ० २१७
३. चिन्तामणि, द्वितीय भाग, सवत् २००२ काशी, पृ० २६

मास असाढ़ उनत नव मेघ
पिया विसलेस रहओं निरथेघ
कौन पुरुष सखि कौन सो देस
करब माय तहाँ जोगिनि वेस

आषाढ मे नवीन मेघों के उनय आने से प्रिय-विश्लेष-दुःख की काली छाया निरतर घनी होती जा रही है और पल पल परिवर्तित प्रकृति वेश को सूजी आँखों से देखते-देखते अपने ताप से जगत् को धूलिसात् कर देने वाला ज्येष्ठ आ जाता है। विद्यापति ने अत्यत कौशल से विरह की इस करुण वेदना को बारहमासे में अकित किया है।[1] सूरदास ने बारहमासे की शैली में अलग से कोई काव्य नहीं लिखा किन्तु गोपी-विरह में इस शैली की छाप स्पष्ट दिखाई पडती है। ब्रजभाषा के परवर्ती लेखकों ने षड्ऋतु और बारहमासे की पद्धति में कई काव्य लिखे। सेनापति (सवत् १६४६) का ऋतु वर्णन अपनी अत्यत सूक्ष्म प्रकृति निरीक्षण की कुशलता तथा भाषा के स्वाभाविक प्रवाह के लिए प्रसिद्ध है। सवत् १६८८ में सुन्दर कवि ने तथा १८११ में हसराज ने बारहमासों की रचना की।

इन बारहमासों में प्रकृति का चित्रण प्राय. आषाढ मास से आरम्भ होता है। षड्ऋतु में ऋतु का आरम्भ ग्रीष्म से दिखाया जाता है। ऋतु सहार में इसी पद्धति को अपनाया गया था। किन्तु इन नियमों के अपवाद भी कम नहीं दिखाई पडते। उदाहरण के लिए गुजराती में अठारहवीं शती में लिखा इन्द्रावती कृत षड्ऋतु वर्णन वर्षा से आरम्भ होता है उसी प्रकार गुजराती के दूसरे कवि श्री दयाराम ने सवत् १८४५ में लिखे गए अपने षड्ऋतु विरह वर्णन काव्य में ऋतु का आरम्भ वर्षा से किया है।[2] षड्ऋतु वर्णन में जायसी ने ऋतु का आरम्भ वसन्त से किया है।[3]

प्रथम वसन्त नवल ऋतु आई, सुऋतु चैत बैसाख सुहाई
चदन चीर पहिरि धरि अगा सेन्दुर दीन बिहँसि भर मगा

सन्देश रासक में षड्ऋतु का वर्णन आरम्भ ग्रीष्म ऋतु से ही होता है। बारहमासे के प्रसङ्ग में आषाढ से आरम्भ की पद्धति प्रायः सर्वमान्य दिखाई पडती है। कविप्रिया में केशवदासने १० वें प्रभाव मे बारहमासा का वर्णन चैत्र से किया है जो फाल्गुन में समाप्त होता है। ७वें प्रभाव में षड्ऋतु का वर्णन वसन्त ऋतु से हुआ है।[4] अलङ्कारशेखर में १६वें मरीचि में षट्ऋतु वर्णन सुरभि ऋतु यानी वसन्त से ही शुरू होता है।[5] वैसे भी इस

---

१ विद्यापति पदावली, रामवृक्ष बेनीपुरी द्वारा सपादित, द्वितीय सस्करण, पृ० २७१
२ गुजराती साहित्य ना स्वरूपो, पृ० २५८-६०
३ जायसी ग्रथावली, काशी नागरीप्रचारिणी सभा, १६८१ सवत्, षड्ऋतु वर्णन खड दोहा ५
४ कविप्रिया, केशव ग्रथावली खड १, सपादक विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग १६५४, पृ० १५७–१६० तथा १३६–३८
५ श्री माणिक्यचन्द्र कारित श्री केशवमिश्र कृत अलंकार शेखर, सपादक शिवदत्त, बम्बई १६२६, पृ० ५६

देश में नव वर्ष का आरम्भ भिन्न-भिन्न महीनों से माना जाता है राजशेखर कवि के अनुसार ज्योतिष शास्त्रवेत्ता संवत्सर का आरंभ चैत्र मास से यानी वसन्त ऋतु से तथा लौकिक व्यवहार वाले श्रावण से मानते हैं। स च चैत्रादिरिति दैवज्ञाः श्रावणादिरिति लोकयात्राविद. (काव्य-मीमांसा १८वां अध्याय) इसी आधार पर राजशेखर ने जो ऋतुओं का क्रम बताया है वह वर्षा से आरंभ होता है। वर्षा, शरत्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म।[1] यहाँ पर वर्षारंभ की पद्धति वही है जिसे गुजराती कवियों ने स्वीकार किया है। लगता है कि राजशेखर के काल में भी इस क्रम में व्यत्यय होता था इसीलिए उन्होंने यह व्यवस्था दी है कि ऋतु-क्रम में व्यत्यय करने से कोई दोष नहीं पैदा होता, हाँ इतना अवश्य है कि वह *प्रसंगानुकूल* हो।[2]

न च व्युत्क्रमदोषोऽस्ति कवेरर्थपथस्पृशः।
तथा कथा कापि भवेद्व्युत्क्रमो भूषणं यथा॥

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम षड्ऋतु और बारहमासे के सम्बन्ध मे निम्न-लिखित विशेषताएँ निर्धारित कर सकते हैं।

(१) दोनों ही उद्दीपन के निमित्त व्यवहृत काव्य प्रकार हैं किन्तु सामान्यत· षड्ऋतु का वर्णन सयोग-शृंगार में, बारहमासे का विरह में होता है। इन नियमों का पालन बड़े शिथिल ढंग से होता है, अत· अपवाद भी मिलते हैं।

(२) षड्ऋतु वर्णन ग्रीष्म ऋतु से आरम्भ होता है, बारहमासे की पद्धति के प्रभाव के कारण कई स्थानों पर वर्षा से भी आरम्भ किया गया है। बारहमासा प्राय: आषाढ़ महीने से आरम्भ होता है।[3]

(३) इन काव्यों की पद्धति बहुत रूढ हो गई है, कवि-प्रथा का पालन बहुत कड़ाई से होता है, इसलिए मौलिक उद्भावना की कमी दिखाई पड़ती है।

वेलि काव्य

§ ३६६. वेलि का अर्थ वल्लरी या लता होता है। ज़ाहिर है कि इस लतासूचक शब्द को काव्य रूप का अभिधान कुछ विशिष्ट कारणों से मिला होगा। राजस्थानी के प्रसिद्ध वेलि काव्य किसन रुक्मिणी वेलि में कवि ने इस शब्द को लक्ष्य करके एक रूपक का प्रयोग किया है:

वेलि तसु बीज भागवत वायउ, महि थाणउ प्रथिदास मुख।
मूल ताल जड़ अरथ मण्डहइ सुथिर करणि चढि छाँह सुख॥२६१॥
पत्र अक्खर दल ढाला जस परिमल नवरस तंतु विधि अहोनिसि।
मधुकर रसिक सुभगति मंजरी मुगति फूल फल भुगति मिसि॥२६२॥
कलि कल्प वेलि वलि काम धेनुका चिन्तामणि सोम वेलि पत्र।
प्रगटित प्रथमी प्रिथु मुख पवजि अखरावलि मिसि थई एकत्र॥२६३॥
प्रिथु वेलि कि पच विध प्रसिद्ध प्रनाली आगम नीगम कजि अखिल।
मुगति तणी नीसरणी मंडी सरग लोक सोपान इल॥२६४॥

---

१ राजशेखर, काव्यमीमांसा, पटना, १९५४, पृ० २३८

२. राजशेखर, काव्य मीमांसा, पटना १९५४, पृ० २६२

पृथ्वीराज अपनी अपनी 'वेलि' को भक्ति-लता के समान बताते है और सागरूपक की पद्धति से इसके विभिन्न अगों का वर्णन करते हैं। यहाँ पर 'वेलि' के काव्य रूप के लक्षण पर कोई प्रकाश नहीं पडता। २६२ वें पद्य में 'दलदाला' से लेखक यह सकेतित करता है कि वेलि में दोहले या दोहे होते हैं जो लता के दल की तरह हैं। श्री नरोत्तमदास स्वामी ने 'वेलि किसन रुकमिणी' की भूमिका में वेलि को छन्द बताया है।[1] इसका आधार उक्त वेलि में प्रयुक्त वेलियो छन्द है जिसका लक्षण इस प्रकार है।

मुहरावाली तुक मही मुहरामाहि मुणन्त।
वणे गीत इस वेलियो आद गुरू लघु अन्त॥

चारो चरण क्रमश. १६–१५–१६–१५ मात्राओं के होते हैं। वस्तुतः यह साणौर नामक छन्द का एक प्रकार होता है। साणौर छन्द के चार भेद होते हैं, उसमें एक वेलियो भी होता है। इस गीत में प्रथम चरण में सर्वत्र दो मात्रायें अधिक होती है अर्थात् १६ के स्थान पर १८ मात्रायें। ये दो मात्रायें हमेशा चरण के आदि में बढ़ती हैं।[2]

वेलि काव्यों की सामान्य शैली को देखने से मालूम होता है कि इनमें दोहे तथा बीच-बीच में १६-१५ मात्रा के चार चरण वाले छन्द प्रयुक्त होते हैं और इनकी व्यवस्था आल्हा छन्द की तरह से होती है। इसमें निश्चित क्रम में दोहे और चार चरण के छन्द प्रयुक्त होते हैं। सभव है इसी क्रम को देखकर इस पर वेलि या लता का साम्य आरोपित किया गया हो। डा० मजूमदार वेलि को विवाह-काव्य मानते हैं किन्तु वेलि शैली में कई ऐसे काव्य दिखाई पडते हैं जिसमें विवाह या मगल का वर्णन नहीं मिलता। उदाहरण के लिए हमारे विवेच्य काल में ब्रजभाषा की पचेन्द्रिय वेलि में विवाह का कोई प्रसग ही नहीं है।

§ ४०० वेलि काव्यों मे अद्यावधि प्राप्त सबसे पुरानी रचना संवत् १४६२ की चिहुँगति वेलि है। यह पुरानी राजस्थानी में लिखी हुई है। इसमें मनुष्य, देव, तिर्यक् और नारकी इन चार गतियो का वर्णन किया गया है।[3] प्राचीन राजस्थानी गुजराती में और भी बहुत सी वेलि-रचनायें प्राप्त होती हैं जिनमें सिंहा कवि की सवत् १५३५ की जम्बूस्वामी वेलि तथा नेमिवेलि, जयवत सूरि की स० १६१५ की नेमि राजुल बारहमास वेलि, केशवदास वैष्णव की १७वीं शती की वल्लभवेल, कवि वजिया कृत सीतावेल तथा सवत् १६०७ में लिखी केशव किशोर रचित श्री कीरतलीला में वल्लभ कुल वेलि महत्वपूर्ण हैं। इनमें अन्तिम तीन रचनायें वैष्णव भक्ति से प्रभावित हैं। श्री कीरतलीला (सवत् १६०७) ब्रजभाषा की बहुत ही सुन्दर रचना है। नीचे एक पद दिया जाता है।

द्राविड़ भक्ति उत्पन्न हे गुर्जर पर ले जानि
प्रकट श्री विट्ठलनाथ जू दीनी वेलि वढानि॥१७१॥
सू सां कहे कहे बोले ते जानत हे शिव पूजि
अब वे भये अनन्य सब रहत रास सब गूजि॥१७२॥

---

१ श्री नरोत्तम स्वामी सम्पादित वेलिकिसन रुकमिणी भूमिका
२ प्रा० मञ्जुलाल मजूमदार, गुजराती साहित्य ना स्वरूपो, वड़ौदा, १९५४,पृ०३७६
३. जैन गुर्जर कवियो, प्रथम भाग, बबई, १९२६, पृ० २२

काशी तजि यम किंकरनि लागत नहिं कंहू घात।
चित्रगुप्त कागज त्यजे कोउ न पूछत बात।१७३।
श्री द्वारकेस जु कृपा करी लीनो हो अपनाय।
श्री वल्लभ कुल की वेलि पर केशव किसोर वलि जाय।१७४।

विक्रमी संवत् १६४७ में गुजरात के एक कवि ने वल्लभ कुल की यह वेलि व्रजभाषा में लिखी, व्रजभाषा के विस्तार और उसकी लोकप्रियता का यह एक सबल प्रमाण है।

संवत् १५५० में की लिखी हुई पचेन्द्रिय वेलि आरंभिक व्रजभाषा की महत्वपूर्ण रचना है।[1] कवि ठक्कुरसी की इस 'वेलि' में पंच इन्द्रियों के गुण-धर्म का तथा इनके अतिवादी आचरण से उत्पन्न कष्टों का अत्यत मार्मिक चित्रण किया गया है।

परवर्ती व्रजभाषा तथा हिन्दी की दूसरी बोलियों में भी वेलि काव्य मिलते हैं। कहा जाता है कि कबीर ने भी एक वेलि काव्य लिखा था। कबीर ग्रथावली में उनकी एक दो वेलि सकलित है। बीजक की प्रामाणिकता पर विद्वानों ने सदेह व्यक्त किया है। इसलिए इस वेलि को भी पूर्णतः प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। साखियो वाले भाग में एक 'वेली को अग' भी है। यहाँ भी वेलि या अर्थ लता ही है।[2] भगवानदास और रामराज ने भी मनोरथ वल्लरी नाम से अलग अलग वेलि-काव्य लिखे है। १८वीं शताब्दी के श्री वृन्दावनदास की आठ वेलि-रचनाओं की सूचना मिलती है। इनमे यमुनाप्रताप वेलि काफी महत्वपूर्ण रचना है।[3] घनानन्द-रचित रसकेलि वेलि तथा नागरीदास की कलि वैराग्य वल्लरि प्रकाशित हो चुकी है। व्रजनिधि ग्रंथावली में जयपुर के महाराज प्रतापसिंह की दु.खहरण वेलि तथा दादू ग्रथावली में दादू की 'कायावेलि' सकलित हैं।

बावनी

§ ४०१. बावनी नागरी वर्णमाला के बावन अक्षरों को दृष्टि में रखकर रचे गए काव्य का नाम है। यह काव्य-रूप मध्यकाल में बहुत प्रचलित था और धार्मिक तथा नैतिक उपदेशों के निमित्त लिखे जानेवाले काव्योंका यह बहुत ही मान्य प्रकार था। मध्यकालीन स्वर और व्यंजन, जिनके आधार पर इस प्रकार की रचना होती थी, निम्नलिखित हैं।

स्वर—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, रि (ऋ) री (ॠ), लि (ऌ), ली (ॡ), ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः।

व्यजन—क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल व श ष स ह क्ष त्र ज्ञ।

इन बावन अक्षरों को नाद-स्वरूप ब्रह्म की स्थिति का अश मानकर इन्हें अत्यंत पवित्र अक्षर के रूप में प्रत्येक छन्द के आदि में प्रयुक्त किया जाता था। डा० मजूमदार ने लिखा है

---

१. पूर्ण रचना परिशिष्ट में संलग्न है।

२ कबीर ग्रंथावली, नागरीप्रचारिणी सभा, चतुर्थ सस्करण २००८ विक्रमी पृ० ८६

३ गुजराती साहित्य नां स्वरूपो, बड़ोदा, १९५४, पृ० ४६२

कि 'ग्राम्य शाला में जब बालक की शिक्षा शुरू होती है तो उसे ककहरा से आरभ करना होता है। प्रत्येक अक्षर को सिखाने के लिए एक पद्य का प्रयोग होता था, इसी प्रणाली को कवियों ने उपदेश देने के लिए अपनाया। प्रायः बावनी सज्ञक रचनाओं में तिरपन पद्य दिये जाते हैं। बावन अक्षर व्यवहार में आने वाले लोकविदित हैं। तिरपनवाँ अक्षर ब्रह्म है जो इन अक्षरों का निर्माता है।

बावनी सज्ञक रचनाओं में आरंभ के पाँच पद्यों के आदि अक्षरों से कोई ईश्वर वाचक या गुरु या इष्ट के नाम का पद बनता है। ऐसे स्थानों पर उ नमः सिद्धाय या विकृत रूप मे ऊ नमः सिद्ध। या नम. शिवाय, गणेशाय नमः आदि पदों के एक एक अक्षर को पद्यों के आरभ में विठलाया जाता है।

§ ४०२ गुजराती में इस प्रकार की रचनाओं को कक्क काव्य भी कहते हैं। श्री चीमनलाल दलाल द्वारा सपादित प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह[1] में सालिभद्द कक्क नामक रचना सकलित है। उसी पुस्तक में इस शैली की तीन अन्य रचनाएँ भी सकलित हैं—दूहामातृका, मातृका, चउपई तथा सम्यकत्वभाई चउपई। वर्णमाळा के बावन अक्षरों का बीज-नाम मातृका है। मातृका का अर्थ ही होता है अक्षर या वर्ण। इस प्रकार मातृका सज्ञक रचनायें भी एक प्रकार से कक्क काव्य ही हैं। कक्क या कक्का काव्य में कभी कभी केवल व्यजनों के आधार पर वर्ण सख्या छत्तीस ही मानी जाती है। इस प्रकार की शैली की रचनाओं को और भी कई नाम दिए गए हैं जैसे अखरावट, बारहखडी, ककहरा, छत्तीसी आदि।

आरम्भिक ब्रजभाषा मे दो बावनी सज्ञक रचनायें मिलती है। डूँगर कवि की डूँगर बावनी और छीहल की छीहल बावनी। दोनों ही रचनाओं में वर्णमाला का आरम्भ छठें पद्य से किया गया है। आरम्भिक पाँच पदों में आदि अक्षरों के द्वारा 'ऊँ नम सिद्ध' पद बनता है जो सूचित करता है कि कवि जैन थे और यह जिन की वन्दना है।

हिन्दी में कई बावनी काव्य मिलते हैं। इस शैली की अब तक प्राप्त रचनाओं में सम्भवत. कवि श्री पृथ्वीचन्द्र रचित मातृका प्रथमाक्षर दोहका सबसे पुरानी कृति है। इस ग्रन्थ की रचना विक्रमी १३ वीं शती के अन्त में हुई थी।[2] भाषा पुरानी राजस्थानी है। कबीर ग्रन्थावली में भी एक बावनी सकलित है।[3] श्री परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि कबीर ग्रन्थावली के ग्रन्थ बावनी में मुक्त छः पद आते हैं।[4] किन्तु चौपाई और दोहे में लिखी इस बावनी मे पद छ नहीं कटवक छ हैं। पदों की सख्या तो ४२ है। दोहे और चौपाइयों के ४२ पद्य प्रयुक्त हैं। केवल व्यजनो को ही आधार बनाया है। स्वरों को आदि अक्षर के रूप नहीं बिठलाया गया है फिर भी शिथिल ढग से नाम बावनी ही है। कबीर ने बावनी का आरम्भ इस प्रकार किया है :—

> बावन आखिर लोकित्री सब कुछ इनही माहिं।
> ये सब खिर-खिर जाँहिगे सो आखर इनमें नाहिं॥

---

१ गायकवाड ओरियटल सिरीज नबर १३, बड़ौदा, सन् १९२०

२. हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ८ अंक २, जुलाई-सितम्बर १९५५ ईस्वी, पृ० ११७

३. कबीर ग्रन्थावली, नागरीप्रचारिणी सभा, चतुर्थ सस्करण, पृ० २२४-२८

४ कबीर साहित्य की परख, प्रयाग, सवत् २०११, पृ० १६६

और अन्त में :—

वावन आखिर जोरै आनि, एक्यो आखिर सक्यो न जानि ।

सारा विश्व इन इन वावन अक्षरों में ही तो बँधा है किन्तु इन नाशवान
अविनाशी अक्षर कहाँ मिलता है ।

कबीर के अलावा और भी कई हिन्दी कवियों ने वावनी काव्यों क
संवत् १६६२ में स्वामी अग्रदास ने हितोपदेश उपखाण वावनी की रचना की ।[1]
में श्री किशोरी शरण ने 'बारह खडी' लिखा[2] और १६वीं शती में श्री राम सहाय
तथा राजा विश्वनाथ सिंह ने 'ककहरा' की रचना की ।[3] केशवदास की रतन वाव
की शिवा वावनी में छन्दों की सख्या की दृष्टि से इस शैली का अनुसरण तो दि
किन्तु वर्णमाला सबधी नियम का पालन नहीं दिखाई पडता । लगता है बाद में
प्रधान हो गई और बावन पदों की रचना वावनी कही जाने लगी ।

विप्रमतीसी

§ ४०३ यह कोई बहुत प्रसिद्ध काव्य रूप नहीं है किन्तु इसका प्रयोग
कुछ कवियों ने किया है । हमारे विवेच्य काल के अन्तर्गत निम्बार्क सप्रदायी क
विप्रमतीसी ग्रन्थ की रचना की है । इसी नाम का एक ग्रन्थ कबीर दास ने भी लि
ग्रन्थ न केवल भाव वस्तु में साम्य रखते हैं बल्कि उनकी शैली तथा भाषा भी
दिखाई पडती हैं । इन रचनाओं की समता और इनकी प्रामाणिकता आदि के
पहले ही विचार व्यक्त कर चुके हैं (देखिये § २२५) ।

विप्रमतीसी मे ब्राह्मण की रूढिवादिता और उसके ज्ञानाभिमान का उप
है । इनमें छन्द सख्या तीस आती है इसीलिए इसका नाम विप्र-तीसी-विप्रमतीसी
इसे कोई विशिष्ट काव्य प्रकार नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें काव्य की शैली
ध्यान नहीं दिया गया है केवल छन्द सख्या का निर्धारण काव्य प्रकार नहीं हो स
मुझे मालूम है इन दो कवियों के अलावा किसी और की इस नाम की रचना
दिखाई पडतीं । विशिष्ट काव्य प्रकार न होने का यह दूसरा प्रमाण है ।

गेय मुक्तक

§ ४०४. गीतिकाव्य कविता का सर्वाधिक लोकप्रिय और प
प्रकार है । मनुष्य के वैयक्तिक भावों, सवेगों, इच्छाव्यापारों का एक मात्र सहज
माध्यम होने के कारण गीति-काव्य को जो स्वीकृति और समान मिला वह अद्विती
काव्य का रूप अभिजात साहित्य में उतना सहज और शुद्ध नहीं होता जितना
होता है । विद्वानों की धारणा है कि सभ्य देशों में बौद्धिकता और सामाजिक र
(जैसा कि योरोप मे अठारहवीं शताब्दी में था) गीति काव्य में प्रबल अभिरुचि

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १२६

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३४५

के उपयुक्त नहीं होता।[1] इसके विपरीत सामाजिक विघटन, रूढ़ि-विरोधिता, क्रान्ति और सघर्ष के युग में गीति काव्य की अत्यन्त उन्नति होती है। हापकिन्स ने वैदिक और सस्कृत गीतियों का विश्लेषण करके इन्हें चार भागों में विभाजित किया है।[2] पहला युग वैदिक गीतियों का है जो ईसा पूर्व आठवीं से चौथी शती तक फैला हुआ है। इसमें धार्मिक और वीरगाथात्मक गीतियों की प्रधानता है। दूसरा युग ईस्वी पूर्व चौथी शताब्दी से पहली शती तक है जिसमें आध्यात्मिक तत्वों की प्रधानता है। तीसरा काल पहली शती से चौथी पाँचवीं तक आता है जिसमें प्रेम-गीत लिखे गए। इसी काल में चौथी श्रेणी के भी गीत लिखे गए जिनमें रहस्य और वासना दोनों का भयकर मिश्रण दिखाई पडता है। सस्कृत में वस्तुतः शुद्ध गीतिकाव्य प्राप्त नहीं होता। वैदिक गीतों की स्वच्छन्द धारा सस्कृत के सामन्तवादी अभिजात साहित्य में खो गई इसीलिए १२वीं शती के जयदेव को कुछ लोग सस्कृत का प्रथम गीतकार मानते हैं। यद्यपि यह पूर्णतः ठीक नहीं है।[3]

§ ४०५ गीत काल का वास्तविक उदय बारहवीं शताब्दी के बाद देशी भाषाओं में हुआ। विद्यापति, चण्डीदास, सूर, मीरा आदि इस गीत-युग के प्रमुख स्रष्टा हैं। ब्रजभाषा का सत्रहवीं शताब्दी का काव्य मूलतः गीत-काव्य है। गेय मुक्तकों के रूप में गीतों का जैसा निर्माण उक्त शताब्दी में ब्रजभाषा में हुआ वैसा अन्यत्र शायद ही सभव हो। इसका मूल कारण उस काल की सामाजिक और सास्कृतिक परिस्थितियों के भीतर निहित है। मुसलमानी आक्रमण से क्षुब्ध जन-मानस, भक्ति का नवोन्मेष, रूढ़ि-विरोधी विचारों की क्रान्तिकारी मान्यताएँ तथा सामन्तवादी संस्कृति के विघटन से उत्पन्न नई वैयक्तिक चेतना इन गीतों के निर्माण में पूर्णत. सहायक हुई है। इस युग में रचित गीतों को देखकर प्रायः विद्वानों को बडा कौतूहल रहा है कि एक सद्यः जात भाषा में इतने उच्चकोटि के गीतों का आकस्मिक सृजन कैसे सम्भव हुआ। किन्तु यह कौतूहल बहुत उचित नहीं है क्योंकि सूर-पूर्व ब्रजभाषा में गीत काव्य की बहुत ही पुष्ट और विकसित परम्परा दिखाई पडती है।

परवर्ती अपभ्रंश में गेय पद लिखे जाते थे। प्राकृत पैंगलम् वैसे मूलतः छन्द का ग्रन्थ है उसमें छन्दों के उदाहरण पिंगल के लक्षणों के लिए सकलित हैं, संगीत या रागिनियों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं फिर भी कुछ पद्य ऐसे है जो गेय प्रतीत होते हैं। उनमें गीत-तत्त्व की विशेषतायें मिलती हैं। गेय मुक्तक की सबसे बडी विशेषता भावना-मूलकता है अर्थात् गीत के लिए अति भाव-प्रवण होना आवश्यक है। गीत की अन्य विशेषताओं मे गेयता, सम्बद्धता, प्रभान्विति आदि को अत्यन्त आवश्यक गुण-धर्म माना जाता है। प्राकृतपैंगलम् का एक पद नीचे दिया जाता है।

---

१ डा० गेले . मेथड एण्ड मैटिरियल्स आफ लिटरैरी क्रिटिसिज्म, पृ० ४०

२ इ० डब्ल्यू हापकिन्स द अरली लिरिक पोयट्री आफ इंडिया, इन द इंडिया न्यू एण्ड ओल्ड

३. द्रष्टव्य . लेखक का निबंध, गीति काव्य . उदय और विकास, कल्पना, हैदराबाद, जुलाई, अगस्त, १९५६ ईस्वी

जिणि कंस विणासिअ किति पआसिअ।
मुट्ठि अरिट्ठ विणास करे, गिरि हत्थ धरे ॥
जमलज्जुण भंजिअ पअ भर गंजिय।
कालिय कुल संहार करे, जस भुवण भरे ॥
चाणूर विहंडिअ णियकुल मंडिय।
राहा मुह महु पान करे जिमि भमर वरे ॥
(प्राकृत पैंगलम् पृ० ३३४ पद सं० २०७)

इसमें अन्तिम वाक्यार्थ का प्रयोग यद्यपि छन्द की गति के अनुकूल है किन्तु यह पदों की टेक की तरह बीच में प्रवाह तोड कर नये आरोह से गीत-तत्त्व को बढाने में सहायक भी होता है। इन पदों की तुलना में गीत गोविन्द के श्लोको से कर चुका हूँ। गीत गोविन्द में बहुत से श्लोक इसी शैली में लिखे गए हैं और उन्हें भी गीत ही कहा जाता है। लोगो की धारणा है कि जयदेव ने लोक-जीवन से गीत-तत्त्व प्राप्त किया था। उस समय की लोक भाषा का हमें पूरा ज्ञान नहीं है। किन्तु उपर्युक्त प्रकार के अवहट्ठ-पद इसका कुछ संकेत देते है।

चर्यागीत गेय काव्यों की परंपरा के अत्यंत उज्ज्वल स्मृति-चिह्न है। चर्या के पद राग-रागिनियों में बंधे हुए है। सरहपा के पदों में गूजरी (पद नं० २), राग देशाख (पद न० ३२) भैरवी (पद नं० ३३) राग मालश्री (पद न० ३६) आदि तथा शबरपा के पदो में राग बलाड्डि (पद न० २८) डोम्बिपा के पदों में राग धनसी अर्थात् धनश्री (पद १४), राग बराडी (पद ३४) आदि का नाम दिया हुआ है। सिद्धो के समूचे गीत इसी प्रकार राग-बद्ध है। सिद्धों के गीतों की भाषा पूर्वी प्रभाव के बावजूद मूलतः शौरसेनी के परवर्ती रूप का आभास देती है। इन गीतों की शैली का प्रभाव नाथ योगियो तथा सन्तों के गेय पदों पर भी बहुत पडा। गोरख-बानी मे बहुत से गीत राग-रागिनियों में बँधे हुए मिलते हैं। यद्यपि गोरखबानी के पदों में राग का नामोल्लेख नहीं है, किन्तु सबदी में संकलित पद गेय है इसमें शक नहीं।

सन्त-साहित्य का अति प्रसिद्ध पारिभाषिक शब्द 'शब्दी' गेय पदों के लिए ही प्रयुक्त होता है। कबीर दास के तथा अन्य संत कवियों के गेय पदो में रागो का निर्देश किया गया है। गुरु ग्रन्थ साहब में संकलित संत कवियों की रचनाओं मे, जिनका विस्तृत परिचय हम पिछले अध्याय में दे चुके है, पदों के राग निश्चित है। संतों के पद न केवल अपनी शैली, रागतत्त्व और गेयता आदि गुण-धर्म की दृष्टि से सूरकालीन अष्टछाप के कवियो के पदो के पूर्वरूप है बल्कि इनकी भाषा-अभिव्यक्ति सभी कुछ सूर कालीन व्रज पदों की पृष्ठ भूमि प्रस्तुत करती है।

सूर कालीन पदों के अत्यंत परिष्कृत और पुष्ट रूप के निर्माण मे संगीतज्ञ कवि खुसरो, बैजू बावरा, गोपाल नायक, हरिदास, तानसेन आदि का भी प्रचुर योग मिला है (देखिये § २३८)।

§ ४०६ कुछ विद्वानों की धारणा है कि पद लिखने की प्रथा पूर्वी प्रदेशों से चल कर पश्चिमी देशों की ओर आई है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस प्रकार की मान्यता का विरोध करते हुए लिखा है कि 'क्षेमेन्द्र कवि के दशावतार-वर्णन में एक जगह लिखा है कि जब गोविन्द यानी श्री कृष्ण मथुरा पुरी को चले गए तो वियोगविह्वलहृदया गोपिया गोदावरी के

प्रतीकात्मक ढग से विवाह कराया गया है ऐसे स्थानों पर भाव के परिपाक में बाधा का होना स्वाभाविक है ।

नरहरि भट्ट द्वारा लिखे हुए रुक्मिणी मगल की पूरी रचना डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल ने अकबरी दरबार के हिन्दी कवि में प्रकाशित कराई है । रचना सामान्य कोटि की है, किन्तु इस विशिष्ट काव्य-रूप को समझने में अवश्य सहायक हो सकती है ।

परवर्ती काल में तुलसी, सूर तथा अष्टछाप के दूसरे कवियों ने भी मगल काव्य लिखे । तुलसी के पार्वती और जानकी मंगल प्रसिद्ध हैं । मीरा रचित 'नरसी जी को माहेरो' में मंगल काव्य का रूप दिखाई पडता है । इसकी चर्चा हम मीरा वाले प्रसग में कर चुके हैं ।

इस प्रकार मगल काव्यों की एक काफी पुरानी अविच्छिन्न परंपरा रही है । यह काव्य का अत्यत लोकप्रिय प्रकार है, इसकी शैली आदि का अध्ययन अत्यत आवश्यक है ।

उपसंहार

§ ४०८. सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसके साहित्य के इस अध्ययन का मुख्य उद्देश्य दसवीं शताब्दी से सोलहवीं तक की उस उच्छिन्न कडी को पुनः परम्परा-शृंखलित करना था, जिसके अभाव के कारण ब्रजभाषा और उसके साहित्य को सत्रहवीं शताब्दि में आकस्मिक रूप से उदित मानना पडता है। अपभ्रंश, अवहट्ठ, पिंगल तथा औक्तिक ब्रज के विभिन्न स्तर की रचनाओं की भाषा और साहित्य का विश्लेषण करने के बाद भाषा और साहित्य सम्बन्धी जो उपलब्धिया और निष्कर्ष प्राप्त होते हैं, उन सबका उल्लेख कर पाना संभव नहीं मालूम होता, इसलिए यहाँ संक्षेप में कुछ विशिष्ट उपलब्धियों का ही संकेत किया गया है। भाषा-सम्बन्धी अध्ययन कई हिस्सों में बंटा हुआ है। अलग-अलग रचनाओं की भाषा का पूरा विवरण तत्तत् प्रसंगों में आया है। यहाँ केवल सर्वव्यापक कुछेक प्रवृत्तियों का उल्लेख किया जाता है।

§ ४०९ मध्यदेशीय भाषा की एक अविच्छिन्न साहित्य-परम्परा रही है। वैदिक भाषा या छन्दस् से शौरसेनी अपभ्रंश तक की महिमा-मंडित परम्परा अपने रिक्थ क्रम में ब्रजभाषा को प्राप्त हुई। ब्रजभाषा के विकास में इन सभी भाषाओं का योग-दान है। भाषा-निर्माण की कुछ स्थितियाँ जो सत्रहवीं शताब्दी की ब्रजभाषा की विशेषतायें कही जाती हैं वैदिक भाषामें ही वर्तमान थीं। स्वरागम, स्वरभक्ति, र् का विकल्प लोप तथा र-ल की परस्पर विनिमेयता (देखिये § २१) वाक्यविन्यास में कर्ता, कर्म, क्रिया की पद्धति भी वैदिक भाषा में ही मिलती है (देखिए § २२) ऋ का अ, इ, ई, उ, ए, ओ, आदि में परिवर्तन अशोक के शिलालेखों की भाषा में ही शुरू हो गया था (§ २५) इसी भाषा में आदि अ लोप, अन्त्य 'अ' के ओ में परिवर्तन तथा न के ण रूप में परिवर्तन की प्रवृत्ति भी दिखाई पडती है (§ २५)।

§ ४१०. पालि मगध की नहीं मध्यदेश की भाषा थी (§ २६) व्यंजन-समीकरण, स्वर संकोच, स्वरभक्ति, र ल की विनिमेयता तथा अन् धातु के विभिन्न रूपों के सहायक क्रिया

वाले रूपों का अभाव है। रासो के करिग, फिरिग आदि से इसके विकास का अनुमान हो सकता है (§ १४५)

(१६) सयुक्त काल और सयुक्त क्रिया का प्रयोग (§ १०१, § १०७)।

(२०) नकारात्मक ण के साथ 'जाइ' के प्रयोग से क्रियार्थक सज्ञा से बने रूप कहण न जाइ आदि (§ १०२)।

(२१) वर्तमान काल में 'अन्त' वाले वर्तमानकालिक कृदन्त रूप का प्रयोग (§६८, १०७, १२०, १४४)।

यह सक्षेप में १२०० से १४०० विक्रमाब्द की ब्रजभाषा की मुख्य विशेषताएँ हैं। औक्तिक या बोलचाल की ब्रजभाषा के अनुमानित रूप की कल्पना की गई है, उसमें भाषा-सम्बन्धी निम्नलिखित सकेत-चिह्न प्राप्त होते हैं।

(२२) तत्सम शब्दों की बहुलता, (देखिये § १५४)।

(२३) सभवतः प्राचीन ब्रज में भी कभी तीन लिंगों का प्रयोग होता था, भाषा में कोई प्रयोग नहीं मिला परन्तु उक्ति वैयाकरणों ने ऐसा सकेत किया है (§ १५६।३)।

(२४) रचनात्मक प्रत्ययों का विकास और विविध रूपों में प्रयोग करतो, लेतो, करणहार, लेनहार, करिवो, लेवो, देवो आदि के प्रयोग (§ १५६)।

§ ११४. **१४०० से १६०० तक की ब्रजभषा** के अध्ययन की मुख्य उपलब्धियाँ—

(१) अन्त्य 'अ' सुरक्षित है, मध्यकालीन ब्रज की तरह इसमें लोप नहीं दिखाई पडता (§ २५७)।

(२) आद्य या मध्यग अ का इ में परिवर्तन (§ २५८)।

(३) आद्य अ का आगम (§ २५६)।

(४) अन्त्य इ परवर्ती ब्रज की तरह ही उदासीन स्वर की तरह प्रयुक्त हुआ है (§ २६२)।

(५) मध्यग् इ का य् रूपान्तर (§ २६३)।

(६) सम्पर्कज सानुनासिकता की प्रवृत्ति पूर्वी भाषाओं में ही नहीं पश्चिमी में भी है, प्राचीन ब्रज में ऐसे प्रयोग हुए हैं (§ २७०)।

(७) पदान्त अनुस्वार अनुनासिक ध्वनि की तरह उच्चरित होता था (§ २७१)।

(८) मध्यवर्ती अनुस्वार सुरक्षित रहता था (§ २७२)।

(६) ण–न परस्पर विनिमेय हैं र–ड–ल में भी यह प्रवृत्ति दिखाई पडती है (§ २७४ तथा § २७५)।

(१०) ल्ह, न्ह, म्ह तीनों महाप्राण ध्वनियों का प्रयोग बहुतायत से होने लगा था (§ २७६)।

(११) त का कभी-कभी ज में रूपान्तर होता था (§ २७६)।

(१२) सयुक्त व्यजन प्राय सरलीकृत दिखाई पडते हैं (§ २८२)।

(१३) वर्ण विपर्यय—मात्रा, अनुनासिक, स्वर और व्यंजन चारो में होता था। (§ २८७)।

(१४) कर्ता कारक की ने विभक्ति का प्रयोग १५ वीं तक की लिखी रचना मे प्राप्त नहीं है। (§ ३१४)।

(१५) 'नि' विभक्ति जो परवर्ती व्रज में बहुवचन के रूप द्योतित करती है, १५ वीं शताब्दी के पहले की व्रजभाषा मे शुद्ध रूप में नहीं मिलती। वर्णरत्नाकर, कीर्त्तिलता आदि में 'न्हि' रूप मिलता है। रासो में ऐसे रूप है, १५ वीं के बाद की व्रजभाषा में इसका प्रयोग शुरू हो गया था (§ २९०)।

(१६) सर्वनाम प्रायः परवर्ती व्रज की तरह ही हैं। १४११ संवत् के 'प्रद्युम्न चरित, में 'वहइ' रूप मिलता है जो काफी महत्वपूर्ण है (§ ३०२) मध्यमपुरुष के कर्तृकरण का 'तैं' रूप प्राप्त नहीं होता (§ २९६) निकवर्ती निश्चय मे 'इ' रूप मिलता है ये बाद में भी प्रयुक्त हुए (§ ३०३) किस्यो रूप केवल रासो की वचनिकाओं में आता है (§ ३०८) 'रावरे' १४९२ संवत् के रुक्मिणी मगल में प्रयुक्त हुआ है (§ ३१०)।

(१७) परसर्गों की दृष्टि से प्राचीन व्रजभाषा में कई महत्वपूर्ण प्रयोग हुए हैं। इसमें कई अपभ्रंश के अवशिष्ट है और परवर्ती व्रज के परसर्गों के विकास की मध्यन्तरित कडी की सूचना देते हैं (§ ३१३–२१)।

(१८) क्रियाओं में कई महत्वपूर्ण रूप मिलते हैं जो परवर्ती व्रज में नहीं हैं यद्यपि क्रियाएं पूर्णतः व्रज के ही समान हैं (§ ३२२–३४१)।

इन विशिष्ट निष्कर्षों के आधार पर कहा जा सकता है कि १४वीं–१६वीं शताब्दी की व्रजभाषा परवर्ती व्रज से जहा एक ओर समानता रखती है, उसके विकास की प्रत्येक प्रवृत्ति के उद्गम स्रोत का पता बतलाती है वहीं वह इस बात का भी संकेत मिलता है कि इस भाषा की कई प्रवृत्तिया बाद में अनावश्यक समझकर छोड दी गई। बहुत से ऐसे रूप, जो आवश्यक और अपेक्षित थे तथा जिनका प्राचीन व्रजभाषा में अभाव है या अत्यल्पता है, प्रयोग में आने लगे।

§ ४१५ **सूर-पूर्व व्रजभाषा-काव्य का अध्ययन** कई प्रकार के तथ्यों का उद्घाटन करता है। सूरदास के पहले अज्ञात करीब बीस कवियों के काव्य का परिचय साहित्य के एक अल्पज्ञात हिस्से के निर्माण मे सहायक हो सकता है। प्राचीन व्रज के सक्रान्तिकाल (१२००–१४००) के साहित्य के अध्ययन से यह मालूम होता है कि परवर्ती व्रज की मुख्य धारायें भक्ति, शृङ्गार और शौर्य-व्रजभाषा के आरम्भ से ही मौलिक रूप में विकसित हो रही थीं। कृष्ण भक्ति का काव्य भागवत, गीतगोविन्द अथवा विद्यापति की प्रेरणा का ही परिणाम नहीं है। हेम व्याकरण के दोहों, प्राकृतपैंगलम् की रचनाओं में कृष्ण भक्ति के बीजांकुर वर्तमान है। भक्ति के कई पक्षों, स्तुति, प्रणति, निवेदन तथा इष्टदेव के रूप आदि का वर्णन इन रचनाओं में बड़े मार्मिक ढग से किया गया है। शृङ्गार और भक्ति के सम्मिश्रण पर बहुत वाद-विवाद होता है। जयदेव कवि के गीत गोविन्द में भक्ति और शृङ्गार के एकत्र सम्मिलन का जो प्रयत्न हुआ है महत्वपूर्ण है, व्रजभाषा की कृष्ण-भक्ति-काव्य में शृङ्गारिक चेतना गीत गोविन्द का ही परिणाम नहीं

है बल्कि आरम्भिक ब्रज में इसकी काफी विकसित परपरा थी जो सूरादि के काव्य में प्रतिफलित हुई। ब्रजभाषा–जैनकाव्य का यहा प्रथम बार विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। ऐहितापरक तथा घोर शृङ्गार की परवर्ती प्रवृत्ति जो रीतिकालमें दिखाई पडी, वह भी आरम्भिक ब्रजभाषा में वर्तमान थी। जैन काव्यों में शृगार के नखशिख वर्णन, वियोग-सयोग के चित्रणों ने परवर्ती काव्य को अवश्य प्रभावित किया। निर्गुण भक्तों की कविताओं में सगुण भक्ति के तत्व विद्यमान थे। सगीतज्ञ कवियों के गेय पदों में कृष्ण भक्ति का बहुत ही सरस और मनोहारी रूप दिखाई पडता है।

§ ४१६ **काव्यरूपों का विस्तृत अध्ययन** हिन्दी में नहीं दिखाई पडता। मध्यकालीन काव्य रूपों का अध्ययन अन्य सहयोगी नव्य भाषाओं में प्रचलित समान काव्य रूपों के अध्ययन के बिना संभव नहीं है। गुजराती, राजस्थानी, ब्रज, अवधी, तथा मैथिली आदि में प्रचलित काव्य रूपों के परिचय और विवरण के साथ ही आरम्भिक ब्रजभाषा के काव्य रूपों का सन्तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। रासो, चरित काव्य, कथा वार्ता, प्रेमाख्यानक, वेलि, विवाहलो या मगल, लीला काव्य, विप्रमतीसी, बावनी आदि काव्य रूप शास्त्रीय और लौकिक दोनों प्रकार के काव्य-रूपों के सम्मिश्रण से बने हैं। इन काव्यरूपों की पृष्ठभूमि में तत्कालीन समाज की सास्कृतिक चेतना का पता चलता है।

परिशिष्ट

(चौदहवीं–सोलहवीं शताब्दी में लिखित
अप्रकाशित रचनाओं के अंश)

प्रद्युम्न-चरित[1]

सधार अग्रवाल, रचनाकाल १४११ संवत्, स्थान आगरा

सारद विणु मति कवितु न होइ, मकु आपर णवि बुझइ कोइ ।
सो सादर पणमई सुरसती, तिन्हि कहुँ बुधि होइ कत हुती ॥१॥
सबु कोइ सारद सारद कहई, तिसु कउ अन्त कोउ नहि लहई ।
अठ दल कमल सरोवर वासु, कासमीर पुर मांहि निवास ॥२॥
हंस चढ़ी करि लेखनि लेइ, कवि सधार सारद पणमइ ।
सेत वस्त्र पदमावर्तीण, करइ अलावणि वाजइ वीण ॥३॥
आगम जाणि देइ बहु मती, पुणु हुई जे पणवइ सुरसती ।
पदमावती दड कर लेइ, जालामुखीव केसर देइ ॥४॥
अव मांहि रोहिणि जे सारू, सासण देवी नवइ सधारू ।
जिण सासन जो विघण हरेइ, हाथ लकुट ढाणे सौ होइ ॥५॥
सरस कथा रस उपजइ घगउ, निसुणहु चरित पदूमह तणउ ॥१०॥
सम्वत चउदह सौ हुइ गयौ, ऊपर अधिक एगारह भयो ।
भादव वदि पचमी सो सारू, स्वाति नखत्र सनीचर वारू ॥११॥
सायर मांहि द्वारिका पुरी, मयण जच्छ जो रचि करि धरी ।
वारह जोजण की विस्तारा, कचण कलसति दीसइ दारा ॥१५॥
छाया चउवारे वहू भति, सुद्ध फटिक दीसइ ससि कति ।
मरगज मणि जाणों जड़े किमाड़, सोहे मोती वन्दन माल ॥१६॥
इक सौ वने धवल आवास, मठ मदिर देवल चउपास ।
चौरासी चोहट्ट अपार, वहुत भाति दीसइ सुविचार ॥१७॥
चहुदिस खाई गहिर गभीर, चहुदिस लहरि अकोलइ नीर ।
सो वासइ '' जाणियो, कोडिध्वज निवसहि वांणियो ॥१८॥

नारद आगमन .

निसुणि वयण रिसि मन विहसाइ, कुमल वात पूछी मतिभाइ ।
देइ असीस मो ठाढे भयऊ, फुनि नारद रनिवासहिं गयऊ ॥२८॥
तहँ सिंगार सतिभाम करेई, नयन रेख कज्जल सवरेई ।
तिलक ललाट रचइ मसि लाई, पण नारद रिसि गो तिहि ठांई ॥२६॥
नारद हाथ कमंडलु धरइ, कालरूप अति देखत फिरइ ।
सो सतिभामा पांछेड ठियउ, दरपण माझि विरूप देखियउ ॥३०॥

---

१. श्री बधीचन्द मन्दिर जयपुरके शास्त्र भाण्डारमें सुरक्षित प्रति से ।

विपरित रूप रिषि दिखउ ताम, मन विसमादी सुन्दर वाम ।
देषि कुढीया कियउ कुताल, माति करन आयेउ वेताल ॥३१॥
बड़ी वार रिषि ढाढेउ भयउ, दुइकर जोढि रमणि सन कहियउ ।
उपनौ कोप न सक्यो सहारि, तउ नारद रिसि चल्यो पचारि ॥३२॥
विणहु तूर जु णाव ण चलई, ताकंह तूर आण जु मिलई ।
इकु स्याली इकु बीछी खाई, इकु नारद अरु चल्यो रिसाइ ॥३३॥
नारद रिषि पण चल्यो रिसाइ, श्रीगिरि पर्वत बइठे जाइ ।
मन मा वइठ्यो चिन्तइ सोइ, कइसइ मान भग या होइ ॥३४॥

प्रद्युम्न-वियोगः

नित नित भीजइ विलषी खरी, काहे दुषी विधाता करी ।
इकु धाजइ अरु रोवइ वयण, आंसू बहत न थाके नयण ॥१३६॥
की मइ पुरिष विछोही नारि, की दव घाली वणह मझारि ।
की मइ लोग तेल घृत हरउं, पूत सताप कवण गुण परउ ॥१३७॥
इमि सो रूपिणि मनहि विषाइ, तो हरि हलहरु बइठउ आइ ॥१३८॥

प्रद्युम्न-कृष्ण युद्ध॰

इहि मोसों वोल्यो अगलाइ, अब मारउं जिन जाइ पलाइ ।
उपनेउ कोप भई चित कांणि, धनुष चढायेउ सारग पांणि ॥४०२॥
अर्धचन्द्र तिहि साधिउ वांण, अब या कउ देषिअउँ पराण ।
साधिउ धनुष उदीठउ वाम, कोपारूढ़ मयण भौ ताम ॥४०३॥
कुसुमवाण तव वोल्यो वयणू, धनु हरि छीनि गयउ मह महणू ।
हरि को चाप तूटि गो जाम, दूजिउ धनुष सचारेउ ताम ॥४०४॥
फुनि कद्रपु सर दीन्हेउ छोडी, वहइ धनुष गयो गुण तोड़ी ।
किसन कोप रण ध्यायउ जाम, रूपिणि मन अवलोकइ ताम ॥४०५॥
दऊ पभारै मेरौ मरणु, जूझइ कान्ह परइ परदमणु ।
नारद निसुणि कहइ सति भाइ, अव या भयौ मीचु को ठाँइ ॥४०६॥
कोपारूढ कोप तव भयऊ, तीजउ चाप हाथ करि लयऊ ।
पमलइ वाण मयण तुजि चढिउ, सोउ वाण तूटि धर परउ ॥४०७॥
विष्णु सँभालइ धनहर तीनि, पिन परदमणू घालइ छीनि ।
हसि हसि वात कहै परदमनु, तो सम नाही छत्री कमणू ॥४०८॥
का पह सीख्यो पोरिस ठाउण, मो सम मिलहि तोहि गुरु कउण ।
धनुस वाण छीनेउ तुम्ह तणे, तेउ रापि न सके आपणे ॥४०९॥
तो पतरिछु मैं दीठेउ आज, इहि पराण तउ भुजिउ राज ।
फुनि परद्मणू जपइ तास, जरासंध क्यों मारिउ कांस ॥४१०॥

अन्त॰

पढित जन विनवउं कर जोरि, हउँ मति हीन म लावट खोरि ।
अगरवाल कौ मेरी जाति, पुर आगरे माँहि उत्पत्ति ॥७०२॥

सुघणु जननि गुणवइ उरिधरिउँ, सामहराज घरहिं अवतरिउँ ।
एरछ नगर वसन्ते जाणि, सुणिउँ चरित मोहिं रचिउँ पुराण ॥७०५॥
सावय लोग वसहि पुरमांहि, दस लखण' ति धर्म करांहि ।
दूसण मांहि न दूजो भेउ, भावहिं चित्त जिणेसर देउ ॥७०६॥

संवत् १६०४ वर्षे आसोज वदि मंगलवासरे श्री मूलसघे लिखायित श्री ललितकीर्ति सा चादा, सा० सरणण सा। नाथू सा दशायोज्य दत्त। श्रेयातु शुभामस्तु मागल्यं ददातु।

हरीचन्द पुराण[1]

कवि जाखू मणियार, रचना काल १४५३ सं०

शूलपाणि सत समरूं गणेस, स्वर मंडन मति देहि असेस ।
सिधि बुधि मति दे करउ पसाउ, ज्यु धुरि पयडों हरिचंद राउ ।१।
ब्रह्मकुँवरि स्वामि स्वर माय, सुर किन्नर मुनि लागइँ पाँय ।
कियो सिंगार अलावण लेइ, हंस गमणि सारद वर देइ ॥२॥
सारद हूवे कथ्यो पुराण, पावी मति बुधि उपनो जाँण ।
करूँ कवित्त मन लाँचो वार, सतहरिचन्द पयडो ससार ॥३॥
चौदह सै तिरपनैं विचार, चैतमास दिन आदित वार ।
मन माँहि सुमिन्यो आदीत, दिन दसराहै कियौ कवीत ॥४॥
किस्न दीपायन भारथ कीयो, आस्रम छाँडि रिषि नीसन्यो ।
जनमेजय के रावलि गयो, भेट्यो राउ हरिषि मन भयो ॥५॥
किस्न द्वीपायन कहै सुभाव, पाँडव चरित सभाल्यो राव ।
सिर धुनि नरवै पूछा कान, एह बोल म सभल्यो आन ॥६॥
गोत्र वध्यो उणि भारथ कर्ण, उन बिसवासि वध्यो रण द्रोण ।
निरणो रिषि यो केशव जाणं, तिन्ह कौं कैसे सुणूं पुराण ॥७॥

आँचली

सूरिजवस राज सपवित्त, धन हरिचन्द न मेल्हो चित्त ।
सुणो भाव धरि जाखू कहै, नासै पाप न पीछो रहै ॥८॥
भणै रिपेस्वर सभल्यो राय, ˙˙ ˙˙˙सुचिता भाय ।
जो तुम बाहुडि पूछो मोहि, किये न भारथ कहिहौं तोहि ॥९॥

× × ×

चाल्यो राय तिन्हहि मन लाय, कियो प्रणाम औ लाग्यो पाय ।
किस्न दीपायन क्रिपा अब करौ, वेगि मोहि भारथ उच्चरौ ॥७२॥

---

१. अभय जैन ग्रन्थ भाडार, बीकानेर की प्रति गुटका में संकलित, श्री अगरचन्द नाहटा के पास सुरक्षित ।

वैषम्पायन शिष्य हकारि, किस्न दीपायन कहै विचारि ।
जन्मेजय भारथ सुणाव, ब्रह्म हत्या को फेरे पाव ? ॥२६॥
भारथ सुणायों परव अठार, मिटी हत्या भयो जय जयकार ॥२७॥

वस्तु

जाई पातिक सयल असेस
होई धरम बहु, दुक्खे हँणिज्जइ
देवप्रिया रन रंभावतो ? एक लीह केम थूणीजइ
कृष्न दीपायन उच्चरइ जे यहि छन्द सुणन्तु
मनसा वाचा कर्मणा घोर पाप फीटन्तु

पत्नी-पुत्र वियोग

रोवइ कुँवर माइ मुह चाहि, मेलि मोहि चली कहाँ माइ ।
अवसि न चूकै जाइ पराण, फाटै हियो पसीयो थान ॥
रोहितास मन झुरै घणै, भागो लाभ वच्छ तोहि तणै ।
धरि वाहदी नीरालौ करइ, तव-तम्र बालक ह्वो आगे सरइ ॥
कलीयल कोहल करै अति घणै, चीरन मेल्है माई तणै ।
मार्‍यो थाप पड्यो मुरझाइ, पड़तां सांभल्यो वापरु माय ।
ध्रगु ध्रगु दुष पर्‍यो अतिदाह, जाणे चन्द्र मिल्यो जिमि राहु ॥

रोहिताश्व की मृत्यु

विप्र पुछि वन भीतर जाइ, रानी अकली घरी विलखाइ ।
सुत सुत कहै वयण ऊचरइ, नयण नीर जिमि पाउस झरइ ॥
हा ध्रिग हा ध्रिग करै ससार, फाटइ हियो अति करइ पुकार ।
तोडइ लट अरु फाडइ चीर, देषै मुप अरु चौवै नीर ॥
दीठे पढियो जीवन आधार, सूनौ आज भयौ ससार ।
धरि उछग मुप चूमा देय, अरे वच्छ किम थान न पेय ॥
दीपउ करि दीणेउ अधियार, चन्द विहुणि निसि घोर अधार ।
वछ् छ विण गौ जिमि कार ही आहि,रोहितास विणु जीवौं काहि ॥
तोहि विणु मो जग पालट भयौ, तोहि विणु जीवतह मारउ गयौ ।
तोहि विणु मै दुप दीठ अपार, रोहितास लायो अकवार ॥
तोहि विणु नयन ढलै को नीर, तोहि विणु सांस ज्यों मुके सरीर ।
तोहि विणु वात न स्रवण सुणेइ, तोहि विणु जीव पयाणो देइ ।
तोहि विणु घडीय न रहतों याल, रोहितास लायो अकवाल ॥

वस्तु

नयण नीर झुरझुरइँ अपार ।
श्रवण ताल कर कवल सूखइ, मरय हसउ सांस मेल्है ॥
एक कुवर तोही तणै विसहर डस्यो पचारि ।
टहव अनास्तिक मिरजिय मन आपणइ विचारि ॥

अंत
नगर अजोध्या भयो उछाह, पसू जीति लै चाल्यो राय।
प्रिय भगति घर कीजै घणी, परजा सुखी कीजै आपणी॥
महत पुरिप ह्वै दीजौ मान, गुरू वचन कीजौ परमाण।
मेल्हो कुंवर चाल्यो हरिचंद, कचन पूरि भयो आणंद॥
पुहुप विवाण बैठि करि गयौ, हुयो बधावो आरती भयौ।
जिणि परिमिलियो वाप पूत अरु भाय, तिणि परि मिलि यो सबको राय
एहि कथा को आयो छेव, हम तुम जयो नारायण देव॥
इति श्री हरिचंद पुराण कथा, सम्पूर्ण

महाभारत कथा[1]

गोस्वामी विष्णुदास, रचनाकाल संवत् १४९२

विनसै धर्म किये पाखंड, विनसै नारि गेह परचड्डू।
विनसै राडु पढाये पांडे, विनसै खेले ज्वारी डाडे॥१॥
विनसै नीच तनै उपजारु, विनसै सूत पुराने हारु।
विनसै मांगनौं जरै जु लाजै, विनसे जूझ होय विन साजै॥२॥
विनसै रोगी कुपथ जो करई, विनसै घर होते रन धरसी।
विनसै राजा मत्र जु हीनु, विनसै नटकु कला विनु हीनु॥३॥
विनसै मन्दिर रावर पासा, विनसै काज पराई आसा।
विनसै विद्या कुसिपि पढाई, विनसै सुन्दरि पर घर जाई॥४॥
विनसै यति गति कीनै व्याहू, विनसै अति लोभी नर नाहू।
विनसै घृत दीनें जु अंगारु, विनसै मन्दो चरै जटारु॥५॥
विनसै सोनू लोह चढायें, विनसै सेव करै अनभायें।
विनसै तिरिया पुरिप उदासी, विनसै मनहिं हसे विन हांसी॥६॥
विनसै रुख जो नदी किनारै, विनसै घरु जु चलै अनुसारे।
विनसै खेती आरसु कीजै, विनसै पुस्तक पानी भीजै॥७॥
विनसै करनु कहे जे कामू, विनसै लोभी व्योहरै दामू।
विनसै देह जो राचै वेश्या, विनसै नेह मित्र परदेसा॥८॥
विनसै पोखर जामें काई, विनसै वूढो व्याहै नई।
विनसै कन्या हर-हर हसयी, विनसै सुन्दरि पर घर वसयी॥९॥
विनसै विप्र विन षट कर्मा, विनसै चोर प्रजा से मर्मा।
विनसै पुत्र जो वाप लड़ायें, विनसै सेवक करि मन भायें॥१०॥
विनसै यज्ञ क्रोध जिहि कीजै, विनसै दान मेव करि दीजै।
इतो कपटु काहे को कीजै, जो पंडो वनवास न दीजै॥११॥

---

१. पिनहाट, जिला आगरा के श्री चौबे श्रीकृष्ण जी की प्रति से (खोज रिपो० १९२९-३१, पृ० ६५३-५४)

अहकार तें होई अकाजू, ऐसे जाय तुम्हारो राजू।
हीनि कीनिहूँ है दिन मारी, जम दीसै नर वदन पसारी ॥१२॥

× × ×

किरपा कान्ह भयो आनन्द, जो पोषन समर्थ गोव्यद।
हरि हर करत पाप सब गयो, अमरपुरी पाप सब गयो ॥२९४॥
अविचल चोक जु उत्तिम थान, निश्चल वास पांडवन जान।
यकादशी सहस्र जो करै, अस्वमेध यज्ञ उच्चरै ॥२९५॥
तीरथ सकल करै अस्नाना, पढो चरित सुनै दै काना।
वरिष दिवस हरिवस पुरान, गऊ कोटि विप्रन कह दान ॥२९६॥
जो फल मकर माघ अस्नाना, जो फल पांडव सुनत पुराना।
गया क्षेत्र पिंड जो भरै, सूर्य पर्व गगाजी करै ॥२९७॥
पढो चरित जो मन दै सुनै, नासै पाप विष्णु कवि भनै।
एक चित्र सुनै दै कान, ते पावें अमरापुर थान ॥२९८॥
पढो कथा सुनै दै दानु, तिनको होय प्रयागै थानु।
स्वर्गारोहण मन दै सुनै, नासैं पाप विष्णु कवि भनै ॥२९९॥
रामकृष्ण लेखक को लिखी, बाँचै सुणौ सो होसी सुखी।
श्री वल्लभ राम नाम गुण गाई, तिनके भक्ति सुदृढ ठहराई ॥३००॥[1]

रुक्मिणी मंगल

(दोहा)

रिधि-सिधि सुख सकल विधि नवनिधि दे गुरुज्ञान।
गति मति सुति पति पाईयत गनपति को धर ध्यान ॥१॥
जाके चरन प्रताप ते दुख मुख परत न डिठ।
ता गज मुख सुख करन की सरन आवरे ढिठ ॥२॥

(पद)

प्रथम ही गुरु के चरण वद्यत गौरी पुत्र मनाइये।
आदि है विष्णु जुगाद है ब्रह्मा सकर ध्यान लगाइये॥
देवी पूजन कर वर मांगत बुध औ ज्ञान दिवाइये।
ताते अति सुख होय अवे आनंद मंगल गाइये॥
गोरा लक्ष्मी स्वुरुहा सरस्वति तिनको सीस नवाइए।
चद्र सूर्य दोऊ गगा जमुना तिनको ते अति सुख पाइए॥
सत महत की पग रज ले मस्तक तिलक चढ़ाइए।
विष्णुदास प्रभु प्रिया प्रीतम को रुकमनी मंगल वनाइए॥

(राग गौरी)

गुण गाऊं गोपाल के चरण कमल चित लाय।
मन इच्छा पूरण करो जो हरि होय सहाय॥
भीपम नृप की लाड़ली कृष्ण ब्रह्म अवतार।
जिनकी अस्तुति कहत हौं सुन लीजै नर-नार॥

(पद)

तुछ मत मोरी थोरी सी बौराई भाषा काव्य बनाई।
रोम रोम रसना जो पाऊं महिमा वर्ण नहिं जाई॥
सुर नर मुनि जन ध्यान धरत हैं गति किनहूँ नहिं पाई।
लीला अपरंपार प्रभू की को करि सकै बड़ाई॥
वित्त समान गुण गाऊं स्याम के कृपा करी जादोराई।
जो कोई सरन पड़े हैं रावरे कीरति जग में छाई॥
विष्णुदास धन जीवन उनको प्रभुजी से प्रीति लगाई।

(रागनी पूर्वी दोहा)

विदा होय घनस्याम जू तिलक करैं कुल नारि।
तात मात रुकमन मिली अँखियन आँसू ढारि॥
मोहन रुकमिन ले चलै पहुँचे द्वारका जाय।
मोतियन चौक पुराय के कियो आरती माय॥
आज बधाई बाजै माई वसुदेव के दरबार।
मनमोहन प्रभु ब्याह कर आए पुरी द्वारका राजै॥
अति आनद भयो है नगर में घर-घर मगल साजै।
अगन तन में भूषन पहिरे सब मिलि करत समाज॥
बाजे बाजत कानन सुनियत नौवत घन ज्यूँ बाज।
नर नारिन मिलि देत बधाई सुख उपजे दुख भाज॥
नाचत गावत मृदंग बाज रग बसावत आज।
विष्णुदास प्रभु को ऊपर कोटिक मन्मथ लाज॥

(रागिनी धनासिरी दोहा)

पूजत देवी अम्बिका पूजत और गणेश।
चन्द्र सूर्य दोठ पूज के पूजन करत महेश॥
कुल की मति अनु जाइके बहुत करी अन सेव।
मोहत छड़ियन खेल के और पुजी कुल देव॥

(पद)

मोहन महलन करत विलास।
कनक मंदिर में केलि करत हैं और कोऊ नहिं पास॥

रुकमिन चरन सिरावै पिय के पूजी मन की आस ।
जो चाहो सो अब्बे पावो हरि पत देवकी सास ॥
तुम बिन और न कोऊ मेरो धरणि पताल अकास ।
निस दिन सुमिरत करत तिहारो सब पूरन परकास ॥
घट-घट व्यापक अन्तरजामी त्रिभुवन स्वामी सब सुखरास ।
विष्णुदास रुकमन अपनाई जनम जनम की दास[1] ॥

स्वर्गारोहण

(दोहा)

गवरी नन्दन सुमति दै गन नायक वरदान ।
स्वर्गारोहण ग्रंथ की वरणों तत्व बखान ॥

(चौपाई)

गणपति सुमति देह आचारा । सुमिरत सिद्धि सो होइ अपारा ।
भारत भाषौं तोहि पसाई । अरु सारद के लागौं पाई ॥
अरु जो सहज नाथ वर लहहूँ । स्वर्गारोहण विस्तर कहहूँ ।
विष्णुदास कवि विनय कराई । देहु बुद्धि जो कथा कहाई ॥
रात दिवस जो भारथ सुनई । नापै पाप विष्णु कवि भनई ।
यौं पाडव गरि गये हेवारै । कहौं कथा गुरु वचन विचारै ॥
दल कुरुखेतहि भारत कियौ । कौरव मारि राज सब लियौ ।
जदुकुल में भयै धर्म नरेसा । गयो द्वापर कलि भयो प्रवेसा ॥
सुनहु भीम कह धर्म नरेसा । बार बार सुन ले उपदेसा ।
अब यह राज तात तुम लेहू । कै भैया अर्जुन कह देऊ ॥
राज सकल अरु यह ससारा । मैं छाड़ौं यह कहै भुवारा ।
बन्धु चार ते लये बुलाई । तिनसों कहीं बात यह राई ॥
लै लै भूमि भुगतु बरवीरा । काहे दुर्लभ होउ सरीरा ।
ठाढ़े भये ते चारो भाई । भीमसेन बोले सिरनाई ॥
कर जुग जोरे विनई सेवा । गयो द्वापर कलि आयो देवा ।
सात दिवस मोहि जूझत गयऊ । टूटी गदा खड द्वै भयऊ ॥
हारो जुद्ध न जीतो जाई । कलि जुग देव रह्यो ठहराई ।
इतने वचन सुने नरनाथा । पाचो बधे चले इक साथा ॥
नगर लोक राखें समुझाई । मानत कह्यो न काहु की राई ।
कचन पुरी सु उत्तम ठाऊ । तहा बसै पाडव को राऊ ॥

× × ×

---

१ गढ़वापुर, जिला सीतापुर के प० गणपतलाल दूबे की प्रति से (खोज रि १९२६-२८, पृष्ठ ७५९-६०)

एकादशि व्रत यो मन धरई। अरु जो अश्वमेध पुनि करई।
तीरथ सकल करै अस्नाना। सो फल पांडव सुनत पुराना॥
वर्ष द्वैस हरिवंश सुनाई। देइ कोटि विप्रन कौं गाई।
गया मध्य को पिन्ड भराई। अरु फट कर आचमन कराई॥
सूर्य पर्व कुरु खेत नहाई। ताको पाप सैल सम जाई॥
स्वर्गारोहण मन दै सुनई। नासे पाप विष्णु कवि भनइ।
वित उनमान देहि जो दाना। ताको फल गंगा अस्नाना॥
यह स्वर्गारोहण की कथा। पढ़त सुन फल पावै जथा।
पाडव चरित जो सुनै सुनावै। अन्न धन्न पुत्रहिं फल पावै॥

(दोहा)

स्वर्गारोहण की कथा पढ़ै सुनै जो कोइ।
अष्टदशौ पुराण को ताहि महाफल होइ॥[1]

स्वर्गारोहण पर्व[2]

और जो जब सुन विस्तार कहैं। कहत कथा कछु अछल है॥
वाही समै हसि बोलै जगदीसा। पांचो वीरहिं वरु धीसा।
...तुम जिन हथिनापुर ठहराहू। पाचों वीरहिं चारि जाहू॥
तुम जिन वीर धरो सदेहू। पूरब जन्म लहो फल एहू।
सुनि कौंता विलखानी वैना। जल थल रूप भये ते नैन॥
जा धरती लगि भारथ कीना। द्रोवाण गंगे वेपी लीना।
कमल फूल सेइ रमभारी। सो भैया घाले सिधारी॥
मारै कर्न सक्ति संजूता। से घर छाड़ि चले अब पूता।
धरिती छाडि सर्ग मन धरिया। इतनी सुनी कौंता लरखरिया॥
विलखि परीछित राखि समझाई। बैठे राज प्रजा प्रतिपाला।
राज सहदेव नकुल कौं देहूँ। हमको संग आपने लेहू॥
तुमे छांडि मोपै रह्यौ न जाई। साथ तुम्हारे चलिहौं राई।
इतनी सुनि बोले नरनाथा। जुगति नहीं चलौ तुम साथा॥

× × ×

कायापलट भई उन देहा। पिछलौं उनको नाहिं सनेहा।
उनकी नाहिन सुरति तुम्हारी। अब तुमहि कौं घरी द्वै चारी॥

---

१. दरियावगंज, जिला एटा के लाला शंकरलाल पटवारी की प्रति से (खोज रिपोर्ट १९२९–३१, पृ० ६५६–५७)।

२ ग्रनमादपुर, जिला आगरा के पं० अजीराम की प्रति से (खोज रिपोर्ट सन् १९२९–३१ पृ० ६५७–५८)

कलि खोटी सुरपति जहाँ कहिया। ताको पास छाड़िते रहिया।
देव दृष्टि उन भये सरीरा। तुम्हें नाहिं पहचानत बीरा ॥
कलिजुग देव्र पाप की रासी। साध लोग छाड़ेगे जासी।
कलि में ऐसी चलिहै राई। जाति बड़ी बिस्वा घर जाई ॥
और कही सब कलिके भेवा। कहत सुनत जग बीती देवा।
ब्रह्मकुंड तुम करो अस्नाना। औरु अचयो तुम अमिरत पाना ॥
देव्र गननि के वन्दौ पाई। मुनि नारद को जाहुँ लिवाई।
अब तुमकौं पहिचानिहै राई। देखत चरन रहे लपटाई ॥
तुव चरनन मैं माथो लावै। ऐसो इन्द्र जू कहि समुझावै ॥

लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा[1]

कवि दामो, रचनाकाल १५१६ संवत्

(प्रारम्भ)

श्री श्री गणपति कुलदेव्याया नमः
सुनउ कथा रस लील विलास, योगी मरण राय बनवास।
पदमावती बहुत दुख सहइ, मेलउ करि कवि दामउ कहई ॥१॥
कासमीर हुँती नीसरइ, पचन हूँ सत अमृत रस भरइ।
सुकवि दामउ लागइ पाय, इम वर दीयो सारद माय ॥२॥
नमु गणेस कुंजर सेस, मूसा वाहन हाथ फरेस।
लाडू लावण जस भरि थाल, विघन हरण समरुँ दुंदाल ॥३॥
सम्वतु पनरह सोलोत्तरा मझारि, जेष्ट वदी नवमी बुधवार।
सप्त तारिका नक्षत्र दृढ़ जाणि, वीर कथा रस करूँ वखाण ॥४॥
सरस विलास कामरस भाव, जाहु दुरीय मनि हुऊ उछाह।
कहइति कीरत दामो कवेस, पदमावती कथा विहुँ देस ॥५॥
सरसति आयसि दीवउ जाम, रच्यउ कवित कवि दामह ताम।
लषण छंद गूढ़ का भाई, तेह ज दीउ हरिप करि माई ॥६॥
सिधनाथ योगी भो जाम, हींडउ घर पुरु पाटण गाम।
खापर कार्ता करि लइ डंड, इहि परि फीरइ सिद्ध नव खंड ॥७॥
गढ़ सामीर हस तिहाँ राय, योगी उपमि गयो तिमि ठाय।
सबद घालइ सो जपन जाई, पदमावती दीठउ तिहि ठाय ॥८॥
ससि वयणी नितु अमृत चवइ, पूछइ सिधु कुमरि ढिग जाय।
कइ तु वरणी कइ कुंआरी अछइ, योगी कह विसासण पछइ ॥९॥
एक उतर सउ नखइ वहइ, सो मो वरइ कुमरि इमि कहइ।
वचन प्रमाण हीयइ दृढ़ लीय, धन-धन हस राय की धीय ॥१०॥

---

१. बीकानेर के श्री अगरचन्द नाहटा के पास सुरक्षित प्रति से

एकोतर सउ नरवइ मरइ, तउ कुमरीय सयंवर वरइ ।
सुणयो वचन योगी तिहि ठाय, सिधिनाथ विमायण भाय ॥११॥

(वस्तु)

दिढ योगी दिढ योगी रूप वेर जरि तं ध्रुम विघरणी परयो मनि मूकी
चल नयनी ससि घटी वचन देहु नहु जीभ सूकी ।
तप जप संजम सहु रह्यो, नयन वाण कियो मारि ।
एक उतर सउ नर वहई सो नर परणइ नारि ॥१२॥

(चौपाई)

एतउ कहि पदमावती जाई, जोगी पहुचो पुहवी आई ।
करइ आलोच मरम आपणा, पुण लागे नखइ देखणां ॥१३॥
योगी सिधनाथ तिण ठाइ, सुरंग दीठी निण कूआँ माँहि ।
गद सामउर हंस की वाल, तिणि कारण नर भरइ भूपाल ॥१४॥
चन्द्रपाल भउ सहास धीर, आण्यउ चण्डसेन वर वीर ।
आण्यउ अजयपाल धरवाल, हल हमीर आण्येउ हरपाल ॥१५॥
डंडपाल घर आण्यउ वली, ग्रह करि घाल्यउ कूआँ गली ।
सहसपाल सामन्त सी भेव

(अन्त)

हंसराय राणी प्रति कहइ, पदमावती उछंग लेइ रहइ ।
धीर हीर नेउर झुणकार, पदमावती करइ श्रृंगार ॥५५॥
दूजी चन्द्रावती सूं जाण, राजा लखमसेन अगेवाण ।
पाट वइसाणी अचल जोड़, तव हरख्यो तेत्रीसउ क्रोड़ ॥५६॥
हन्सराय धरि विधि आचार, घरि वाध्यो तोरणिवार ।
दोइ कर जोड़ी बोलइ राय, अम्ह लखणउती देहु पठाय ॥५७॥
इन बोलइ तब हरख्यो राय, हय गय वर दीन्हो पल्णाय ।
दीधी पेई भरीय संजूत, मणि माणिक आनीयो बहूत॥५८॥
सासू जुहारण चाल्यउ राय, धीय उछग धरी छइ माय ।
लखणसेन चाल्यउ ततखणा, सयरि लोक मिलि चलीया घणा ॥५९॥
दोई राजा मिलिया तिणि काल, नयन नीर वहइ असराल ।
हंसराय पाछौ वाहुडि गयौ, लखमसेन पयाणउ कीयउ ॥६०॥
धरि चाल्यउ लखणउती राय, ततखण वज्यउ नीसाणे घाय ।
जिणि मारगि सचरयउ पयालि, तिणि मारगि वहुरयो भुआलि ॥६१॥
तव दीठी लखणउती राय, अति आणद हरख्यउ मन माय ।
कहइ वधावउ आयउ राई, तव तिन लाधउ वहुत पसाई ॥६२॥
लखम सेन लखणोती गयउ, राज मांहि वधावउ भयउ ।
वमण भाट करइ कइ वार, मिलियो वेगि सहु परिवार ॥६३॥

मिल्यो महाजण राजा तणा, नयर देस म उछउ धाधगा ।
बाप पूत अर धीय कुमारि, लखमसेन भेट्यो तिहि वार ।।६४।।
भणइ प्रधान स्वामी अवधारि, काइ देव रहियो इणवार ।
योगी सरिसउ मइ दुख सहयउ, घाल्यउ कूआ कष्ट भोगयंउ ।।६५।।
गड़ सामउर रहइ छइ राय, तात धीय परणी रण मांहि ।
पछइ कपूर धार हूँ गयउ, चद्रावती वीवाहण लियउं ।।६६।।
अब आयउ लखणौती राय, कुटुंब सहित हूं मिलीयो माय ।
लखमराय तणउ सयोग, सुणउ कथा या परिमल भोग ।।६७।।
अतरी सयल सहज सुभाइ, रमइ जेम लखणउती राय ।
पायो पीउ नीतु विलस्यउ भोग, सांभलइ तेह नइ नहीं वियोग ।।६८।
ईणइ ठाइ जे अपाइ दान, मातु पिता तसु गग सनान ।
हाथ उचाइ दान जो दीयइ, ते बासउ वइकुठा लीयइ ।।६९।।
सुणइ कथा जे आवइ दान, गाइ दखिणा अर कापड़ पान ।
वीर कथा समलइ जे रली, नहि वियोग नहीं एको घड़ी ।।७०।।
हरि जल हरि थल हरि पयालि, हरि कसासुर बधीयो बालि ।
दैत्य स्यवारण त्रिभुवन राय, सुरताजै वैकुठा ठाइ ।।७१।।
ईगुणीस विस्ना एक न राज, रचइ कवित कवि दामउ साच ।
इणी कथा कउ योर्हा विरतत, हम तुम्ह जयउ गवरि कउ कत ।।७२।।
ईती श्री वीर कथा लसमसेन, पद्मावती सपूर्ण समाप्ता ।। सवत् १६६६।
वर्षे..... .... लिषत फूलसेहा मध्ये ।

बैताल पचीसी[1]

मानिक कवि, रचनाकाल संवत् १५४६, स्थान ग्वालियर

(चौपही)

सिर सिंदूर वरन मैमत । विकट दन्त कर फरसु गहन्त ।
गज अनन्त नेवर झकार । मुकट चन्दु अहि सोहै हार ।।
नाचत जाहि धरनि धसमसे । तो सुमिरन्त कवितु हुल्से ।
सुर तेतीस मनावैं तोहि । 'मानिक' मनै बुद्धि दे मोहि ।।
पुनि सारदा चरन अनुसरौं । जा प्रसाद कवित्त उच्चरौं ।
हंस रूप ग्रथ जा पानि । ताको रूप न सकौं बखानि ।।
ताकी महिमा जाइ न कही । फुरि फुरि माइ कद आ रही ।
तो पसाइ यह कवितु सिराइ । सा सुवरनों विक्रम राइ ।।

× × ×

---

१. कोसीकलां, जिला मथुरा के प० रामनारायणजी की प्रति से (खोज रिपोर्ट १६३२-३४, पृ० २४०-४१)

सुनै कथा नर पातग हरै। ज्यौं वैताल बुद्धि बहु करे।
विक्रम राजा साहस करे। कह 'मानिक' ज्यों जोगी मरे॥
संवत् पन्द्रह सै तिहिकाल। औरु बरस आगरो छियाल।
निर्मल पाख आगहनु मास। हिमरितु कुम्भ चन्द्र को वास॥
आठै ओसु वार तिहि भानु। कवि भाषै वैताल पुरानु।
गढ़ ग्वालियर थानु अति भलौ। मानुसिंह तोंवरु जा बलो॥
संघई खेमल वीरा लीयो। 'मानिक' कवि कर जोरैं दीयो।
मोहि सुनावहु कथा अनूप। ज्यौ वैताल किये बहु रूप॥

× × ×

काइथ जाति अजुध्या वासु। अमऊ नाऊ कविन को दासु।
कथा पचीस कही वैताल। पोहोचो जाइ भीत्र के पताल॥
ताके वस पांचइ साख। आदि कथनु सो मानिक भाखि।
ता 'मानिक' सुत सुत को नंदु। कविता वन्त सुननि को वंदु॥
जैसे भाटु छल्यौ पाताल। ज्यों मांग्यो विक्रम भुवाल।
जैहि विधि चित्ररेख बस करी। ओरु आपनी आपदा हरी॥

× × ×

मति ओछी थोरी ग्यान। करी बुद्धि अपने उनमानु।
अछर कटे होइ तुक भग। समझो जाइ अर्थ को अग॥
जहां जहां अनमिली बात। तह चौकस कीजो तात।
जो पढ़ि है वैताल पुरानु। ओरु संत सुनि दैहै कान॥
तिनि के पुत्र होहि धन रिधि। ओरु सहस्त्र जिती सब सिधि।
कर जोरैं भाये सावन्तु। जै जै करनु सत को तत॥
विक्रम कथा सुनै चित कोइ। कायर सो नर कबहू न होइ।
रात साहसु पुरपारथ धरे। जो यह कथा चित्त अनुसरे॥
सो पण्डित कवि होइ अपार। बानी बुद्धि होइ बिस्तार॥

छिताई वार्ता[1]

कवि नरायन दास कृत, रचनाकाल संवत १५५० के आसपास

आरंभ के पाच पत्र नष्ट हो गए हैं—

सुमरि गनेस गाहि लेखनी, लागौ बुधि रचन आपनी।
प्रथम रची सरसती सरूप, चकित चित्त जिमि होइ अनूप॥१२०॥
नैषधि निरवति लियौ सयोग, नल दमयन्ती तणो वियोग।
माराइय रामायन चित्रयो, मृगया महा मनोहर कीयो॥१२१॥
लियौ कोक चौरासी भाति, चारि प्रकार नारि की जाति।
पदमिनि चित्रनि गज मखिनी, चित्रति महा मनोहर बनी॥१२२॥

---

१. प्रति श्री अभय जैन ग्रन्थागार, बीकानेर में अगरचन्द नाहटा द्वारा सुरक्षित

अरु गज पर नषर-सुवार, चारि पुरुष चहूं आकार ।
कवियन कहै नरायन दास, जब लागौ चित्रन आवास ॥१२३॥
देखन लोग नगर को जाई, चितइ चित्र तन रहइ भुलाई ।
जेता पडित चतुर सुजांण, तहि आवैं देषइ दिन मान ॥१२४॥
एक दिवस की कहन न जाइ, छजइ छिताई उझुकइ आइ ।
दामिन जू सुन्दरि दुरि गई, देषि चितेरौ मुरछा भई ॥१२७॥
रहौ चितेरौ मनहि लगाइ, वहुरि न कबहीं झकइ आइ।
जब जब सूनो होइ अवास, तब तब देखनि आवइ वास ॥१२८॥
गै कत दिन निरषै वारि, रचि रचि राग संवारि सवारि ।
काम विथा तन खरी उदास, आई देखन चित्र अवास ॥१२९॥
गज गति चली मदन मुस्काइ, सखी पांच लइ साथ लगाइ ।
देखन चली चित्र की सार, लिखो चित्र जहां विविध प्रकार ॥१३०॥
लिषति चितेरे दीनी पीठ, तिह नेवर सुनि फेरी दीठ ।
कही छिताई कौ मुह जोइ, इहै रंभा कइ अपसर होइ ॥१३१॥
देषति फिरति चित्र चहुँ पासि, वीन सबद सुनि श्रवन निवास ।
देखी कोक कलाति पान्ति, चउरासी आसन की भांति ॥१३२॥
आसन देखत खरी लजाइ, अंचल मुख दीन्हेउ मुस्काइ ।
सखी दिखावइ वाह पसारि, कही काहि अहु कहो विचार ॥१३३॥
देषै चित्र सुरत विपरीत, बाल भरम भयौ भयभीत ।
देखौ नाटक नाटारभ, लिखो चित्र चउरासी खभ ॥१३४॥
चतुर चितोरे देषी तिसी, करि कागज महि चित्री तिसी ।
चितवनि चलनि मुरनि मुसक्यानि, चतुर चितोरे चित्री वानि ॥१३४॥
सुन्दरि सुघर सुघर परवीन, जोवन जानि बजावइ वीन ।
नाद करत हरि कौ मन हरई, नर वापुरा कहा धु करई ॥१३६॥
इक सुन्दर अरु सवन शरीर, मिश्री मिश्रित भो जिमि षीर ।
इकु सोनौं इकु होइ सुगन्ध, लहइ परस प्रिया गह कध ॥१३७॥
चित्र देषि वहुरी चित्रनी, आलस गति गयद गुर्वनी ॥१३८॥
कवियन कहै नरायन दास, गई छिताई वहुरि अवास ।
पहिरौ अंग कुसुंवी चीर, गोर वर्न अति सुवन सरीर ॥१४०॥
कुच कचुकी सो सोहइ स्याम, मनहु गूदरी दीन्हीं काम ।
मृग चेटवा लगाए साथ, आपन लए हरै जो हाथ ॥१४१॥
तिन्हहिं चरावति वाह उचाइ, कुच कचुकी सद तिह जाइ ।
तब कुच मोरि चितौरे देष, काम घटा जनु ससि की रेख ॥१४२॥

श्री सवत् १६४० वर्षे माघ वदि ८ दिन लिषत । वेला करमसी । साह राम जी पठनार्थ शुभम् भवतु ।

पंचेन्द्रिय वेलि[1]

कवि ठक्कुरसी, रचनाकाल १५५०

दोहडा

वन तरुवर फल खात फिरयो पइ पींवतो सुछिन्द ।
परसण इन्द्रिय परयो सो, वहु दुप सह्यो गयन्द ॥२॥

वहु दुप सह्यो गयन्दो, तइ होइ गई मति मन्दो ।
कागद कुंजरि को काजै, पडिखा सक्यो नहि भाजै ॥४॥
तेइ सही घणी तिस भूपा, कवि कौण कहै वहु दूपा ।
रखवालण वल गयो जाणो, वेसासि राइ घर आणो ॥६॥
वधे पग साकल घालै, त्यो कि वै सकइ न चालै ।
परसणे पर्‌यो दुप पायौ, नित आकुस छाया घायौ ॥८॥
परसण रस रावण नामो, मारियो लक श्री रामो ।
परसणि रस सकर राच्यौ, तिय आगे नट ज्यों नाच्यौ ॥१०॥
परसणि रस कीचक पूर्‌यौ, गहि भीम सिला तल चूर्‌यौ ।
परसणि रस जे नर पूता, ते सुरनर घणा विगूता ॥१२॥

दोहडा

केलि करन्तो जन्म जलि, गाल्यो लोभ दिपालि ।
मीन मुनिप्र ससार सर सों काढ्यो धींवर कालि ॥१४॥

सो काढ्यो धींवर कालि, हि गालौ लोभ दिपालि ।
मछि नीर गहीर पईठै, दिठि जाइ नहो तिहि दीठै ॥१६॥
इहि रसना रस के घालै, थल आइ मुवै दुप सालै ।
इहि रसना रस के लीयो, नर कौण कुकर्म न कीयो ॥१८॥
इहि रसना रस के ताई, नर मुमै वाप गुरु भाई ।
घर फोडै मारै वाटा, नित करै कपट धन घाटा ॥२०॥
मुपि झूठ साच वहु वोलै, घरि छोडि देसाउर डोलै ।
इहि रसना विपय अकारौ, वसि होई ओगनि गारो ॥२२॥
जेहि हर विपै वस कीयो, तहि मुनिप जनम फल लीयो ।
जिन जहर विपै वस कीते, तिन्ह मुनिप जनम विगूतै ॥२४॥

दोहडा

कवलिय पइठ्यौ भवर दलि घ्राण गध रस रूढि ।
रैनि पडी सो सकुर्‌यौ, नीसरि मर्‌यौ न मूढि ॥२६॥

नीसरि मर्‌यौ न मूढो अति घ्राण गधरस रूढो ।
मनि च्यतै, रैनि सवाई, रस लैस्यो आजि अघाई ॥२८॥

---

1. आमेर भाडार जयपुर, और अभय जैन ग्रन्थागार बीकानेर की प्रतियाँ ।

जब उगै लौ रवि भलो, सरवरि विकसैलो कवलों ।
नीसरिस्यो इ तब छोडि, रस लैस्यों आइ वहोडि ॥३०॥
यों चितवत ही गज आयौ, दिनकर उगिवा नहि पायौ ।
जल पैठि सरोवरि पीयौ, नीसरत कमल षुडि लीयौ ॥३२॥
गहि सुडि पाव तलि चवियौ, अलि मरिगो थरहरि कंपियो ।
इहि गध विषै छै भारी, मन देष्यो मूढ़ि विचारी ॥३४॥
इहि गध विषै वस हूआ, अलि ज्यों उन षुटि मूआ ।
अलि मरण कारण दिठि दीजै, अति गंध लोभ नहु कीजै ॥३६॥

दोहडा

नेह अथागल तेल तसु वाती वचन सुरंग ।
रूप ज्योति पर त्यजहि सो पड़हित पुरुष पतंग ॥३८॥

सो पड़हित पुरुष पतगो, पडि दीवै दहतो अगो ।
पडि होइ जहां जिव पावै, मूरखि दीठि पैचि न राखै ॥४०॥
दिठि देषि करै नर चोरी, दिठि लष्षि तकै पर गोरी ।
दिठि देषि करै नर पापो, दिठि देषि परै सतापो ॥४२॥
दिठि देषि अहल्या इदो, तन विकल भई मति मदो ।
दिठि देपि तिलोत्तम भूल्यो, तप तप्यो विधाता डोल्यो ॥४४॥
ये लोइन लम्पट झूठा, बरज्यो तैं होंइ अपूठा ।
जिन नैनन होइ वस फीता, ते मानुष जनम जूगीता ॥४६॥
ज्यां वरज्यो त्यों रस वाया, रग देषे अपने भाया ।
ये नैन दुवै वसि रापै, सो हरत धरत सुष चापै ॥४८॥

दोहडा

वेगि पवन मन सारि कै सदा रहै भयभीत ।
वधिक वाण मारै मृगी, काणि सुणन्तो गीत ॥५०॥

यौ गीत सुणन्तो काणि, मृग खड्यो रहै हैरानि ।
धनु पैचि वधिक सर हन्यो, रस वीध्यो वाण न गिन्यो ॥५२॥
यों नाद सुणन्तो सांयो, विल छोडि नीसरो आयो ।
पापी धरि घालि फिरायौ, फिर फिर दिन दुष्पि दिपायौ ॥५४॥
कींदरी नाद रगु लागै, जोगी होइ भिचा मागै ।
सो रहै नहीं समझायौ, फिरि जाइ घर घर आयौ ॥५६॥
इ ना द र तणु रग्यो ऐसो, यो महा विषै जगि जैसो ।
इ नाद जकै भारी भीलिया, नर नारी वानै मोलिया ॥५८॥
इ नाद जकै रगि रातो, मृग गिणै नहि जिव जातो ।
मृग याव उपाइ विचारै, अति सुवणो नाद निवारै ॥६०॥

दोहड़ा

अलि गज भीन पतग हरिन एक एक दुप दीय।
न्या इति ? मैं मै दुप सहै जेहि वस पञ्चम कीय ॥६२॥

ए जेहि वस पञ्चम किरिया, ये पञ्च इन्द्रिन औगुन भरिया।
जे जप तप सयम खोयौ, सुकृत सलिल समोयौ ॥६४॥
ये पञ्च वसै इक अगे, ये अवर अपर ही रगै।
चषि चाहै रूप जो दीठो, रसना रस मापै मीठो ॥६६॥
अति न्हाले घ्राण सुगंधो, कोमल परसन रस वधो।
अति स्रवण गीत जो हरै, मनो पंच पापी फिरै ॥६८॥
कवि वेल्ह सुजण गुण गावो, जग प्रकट ठकुरसी नावो।
तो वेलि सरस गुन गायौ, चित चतुर मुरख समझायौ ॥७०॥
सम्वत पन्द्रह सौ पच्चासौ, तेरह सुदि कातिग मासो।
इ पांचो इन्द्रिय वस राखै, सो हरत घरत फल चापै ॥७२॥
इति पचेन्द्रिय वेलि समाप्त। मवत् १६८८, आसोज वदि दूज, सुक्रवार लिखितम् जोता पारणी, आगरा मध्ये।

रासो, लघुतम संस्करण का गद्य

चन्दवरदाई, रचनाकाल १५५० संवत् के पूर्व

१. वार्ता—हिव कनउज का राजा की वात कहइ छइ।

२. वार्ता—राजा ग्रिह आइ, राजा की पटरानी पवांरि चित्रसाली दिखावन लागी, तिहां कर्णाटी दासी कै महान कैवास के कछु मो भोग जानियइ। गन गंधर्व मुनिय ‥किन्नर कहत की कैवास हि कइ लमई वे ही ऊतरइ।

३. वार्ता—अेक वाण तो राजा चूक्यो, ग्रानै काख विचि आघात भयो, कइमास पान ढारि दिये।

४. वार्ता—दूसरउ वाण आन दियउ।

५ वार्ता—राजा देखतो दाहिनो कयमास परयो है, देखउ दासी के निमित्त कैमासाहि अहमिति होइ, भविष्यतु न मिटै।

६ वार्ता—पांचहु तत्व की देवता, हुइ, चांद न मानइ।

७. वार्ता—राजा महिल आरभे नकीव ठौर ठौर प्रारंभे। सूवा सामत वोले जीम ग्यानै दुलीचा प्रवानेन खोले। छन्नह पत गौन सिंहासन लीने, गर्दासूदा सामंतन कूँ आसन दीने।

८. वार्ता—कैवास कलम चाद पासि आइ ठाढ़ी रही, देखि चाद नू महावीर वरदायी, हमार श्री राजा पै वग दयाउ, चांद राजा पहि चल्यि को उदयम कियउ, चाद की स्त्री फेट पकिरी, देखि चंद।

९. वार्ता—हिव चन्द वरदायी कहै।

१० वार्ता—तब चांद बोल्यउ।

११. वार्ता—हिव राजा प्रिथीराज चांद सू कहतु हइ।

१२. वार्ता—सांवत टारियन लागे, कुण-कुण ?

१३. वार्ता—राजा प्रिथीराज चालता शकुन होइत हइ।

१४. वार्ता—राजा कू इह उतकठा भयी, सांवतन की पाछिली आसा गयी, राजा नै आइस दीन्हीं जे ठाकुर पगुराय प्रगट है ताकी आधीन हुइ के रूपे दुरावो, वाकी कैस रूप ही साथि आवउ। सामतनु मानिया निसा जुग अेवा रजनी।

१५ वार्ता—राजाइ गगा जाइ देखी।

१६. वार्ता—राजा स्नान कीयो, सावत ने स्नान कीयो, तब राजा गगा को समरनु करत है।

१७ वार्ता—तब लगि अरनोदय भयो। गगोदक भरिवै के निमित्त आनि ठाढ़ी भयी, मानो मुकति तीरथ अरु की तीरथ दोऊ सकीरन भये, यां जानियतु है।

१८. वार्ता—ते किसी-अके पनिहारि है ?

१९. वार्ता—अबहि नगर देखत है।

२०. वार्ता—चाँद राजा के दरबार ठाढ़ो रह्यो।

२१. वार्ता—राजा ने पूछ्यो-दढ आडवरी भेखधारी सु कव्वी च्यारि प्रकार भट्ट प्रवर्ततु है, देखो धौं जाइ इनमें को है।

२२ वार्ता—छहै भाखा नो रस चाँदु कहतु है।

२३. वार्ता—अब चाँद भाट राजा जैचद को वर्णवतु है।

२४. वार्ता—देख्यो अे भवस्यत् दरिद्र को छत्रु लिये फिरै चौहान को बोल याकै मुहि क्यों निकसें।

२५. वार्ता—राजा पूछइ ते चद ऊत्तर देत हइ।

२६. वार्ता—देखे भलो भाट है, जाको लून-पानि खात है ताको पूरउ बोलत है, राजा मनि चितवत है।

२७. वार्ता—चाँद को पान देवै कै तोंई राजो उठि धवलग्रिहा कूँ आइ।

२८ वार्ता—ता खवास की दासी सुगन्धादिक तबोलादिक घनसार म्रिगमद हेम—सपुट रतनहि जटित ले चली। सु कैसी है।

२९. वार्ता—राजा अनेक हास्य करन लागे, अनेक राजान के मान-अपमान सगि अँवर तै दिनयर अदरसै।

३०. वार्ता—अहनिसा तों राओ जोग वीवाही लिखा पांगुरहि क्यों जाती है ?

३१ वार्ता—पात्र-नाम। दर्पकागी, नेह चगी, कुरगी, कोकाक्षी कोकिलरागी, से भागवानों *अगाल लाज ढोल अके बोल अमोल पुष्फाजुली पगासिर आइ जयति विय* कामदेव।

३२. वार्ता—राजा कइमी नींद विसारि।

३३ वार्ता—रात्र गते थे, राजा अर्क सो देखियतु है।

३४ वार्ता—राजा आइसु दियो, ते गाज मोधा चहुवान को भट्ट आयो है, ताहि इतनौ दिज्यो।

३५. वार्ता—राजा प्रिर्थीराज कनवजहि फिरि आवतु हइ, इतने सामंतन सूँ पगु राजा को कटकु सज्ज होई लरतु है ।
३६. वार्ता—अे तो राजा कूँ सुख प्रापत भयो, सावतन को कुण अवस्था हइ ।
३७. वार्ता—तउलूँ राजा आव देखइ, जेसो मदोमस्त हस्ती होइ ।
३८ वार्ता—राजा कहै—संग्राम विसै स्त्री विवर्जित है ।
३९. वार्ता—राजा प्रिर्थीराज कोऊ बाँधत है, अमरावली छद इहाँ वाँचीइ ।
४०. वार्ता—पहिली सामत सूर झूझे तिनके नाउँ अरु वरणनु कहतु है ।
४१. वार्ता—अेते कहे तैसुनिकार दासी आइ ठाढी भइ ।
४२. वार्ता—राजा प्रिर्थीराजा के सेना कहतु है ।
४३. वार्ता—विरदावली किसी दीन्हीं
४४. वार्ता—इतनी वात सुणते तातार खाँ, रुस्तम खाँ, माय खाँ, विहद खाँ, अे चारि खान सदर वजीर आनि खरे होइ अरदास करी ।
४५. वार्ता—हम तमासगीरहा, भाइ बेहु जब खाइ बसी इसके साहिब जूँ दास हत्य राखि गरुही कराउ । राजा छइ दिखाउ किस्यो देख्यो ।
४६. वार्ता—राजा हे समस्या माहि आसीर्वाद दीन्हउ ।
४७ वार्ता—सुरतान जलालसाह की ढोहितीन फुरमान भइ दिउँगा ।
४८. वार्ता—चंद फुरमाण माँगिवे-कूँ जाइ-गोरी वादसाहि । प्रिथी राज फुरमाण मागइ । तवहि फुरमाण देवे कूँ वादिसाहि हजूर हुउ, तव चाँद राजा, सूँ कह्यो राजा प्रिर्थीराज । सव देस्वर सुरताण मंडमुख फुरमाण देत हइ ।

भगवत गीता भाषा[1]

थेघनाथ, रचनाकाल १५५७ संवत, स्थान ग्वालियर

चौपाई

सारद कहु वन्दो करि जोर । पुनि सिमरौं तैंतीस करोर ।
रामदास गुरु ध्याऊँ पाइ । जा प्रसाद यह कवितु सिराइ ॥१॥
मूढ़िनि को है विष वल्लरी । गुनियनि को अम्रति मजरी ।
थेवनाथ अम्रत विस्तरै । विनती गुनी लो सौं करै ॥२॥
आगि माहि डारियें स्वर्न । बुरे भले को लीजै मर्म ।
वैसें संत लेह तुम जानि । मै जु कथा यह कही वखानि ॥३॥
पंद्रह सै सत्तावनि आनु । गढु गोपाचल उत्तम थानु ।
मानसाहि तिह दुर्ग निरिंदु । जनु अमरावती सोहैं इंदु ॥४॥
नीत पुन सो गुन आगरो । वसुधा राखन कौं अवतरो ।
जाहि होइ सारदा सुबुद्धि । कै ब्रह्मा जाकैं हिय सुद्धि ॥५॥

---

१. आर्यभाषा पुस्तकालय, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी की प्रति से

जीभ अनेक सेष ज्यौं धरै । सो श्रुत मानस्यघ की करै ।
ताकै राज धर्म की जीत । चलै लोक कुल मारग रीत ॥६॥
सबही राजनि माहि अति भलै । तोवर सत्य सील ज्यावलै ।
ता घर भान महा भट्ट तिसै । हथनापुर महि भीपम जिसै ॥७॥
पाप परहरै पुनहि गहै । निस दिन जपतु क्रश्न कहु रहै ।
सर्व जीव प्रतिपालै दया । मानु निरंदु करै तिहि मया ॥८॥
ग्यानी पुरुषनि मैं परिधान । एकहि सदा जस्यसो भानु ।
दयावत दाता गभीरु । निर्मल जनु गगा को नीरु ॥९॥
जौ ब्रह्मा गरुवै गुन जागु । तौ गुन तत जोग मनु लागु ।
जै रुप मगद द्रिढ़ भ्रतु लहै । जौ द्रिढ़ सरु बुधि स्थिर गहै ॥१०॥
स्वामि धर्म यौं पारे भानु । जा सम भयो न दूजो आन ।
सब ही विथा आहि बहुत । कीरतसिंघ नृपति कैं पूत ॥११॥
षट दरसनि के जानै भेव । मानै गुरु अरु ब्रह्मनु देव ।
समुद समानि गहरुता हियैं । इक वृत पुत्र बहुत तिह कियै ॥१२॥
भलै बुरे को जानै मर्म । भानु कुवरु जनु दूजौ धर्म ।
इहि कलयुग मैं है सब कोई । दिन दिन लोभ चौगुनो होई ॥१३॥
अनु धनु जनु गाढित तिन गयौ । पै वै क्यौं हूँ साथ न भयौ ।
इतौ विचारु भान सब कियौ । त्रिभुवन माहि बहुत जस लियौ ॥१४॥
भानु कुँवरु गुन लोगहि जिते । मोपे वर्नै जाहि न तिते ।
जीभ अनेक जु प्रानी होई । याके जसहि वखानै सोई ॥१५॥
कै आइर्बुल होइव घने । वरनै गुन सो भानहि तनै ।
कै सारद कौ दरसनु होई । आदि अत गुन वरनै सोई ॥१६॥
थेघू इन मैं एकै लहै । ऊची बुद्धि करि चहु गुन कहै ।
सौ जीगना सूर समय होई । तौ गुन बरनि कहै सब कोई ॥१७॥
जापैं सायर पैरयो परै । सो गुन भान तनै विसतरै ।
अगनित गुन ता लहैं न पारु । कलपब्रृच्छ कलि भानु कुमारु ॥१८॥
कलपबृच्छ की साखा जिती । गढ़ि करि लेखन कीजै तिती ।
कागद तहाँ धरन को होई । पर्वतु जौ काजर को होई ॥१९॥
फुनि सारद करि लेखन लेई । ....
लिखन ताहि भान गुन ताहि । तऊ न ताकै चित्त समाहि ॥२०॥
है को भानहि गुन विस्तरै । गुनिभर लोग खरै मन डरै ।
तिहि तवोर थेघू कहुँ ठयो । अति हित करि सो पूछन ठयो ॥२१॥
जाकैं अधिक बहुत जुग भागु । ताही कौं भावै वैरागु ।
एकहि तब चित्त होइ उल्हास । जब काहू पहिनि सुनहि हास ॥२२॥
देख जाहि रीझैं मसार । एकनि कौं भावे सिंगार ।
बहुत भयानक उपर भाउ । काहू करना ऊपर चाउ ॥२३॥

एकनि कै जिय भावै वीरु । जौ अरि देखति साहिस धीरु ।
कहै भान मो भावै राम । जातैं ज्यौं पावै विश्राम ॥२४॥
इहि संसार न कोऊ रह्यौ । भान कुवरु येघू सौं कह्यौ ।
माता पिता पुत्र संसारू । यहि सब दीसै माया जारू ॥२५॥
जाहि नाम ना कलजुग रहै । जीवै सदा सुवौ कौ कहै ।
कहा बहुत करि कीजै भानु । जो आनै गीता को ध्यानु ॥२६॥
जो नीकै करि गीता पढ़ै । सब तजि कहिबे को नहि चढ़ै ।
गीता ग्यान हीन नरु इसो । सार माहि पसु बाधौ जिसो ॥२७॥
यातैं समझै सारु असारु । वेग कथा करि कहे कुमारु ।
इतनो वचन कुवरु जब कह्यौ । घरीक मनु धोखे परि रह्यौ ॥२८॥
सायर कौं बेरा करि तरै । कोऊ जिन उपहासहि करै ।
जौ मेरे चित गुरु के पाय । अरु जौ हियैं बसैं जदुराय ॥२९॥
तौ यह मोपै ह्वै है तैसें । कह्यौ कृस्न अर्जुनकौं जैसें ।
सुनहि जे प्रानी गीता ग्यान । तिन समानि दूजौ नहिं आनि ॥३०॥
संजय लीने अध बुलाई । ताकौ पूछनि लागे राई ।
धर्म खेत्र कुरु जगल जहां । कैरौं पांडव मेले तहां ॥३१॥
कैसे जुझ कहा वह होई । मो सो बरनि सुनावो सोई ।
मेरे सुत अरु पंडो तनैं । तिनकी बात सुसजय भनै ॥३२॥

सजय उवाच

दोउ दल चढ़ि ठाढे भये । जिर्जोधन गुरु पूछन लये ।
विषम अनी यह कही न जाई । आचारजहि दिखावै राई ॥३३॥
तेरे सिष्य पंढ के पूत । कुन्डल वचन तिन कहे बहूत ।
घृष्ट दमनु अरु अर्जनु भीमु । निकुलु सहदेराऊ जीमु ॥३४॥
राउ विराट द्रुपदु बर वीरु । कुन्त भोज रन साहस धीरु ।
धृष्टकेतु कासीस्वर राउ । कह्यौं न जाइ जिनहि बड़वाउ ॥३५॥
महारथी द्रोवै के पूत । एते दीसै सुहृद बहूत ।
मेरे दल मैं जिते जुझार । सुनो द्रोन गुर कह्यो भुवार ॥३६॥
पहिलै तू सब ही गुन सूरु । अरु भीषम रन साहस धीरु ।
कृपाचार्यु जयद्रथु वर्नु । राजा सन सुहाप अनुकर्न ॥३७॥
अस्वस्थामा अरु भगदत्त । बहुत राइ को जानै अंत ।
भांति अनेक गहहि हययार । जानहि सर्ब जूझ की सार ॥३८॥
सब जोधा ए मेरे हेत । तजि जीवनि आए कुरुखेत ।
तिन महि भीषम महा जुझार । सबहि सैना को रखवारु ॥३९॥
तीन भवन में जोधा जिते । भीषम की नहि सरवर तिते ।
इतने कहे राइ जब चैन । ठाढे सुने तहां गुर द्रोन ॥४०॥

अति आनद पितामहि भयौ। उपज्यौ हरप संख करि लयौ।
सिंघनाथ गर्ज्यो बर बीरु। सतनु सुत रन साहिस धीरु ॥४१॥
पूरे पच सब्द तिन घने। नारायनि अर्जुन तन सने।
सेत तुरी रथ चढ़े मुरार। पथ लिये गोविन्द हकार ॥४२॥
पचजनतु सख करि लिये। देवदत्त अर्जुन कौं दिये।
आन जुझार पढ दल जिते। सखनि पूरन लागे तिते ॥४३॥
सुनि करि शब्द अंध सुत डरै। विनती पथ क्रस्न सों करै।

अर्जुन उवाच

कैरो पाढव को दल महा। मेरो रथ लै थापौ तहा ॥४४॥
पहिलै इनहि देखौं पहिचानि। को मो सो रन जोधो आनि।
ए दुबुद्धि अध के पूत। अब इन कीनीं कुमति बहूत ॥४५॥
सजै काया अध सौं कहै। इतनी सुनि तब अर्जुन कहै।
लै रथ क्रस्न थापियै तहां। दोऊ दल रन ठाढे जहां ॥४६॥
देखे अर्जुन भीषम द्रोन। कर्न महाभरु बर्नै कोनु।
भैया ससुर देख सब पूत। पथहि विथा भई जू बहूत ॥४७॥

अर्जुन उवाच

ए सब सुहृद हमारे देव। कै रन मरौं विनवौं सेव।
सिथिल भयो सव मेरो अग। कांपै हाथ करत रन रग ॥४८॥
सूकै मुख अरु कपहि जांघ। बहुत दुख ता उपजै मन माझ।
इष्ट मित्र क्यौं सकि यह मारि। गोपीनाथ तुम हिदैं विचारि ॥४९॥
परु पढव कै बूडै राज। मानो बुरौ जुधिष्टरु आजु।
हौं न क्रस्न अब जुधहि करौं। देखति ही क्यों कुल सघरौं ॥५०॥
देखा सगुन कैसे वर वीर। ए विपरीत जु गहर गभीर।
सोऊ मोंको देखहि देव। होइ दुष्ट गति विनवौं सेव ॥५१॥
अर्जुन बोलै देव मुरारि। जिहि ठा तुम्ह तइ होइ न हारि।
हौं न विजै चाहो आपनै। अरु सुख राज जुधीठल तनै ॥५२॥
कहा राजु जीवनु यह भोग। भैया वध हसै सब लोग।
जिनकै अर्थ जोरियै दर्व। टेपति जिनहि होइ अति गर्व ॥५३॥
राज भोग सुख जिनकै काम। तैं कैसे वधियै सग्राम।
द्रोन पितामहि बहुत कुवारु। सार ससुर ते आहि अपारू ॥५४॥
मातुल मयर्धा हैं जिते। हौं गोविंद न मारौं तिते।
इन मारैं त्रभुवन को राजु। जौ मेरे घरि आवै आजु ॥५५॥
हौं न घाउ घालौं इन देव। मधसूदन मो विनवै सेव।
इन मारैं हमकौं फल कौन। अर्जुन कहै क्रस्न मो वैन ॥५६॥

याही लगि हौं सेवौं वीर । इन मारो सुख होइ सरीर ।
अरु हम लोगन देई लोक । इनहि वधै विगरै परलोक ॥५७॥
ताते हौं न इनहि संघरो । माधौ तुम सौं विनती करौं ।
ए लोभी सुनि कृस्न मुरारि । कछू न सूझै हिये मझारि ॥५८॥
कुरवा वधै दोष अति मान । मित्र दोष कै पाप समान ।
कै यह पापु निवर्त्तौं हरी । पथ कृस्न सौं विनती करी ॥५९॥
कुल षय भयै देखियै जवही । विनसै धर्म सनातन तवही ।
कुल षय भयौ देखिये जाई । बहुरि अधर्म होइ नव आई ॥६०॥
जब कृस्न यह होइ अधर्म । तव वै सुन्दरि करैं कुकर्म ।
दुष्ट कर्म वै करिहैं जवहीं । वर्ण मलटु कुल उपजैं तवहीं ॥६१॥
परहि पितर सव नर्क मझार । जौ कुटम्ब घालियै मार ।
नारिन को नर रषकु कोई । धर्म गये अपकीरत होई ॥६२॥
कुल धर्महि नर वाटै जवहीं । परै नर्क संदेह न तवहीं ।
यह मैं वेदव्यास पहि सुन्यौं । वहुरि पंथ कृस्न सो भन्यौ ॥६३॥
सोई एक अचम्मे मोहि । द्वै करि जोरैं वुझौ तोहि ।
तेरे संनिधान जो रहै । पापु न भेदै अर्जुन कहै ॥६४॥

छीहल वावनी[1]

कवि छीहल अग्रवाल, रचनाकाल १५८४ संवत्

ओंकार आकार रहित अविगति अपरम्पर ।
अलप अजोनी संभ सृष्टिकर्ता विश्वंभर ॥
घटि घटि अतर वसइ तासु चीन्हइ नहिं कोई ।
जल थलि सुरगि पयालि जिहाँ देख तिहँ सोई ॥
जोगिन्द सिद्ध मुनिवर जिके प्रवल महातप सिद्धयउ ।
छीहल कहइ तसु पुरुष को किण ही अन्त न लद्धउ ॥१॥

नाद श्रवण धावन्त तजइ मृग प्राण ततषिण ।
इन्द्री परस गयंद वारि भलि मरइ विचषण ॥
लोयण लुवुध पतग पडइ पावक पेषन्तउ ।
रसना स्वादि विलगि मीन वज्झइ देखन्तउ ॥
मृग मीन भँवर कुञ्जर पतग ए सभ विणसइं इक्क रसि ।
छीहल कहइ रे लोइया इन्द्री राखउ अप्प वसि ॥२॥

---

१. अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, वीकानेर, अतिशय क्षेत्र मांदार जयपुर, अभय जैन पुस्तकालय, वीकानेर की हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर लेखक द्वारा संपादित

मृग वन मज्झि चरत हरिउ पारधी पिक्खि तिहि ।
जब पाछिउ पुनि चल्यो वधिक रोपियउ थभ तिहिं ॥
दिसि दाहिणी सु स्वान सिंह जिय सनमुख धायउ ।
वाम अग परजलिय तासु भय जाण न पायउ ॥
छीहल्ल गमण चहुँ दिसि नहीं चित चिन्ता चिन्तउ हरिण ।
हा हा दैव सकटु पर्यौ तो विण अवर न को सरण ॥३॥

सवल पवन उत्पन्न अगिनि उजि फद दहे सब ।
तत्पिण घन वरसत तेज दावानलउ गयउ तव ॥
दिस दाहिणी जु स्वान पेपि जबुक कौ धायउ ।
जिय जाणिउ मृग जाइ चित्त पारधी रिसायउ ॥
अनचिन्त वाण गुण तुट्टिगो दिसि च्यारउ मुगती भई ।
छीहल्ल न को मारवि सकै जसु राखणहारा तूँ दई ॥४॥

धनि ते नर सलि दियइ जे पर कज्जु सवारण ।
भीर सहइ तन आप सामि सकट्ट उवारण ॥
कधो धर कुल, मज्झि सभा सिंगार सुलक्खण ।
विनयवत वइ चित्त अवनि उपगार विचच्छण ॥
आधार सहित अति हित्त सौं धर्म नेम पालै घणो ।
पर तरुणि पेक्खि छीहल कहै सील न पडइ आपणो ॥५॥
अवनि अमर नहिं कोई सिद्ध साधक अरु मुनिवर ।
गण गन्धर्व मनुष्य जक्ख किंनर असुरासुर ॥
पन्नग पावक उदधि शब्द सूर वर अष्टादस ।
ध्रु नव ग्रह ससि सूर अति सव खयइ काल वस ॥
प्रस्ताव पिक्ख रे चतुर नर जा लगि किजइ ऊँच कर ।
तिहुँ भुवन मज्झि छीहल कहइ सदा एक कीरति अमर ॥६॥
आवति सपइ वार वार सम देहु मूढ नर ।
मिष्ट वयण बुल्लियइ विनय कीजइ वहु आदर ॥
दिन दिन अवसरि पेपि वित्त विलसिये सुजस लगि ।
पिण रीती पिण भरी रहति घटी सारिम लगि ॥
चिरकाल दसा निहचल नहीं जिम उगै तिमि आथमण ।
पलटइ दसा छीहल कहइ वहुरि वात वूझइ कवण ॥७॥
इन्द्री पचम अत्ति सकति जब लगि घट निर्मल ।
जरा जर्जरी दूर खीण नहि हुवइ आयुर वल ॥
तव लगि भल पण दान पुण्य करि लेहु विचक्षण ।
जब जम पहुँचइ आइ मये भूलिहइ ततपिण ॥
छीहल कहइ पावक प्रबल जिमि घर पुर पाटण दहइ ।
तिणि कालि जउ कूप खोदियइ सो उद्यम किमि निरवहइ ॥८॥

ईस ललाट मज्झि गेह कीयो सु निरन्तर।
चहु दिस सुरसरि सहित वास तसु कीजइ अन्तर॥
पावक प्रबल समीपि रहइ रखवाल रयणि दिन।
प्रतिहार विसहर वलिष्ट सोवइ नहि इकु षिण॥
अतिहि जतन छीहल कहै ईस मस्तक हिम कर रहइ।
पूर्व लौं लिख्यो चुकइ नहीं तवसि राहु ससि कौं ग्रहइ॥९॥

उदरि मज्झि दसमासु पिण्ड देखियै बहुत दुष।
उर्ध होई दुइ चरण रयणि दिन रहइ अधोमुष॥
गरभ अवस्था अधिक जाणि चिन्ता चिंतै चित।
जइ छूटउँ इकवारि वहुरि करिहौं निज सुकृत॥
बोलइ ज बोल सकइ पडइ वहुडि जन्म जग महि भयौ।
लागी जु वाट छीहल कहै सबै मूढ़ि बीसरि गयौ॥१०॥

ऊसरि फागुण मास मेघ वरसइ घोरकरि।
विधवा प्रतिव्रत तणौ रूप जोवन आनन परि॥
कवियण गुण विस्तार नृपति अविवेकी आगे।
सुपनन्तर की लच्छि हाथ आवइ नहिं जागे॥
करवाल कृपण कायर कराह सुनि मेह दीपक ज्यु (?)
छीहलु अकारण ए सबै विनय जु कीजै नीच स्यु॥११॥

रितु ग्रीपम रवि किरण प्रबल आगमइ निरन्तर।
पावस सलिल समूह अधर झिल्लउ धाराधर॥
सीतकाल सीतल तुषार दूरन्तर टाल्यउ।
पत्त सही दुरवत्थ अधिक मित्तप्पण पाल्यउ॥
रे रे पलास छीहल कहै धिक धिक जीवन तुझ तणो।
फूलीयौ मूढ अब पत्त तजि ए अयुत्त कीयउ घणो॥१२॥
रीतौ होइ सो भरै भरी पिण इक चै ढालै।
राई मेर समाणि मेर जड़ सहित उपालै॥
उदधि सोपि थल करै थलि जल पूरि रहै अति।
नृपति मंगावइ भीख रंक कूं थपै छत्रपति॥
सब विधि समर्थ भाजन घडन कवि छीहल इमि उच्चरै।
निमिष मांझि करता पुरुष करण मतो सोई करै॥१३॥
लिखा तणइ परमाणि राम लच्छण वनवासी।
सीय निसाचर हरी भई द्रौपदि पुनि दासी॥
कुन्ती सुत वैराट गेह सेवक हुई रहियउ।
नीर भर्‍यउ हरिचन्द नीच घरि बहु दुष सहियउ॥
आपदा परै परिग्रह तजि भम्यो इकेलउ नृपति नल।
छीहल कहइ सुर नर असुर कर्म रेख व्यापइ सकल॥१४॥

मृग वन मज्झि चरत हरिउ पारधी पिक्खि तिहि ।
जब्र पाछिउ पुनि चल्यो वधिक रोपियउ थभ तिहिं ।।
दिसि दाहिणी सु स्वान सिंह जिय सनमुख धायउ ।
वाम अग परजलिय तासु भय जाण न पायउ ।।
छीहल्ल गमण चहुँ दिसि नहीं चित चिन्ता चिन्तउ हरिण ।
हा हा दैव सकट्ठ पर्यौ तो विण अवर न को सरण ।।३।।

सवल पवन उत्पन्न अगिनि उजि फद दहे सब ।
तत्पिण घन वरसत तेज दावानलउ गयउ तब ।।
दिस दाहिणी जु स्वान पेषि जबुक कौ धायउ ।
जिय जाणिउ मृग जाइ चित्त पारधी रिसायउ ।।
अनचिन्त वाण गुण तुट्टिगो दिसि च्यारउ मुगती भई ।
छीहल्ल न को मारवि सकै जसु राखणहारा तूँ दई ।।४।।

धनि ते नर सलि दियइ जे पर कज्जु सवारण ।
भीर सहइ तन आप सामि सकट्ट उबाँरण ।।
कधो धर कुल, मज्झि सभा सिंगार सुलक्खण ।
विनयवत वड चित्त अवनि उपगार विचच्छण ।।
आधार सहित अति हित्त सौं धर्म नेम पालै घणो ।
पर तरुणि पेक्खि छीहल कहै सील न पडइ आपणो ।।५।।

अवनि अमर नहिं कोई सिद्ध साधक अरु मुनिवर ।
गण गन्धर्व मनुष्य जख्य किंनर असुरासुर ।।
पन्नग पावक उदधि शब्द सूर वर अष्टादस ।
ध्रु नव ग्रह ससि सूर अति सव खयइ काल वस ।।
प्रस्ताव पिक्ख रे चतुर नर जा लगि किजइ ऊँच कर ।
तिहुं भुवन मज्झि छीहल कहइ सदा एक कीरति अमर ।।६।।

आवति सपइ वार वार सम देहु मूढ़ नर ।
मिट्ठ वयण बुल्लियइ विनय कीजइ यहु आदर ।।
दिन दिन अवसरि पेषि वित्त विलसिये सुजस लगि ।
पिण रीती पिण भरी रहति घटी सारिस लगि ।।
चिरकाल दसा निहचल नहीं जिम उगै तिमि आथमण ।
पल्टइ दसा छीहल कहइ बहुरि बात बूझइ कवण ।।७।।

इंद्री पचम अत्ति सकति जब्र लगि घट निर्मल ।
जरा जर्जरी दूर खीण नहिं हुवइ आयुर बल ।।
तब लगि भल पण दान पुण्य करि लेहु विचषण ।
जब जम पहुँचइ आइ मये मूलिहइ ततपिण ।।
छीहल कहइ पावक प्रबल जिमि घर पुर पाटण दहइ ।
तिनि कालि जउ कूप खोदियइ सो उद्यम किमि निरवहइ ।।८।।

ईस ललाट मज्झि गेह कीयो सु निरन्तर।
बहु दिस सुरसरि सहित वास तसु कीजइ अन्तर॥
पावक प्रबल समीपि रहइ रखवाल रयणि दिन।
प्रतिहार विसहर बलिष्ट सोवइ नहि इकु पिण॥
अतिहिं जतन छीहल कहै ईस मस्तक हिम कर रहइ।
पूर्व लौं लिख्यो चुकइ नहीं तवसि राह ससि कौं ग्रहइ॥६॥

उदरि मज्झि दसमासु पिण्ड देखियै बहुत दुष।
ऊर्ध होई दुइ चरण रयणि दिन रहइ अधोमुष॥
गरभ अवस्था अधिक जाणि चिन्ता चिंतै चित।
जइ छूटउँ इकवारि बहुरि करिहौं निज सुकृत॥
बोलइ ज बोल सकइ पडइ बहुडि जन्म जग महि भयौ।
लागी जु वाउ छीहल कहै सबै सूदि बीसरि गयौ॥१०॥

ऊसरि फागुण मास मेघ बरसइ घोरकरि।
विधवा प्रतिव्रत तणौ रूप जोवन आनन परि॥
कवियण गुण विस्तार नृपति अविवेकी आगे।
सुपनन्तर की लच्छि हाथ आवइ नहिं जागे॥
करवाल कृपण कायर कराह सुनि मेह दीपक ज्युं (?)
छीहलु अकारण ए सवै विनय जु कीजै नीच स्यु॥११॥

रितु ग्रीषम रवि किरण प्रबल आगमइ निरन्तर।
पावस सलिल समूह अधर झिललउ धाराधर॥
सीतकाल सीतल तुषार दूरन्तर टाल्यउ।
पत्त सही दुरवत्थ अधिक मित्तप्पण पाल्यउ॥
रे रे पलास छीहल कहै धिक धिक जीवन तुझ तणो।
फूलीयो मूढ अब पत्त तजि ए अयुत्त कीयउ घणो॥१२॥

रीती होइ सो भरै भरी पिण इक वै ढालै।
राई मेर समाणि मेर जल सहित उपालै॥
उदधि सोषि थल करै थलि जल पूरि रहै अति।
नृपति मगावइ भीख रक कू थपै छत्रपति॥
सब विधि समर्थ भाजन घडन कवि छीहल इमि उच्चरै।
निमिष मांझि करता पुरुष करण मतो सोई करै॥१३॥

लिखा तणइ परमाणि राम लच्छण वनवासी।
सीय निसाचर हरी भई द्रोपदि पुनि दासी॥
कुन्ती सुत वैराट गेह सेवक हुई रहियउ।
नीर भर्‍यउ हरिचन्द नीच घरि बहु दुष सहियउ॥
आपदा परै परिग्रह तजि भयो इकेलउ नृपति नल।
छीहल कहइ सुर नर असुर कर्म रेख व्यापइ सकल॥१४॥

लीन्ह कुदाली हाथ प्रथम खोदियउ रोस करि ।
करि रासभ आरूढ़ घालि आणियउ गूण भरि ॥
दे करि लत्त प्रहार मूढ गहि चक्कि चढ़ायौ ।
पुनरपि हाथहिं कूटि धूप धरि अधिक सुखायौ ॥
दीन्हीं अगिन छीहल कहै कुभ कहै हउ सहिंउ सब ।
पर तरुणि आइ टकराहणैं ये दुप सालेइ मोहि अब ॥१५॥

ए जु पयोहर युवल अमल उरि भज्झि उवन्ना ।
अति उन्नत अति कठिन कनक घट जेम रवन्ना ॥
कहइ छिहल पिण एक दिट्टि देखइ जे चतुर नर ।
धरणि पडइ मुरझाइ पीडउ उपजी चित अन्तर ॥
विधना विचित्र विधि चित कर ता लगि कीन्हउ किसन मुख ।
होइ स्याम वदन तिह नर तणौ जौ पर हिरदय देइ दुख ॥१६॥

अइ अइ तू दुमराय न्याय गरु अत्तणतेरउ ।
प्रथम विहगम लघ आइ, तहँ लेइँ वसेरउ ॥
फल भुजहि रस पीवइ अवर सतोपइँ काया ।
दुप्प सहइ तनि आप करइ अवरन कू छाया ॥
उपकार लगै छीहल कहइ धनि धनि तू तरुवर सुयण ।
सचइ जु सपइ उदधि पर कज्जि न आवै ते कृपण ॥१७॥

अमृत जिमि सुरसाल चवति धुनि वदन सुहाई ।
पखिन मइँ परसिद्ध लहैं सो अधिक वड़ाई ॥
अव वृप्त मनि वसइ ग्रसइ निर्मल फल सोई ।
एहि गुण कोकिल माँहिं पेपि वन्दइ नहिं कोई ॥
पापिष्ठ नीच खजन सुकर करत सदा क्रमि मल भुगति ।
छीहल्ल ताहि पूजइ जगत करम तणी विपरीत गति ॥१८॥
कबहूँ सिर धरि छत्र चढवि सुख आसन धावइ ।
कबहुँ इकेलउ भमइ पाव पाणही न पावइ ॥
कबहि अठारह भप्ख करइ भोजन मन वछित ।
कबहि न खलु सपजइ छुया पीडित कलइ चित ॥
कबहि न तृण को साथरो कबहि रमइ तिय भाव रसि ।
वहु भाइ छन्द छीहल कहइ नर नित नच्चइ देव वसि ॥१९॥
अहनिस मज्जन मच्छ करइ जल मज्झि रहइ नित ।
मौन सहित वग ध्यान रहइ लिउ लाइ एक चित ॥
ऊदर गुफा निवास मुढ गाडरी मुडावइ ।
पवन अहारी सर्प भसम तट गदह चढावइ ॥
टूगि मड़ि रहइ क्रिग यह लहइ कहा जोग साधइ जुगति ॥
छीहल कहइ निष्फल सबे भाव बिना नहु हुई मुगति ॥२०॥

खत्तिय रणि भंजणो विप्प आचार विहीणो ।
तप तउ जीति कइ अंगि, रहै चित लालच लीणो ।।
अवला जु तीय निलज्ज लज्ज तजि घरि घरि डोलइ ।
सभा माँहि मुख देखि साखि जउ कूडी बोलइ ।।
सेवक स्वामी द्रोह करि संग्राम न रहै एक छिण ।
छीहल कहइ सु परिहरउ नृपति होइ विवेक विण ।।२१।।

अन्त

लंछण ससि कउ दियउ किन्ह खार अति उदधिजल ।
सफल एरंड धतूर नाग वल्ली सो नीफल ।।
परमल विणु सोवन्न वास कस्तूरी विविध परि ।
गुणियन सम्पति हीण वहु लच्छिय कृपण घरि ।।
तिय तरुणि वेस विधवापणउ सज्जन सरिस वियोगदुख ।
एतले ठाँइ छीहल कहै कियो विवेक न विधि पुरुख ।।४०।।
होइ धनवन्त आलसी तउ टहसी पयपइ ।
क्रोधवंत अति चपल तउ थिरता जग जवइ ।।
पत्त कुपत्त नति लखइ कहइ तसु इच्छा चारी ।
होइ वोलण असमरथ ताह गुरुअत्तण भारी ।।
श्रीवन्त लख्ख अवगुण सहित ताहि लोग गुण करि ठँवइ ।
छीहल्ल कहै संसार मँहि सपत्ति को सहु को नँवइ ।।५२।।
चउरासी अग्गल सइ जु पनरह सवच्छर ।
सुकुल पख्ख अष्टमी कातिग गुरु वासर ।।
हृदय उपन्नी वुद्धि नाम श्री गुरु को लीन्हो ।
सारद तणइ पसाइ कवित सम्पूरण कीन्हो ।।
नातिग वंस सिनाथु सुतनु अगरवाल कुल प्रगट रवि ।
वावन्नी वसुधा विस्तरी कवि कंकण छीहल्ल कवि ।।५३।।

इति छीहल कवि बावनी सम्पूर्ण समाप्त संवत् १७१६ लिपितं पडि नीरू लिखनै व्यास हरि राय महला मध्ये राज्य श्री सिवसिंध जी राज्ये । संवत् १७१६ का वर्षे मिति वैसाप सुदि ५ शनि सुर वार में शुभं भवतु ।

संदर्भ-ग्रंथ-सूची

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी

१ अकबरी दरबार के हिंदी कवि — सरजू प्रसाद अग्रवाल, लखनऊ।
२ अलंकार शेखर — केशवचन्द्र मिश्रकृत, सम्पादक शिवदत्त १६२६ई०
३ अष्टछाप और वल्लभ सप्रदाय — डा० दीनदयाल गुप्त, साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सवत् २००४।
४ आबे हयात — मुहम्मद हुसेन आजाद
५ उक्तिव्यक्ति प्रकरण — सिंघी जैन ग्रन्थमाला, स० मुनिजिन विजय।
६ उर्दू-शहपारे — डा० मोहिउद्दीन कादरी
७ उत्तरी भारत की सत-परपरा — प० परशुराम चतुर्वेदी, भारती भडार, प्रयाग, २००८ सवत्।
८ उज्ज्वल नीलमणि — रूप गोस्वामी
९ ऐतिहासिक जैन काव्य-सग्रह — अगरचन्द नाहटा तथा भवरमल नाहटा, कलकत्ता, सवत् १९९४।
१० ओझा निबन्ध सग्रह (प्र० भाग) — उदयपुर सन् १९५४।
११ कविप्रिया — केशव ग्रन्थावली खण्ड १ सम्पादक विश्वनाथ प्रसाद मिश्र। हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रयाग, १९५४।
१२ कबीर ग्रन्थावली — चतुर्थ संस्करण स० बाबू श्यामसुन्दर दास सवत् २००८।
१३ कबीर साहित्य की परख — परशुराम चतुर्वेदी, इलाहाबाद २०११ सवत्।
१४ काव्य निर्णय — भिखारीदास
१५ काव्यानुशासन — हेमचन्द्र
१६ काव्यालकार — रुद्रट
१७ काव्यादर्श — दण्डी
१८ काव्यालकार — भामह
१९ क्रिसन रुकमिणी वेलि — नरोत्तम स्वामी द्वारा सम्पादित।
२० कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा — डा० शिवप्रसाद सिंह, प्रयाग सन् १९५५।
२१ कुमार पाल प्रतिबोध — गायकवाड सीरिज न० १४ सम्पादक मुनि जिनविजय।
२२ कुभनदास-पदसग्रह — सम्पादक व्रजभूषण शर्मा, विद्याभवन, कांकरोली, संवत् २०१०।
२३ खिलजी कालीन भारत — ले० सैयद अतहर अब्बास रिजवी, अलीगढ १९५४।

२४ गाथा सप्तसती — हाल

२५ गोरखवानी — डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, साहित्य-सम्मेलन प्रयाग।

२६ गीतगोविंद — मंगेश रामकृष्ण तैलंग द्वारा सम्पादित बम्बई १६१३।

२७ गुरुग्रन्थ साहब — तरनतारन संस्करण, भाई मोहन सिंह

२८ चन्दवरदाई और उनका काव्य — डा० विपिन विहारी त्रिवेदी प्रयाग, १६५२।

२६ चिन्तामणि दूसरा भाग — रामचन्द्र शुक्ल, काशी, संवत् २००२।

३० जयदेव चरित — लेखक रजनीकान्त गुप्त, बाकीपुर।

३१ जायसी ग्रन्थावली — सम्पादक रामचन्द्रशुक्ल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा। सवत् १६८१।

३२ ढोला मारु रा दूहा — सम्पादक नरोत्तम स्वामी, ना० प्र० सभा, काशी १६६७ संवत्।

३३ दक्खिनी हिन्दी का गद्य और पद्य — ले० श्री राम शर्मा, हैदराबाद, १६५४।

३४ दशम ग्रन्थ — गुरुगोविन्द सिंह, अमृतसर।

३५ देशी नाम माला — द्वितीय संस्करण सं० परवस्तु वेंकट रामानुज स्वामी, पूना १६३८।

३६ नाट्य दर्पण रामचन्द्रकृत — ओरियन्टल इन्स्टिट्यूट बरौदा १६२६।

३७ नाथ सम्प्रदाय — डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग।

३८ पउम चरिउ — स्वंभूदेव, सम्पादक हरिवल्लभ मायाणी, सिंघी जैन ग्रंथ माला, बम्बई।

३६ पउमसिरिचरिउ — धाहिल रचित, विद्याभवन बम्बई २००५।

४० परमात्मप्रकाश और योगसार — योइन्दुकृत सम्पादक, ए० एन० उपाध्ये। सिंघी जैन ग्रन्थमाला १६३७।

४१ पद्मावत — डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, झासी, २०१२।

४२ प्रबन्धचिन्तामणि — स० मुनिजिनविजय, सिंघी जैन ग्रन्थमाला।

४३ प्राकृत व्याकरण — डा० पी० यल० वैद्य सम्पादित, बम्बई संस्कृत प्राकृत सिरीज १६३६।

४४ प्राकृत पैंगलम् — सम्पादक मनमोहन घोष, बिब्लोथिका इण्डिका १६०२।

४५ प्राचीन गुर्जर काव्य — गायकवाड ओरियन्टल सीरीज न० १३ स० चिम्मनलाल डी० दलाल १६३६।

४६ पुरातन प्रबन्ध सग्रह — सम्पादक जिनविजय मुनि, सिंघी जैन ग्रंथमाला।

४७ पुरानी हिन्दी — चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, ना० प्र० सभा काशी सवत् २००५।

४८ पुरानी राजस्थानी — तेसीतोरी, ना० प्र० सभा हिन्दी संस्करण १९५९।

४९ पृथ्वीराज रासो — सम्पादक मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ना० प्र० सभा, काशी १९१२।

५० पृथ्वीराज रासो — कविराज मोहन सिंह, उदयपुर, २०११ सवत्।

५१ बनारसी विलास — बनारसी दास जैन, अतिशय क्षेत्र जयपुर से प्रकाशित सन् १९५५।

५२ बाँकीदास ग्रन्थावली — ना० प्र० सभा काशी, चतुर्थ संस्करण।

५३ ब्रजभाषा — डा० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, १९५४।

५४ बिहारी रत्नाकर — सम्पादक, जगन्नाथदास रत्नाकर, काशी।

५५ बीसलदेव रास — स० डा० माताप्रसाद गुप्त, हिन्दी परिषद्-विश्वविद्यालय प्रयाग, १९५३ ई०

५६ व्यास वाणी — प्रकाशक राधाकिशोर गोस्वामी, वृन्दावन १९९४ सवत्।

५७ भक्तमाल — नाभादास, सम्पादक श्रीसीतारामशरण भगवान् प्रसाद, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ १९५१।

५८ भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी — डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, हिन्दी सस्करण १९५४ दिल्ली।

५९ भोजपुरी भाषा और साहित्य — डा० उदयनारायण तिवारी, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना १९५४।

६० मध्यदेश और उसकी सस्कृति — डा० धीरेन्द्र वर्मा, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना १९५४।

६१ मध्यदेशीय भाषा — हरिहर निवास द्विवेदी, ग्वालियर २०१२।

६२ मानसिंह और मानकुतूहल — हरिहर निवास द्विवेदी।

६३ महाराणा सांगा — हरिविलास शारदा, अजमेर १९१८।

६४ मीराबाई की पदावली — स० परशुराम चतुर्वेदी।

६५ मीराबाई का जीवन चरित — मुशीदेवी प्रसाद, लखनऊ।

६६ युगल शत — श्रीभट्ट देव, सम्पादक श्री ब्रजविहारी शरण, वृन्दावन, २००९ सवत्।

६७ राजस्थानी भाषा और साहित्य — मोतीलाल मेनारिया, साहित्य सम्मेलन प्रयाग, २००६ विक्रमी।

६८ राधा का क्रम विकास — शशिभूषणदास गुप्त, हिन्दी संस्करण सन् १९५६ काशी।

६९ राजपूताने का इतिहास दूसरा खण्ड — महामहोपाध्याय गौरी शंकर हीराचन्द ओझा

७० रैदास जी की बानी — बेल्वेडियर प्रेस, प्रयाग।

७१ राजस्थानी भाषा — डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, उदयपुर १९४९।

क्रम	ग्रंथ	विवरण
७२	राजपूताने में हिन्दी पुस्तकों की खोज	मुशीदेवी प्रसाद, सवत् १९६८।
७३	रागकल्पद्रुम	कृष्णानन्द व्यास देव द्वारा सकलित, वगीय साहित्य परिषद् द्वारा १९१४ ई० में प्रकाशित।
७४	विद्यापति पदावली	सम्पादक रामवृक्ष वेनीपुरी, लहेरिया सराय, पटना।
७५	संगीतज्ञ कवियों की हिंदी रचनायें	सम्पादक नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, साहित्य भवन, प्रयाग १९५५ ई०
७६	संतकाव्य संग्रह	परशुराम चतुर्वेदी
७७	साहित्यदर्पण	कविराज विश्वनाथ
७८	सूरदास	रामचन्द्र शुक्ल, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित सरस्वती मन्दिर जतनवर काशी, सवत् २००६।
७९	सूर साहित्य	नवीन सस्करण डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी १९५६ बम्बई।
८०	सूरसागर	सम्पादक नन्ददुलारे वाजपेयी, ना० प्र० सभा, काशी सवत् २००७।
८१	हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल छठा सस्करण, काशी सवत् २००७।
८२	हिन्दी साहित्य का आदिकाल	डा० हजारी प्रसाद, द्विवेदी पटना १९५४।
८३	हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	डा० रामकुमार वर्मा, सशोधित सस्करण १९५४।
८४	हिन्दी भाषा : उद्‌गम और विकास	डा० उदयनारायण तिवारी, भारती भाडार, प्रयाग, संवत् १९५५।
८५	हिन्दी भाषा का इतिहास	डा० धीरेन्द्र वर्मा, प्रयाग।
८६	हिन्दी काव्यधारा	राहुल साकृत्यायन, प्रयाग १९५४।
८७	हिन्दुई साहित्य का इतिहास	(तासी) हिन्दी संस्करण, डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय।
८८	हिन्दी साहित्य की भूमिका	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, बम्बई, प्रथम सस्करण १९४०।

गुजराती

क्रम	ग्रंथ	विवरण
१	वाग्व्यापार	डा० हरिवल्लभ भायाणी, भारतीय विद्या भवन बम्बई १९५४।
२	वैष्णव धर्मनो सक्षिप्त इतिहास	श्री दुर्गाशंकर केवल राम शास्त्री।
३	भालण कृत दशम स्कन्द	सम्पादक इ० ट० कॉटावाला, बडौदा १९१४।
४	गुजराती साहित्य नां स्वरूपो	डा० मजुलाल मजूमदार, बडौदा, १९५४।

५ प्राचीन गुजराती गद्य सदर्भ — सम्पादक मुनि जिनविजय, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, १९८५ सवत् ।

६ प्राचीन गुर्जर काव्य — केशवलाल हर्षदराय ध्रुव बी० ए०, गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी, अहमदाबाद सवत् १९८३ ।

७ जैन गुर्जर कवियो — मोहनलाल दलीचद देशाई, जैन श्वेताम्बर सभा, बम्बई, ई० सन् १९२६ ।

८ आपणां कवियो खण्ड १ (नरसिंह युगनीं पहेलां) — केशवराम काशीराम शास्त्री, गुजरात । वर्नाक्यूलर सोसाइटी, अहमदाबाद १९४२ ।

९ बुद्धि प्रकाश — अप्रिल, जून १९३३ ।

१० रामचन्द्र जैन काव्यमाला — गुच्छक पहेलों ।

११ हिन्दुस्तान गुजराती दैनिक — ११ नवम्बर बम्बई १९४९ ।

असमिया

१ बरगीत, महापुरुष श्री श्री शकरदेवेर आरु श्री श्री माधवदेवेर विरचित — सम्पादक श्री हरिनारायण दत्त बरुआ बलवारी, असम ई० १९५५ ।

२ श्री शकर देव — डा० महेश्वर नेओग, गुवाहाटी ।

हिन्दी पत्र-पत्रिकायें

१ नागरीप्रचारिणी पत्रिका — ना० प्र० सभा, काशी ।

२ विश्व भारती — खण्ड ६ अक २

३ सम्मेलन पत्रिका — पौष १९९६ सवत्

४ हिन्दी अनुशीलन — वर्ष ७ अक ४, १९५५ ई०

५ राजस्थान-भारती — भाग १, अक २, ३

६ त्रिपथगा — अक १०, जुलाई, १९५६ ई०

७ आलोचना (त्रैमासिक) — अक १६, १९५६ ई०

८ कल्पना — सितम्बर १९५४, जुलाई-अगस्त १९५६

९ विशाल भारत — मार्च १९४६

१० नवनीत — अप्रैल १९५६

११ सर्वेश्वर — वर्ष ४ अक ६

१२ राजस्थानी — कलकत्ता जनवरी १९४०

१३ ब्रज-भारती — मथुरा ।

कोष और खोज-विवरणादि

१ जिनरत्न कोष खण्ड १

२ प्रशस्ति सग्रह — स० कस्तूरचद कासलीवाल, आमेर भडार, प्रकाशक, अतिशय क्षेत्र जयपुर, १९५० ई०

३ पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ — सम्पादक, वासुदेव शरण अग्रवाल, प्रकाशक व्रजमण्डल, मथुरा।

४ हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज का विवरण — १६०० से १६४६ तक—ना० प्र० सभा

५ आमेर भाण्डार की हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची — भाग १, सम्पादक कस्तूरचंद कासलीवाल अतिशय क्षेत्र, जयपुर १६५४।

६ राजस्थान के जैन शास्त्र भांडारों की ग्रन्थप्रशस्ति — भाग १, सम्पादक कस्तूरचंद कासलीवाल अतिशय क्षेत्र, जयपुर १६५४।

हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची

१ प्रद्युम्न चरित — सधार अग्रवाल, रचनाकाल १४११ वि० प्रति श्री बधीचंद जैन मदिर जयपुर में श्री कस्तूरचद कासलीवाल के पास सुरक्षित है।

२ रविवार व्रत कथा — कवि भाऊ अग्रवाल, आमेर भाण्डार, जयपुर की प्रति।

३ हरिचंद पुराण — जाखू मणियार, रचनाकाल संवत् १४५३, प्रति अभय जैन ग्रन्थ पुस्तकालय, वीकानेर में सुरक्षित है।

४ महाभारत कथा — विष्णुदास, रचनाकाल वि० १४९२ प्रति दतिया राज-पुस्तकालय में सुरक्षित है।

५ स्वर्गारोहण पर्व — ,, ,,

६ रुक्मिणी मंगल — विष्णुदास, रचनाकाल वि० १४९२ प्रति वृन्दावन के गोस्वामी राधाराम चरण के पास सुरक्षित है।

७ लषमणसेन पद्मावती कथा — कवि दामो, रचनाकाल १५१६ वि०, प्रति अभयजैन पुस्तकालय वीकानेर में।

८ डूगर बावनी — कवि डूगर उपनाम पद्मनाभ, रचनाकाल वि० १५३८, प्रति अभयजैन पुस्तकालय, वीकानेर में।

९ वैताल पचीसी — कवि मानिक, रचनाकाल वि० १५४६, प्रति कोशी कला मथुरा के पडित रामनारायण के पास सुरक्षित है।

१० पचेन्द्रियवेलि — कवि ठक्कुर सी, रचनाकाल १५५०, प्रति अतिशय क्षेत्र जयपुर के संग्रह में।

११ नेमराज मतिवेलि — कवि ठक्कुरसी, रचनाकाल १५५०, प्रति अतिशय क्षेत्र जयपुर के संग्रह में।

१२ छिताई वार्ता	कवि नरायनदास, रचनाकाल १५५० के लगभग, प्रति अभय जैन पुस्तकालय बीकानेर में सुरक्षित है।
१३ गीता-भाषा	कवि थेघनाथ, रचनाकाल १५५७ वि० प्रति याज्ञिक संग्रह आर्यभाषा पुस्तकालय, काशी।
१४ मधुमालती कथा	चतुर्भुजदास कायस्थ, रचनाकाल, १५५० के लगभग, प्रति उमाशकर याज्ञिक, लखनऊ के सग्रहालय में सुरक्षित है। ग्वालियर में इसकी कई प्रतियों के होने की सूचना मिली है।
१५ नेमीश्वर गीत	चतरुमल, रचनाकाल १५७१ सवत्, प्रति आमेर भाण्डार में सुरक्षित है।
१६ धर्मोपदेश	धर्मदास, रचनाकाल १५७८ प्रति आमेर भाण्डार में।
१७ पच सहेली	कवि छीहल, रचनाकाल १५७८, प्रति अनूप संस्कृत लायब्रेरी के राजस्थानी सेक्सन में। नं० ७८, नं० १४२, नं० २१७, नं० ७७—चार प्रतियाँ उपलब्ध।
१८ छीहल बावनी	कवि छीहल, रचनाकाल, १५७८ प्रतियाँ आमेर भाण्डार, जयपुर, अभय जैन पुस्तकालय बीकानेर तथा अनूप सस्कृत लायब्रेरी बीकानेर में सुरक्षित।
१९ रतनकुमार रास	वाचक सहज सुन्दर, रचनाकाल १५८२, प्रति अभयजैन ग्रथ-पुस्तकालय बीकानेरमें।
२० प्रह्लाद चरित	कवि रैदास रचित, रचनाकाल १५ वीं शताब्दी, प्रति काशी नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित। 'प्रह्लाद लीला' नाम से एक अन्य प्रति भी प्राप्त।
२१ हरिदासजी की परचई	हरिरामदास, रचनाकाल अज्ञात, हरिदास निरजनी सम्बन्धी विवरण के लिए महत्त्व-पूर्ण। प्रति दादू महाविद्यालय के स्वामी मगलदास के पास।
२२ हरिदास के पद और साखिया	कवि हरिदास निरजनी, रचनाकाल १६ वीं शताब्दी, प्रति डा० बडथ्वाल के निजी सग्रह में।

२३ युगल सत	कवि श्री भट्टदेव विरचित, रचनाकाल १६ वीं शती, प्रति काशी नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित है।
२४ परसुराम-सागर	कवि परशुराम देवाचार्य। रचनाकाल १६ वीं शती, ग्रन्थ में १३ रचनायें सकलित, प्रति काशी नागरी प्रचारिणी सभा में। दूसरी प्रति श्री कुंज वृन्दावन के श्री व्रजवल्लभ शरण के पास। पं० मोतीलाल मेनारिया के सूचनानुसार तीसरी प्रति उदयपुर में प्राप्त जिसमें बाइस रचनायें संकलित हैं।
२५ नरहरि भट्ट के फुटकल पद और वादु संज्ञक रचनायें	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
२६ वेलि क्रिसन रुक्मिणीं की रसविलास टीका	कवि गोपाल, रचना सवत् १४४०। अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर में प्रति सुरक्षित।

अंग्रेजी

	Title	Author / Publication
1.	A Grammar of the Braj bhakha.	By Mirza khan, Ed. By Sri Ziauddin, Shantiniketan 1934.
2.	An Outline of the Religious Literature of India.	Dr. J. H. Farquhar.
3	A Grammar of the Hindostani Language with Brief notes of Braj and Dakhini Dialects.	By J R. Ballentyne, London, 1842.
4.	Ancient History of Near East.	H. R. Hall, London 1943.
5	Avesta Grammar	A. B. W Jackson.
6.	A Short Historical Survey of Music of Upper India.	V. N. Bhatkhande
7.	Aspects of Early Assamese literature.	Ed By Banikant Kakati, Guahati, 1953.
8.	Assamese literature.	Dr. B. K. Barua, P. E. N. Bombay, 1941.
9.	A History of Indian Literature.	H. Winternitz, Calcutta, 1933.
10.	Annals and Antiquities of Rajasthan.	By Col. James Tod
11	A Comparative Grammar of the Gaudian Language	By R Hoernle, London, 1880.
12	A Grammar of Hindi Language.	By. S.H. Kellogg London,1893.
13.	A Comparative Grammar of Modern Aryan Languages of India	J Beames London 1875.
14.	Bhavisatta kaha	Harmann Jacobi.
15.	Bhavisatta kaha of Dhanpal.	P. D. Gune, G. O. S. Baroda 1923.
16.	Buddhist India.	T.W.Roydeveis, London 1903.
17.	Classical poets of Gujrat.	G. M. Tripathi, Bombay.
18	Dictionary of world Literay Terms.	Joseph. T. Shipley, London, 1955.
19.	Essays on the Sacred Languages, writings Religions of Parsis and Aitareya Brahmana	Martin Haug London 1860.
20	Encyclopaedia of Religion and Ethics.	James Hestings, London.
21.	Gujrati Language and Literature	N. V. Divatia Bombay 1921.

22. Gujrat and its literature. — K. M. Munshi, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay 1954.
23; Hindi and Brajbhakha Grammar. — J.R.Ballentyne London, 1839.
24. History of India. — A.R. Hoernle and H. A. Stark Calcutta, 1904.
25. Historical Grammar of Inscriptional Prakrits. — M.A. Mahandale Poona, 1948.
26. Historical Grammar of Apabhramsa — G. V. Tagare Poona, 1948.
27. Indo Aryan and Hindi. — S K. Chatterji, Ahmedabad, 1942
28. Literary Circle of Mahamatya Vastupal and Its contribution to Sanskrit literature — B. J. Sandeara S. J. S. No. 33.
29. Linguistic Survey of India. — G.A.Grierson Vol.IX, Calcutta 1905.
30. Life aud work of Amir khusro. — M. B. Mirza.
31. Life in Ancient India in the age of Mantras — P T Srinivas Ayangar,Madras, 1912.
32. Memoirs of the Archeological Survey of India No. 5 — Sri Rrm Pd. Chanda,
33. Morawall Inscription. — Epigraphica Indica, Report of thc Archeological Survey of India, For Kankaliteela Excavation 1889-91.
34. Medieval Mysticims of India. — K. M. Sen.
35. Milestones in Gujrati literature. — K. M. Jheveri, Bombay 1914.
36. Music of Southern India. — Capt Day.
37 Method and Material of literary Criticism. — Galay.
38. Origan and Development of the Bengali Language — S.K Chatterji, Calcutta, 1926.
39 On the Indo Aryan Vernaculars. — G A. Grierson.
40. Preliminary Report on the Operation in Search of Manuscripts of Bardic Chronicles. — H. P. Shastri.
41. Pali Grammatik (German) — W Griger, 1913

42. Standard Dictionary of Folklore, Mytholology and Legends.	New York, 1950.
43. Scientific History of Hindi Language.	S. S. Narula, 1955
44. Sandesa Rasaka.	Edited by Muni Jin Vijaya Linguistic Study by Dr. H. B. Bhayani. Bombay 1946.
45. Sidha Sidhant Paddhati	Dr. Kalyani Mallik, Poona 1954.
46. The lyrical poetry of India.	In India New and Old by E. W. Hopkins.
47. The ten Gurus and their Teachings.	Baba C. Singh.
48. The History of India, as told by its own Historians.	Henery Illiot.
49 The Linguistic speculations of Hindus.	P. C. Chakraborty, Calcutta.
50. The Ruling chiefs and Leading personages in Rajputana.	VI Edition.
51. Vedic Grammar.	Dr.Macdonell IV Edition 1955.
52. Vedic Index.	Macdonell & Keith 1912.
53. Varnaratnakar of Jyotirishwar	Biblotheca Indica Edited by Chatterji and Babuaji Misra, Calcutta, 1940.
54 Vaishnavism, Shaivism and other minor Religious Systems.	R. G. Bhandarkar.
55. Wilson's Philological Lectures.	R. G. Bhandarkar.

ENGLISH PERIODICALS

1. Journal of Royal Asiatic Society of Bengal—1875, 1908.
2. Bulletin of the School of Oriental Studies—Vol. I, No. 3.
3. Journal of the Department of Letters of Calcutta University—Vol 23, 1933.
4. Proceedings of the Eighth Oriental Conference Mysore,1935
5. Viena Oriental Journal—Vol. VII, 1893.
6. Indian Culture, 1944.
7. Proceedings of the Asiatic Society of Bengal January 1893
8. The Calcutta Review, June 1927.

अनुक्रमणिका

नामानुक्रम

---

*जम्बूस्वामी के स्थानपर भूल से सुपार्श्व लिखा है। कृपया शुद्धिपत्र देखकर सुधार लें।

ग्रंथानुक्रम

भाषानुक्रम

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	पृष्ठ सं०	पंक्ति	शुद्ध
१८२	[५]	१६	१५८२
सूरका	[८]	३	सूरकी
सनेह सीला	८	२१	सनेह लीला
मध्यप्रदेश	१५	१	मध्यदेश
ऐसे आन	१६	३२	एसे आन
भारतीत	३३	२६	भारतीय
yogagara	३६	३५	yogasara
Dhavisatta	३६	३६	Bhavisaytta
आनन्द	४७	३४	आन द
तीर्थंकर	४८	१५	मुनि
सुपार्श्व	४८	१५	जम्बूस्वामी
जन्मभूमि	४८	१५	निर्वाण भूमि
प्राकृति	८७	१२	प्राकृत
Inuroduction	८७	३५	Introduction
Morophology	६४	२६	Morphology
राजेश्वर	६७	१	राजशेखर
प्रचोन	६७	१४	प्राचीन
चन्द्रमोहन	६६	३२	मनमोहन
Sinplification	१०१	५	Simplification
वलया	१०४	३१	वलया
Short	१२५	३४	Sort
विक्र्कां	१६६	२१	विक्रमी
यतनकुमार	१७२	१	रतनकुमार
हनुमाम्	१८०	२७	हनुमान्
में भापारूप है।	१६२	७	में
भुथवल	२३२	६	भुजवल
रयाम	२३४	२८	श्याम
तुम थे	[illegible]		